
व्रज-भक्तमाल
व्रज के रसिकाचार्य
(सम्पूर्ण)
डा.अ.बि.ला.कपूर

5.3

व्रज–भक्तमाल

व्रज के रसिकाचार्य

(सम्पूर्ण)

लेखक

डॉ0 अवध बिहारी लाल कपूर

प्रकाशक

गोपेश कपूर

राधारमण निवास ट्रस्ट
श्री गौरांग आश्रम
आई.ओ.पी. कॉलेज के सामने
रमणरेती वृन्दावन (मथुरा)
फोन : 0565–2540616

403, अगद अपार्टमेन्ट
जी. डी. मिश्रा पथ
न्यू पी.पी. कॉलोनी
पटना – 800013
फोन : 0612--2260886,
मो0 : 9835014511
E-mail : gkapoor@sancharnet.in
gkapoor@droblkapoor.info
Website : www.droblkapoor.info

●

लेखक : डॉ० अवध बिहारी लाल कपूर

●

संस्करण : चतुर्थ संस्करण (सम्पूर्ण)

●

मूल्य : 160/– रुपये

●

मुद्रक :

कैलीग्राफी प्रिन्टर्स,

इन्द्रपुरी, पटना–24

मो.– 9835063933

चतुर्थ संस्करण के सम्बन्ध में

तृतीय संस्करण में व्रज के रसिकाचार्य के खण्ड १ एवं खण्ड २ दोनों को एक ही ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया था। प्रथम खण्ड में श्री चैतन्य सम्प्रदाय के रसिकाचार्य के चरित्रों का वर्णन है और द्वितीय खण्ड में अन्य सम्प्रदायों के रसिकाचार्यों के चरित्र दिये गये है। एक ही ग्रंथ में सभी सम्प्रदायों के रसिकाचार्य के चरित्र हो गये, इसे भक्तों ने पसन्द किया। मैं चतुर्थ संस्करण में भी ऐसा ही कर रहा हूँ।

कागज एवं अन्य खर्च बढ़ जाने के कारण सजिल्द की जगह मोटे पेपर बैक में प्रस्तुत कर रहा हूँ आशा है आप इसे पसन्द करेगें।

विनीत:
गोपेश कपूर
403, अंगद अपार्टमेन्ट
जी.डी. मिश्रा पथ
न्यू पी.पी. कॉलोनी
पटना – 800013
फोन : 0612–2260886,
मो० : 9835014511
E-mail : gkapoor@sancharnet.in

राधारमण निवास ट्रस्ट
श्री गौरांग आश्रम
आई.ओ.पी. कॉलेज के सामने
रमणरेती वृन्दावन (मथुरा)
फोन : 0565–2540616

निवेदन

श्रीमद्भागवत में कहा है कि भगवत्–कथा–श्रवण–कीर्तन के अतिरिक्त संसार–बन्धन से मुक्ति पाने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। भगवत्–भक्तों की कथा को भी भागवत में 'ईश–कथा' कहा है। पर स्वयं भगवान् ने अपने भक्तों को अपने से और उनकी पूजा को अपनी पूजा से भी बड़ा कहा है—**'मद्भक्तितोऽपि मद्भक्तपूजाऽभ्यधिका'**। इतना ही नहीं उन्होंने स्वीकार किया है कि वे अजित होते हुए भी अपने भक्तों से सदा हारे हुए हैं और स्वतन्त्र होते हुए भी उनके सदा वश में हैं—**'अजितोऽपि जितोऽहं तैरवश्योऽपि वशीकृतः'**।

जीव यदि हारे हुए भगवान् की अपेक्षा जीते हुए भक्तों का सहारा ले तो संसार–बन्धन से मुक्ति तो होगी ही, भगवत्–प्राप्ति भी अधिक सुगम होगी, क्योंकि भक्त–कथा–श्रवण–कीर्तन से भगवत्–प्राप्ति का मार्ग जैसा प्रशस्त होता है, वैसा भगवत्–कथा–श्रवण–कीर्तन से नहीं होता।

भगवान् ने अपनी प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहा है—'मैं केवल भक्ति से प्राप्त होता हूँ, अन्य किसी उपाय से नहीं—**भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'**। भक्ति मिलती है भक्तों के संग और उनकी कृपा से ही। पर प्रकृत भगवद्भक्तों का संग मिलना कठिन है। उनका संग जैसा उनके चरित्रों के द्वारा सुलभ है, वैसा और किसी उपाय से नहीं है। भगवद्भक्तों के चरित्र के माध्यम से उनके संग को सुलभ बनाना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

भक्ति के जितने प्रकार हैं उनमें श्रेष्ठतम व्रज की मधुररसमयी भक्ति है। व्रज में इसका उत्स फूटा था आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व। तबसे आज तक इसकी निर्मल धारा अक्षुण्णरूप से बहती चली आ रही है। इसमें जिन रसिकाचार्यों और रसिक भक्तों ने अवगाहन किया, उन्हीं की पुण्य गाथाओं का इस ग्रन्थ में समावेश है।

वर्तमान रूप में इस ग्रन्थ की योजना पहले नहीं बनायी गयी थी। पहले **'व्रज के भक्त'** के नाम से एक ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया था, जिसमें आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व के व्रज के भक्तों के चरित्र लिखे गये थे। वह ग्रन्थ बहुत लोक–प्रिय हुआ। उसके पश्चात् पाठकों का आग्रह हुआ कि पिछले पाँच सौ वर्षों के व्रज के बाकी भक्तों के चरित्र भी प्रकाशित किये जायें। बाकी भक्त उस काल के थे, जब व्रज में मधुर–भक्तिरस के प्रचार–प्रसार का कार्य तेजी से चल रहा था। उसमें उनमें–से प्रत्येक ने आचार्यरूप से योगदान किया था। इसलिये **'व्रज के**

रसिकाचार्य' नाम से इस दूसरे ग्रन्थ की रचना की गयी। दोनों ग्रन्थों की एक शृंखला में जोड़कर शृंखला का नाम रखा गया—**व्रज–भक्तमाल'**। 'व्रज के रसिकाचार्य' इस शृंखला का प्रथम पुष्प है, 'व्रज के भक्त' इसका दूसरा पुष्प है। 'व्रज के रसिकाचार्य' दो खण्डों में प्रकाशित है। पहले खण्ड में श्रीचैतन्य सम्प्रदाय के रसिकाचार्यों के चरित्र हैं, दूसरे में अन्य सम्प्रदायों के। 'व्रज के भक्त' का दूसरा संस्करण भी, जो अब 'व्रज–भक्तमाल' का अंग है, इसी के अनुरूप दो खण्डों में प्रकाशित है।

'व्रज के रसिकाचार्य' के इस **द्वितीय खण्ड** में चैतन्य सम्प्रदाय के रसिकाचार्यों को छोड़ व्रज के सभी रसिकाचार्यों के चरित्र दिये गये हैं। चैतन्य सम्प्रदाय के रसिकाचार्यों के चरित्र इसके प्रथम खण्ड में प्रकाशित हैं। दोनों खण्डों में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रधान रसिकाचार्यों के चरित्र के साथ उनके सिद्धान्त का विस्तृत विवरण किया गया है 'वृज की रसोपासना' नाम के एक पृथक् ग्रन्थ में, जो इस समय प्रेस में है। उसमें वृज की रसोपासना के सामान्य स्वरूप और उसके मूल सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है।

लेखक का विश्वास है कि व्रज की रसोपासना की विभिन्न विधाओं में भागवत भेद होते हुए भी उसका एक सामान्य रूप है, जिसके मूल सिद्धान्त व्रज के सभी सम्प्रदायों को मान्य हैं। इसलिये रसोपासना के साधक यदि अपने सम्प्रदाय के प्रति निष्ठावान् रहते हुए अन्य सम्प्रदायों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखें तो वे उनके रस–सिद्ध आचार्यों के आदर्श चरित्र से अच्छी प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं और उनके ग्रन्थों और वाणियों में संचित बहुमूल्य सामग्री का अपनी साधना में उपयोग कर उसे पुष्ट कर सकते हैं, उसे और अधिक सरस और लाभप्रद बना सकते हैं।

इस ग्रन्थ का उद्देश्य है उन्हें सभी सम्प्रदायों के रसिकाचार्यों के चरित्र और उनके सिद्धान्त से परिचित करा उनसे प्रेरणा ग्रहण करने और उनकी रसोपासना के विशाल क्षेत्र से अपनी साधना के लिये उपयोगी सामग्री चयन करने का अवसर प्रदान करना।

लेखक शिवहरि प्रेस का आभारी है ग्रन्थ के प्रकाशन में उनकी अभिरूचि और तत्परता के लिये। भक्तप्रवर भाई काशीप्रसादजी श्रीवास्तव का भी वह आभारी हैं इस समूचे ग्रन्थ में उनके स्नेहपूर्ण सहयोग और सुझावों के लिये।

मकर संक्रान्ति
संवत् 2058

भक्त–चरण–रजाभिलाषी
अवध बिहारी लाल कपूर

सूची-पत्र

(प्रथम खण्ड)

—•—

सूची-पत्र

(द्वितीय खण्ड)



व्रजभक्तमाल

व्रज के रसिकाचार्य

(प्रथम खण्ड)

व्रज का इतिहास

व्रज भारत का प्रधान तीर्थ ही नहीं, यहाँ का प्रधान धार्मिक, साहित्यिक और साँस्कृतिक केन्द्र भी है। यह धर्म के आचार्यों और संत-महात्माओं के प्रचार का प्रमुख केन्द्र, साहित्यिकों की लेखनी का प्रमुख विषय और कवियों की प्रेरणा का प्रमुख स्रोत रहा है। इसे यहाँ के रमणीक मन्दिरों और नयनाभिराम देवमूर्तियों के रूप में स्थापत्य और शिल्पकलाओं का प्रधान आश्रय-स्थल होने का और रास-नृत्य के रूप में नृत्य-गीतादि ललित-कलाओं की रचम अभिव्यक्ति का एकमात्र स्थान होने का गौरव प्राप्त रहा है।

इसी के गिरि-गोवर्द्धन की तरहटी में, यमुना-पुलिन में, कुञ्जों में, कन्दराओं में साधना कर बहुत से साधकों ने अपने रचम लक्ष्य को प्राप्त किया है। इसी के तरु-लताओं के नीचे बैठकर डोर-कौपीनधारी श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीजीवादि ने भक्ति के श्रेष्ठतम आकर ग्रन्थों की रचना कर उसके मधुरतम स्वरूप को व्यक्त किया है, इसी की भूमि में श्रीस्वामी हरिदास और श्रीहित-हरिवंश प्रभु जैसे रसिकाचार्यों की दिव्यातिदिव्य वाणियों का निर्झर बहा है।

इसी की पावन भूमि को रसराज श्रीकृष्ण के बज्रांकुशादि चरण-चिन्हों से अलंकृत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, इसी की रज प्रेमस्वरूपिणी राधा और उनकी सखी-मञ्जरियों के प्रेमाश्रुओं से सिक्त हुई हैं, इसी की रज माथे पर चढ़ाने की लोकपति ब्रह्मा ने प्रार्थना की है, इसी के किसी तृण, गुल्म या लता के रूप में जन्म लेने की ज्ञानियों में श्रेष्ठ उद्धव ने आकांक्षा की है।

आर्य-शासनकाल

व्रजमण्डल या मथुरामण्डल में आर्यों के प्रवेश करने के पूर्व मधु नाम दैत्य रहता था। उसी ने यमुनातट पर अपने नाम से 'मधुपुर' नामका नगर बसाया था, जो पीछे 'मधुरा' कहलाने लगा। मधु का पुत्र लवण बड़ा अत्याचारी राजा था। रामचन्द्र के राज्यकाल में उनके भ्राता शत्रुघ्न ने उसका संहार कर मथुरा में अपना राज्य स्थापित किया। शत्रुघ्न के पश्चात् उनके पुत्र शूरसेन का यहाँ राज्य हुआ। शूरसेन के राज्यकाल में मथुरा मण्डल का नाम 'शूरसेन जनपद' पड़ा और मथुरा

उसकी राजधानी बना। तभी से मथुरा आर्य संस्कृति का केन्द्र और आर्यवंशी शूरसेन जाति के लोगों का निवास-स्थान हुआ। किसी काल में मथुरा इतना समृद्ध और गौरवशाली हो गया कि दक्षिण में उसी नाम की दूसरी नगरी बसाई गयी, जो आज 'मदुरा' नाम से प्रसिद्ध है।

पीछे चन्द्रवंश में ययाति हुए। ययाति के पुत्र यदु हुए। यदु के वंशज यादव मथुरा के अधिवासी हुए। यादवों की वृष्णि शाखा में कृष्ण का आविर्भाव हुआ। भोजवंशीय शाखा में कंस का जन्म हुआ। कंस मथुरा का राजा हुआ। कृष्ण द्वारा कंस मारा गया। कृष्ण-लीला के समय से मथुरा मंडल के अणु-परमाणुओं का महत्व इतना बढ़ गया कि यह भारत का सबसे बड़ा तीर्थ बन गया।

महाभारत के युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर सम्राट हुए और भारत में धर्मराज्य की स्थापना हुई। भगवान् श्रीकृष्ण के महाप्रयाग के पश्चात् युधिष्ठिर ने भाइयों के साथ महाप्रस्थान किया। महाप्रस्थान के पूर्व युधिष्ठर ने श्रीकृष्ण के प्रपौत्र बज्रनाभ को मथुरा मंडल के राज-सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। बज्रनाभ ने प्रपितामह श्रीकृष्ण की स्मृति और पूजा चिरस्थायी करने के लिए गोविन्दजी, मदनगोपालजी और गोपीनाथजी आदि के श्रीविग्रहों की स्थापना की और कृष्ण-लीला सम्बन्धी स्थानों को तीर्थ के रूप में प्रकाशित किया। यह कार्य इतना आसान नहीं था, क्योंकि कृष्ण के समय ही जरासन्ध की चढ़ाइयों के कारण मथुरा मंडल के निवासी मथुरा मंडल छोड़कर अन्यत्र चले गये थे। तब से अब तक 100 वर्ष बीत चुके थे और सारा प्रदेश निर्जनता के कारण जंगल हो गया था। किसी प्रकार शाण्डिल्य ऋषि की सहायता से वे इसे पूरा करने में समर्थ हुये थे।[1]

उसके पश्चात् कृष्ण-लीला के सभी चिन्ह कब किस प्रकार काल के गर्भ में विलीन हो गये, इसका कुछ पता नहीं। बज्रनाभ के बाद से बुद्ध के जन्म तक का व्रजमंडल का इतिहास ठीक से नहीं मिलता।

बौद्ध और जैन-धर्म का प्रभाव

द्वापर के पश्चात् कलि का प्रवेश हुआ। हिन्दू-धर्म का ह्रास होने लगा। पहले जैन फिर बौद्ध-धर्म का विकास हुआ। जैन-धर्म का प्रभाव मथुरा पर पड़ा। मथुरा जैन-धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया। पर जैन-धर्म

का हिन्दू–धर्म से कोई संघर्ष नहीं हुआ। बौद्ध–धर्म का हिन्दू–धर्म से संघर्ष हुआ। बौद्ध मथुरा में पूरी तरह छा गये। हिन्दूओं के प्राचीन तीर्थों को ध्वंस कर उन्होंने अपने स्तूप और मन्दिर बनाये। चीनी यात्री ह्वेनसांग और फाह्यान ने मथुरा का बौद्ध–नागरी के रूप में वर्णन किया है।

मौर्य–शासनकाल में मथुरा की विशेष रूप से उन्नति हुई। यह बौद्ध–धर्म का विशाल केन्द्र बन गया। उस समय भारत में आये युनानी यात्री मैगेस्थनीज, एरियन और टाल्मी मथुरा के गौरव से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने इसे 'देवताओं का नगर' कहा।

कुषाण–काल में, विशेष रुप से कनिष्क के समय, जो धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई गयी, उसके फलस्वरुप बौद्ध–धर्म के साथ–साथ जैन और हिन्दू धर्म की भी उन्नति हुई। कनिष्क ने मथुरा में बहुत से बौद्ध स्तूपों और संधारामों आदि का निर्माण किया।

गुप्त–शासनकाल

गुप्त–शासनकाल में मथुरा वैष्णव धर्म का प्रधान केन्द्र बना। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मथुरा की उन्नति की। अनुमान है कि मथुरा में श्रीकृष्ण–जन्मस्थल पर जो प्राचीन भव्य मन्दिर था, वह उन्हीं का बनवाया था। गुप्तकालीन कवि कालीदास ने रघुवंश में मथुरा, वृन्दावन और गोवर्द्धन का वर्णन किया है। उनके वर्णन से उस समय के वृन्दावन के सौन्दर्य का पता चलता है। उन्होंने वृन्दावन की तुलना कुबेर के चैत्ररथ[1] नामक उद्यान से की है।

विदेशियों के आक्रमण

गुप्त–शासन के पतन के पश्चात् विदेशी आक्रमणों का सिलसिला आरम्भ हुआ। 500 ई0 के लगभग हूँणों ने आक्रमण किया। उन्होंने पश्चिमी मध्य–भारत तक अपना राज्य स्थापित कर लिया। राज्यों और नगरों को उजाड़ डाला। मथुरा में भी हिन्दुओं, जैनों और बौद्धों की विशाल इमारतों और मूर्तियों को ध्वंस कर दिया।

ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ से उत्तर–पश्चिम से मुसलमानों के आक्रमण होने लगे। 1017 ई0 में महमूद गजनवी का सत्रहवाँ आक्रमण हुआ। उस समय महाबन में कुलचन्द नामका प्रतापशाली राजा राज्य करता था। उसे परास्त कर महमूद मथुरा पहुँचा। वहाँ उसकी फौजों ने जो लूट–मार की उसका ब्योरा देते हुए उसके मुंशी अल उत्थी ने अपनी

1. स्कन्द पुराण, द्वितीय वैष्णव खण्ड, श्रीभागवत माहात्म्य, श्लोक 17

तारीख यमीनी में मथुरा नगर का वर्णन इस प्रकार किया है–

"नगर का परकोटा पत्थर का बना हुआ था। उसमें नदी की ओर ऊँचे तथा मजबूत आधार–स्तम्भों पर बने हुए दो दरवाजे थे। शहर के दोनों ओर हजारों मकान बने हुए थे। ये सब पत्थर के थे और लोहे के छड़ों द्वारा मजबूत कर दिये गये थे। उनके सामने दूसरी इमारतें बनीं थीं, जो सुदृढ़ लकड़ी के खम्बों पर आधारित थीं। शहर के बीच में सभी मन्दिरों से ऊँचा एवं सुन्दर एक मन्दिर था, जिसका पूरा वर्णन न तो चित्र–रचना द्वारा किया जा सकता है, न लेखनी द्वारा। सुलतान महमूद ने स्वयं इसके बारे में लिखा है कि 'यदि कोई इस प्रकार की इमारत बनवाना चाहे तो उसे दस करोड़ दीनार (स्वर्ण मुद्रा) से कम न खर्च करने पड़ेंगे और उसके निर्माण में 200 वर्ष लगेंगे, चाहे उसमें बहुत ही योग्य और अनुभवी कारीगरों को क्यों न लगाया जाय।,

स्पष्ट है कि जिस मन्दिर का यहाँ उल्लेख किया गया है, वह श्रीकृष्ण–जन्म–स्थान का मन्दिर था। उसे महमूद ने लूटा और नष्ट किया।

महमूद की फौजों ने 20 दिन तक मथुरा को लूटा। लूट के माल में 5 बड़ी सोने की मूर्तियाँ, हीरे–जवाहरात और असंख्य चाँदी की मूर्तियाँ थीं, जिन्हें तोड़कर ले जाने के लिए 100 ऊँटों की आवश्यकता पड़ी। बहुत से मन्दिरों को ज्यों–का–त्यों छोड़ दिया, शायद इसलिए किं वे इतने विशाल और सुदृढ़ थे कि आसानी से तोड़े नहीं जा सकते थे।[1] अलाउद्दीन खिलजी और तुगलकों के समय में भी मथुरा पर अत्याचार होते रहे।

सिकन्दर लोदी

सिकन्दर लोदी (1488–1516 ई0) के समय में मथुरा के सारे मन्दिर नष्ट कर दिये गये और श्रीकृष्ण–ज़न्म–स्थान पर राजा विजयपाल देव के राज्यकाल में बनाया गया मन्दिर भी नष्ट कर दिया गया। इनमें सरायें बना दी गयीं और इनकी मूर्तियाँ कसाइयों को दे दी गयीं मांस तोलने में बटखरों के रुप में काम में लाई जाने के लिये। हिन्दुओं की अर्चा–पूजा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। हिन्दू उस समय कोई भी

1. ग्राउज़ : मथुरा मेमायर, पृ0 33
2. वही, पृ0 34

धार्मिक कार्य नहीं कर सकते थे। वे सिर तक नहीं मुड़ा सकते थे। दाढ़ी रखने के लिए उन्हें विवश किया जाता था। यदि कोई हिन्दू सिर मुड़ाना चाहता या दाढ़ी बनवाना चाहता तो उसे नाई हीं नहीं मिलता था।[2]

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ से सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ तक लगभग 500 वर्ष मुसलमानों द्वारा मथुरा का विध्वंस होता रहा। किसी नये निर्माण का तो इस बीच कोई प्रश्न ही नहीं था। इसी कारण यद्यपि प्रारम्भिक बौद्ध-काल की इमारतों के बहुत से अवशेष वर्तमान काल में पाये गये हैं, इस काल की किसी इमारत का अभी तक कोई भी चिन्ह नहीं मिला है।

सोलहवीं शताब्दी का नव-उज्जीवन

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रज-मंडल की वही अवस्था थी, जो श्रीकृष्ण के अन्तर्धान के 100 वर्ष पश्चात् थी, जब बज्रनाभ शूरसेन जनपद के राजा हुए थे। इस समय भी सारा प्रदेश सदियों से उपेक्षित रहने के कारण अरण्यमय हो गया था। बस्ती के नाम पर कुछ जंगली जातियाँ ही यहाँ रहती थीं। कहीं-कहीं महात्माओं की झोपड़ियाँ दीख पड़ती थीं। बज्रनाभ द्वारा प्रकाशित कृष्ण-लीला संबंधी तीर्थों का तो कोई चिन्ह ही कहीं नहीं रह गया था। उनके द्वारा स्थापित श्रीविग्रह कभी के लुप्त हो चुके थे। अन्य देवालयों की मूर्तियां भी उनके पुजारी म्लेक्षों के भय से कुओं, तालाबों या बनों में छिपाकर अन्यत्र चले गये थे। हिन्दुओं का सर्वश्रेष्ठ तीर्थ, उनके धर्म और संस्कृति का प्रधान केन्द्र, जिसे यूनानी लेखकों ने 'देवताओं का नगर' कहा था, जिसकी तुलना महाकवि कालीदास ने कुबेर के उद्यान से की थी, जिसके निर्माण-शिल्प को देख महमूद गजनवी दांतों तले उंगली दबा गया था, वह अब घने जंगलों और हिंसक पशुओं से परिपूर्ण मुसलमान शासकों के शिकार खेलने का स्थान मात्र रह गया था।

इसी समय भारत में उठी उसके धार्मिक जीवन के उज्जीवन की एक नयी तरंग। उसके साथ व्रज का भी नव-उज्जीवन हुआ। इसका शुभारम्भ श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी द्वारा गोवर्द्धन में गोपालजी (श्रीनाथजी) की मूर्ति की स्थापना के साथ पहले ही किया जा चुका था। उसके पश्चात् रसिकाचार्य श्रीहित-हरिवंश गोस्वामी प्रभु और रसिकाचार्य श्रीस्वामी हरिदास

1. वही, पृ0 33

वैष्णव आचार्य एक के बाद एक यहाँ आने लगे और व्रज–वृन्दावन वैष्णव धर्म के व्यापक प्रचार का केन्द्र बन गया। इसके लुप्त तीर्थों का फिर से उद्धार हुआ। देवालयों, लीला–स्थलियों के चिन्हों, सरोवरों, कुण्डों आदि का नव–निर्माण हुआ।

चैतन्य-सम्प्रदाय द्वारा व्रज का नव-निर्माण

नवद्वीप में कलिपावनावतार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव हो चुका था। यवन–काल में ही उनका अध्ययन–अध्यापन और सांसारिक जीवन समाप्त हो चुका था। श्रीकृष्ण–प्रेम ने उन्हें उन्मत्त कर दिया था और सन्यास लेकर कृष्ण–प्रेम का प्रचार करने का उन्होंने संकल्प कर लिया था। उसी समय श्रीकृष्ण की लीलाभूमि की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ। उसकी दुर्दशा देख उनके प्राण रो दिये। उन्होंने अपने प्रिय परिकर श्रीलोकनाथ गोस्वामी और श्रीभूगर्भ गोस्वामी को उसके लुप्त तीर्थों का उद्धार करने के लिये वृन्दावन भेज दिया। सन् 1508 में लोकनाथ और भूगर्भ के वृन्दावन आगमन के साथ ही व्रज–वृन्दावन के पुनरुत्थानं का कार्य प्रारम्भ हुआ।

कुछ ही दिनों में एक–एक कर आये श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीरघुनाथ भट्ट, श्रीजीव, श्रीगोपाल भट्ट और श्रीरघुनादास, जो वृन्दावन के इतिहास में 'छय गोस्वामी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी थे त्याग, तितिक्षा, कृच्छ्र साधना, शास्त्र–विद्या और भजन–निष्ठा में प्रदीप्त भास्कर के समान। इन्होंने अपने परिश्रम, प्रतिभा और भक्ति के बल से वृन्दावन को भक्ति–आन्दोलन के महान् केन्द्र के रूप में स्थापित किया, व्रज–वृन्दावन का नव–उज्जीवन किया।

इनमें से श्रीरूप और श्रीसनातन को विशेषरुप से श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वृन्दावन भेजा था व्रज और व्रज के प्रेम–धर्म और संस्कृति के पुनरोद्धार का भार देकर। रुप गोस्वामी को नीलाचल से विदा करते समय उन्होंने कहा था–

"व्रजे जाइ रस शास्त्र कर निरूपण।
लुप्त सब तीर्थ तार करिह प्रचारण।।
कृष्ण सेवा रस भक्ति करिह प्रचार।
आमिओ देखिते ताहा जाब एकबार।।

(चै० च० ३।१।२१८-२१९)

–व्रज जाकर रस–शास्त्र का निरुपण करना, लुप्त तीर्थों का ऊद्धार करना, कृष्ण–सेवा और रसमयी भक्ति का प्रचार करना। तुम जो जो कार्य करोगे, उसे देखने मैं भी एक बार वृन्दावन जाऊँगा।"
सनातन गोस्वामी से भी, उन्हें नीलाचल से विदा करने के पूर्व, उन्होंने कहा था–

"तोमार शरीर-मोर प्रधान साधन।
ए शरीरे साधिमू आमि बहु प्रयोजन।।
भक्त, भक्ति, कृष्ण-प्रेम-तत्वेर निर्धार।
वैष्णवेर कृत्य, आर वैष्णव-आचार।।
कृष्ण-भक्ति, कृष्ण-प्रेम सेवा प्रवर्तन।
लुप्ततीर्थ-उद्धार आर वैराग्य-शिक्षण।।
निज-प्रियस्थान मोर मथुरा-वृन्दावन।
ताहाँ एत धर्म चाहि करिते प्रचारण।।
मातार आज्ञाय आमि बसि नीलाचले।
ताहाँ धर्म शिखाइते नाहिं निज-बले।।

(चै0 च0 3 |4 |78–82)

–सनातन, तुम्हारा शरीर है मेरा प्रधान साधन। इसके द्वारा मुझे कितना कुछ करना है। प्रकृत भक्त के लक्षण क्या हैं, भक्ति क्या है, कृष्ण–प्रेम का वास्तविक स्वरूप क्या है, वैष्णवों का कृत्य क्या है, उन्हें क्या–क्या करना चाहिये, क्या–क्या नहीं करना चाहिये, इस सबका ठीक–ठीक निर्णय करना, इसके सम्बन्ध में ग्रन्थ रचना करना, कृष्ण–भक्ति और कृष्ण–प्रेम–सेवा का प्रचार करना, लुप्त–तीर्थों का उद्धार करना, शास्त्रादि प्रणयन और अपने आचरण के द्वारा वैराग्य की शिक्षा देना, यह कार्य मैं अपने प्रिय धाम मथुरा–वृन्दावन में करना चाहता हूँ। पर इन्हें करने के लिये दीर्घकाल वृन्दावन में रहना आवश्यक है, जो मैं नहीं कर सकता। माता की आज्ञा से मुझे नीलाचल में ही रहना है। इसलिए तुम्हारे शरीर से ही मुझे यह सब कार्य करने हैं।"

श्रीचैतन्य महाप्रभु के पार्षद मुरारी गुप्त के कड़चा में भी महाप्रभु द्वारा सनातन गोस्वामी को वृन्दावन के लुप्त तीर्थों के उद्धार और भक्ति–शास्त्रों के प्रणयन का आदेश दिये जाने का उल्लेख है–

वृन्दावनाय गन्तव्यं भक्ति शास्त्र निरूपणं।
लुप्त तीर्थ प्रकाशं च तन्माहत्म्यमपिस्फुटम् ।।
(१३।।१५)

महाप्रभु ने जो—जो कार्य रूप—सनातन को सौंपे, उन्हें पूरा करने में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी। उन्होंने व्रज के लुप्त तीर्थों का आविष्कार किया, अपने आचरण से वैराग्य, और शुद्धा—भक्ति का आदर्श स्थापित किया, वृन्दावन में देवालयों का निर्माण, श्रीविग्रहों की स्थापना और उनकी सेवा—पूजा की व्यवस्था कर कृष्ण—भक्ति और कृष्ण—प्रेम—सेवा का शिक्षण किया, और भक्ति के आकर ग्रन्थों की रचना कर भक्तिरस—सिद्धान्त का निर्णय किया, भक्ति के स्वरूप, प्रकार, स्तर अन्तराय आदि का सुव्यवस्थित और सूक्ष्म विवेचनकर उसे वैज्ञानिक स्वरूप दिया।

ग्राउस ने लिखा है कि सोलहवीं शताब्दी के उजड़े हुए व्रजमंडल में वैष्णव—संस्कृति का बीजारोपणकर उसे उसके वर्तमान रूप में विकसित करने का कार्य सबसे पहले महामहिम रूप—सनातन ने ही किया।[1]

भक्ति—शास्त्र के प्रणयन में रूप—सनातन के बचे हुए कार्य को गोपाल भट्ट और जीव गोस्वामी ने पूरा किया। गोपालभट्ट ने वैष्णव—स्मृति की रचना की, जीव ने भक्ति—सिद्धान्त के दार्शनिक पक्ष को सदा के लिए सुदृढ़ किया।

छः गोस्वामियों के अतिरिक्त श्रीकृष्णदास कविराज, श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती और श्रीनारायणभट्ट गोस्वामी आदि ने भी भक्ति—ग्रन्थों की रचना में महत्वपूर्ण योगदान किया। भक्ति—साहित्य की जितनी रचना इस काल में गौड़ीय गोस्वामियों द्वारा की गयीं, उतनी पहले कभी नहीं की गयी थीं।

अन्त सम्प्रदायों का सहयोग

इसी काल में पुष्टि—मार्ग के प्रवर्तक श्रीपाद वल्लभाचार्य श्रीविट्ठलनाथजी और अष्टछाप के कवियों ने भक्ति साहित्य को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक

---

1. "Till the close of the 16th century, except in the neighbourhood of the one great thoroughfare, there was (in Brajamandal) only here and there a scattered hamlet in the midst of unclaimed woodland. The Vaishnava cultus there first developed into its present form under the influence of Rupa and Sanatan, the celebrated Bengali Gosains of Brindaban" (Mathura : A District Memoir, 3rd Ed. P. 75)

जी महाराज ने भी अपनी रसमयी वाणियों से भक्ति–साहित्य को पुष्ट किया।

व्रज के नवनिर्माण में भी इन सम्प्रदायों का योगदान रहा। श्रीपाद वल्लभाचार्य ने सन् 1520 में गोवर्धन में श्रीनाथजी के मन्दिर का निर्माण किया।[1]

गोस्वामी हितहरिवंशजी के उत्तराधिकारी श्रीबनचंद्रजी ने वृन्दावनमें श्रीराधावल्लभके प्राचीन मन्दिरका निर्माण किया।[2] हित हरिवंशजीने निर्जन और चोर–डाकुओंके आतंकसे ग्रस्त वृन्दावनकी भयावह स्थितिमें घर–गृहस्थी और ठाकुर–सेवा के साथ स्थायी रूपसे वृन्दावन में सबसे पहले रहकर और नरवाहन नामके लुटेरेका उद्धार कर इसे एक नागरिक बस्ती के रूपमें परिणत करने का शुभारम्भ किया।[3]

निम्बार्क सम्प्रदायके श्रीभट्टजी, श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी एवं श्रीचतुरचिंतामणिजी (नागाजी) आदिने मथुराको अपने धर्मके प्रचार और प्रसार का केन्द्र बनाया।

चैतन्य-सम्प्रदायके 'छ्य गोस्वामी'

ग्राउसने कहा है कि वृन्दावनमें देवालयोंका निर्माण भी सबसे पहले श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके पार्षदोंने ही किया:–

"The first named commutity (Gauriya Vaishnavas) has had a more marked influence on Brindaban than any of the others, since it was Chaitanya, the founder of the sect, whose immediate disciples were its first temple builders."[4]

वृन्दावन के नवनिर्माण–कालमें गौड़ीय गोस्वामियों द्वारा बनवाए गगे मन्दिरोंमें सात प्रसिद्ध हैं। वे हैं:–

(1) रूप गोस्वामीके ठाकुर श्रीगोविन्ददेवजी का मन्दिर, (2) सनातन गोस्वामीके ठाकुर श्रीमदनमोहनजीका मन्दिर, (3) गोपालभट्ट गोस्वामीके गोस्वामियोंकी अपने "शिक्षा–गुरु" रूपमें वन्दना की है:–

1. ग्राउस : मथुरा मेमायर, पृ. 285

2. डा0 प्रभुदयाल मीतलके मतानुसार इसे बनचन्द्रजीके शिष्य सुन्दरलाल कायस्थ ने स. 1647 से स. 1665 तकके बीच किसी समय बनवाया (रस–वृन्गावन का वृन्दावन–विशेषांक, पृ. 74)

3. वही, पृ. 59–60

4. मथुरा : ए डिस्ट्रिक्ट मेमायर, पृ. 197

श्रीराधारमणजी का मन्दिर, (4) लोकनाथ गोस्वामी के ठाकुर श्रीराधाविनोदजी और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपादके ठाकुर श्रीगोकुलानन्दजीका मन्दिर, (5) जीवगोस्वामी के श्रीराधादामोदरजीका मन्दिर, (6) मधु गोस्वामीके ठाकुर श्रीगोपीनाथजीका मन्दिर और (7) श्यामानन्दजीके ठाकुर श्रीश्यामसुन्दरजीका मन्दिर।

यह सारा कार्य हुआ श्रीमन्महाप्रभुकी प्रेरणा और आदेशसे ही। वे स्वयं वृन्दावन आये सन् 1514 में और उन्होंने अपनी व्रजकी परिक्रमा में राधाकुण्ड और श्यामकुण्डका आविष्कार कर अपने आप भी इसमें महत्वपूर्ण योगदान किया।

गौडीय गोस्वामियोंमें व्रज–वृन्दावनके नवनिर्माण का सम्बन्ध अधिकतर छय गोस्वामियों से ही जोड़ा जाता है। लोकनाथ, भूगर्भ तथा नारायण भट्ट के कार्य की अनदेखी की जाती है, जबकि लोकनाथ और भूगर्भ इसके अग्रदूत थे और नारायण भट्टने इसे पूरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। नारायण भट्टने न केवल उन तीर्थों का आविष्कार किया था, जो बाकी रह गये थे, उन्होंने सब तीर्थों का नामकरण किया था, और "व्रजभक्ति विलास" (सन् 1553) में उनकी स्थिति, देवताओं सहित उनके माहात्म्य और उनकी पूजा–परिक्रमा आदिकी विधिका विस्तार से वर्णन कर उन्हें स्थायित्व प्रदान किया था। उन्होंने व्रजभक्तिविलासके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थोंकी रचनाकी थी और उन्होंने ही सामूहिक बनयात्रा और रासलीलाका प्रवर्तन किया था।[1]

छय गोस्वामियोंके साथ लोकनाथ, भूगर्भ और नारायण भट्टका नाम न जाड़े जानेका कारण यह जान पड़ता है कि "छय गोस्वामी" शब्दका प्रचलन किसी अन्य कारण से हुआ। "छय गोस्वामी" शब्दका उल्लेख या इससे अभिव्यंजित छय गोस्वामियोंका एकत्र वर्णन चैतन्य–चरितामृतके पूर्व किसी ग्रन्थमें नहीं मिलता। इससे लगता है कि चैतन्य–चरितामृतके पूर्व इस शब्दका प्रचलन नहीं था। चैतन्य–चरितामृतमें ही छय गोस्वामियों का एकत्र वर्णन पहली बार हुआ है। उसमें कविराज गोस्वामीने इन छय

1. It was their disciple Narayan Bhatt, who first established the Banjatra and Raslila, and it was from him that every lake and grove in the circuit of Braja received a distinctive name, in addition to the some seven or eight spots which alone are mentioned in the earlier Puranas. (Growse : A District Memoir, 3rd. Ed. p. 72)

श्रीरूप सनातन भट्ट रघुनाथ।
श्रीजीव गोपाल भट्ट दास रघुनाथ।।
एइ छय गुरु शिक्षा गुरु जे आमार।
ता सबार पाद पद्मे करि नमस्कार।।
(चै. च. १/१/१८-१९)

चैतन्य–चरितामृतका आदर गौड़ीय–वैष्णव समाजमें वैसा ही है जैसा वेदका। चैतन्य–चरितामृतकारने चैतन्य–चरितामृतमें जिन्हें विशेष रूपसे सम्मानित किया शिक्षा–गुरु रूपमें उनकी बन्दना कर, उनका समस्त गौड़ीय–वैष्णव समाजमें विशेष रूपसे सम्मान किया जाना स्वाभाविक था।

चैतन्य–चरितामृतके पश्चात् "नाम–संकीर्तन" में नरोत्तम ठाकुरने छय गोस्वामियोंका एकत्र उल्लेख किया। उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्दप्रभु, श्रीअद्वैतप्रभु, श्रीगदाधर पंडित, श्रीवंशीवदन और श्रीश्रीवास पंडितकी पृथक्–पृथक् बन्दना की, पर रूप–सनातनादि छय गोस्वामियोंकी एकत्र वन्दनाकी–

श्रीरूप सनातन भट्ट रघुनाथ।
श्रीजीव गोपाल भट्ट दास रघुनाथ।।
एइ छय गोसाईंयेर करि चरण–वन्दन।
जाहा हइते विघ्ननाश अभीष्ट पूरन।।

कविराज गोस्वामीका अनुसरण करके ही उन्होंने इस प्रकार किया ऐसा प्रतीत होता है। पर कविराज गोस्वामीने उन्हें "छय–शिक्षा–गुरु" कहा था, नरोत्तम ठाकुरने उन्हें "छय गोस्वामी" कहा। तभीसे लगता है "छय गोस्वामी" शब्दका प्रचलन होगया, क्योकि नरोत्तम ठाकुरकी रचनाओंका भी गौड़ीय–वैष्णव समाजमें बहुत आदर है और घर–घर उनका पाठ और कीर्तन होता है।

छय गोस्वामियोंके साथ लोकनाथ गोस्वामी का नाम संयुक्त न होने का एक और भी विशेष कारण जान पड़ता है उनका दैन्य। उन्होंने कविराज गोस्वामी को आदेश दिया था कि चैतन्य–चरितामृतमें उनके सम्बन्धमें कुछ न लिखें। इसलिये उन्होंने उनके नाममात्रका एक जगह उल्लेख किया है।[1] नरोत्तम ठाकुरको भी उन्होंने ऐसा आदेश अवश्य दिया

१. चै० च० १/१८/४३

होगा। तभी 'नाम–संकीर्तन' में छय गोस्वामियों के नामके साथ उनका नाम जोड़ना तो दूर, उन्होंने उनके नामका उल्लेख तक नहीं किया, जब कि वे उनके गुरु थे और महाप्रभुके अन्य पार्षदोंके साथ उनकी वन्दना करना उनके लिये अनिवार्य था।

पर जो भी हो, वृन्दावनके पुनरुत्थानकी दृष्टिसे लोकनाथ, भूगर्भ और नारायण भट्टका भी विशेष महत्व है। इसलिए हमने इस ग्रन्थमें छय गोस्वामियों के चरित्रके साथ इनके चरित्रका भी वर्णन किया है, यद्यपि इनके सम्बन्धमें उतनी जानकारी नहीं है, जितनी इनके व्यक्तित्वके गौरव और गरिमा[1] के अनुसार होनी चाहिए थी।

---

1. माध्व–गौड़ीय सम्प्रदायकी मान्यताके अनुसार लोकनाथ और भूगर्भ भी छय गोस्वामियोंकी तरह कृष्ण–लीलाकी सखी–मंजरियोंके अवतार है।

कविकर्णपूरकी गौर–गणोद्देश–दीपिकामें सनातन गोस्वामीको लवंग मंजरी रूपगोस्वामीको रूप मंजरी, जीवगोस्वामीको विलास मंजरी, गोपालभट्ट गोस्वामी को गुण मंजरी, रघुनाथ भट्ट गोस्वामीको राग मंजरी, रघुनाथदास गोस्वामीको रसमंजरी, लोकनाथ गोस्वामीको मंजुलाली मंजरी और भूगर्भ गोस्वामीको नान्दीमुखी या प्रेम मंजरी कहा है।

नारायण भट्ट गोस्वामीको श्रीजानकी प्रसाद भट्ट गोस्वामी द्वारा प्रणीत "श्रीश्री नारायण भट्ट–चरितामृतम्" में नारद मुनिका अवतार कहा गया है (नारायण भट्ट–चरितामृतम्, 3)।

श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी

ईसाकी पंद्रहवीं शताब्दीका अंतिम काल है। विदेशियोंके आक्रमण और उनकी विध्वंसात्मक नीतिके कारण व्रजमंडल उजड़ गया है। वहाँ के तीर्थ अपने अस्तित्वके सब चिह्न खो चुके हैं। केवल तीर्थराज गोवर्धन विद्यमान हैं। पर कोई तीर्थ–यात्री वहाँ नहीं दीखता। बहुत दिनोंसे उपेक्षित रहने के करण सारा प्रदेश भयावना हो गया है। चारों और जंगल हैं। जहाँ कभी ग्वाल–बाल कृष्णके साथ स्वच्छंद केलि किया करते थे, वहाँ अब हिंसक पशुओं और लुटेरोंका भय है। जहाँ कृष्णका वंशी–नाद स्थावर जंगलको आकर्षित किया करता था, वहाँ अब जंगली जानवरोंकी चिंघाड़ सुनाई देती है। कभी कोई बिरला कृष्ण–प्रेमका दीवाना ही उधर जानेका साहस कर लेता है।

आज एक ऐसे ही कृष्ण–प्रेमके दीवाने यात्री को देख वहाँ के व्रजवासी चकित हैं। यात्री वृद्ध है, पर स्वस्थ, दीर्घकाय और गौरवर्ण है; कृश है, पर उसका अंग–अंग एक अलौकिक तेज से दीप्तिमान् है। सन्यासी वेश में वह साक्षात् नारायण जैसा लगता है। उसकी भाव–भंगिमा और चाल–ढालसे लगता है कि वह सचमुच दीवाना है। वह कभी हंसता है, कभी रोता है, कभी गाता है, कभी नाँचता है, कभी 'हा कृष्ण! हा गोपाल!' कह पृथ्वीपर लोट–पोट होता है। वह जब मोरको नृत्य करते देखता है, तब मोर–मुकुटधारी गोपाल उसके स्मृति–पटलपर नृत्य करने लगते है। जब आकाशमें काले बादलोंको देखता है, तो उसका कृष्ण–विरह तीव्र हो जाता है और उसके दोनों नेत्रोंसे अविरल अश्रुधार प्रवाहित होने लगती है। गोवर्धनकी धीर–समीर जब उसके अंगसे स्पर्श करती है, तो उसे लगता है कि वह कृष्णके अंग की गंध लेकर आयी है और वह उचक–उचककर चारों ओर देखता हुआ कृष्णका अन्वेषण करने लगता है। कभी उसे किसी कदम्बके नीचे खड़े कृष्णकी झलक दीख जाती है, तो उधर भाग पड़ता है और कृष्णके अदृश्य होते ही मूर्च्छित हो भूमिपर गिर पड़ता है।

वह अयाचक वृत्ति से रहता है। माँगता किसीसे कुछ नहीं। बिना माँगे जो मिल जाता है, उसीसे उदयपूर्ति कर लेता है और आकाशके नीचे

सोकर रात बिता लेता है।

गोपालजीका प्रकट्य

एक दिन वह गोवर्धन–परिक्रमा, स्नान–जपादि कर देरसे गोविन्द–कुण्डके तीरपर बैठा कीर्तन कर रहा था। संध्या हो आयी थी। पर उसे खाने को किसी ने कुछ नहीं दिया था। उपवासी रहजानेका निश्चय कर वह कुण्डके तीरपर एक वृक्ष के नीचे इष्टका ध्यान करते हुए चुप–चाप बैठा था। ध्यानमें इतना लीन था कि उसे बाहरकी किसी वस्तुका ज्ञान ही नहीं था।

थोड़ी देरमें उसे किसीके कोमल स्पर्शकी अनुभूति हुई और कानोंमें गूंज गयी किसी मधुर कण्ठकी ध्वनि "ओ बाबा! कहा ध्यान कर रह्यौ है? देख तेरे तई दूध लायौ हूँ।"[1]

यतिराजने आँखे खोली तो देखा एक अपूर्व दृश्य–सामने दूध लोटा हाथमे लिए खड़ा एक अति सुन्दर श्याम–वर्ण, गोप–बालक, जिसका अपरूप लावण्य, घने–घने घुंघराले बाल और इन्द्रजाल भरे दोनों बड़े–बड़े नेत्र उनके मन–प्राणको बरबस खींचे ले रहे हैं!

मधुर हास्य से चारों दिशाओंको आलोकित करते हुए और दूधका लोटा सन्यासीके सामने रखते हुए उसने कहा–"जाय गटक ले जल्दीसे। देख उपवासी मत रह्यौ कर। माँग कें खाय लियौ कर। व्रजमें दूधकौ टोटो नाँय काऊ के घर।"[2]

सम्मोहित जैसे यतिराज बालककी ओर निर्निभेष देखते रहे। कुछ क्षण बाद अपनेको सम्हालते हुए बोले–"बेटा कौन है तू? कहाँ रहे है? तूने कैसे जाना मैं उपवासी हूँ?"

"मैं जाई गाममें रहूँ। जा गाममें कोऊ उपवासी नाँय रह सके। कोऊ अन्न माँगके खाय, कोऊ दूध। जो माँगे नाँय बाके तइँ आहार मैं जुटाय दऊँ। अबहीं कछू गोपी कुण्ड तें जल लैबे आयीं हतीं। तोकूं देख गयीं। बिनने मोंकूं जा दूध दियौ और बोलीं–'कुण्ड पै बाबा भूखौ बैठ्यौ है। बाकूं दै आ।' सो मैं चलो आयौ। अब मोकूं गइयन पै दूध दूहबे जानो है। मैं जाऊँ हूँ। तू दूध पी लीजों। लोटो पाछे लै जाऊँगो।" इतना कह

---

१. चै० च० २।४।२४
२. चै० च० २।४।२५

बालक चला गया, पर अपनी छबि यतिराजके मानस-पटलपर सदाके लिए अंकित कर गया।[1]

उन्होंने इष्ट देवको निवेदन कर दूध पिया। दूध पीकर उनकी जैसी तृप्ति हूई वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। उनके रोम-रोममें एक अप्राकृत आनन्दकी अनुभूति व्याप रही थी। साथ ही उस बालककी छवि उनके नेत्रोंके सामनेसे एक पलको भी नहीं हट रहीं थी। वह फिर आयेगा, इस आशाको हृदय में संजोय वे उसकी बाट देख रहै थे। पर वह आया नहीं।

उसका ध्यान करते-करते बहुत रात्रि बीत गयी। नींद जैसे उनके अपार्थिव आनन्दमें बाधा डालने के भय से कहीं दूर जा बैठी। शेष रात्रिमें कुछ तन्द्रा आगयी। तन्द्रावस्थामें स्वप्नमें उन्होंने देखा उसे एक आलोक पुंजके मध्य में से उनकी ओर स्नेहभरी दृष्टि से देखते और एक मधुर स्मितके साथ कहते-

"माधवेन्द्र! अच्छा हुआ तुम आ गये। मैं बहुत दिनोंसे तुम्हारी बाट देख रहा था। जानते हो मैं कौन हूँ? बहुत दिन हुए गोवर्धन पर्वत के पास के एक प्रान्तमें मेरे पौत्र महाराज बज्रनाभने मेरी गोवर्धनधारी गोपाल-मूर्तिकी स्थापना की थी। यवनों के आक्रमणके समय पुजारी मुझे एक गहन कुंजके भीतर छिपाकर भाग गये थे। तब से मैं वहीं हूँ। चलो तुम्हें वह स्थान दिखाउँ।" इतना कह वह नव-किशोर उन्हें हाथ पकड़कर वहाँ से कुछ दूर ले गया। लता-पताओं से आच्छादित एक कुंजको दिखाते हुए बोला-"देखो, इसी कुंजके भीतर मैं तबसे पड़ा हूँ। गर्मी, सर्दी और वर्षाका कष्ट झेलते मझे इतने दिन हो गये है। तुम्हारी प्रेम-सेवा की आशासे मैं यह सारा कष्ट झेलता रहा हूँ। अब तुम आ गये हो। गाँव के लोगोंको बुलाकर मुझे यहाँसे निकालो। पर्वतपर लेजाकर शीतल जलसे मेरा अभिषेक करो और एक मन्दिर बनाकर मुझे उसमें स्थापित करो।"[2]

इतना कह किशोर अन्तर्धान हो गया। माधवेन्द्रकी तन्द्रा भंग हो गयी। साथ ही प्रारम्भ हुआ उनका रोना-धोना, हाथ मल-मलकर पछताना और पृथ्वीपर लोट-पोट हो आत्म-तिरस्कार करते हुए बार-बार कहना-

"हा प्रभु! हा दीनानाथ! तुमने इस अधमपर इतनी कृपा की।

---

१. चै० च० २/४/२८-३०

२. चै० च० २/४/३४-४३

इसके लिये इतना कष्ट किया। अपने हाथसे दूध लेकर आये, दर्शन दिये और दूध पीनेका प्रेमपूर्वक आग्रह किया। फिर भी इसने तुम्हें नहीं पहचाना। तुम आये और चल गये। तुम्हारी सेवा–पूजा–स्तुति तो दूर, तुम्हें बिठाकर प्रेमकी दो बातें भी तुमसे न कर सका।"

थोड़ी देरमें प्रकृतिस्थ हो उन्होंने सोचा–इस तरह रोनेसे क्या लाभ? प्रभुने मेरी सेवा अंगीकार करने कहा है। क्यों न उन्हें कुंजसे निकालकर शीघ्र उनकी सेवाकी व्यवस्था करूँ?

उसी समय उन्होने कुछ ग्रामवासियोंको बुलाकर सब वृत्तान्त कह सुनाया। उनके माध्यमसे सारे गाँवमें सूचना हो गयी कि वज्रनाभ महाराज द्वारा स्थापित गोपाल–मूर्तिने माधवेन्द्रजीको एक कुंजसे अपना उद्धार करनेका आदेश दिया है। एक अपूर्व आलोड़नकी सृष्टि हुई। व्रजवासियोंके गोपालके प्रति सहज प्रेममें उफान आया। शत–शत नर–नारी कुल्हाड़ी औ कुदालादि लेकर चल पड़े श्रीमाधवेन्द्रपुरीके नेतृत्व में कुंजसे गोपाल का उद्धार करने। स्वप्नदृष्ट दुर्गम, अरण्यस्थित स्थान पर पहुँचकर उन्होंने आरम्भं किया कुंजके दुर्भेद्य लता–गुल्मादिके जालको काटकर साफ करना। थाड़ी ही देर में दीखी व्रजरज और तृणादिसे आच्छादित गोपालकी मनोरम मूर्ति। मूर्ति देख व्रजवासियोंके आनन्दकी सीमा न रही। माधवेन्द्रपुरीके दोनों नेत्रोंसे आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे।[1]

सबने मिलकर श्रीमूर्तिको बाहर निकाला। मूर्ति इतनी भारी थी कि उसे उठानेके लिए कई महाबलिष्ट लोगोंकी आवश्यकता पड़ी। वे उसे बलपूर्वक उठाकर ले गये और पर्वतके ऊपर एक शिलापर स्थापित किया।

गाँवके कुम्हारोंके पास जितने नवघट थे सब मँगा लिये गये। उनमें गोविन्दकुण्डका छनाहुआ जल मँगाया गया। सौ घड़ोंसे माधवेन्द्र–पुरीने गोपालका अभिषेक आरम्भ किया। नाना प्रकारके वाद्य और भेरी बजने लगे। व्रजवासी नृत्य करने लगे। स्त्रियाँ कोकिल–स्वरसे गान करने लगीं। महाहर्षध्वनि और कोलाहलके बीच पंचगव्य और पंचामृत आदिसे गोपालका महास्नान हुआ। अंग–मार्जन कर वस्त्र धारण कराये गये। चन्दन, तुलसी, फूल–माला अर्पणकी गयी। धूप–दीपादि दान करने के पश्चात् दूध, दही, फल, मिष्टान्नका भोग लगाया गया।

---

१. चै. च. २।४।४७-५४

अन्नकूट

पर गोपाल तो बहुत दिनोंके भूखे थे। इतनेसे क्या उनकी क्षुधा मिटनी थी? माधवेन्द्र यह जानते थे। उनके मनमें अन्नकूट करने की इच्छा हुई। जैसे जी उन्होंने इच्छा व्यक्तकी ऋद्धि–सिद्धि उंनकी सेवामें जुट गयीं। गाँवके व्रजवासियोंने दूध, दही, मक्खन, घृतादिका ढेर लगा दिया। मथुराके धनी भक्त भी सूचना पाते ही मैदा, चीनी, सूजी, फल–फूलादि अनेक प्रकारकी सामग्री लेकर आगये। गोवर्धन पहाड़के ऊउन खाद्य–सामग्रीके एक और पहाड़की सृष्टि होनेमें देर न लगी।

बहुत–से ब्राह्मणों ने मिलकर कई चूल्होंपर रोटी पकाई, बहुतोंने मिलकर कई चूल्हों पर दाल, बहूतोंने चावल, बहुतोंने खीर, बहुतोंने कढ़ी, बहुतोंने मालपुए आदि नाना प्रकारके व्यंजन तैयार किये। अन्नकूट भली प्रकार सजाया गया। अनेकों सुवासित जलसे भरे घड़े गोपाल के पीने के लिये चारों ओर रखे गये। सब सजाकर भोग गोपालको समर्पण किया गया।[1]

बहुत दिनके भूखे गोपालने सब खा लिया। पर उसके करकमल के स्पर्शसे सब पहलेकी तरह परिपूर्ण होगया। माधवेन्द्रने गोपालकी इस लीलाका प्रत्यक्ष दर्शन किया। उनके प्रेम–नत्रोंसे क्या गोपालकी कोई रहस्य–लीला छिपी रह सकती थी?–

हेन मते अन्नकूट करिल साजन।
पुरी गोसाञि गोपालेर कैल समर्पन।।
अनेक घट भरि दिल सुवासित जल।
बहुदिनेर क्षुदाय गोपाल खाइल सकल।।
यद्यपि गोपाल सब अन्न–व्यञ्जन खाइल।
तार हस्त स्पर्शे पुनः तेमनि हइल।।
इहा अनुभव कैल माधव गोसाञि।
तार ठाईं गोपालेर लुकान किछु नाइ।।

(चै० च० २/४/७५/७८)

गोपाल का भोग लग जाने के बाद जितने ब्रजवासी दूर–दूर से उनके दर्शन करने आये थे सबने भर पेट भोजन किया। भोजन करते–करते

---

१. चै० च० २/४/६७-७६

गोपालकी और माधेन्द्रपुरीकी जय–जयकार की। ब्रजवासियोंको भोजन करते देख गोपालको जितना आनन्द हुआ उतना क्षुदार्त होते हुए भी स्वयं भोजन करने में नहीं हुआ गोपालको व्रजवासी न जाने कितना प्रिय हैं, व्रजवासियों को गोपाल। गोपाल व्रजवासियों को खिलाकर प्रसन्न होता है, व्रजवासी गोपालको खिलाकर। परस्परकी इस टेवके कारण लगता है दोनोंने निश्चय किया कि अन्नकूटका सिलसिला कुछ दिन तक जारी रहे। इसलिए कई दिन तक अन्नकूट चलता रहा, कभी किसी गाँव की ओर से, कभी किसी गाँवकी ओर से।[1]

मथुराके एक धनी क्षत्रियने गोपालजी के लिए एक मन्दिर बनवा दिया। उसमें गोपालजीकी विधिवत् स्थापना करदी गयी। अन्य धनिकों ने सोना, चाँदी, वस्त्रादि नाना प्रकारके उपाहारों से गोपालजीका भंडार भर दिया। बहुत–से व्रजवासियोंने उन्हें एक–एक गाय भेंटकी, जिससे उनकी सहस्रो गायें होगयीं। दूध–दही, माखन–मिश्रीसे भी उनका भंडार भरा–पुरा रहने लगा। गौड़ देशसे आये दो ब्राह्मणोंको दीक्षा देकर माधवेन्द्रपुरीने उन्हें गोपालकी सेवा का भार सौंपा। उनकी राज–सेवा नित्य नियमित रूपसे चलने लगी।[2]

माधवेन्द्रपुरीके दिन गोवर्धनमें गोपाककी सेवाकी देखभालमें नियुक्त रहते हुए और उनकी नित्य नयी झाँकीके दर्शन करते हुए आनन्द से बीतने लगे।

जिस स्थानपर गोपाल प्रकट हुए थे, वह गोपाल के नामसे गोपालपुरा और यतिराज माधवेन्द्रपुरीके नामसे जतीपुरा कहलाने लगा। आज भी वह जतीपुरा नामसे प्रसिद्ध है।

उत्तर भारतमें मधुर–भक्तिरसकी गंगा बहानेवाले थे श्रीपाद माधवेन्द्र पुरी ही। ब्रजमें रसोपासनाके जिस नये युग–का सोहलवीं शताब्दीमें आरम्भ हुआ, उसके मूलमें वे ही थे। उन्हींके श्रीपाद ईश्वरपुरी शिष्य और श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रशिष्य थे। श्रीचैतन्य महाप्रभुने उन्हें भक्तिरसका आदि सूत्रधार कहा है–

"भक्तिरसे आदि माधवेन्द्र सुत्रधार।
गौरचन्द्र इहा कहियाछेन बार-बार।।"

(चै0 भा0 1/6/51)

---

१. चै० च० २/४/९२-९७
२. चै० च० २/४/९९-१०३

पुर्वाश्रमका वृतान्त

पूर्व बंगालके श्री हट्ट जिलेमें एक गाँव है पूर्णिपाट। इसी ग्राममें एक धर्मनिष्ठ वारेन्द्र ब्राह्मण के घर श्रीमाधवेन्द्रपुरीका जन्म हुआ। कुछ बड़े होते ही जब बालकको चतुष्पाठी में भरती किया गया, उसने अपनी धीशक्ति का असाधारण परिचय दिया। खेल ही खेलमें एकके बाद एक–व्याकरण, काव्य और धर्मशास्त्र आदिमें दक्ष होगया।

कुछ और बड़े होनेपर वेद–वेदाण्ग, भागवत और अन्यान्य भक्ति–शास्त्रोंका भी माधवेन्द्रने मंथन कर डाला और आरम्भ किया अध्यापनका गौरवपूर्ण जीवन। उसके साथ ही उनके जीवनमें उद्‌गत हुई भगवत्–प्रेमकी रसधारा। श्रीहट्टमें ही नहीं, पूर्वबंगमें सर्वत्र फैल गयी उनकी प्रतिभा और भक्तिमयताकी ख्याति।

अवसर जान माता–पिताने उनका विवाह कर दिया। कुछ दिन बाद एक पुत्रका जन्म हुआ। पुत्रके जन्मके पश्चात् हठात् पत्नीका देहान्त हो गया। माधवेन्द्रको संसारसे वैराग्य होगया। गंगातीरपर कहीं वास करने के उद्देश्यसे वे पुत्रको लेकर पश्चिम बंगाल चले गये।

पश्चिम बंगालमें कुलिया और कुमारहट्टके बीच विष्णु ग्राम है। वहीं माधवेन्द्रने एक कुटियाका निर्माण किया और चतुष्पाठी खोलकर अध्यापन कार्य आरम्भ किया।

कुछ ही दिनों में पश्चिम बंगाल में भी उनके शास्त्र–ज्ञान और भक्ति–भाव की सर्वत्र चरचा होने लगी।

एक दिन उनके निकट आकर शरणापन्न हुए एक मेधावी तरुण। उनसे शिक्षा–दीक्षा ग्रहण कर उत्तर कालमें वेही श्रीचैतन्य महाप्रभुके गुरु श्रीपाद ईश्वरपुरीके नामसे प्रसिद्ध हुए।

कुछ दिन बाद उनकी साधन–निष्ठा और भक्ति–शास्त्रोंमें अपूर्व व्युत्पन्नताकी लोगोंके मुखसे बार–बार चरचा सुन श्रीहट्टके नवग्रामसे आये एक और तरुण छात्र। उनका नाम था कमलाक्ष। कमलाक्ष ही उत्तर कालमें प्रसिद्ध हुए श्रीचैतन्य–महाप्रभुके अभिन्न पार्षद श्री आद्वैताचार्यके रूपमें।

कमलाक्षके मुखपर माधवेन्द्रने देखी एक अपूर्व प्रतिभाकी दीप्ति और नेत्रोंमें प्रेम–भक्तिरसकी स्निग्धता। उन्हें उनके अन्तरमें छिपे अनन्य–साधारण व्यक्तित्वको पहचाननेमें देर न लगी। उन्होंने दोनों हाथ

बढ़ाकर उन्हें अपनी गोदमें भर लिया। घरमें आश्रय देकर वात्सल्य की उनपर वृष्टि की।

भगवतका अध्ययन करनेके साथ ही जाग चुकी थी माधवेन्द्रके हृदयमें कृष्ण–प्रेमकी अनन्त पिपासा। उनके निष्ठावान, सात्विक जीवनमें बह चली थी रागानुगा–भक्तिरसकी पावन धारा। वे सदा जयदेव, विद्यापति और चंडीदासके भावलोकमें विचरा करते और उनकी कोमलकान्त पदावलियोंसे अपने भावुक हृदयको रसायित कर राधा–कृष्णकी मधुर लीलाओंके चिंतन में डूबे रहते।

तब भी उनकी पिपासा न मिटती। उन्होंने सुना था दक्षिण देशमें तामिल आलवरोंमें भागवत धर्म के एक अपरूप माधुर्यमय विकासके बारेमें। उनका मन मचल पड़ा दक्षिण देशकी यात्रा करने को। उन्होंने निश्चय किया कि संसार–कूपसे सदा के लिए बाहर निकलकर दीन–हीन, कंगाल वंशमें दक्षिणके तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए कुछ दिन वहाँके प्रेमिक साधकों का संग करेंगे।

एक दिन अपने प्रिय छात्र कमलाक्षको बुलाकर उन्होंने कहा–"वत्स! मेरे जीवनका अब आरम्भ होने जारहा है एक नया अध्याय। इष्टदेव श्यामल किशोरका अन्वेषण करने मैं संसार छोड़कर जारहा हूँ। बालक विष्णुदासके पालन–पोषणका भार तुम्हारे ऊपर छोड़े जा रहा हूँ। यदि श्यामलकिशोर के दर्शन मिले तो इधर लौटूंगा, नहीं तो नहीं।"

"यह क्या गुरुदेव!" कमलाक्ष कहकर रो पड़े। विस्फारित सजल नेत्रोंसे उनकी ओर देखते रह गये।

"कमलाक्ष!" गुरुदेवने स्नेहके स्वरमें कहा "मुझ दीन–हीन साधक के लिए तुम्हारे अश्रु शोभा नहीं देते। अश्रु बहाने ही हैं तो बहाओ समस्त विश्वके लोगोंके लिए, जन्म–मरणकी चक्कीके दोनों पाटोंमें निरन्तर पिसते हुए त्रिताप–त्रस्त जीवोंके लिए, जिनका रोना सभी रुकता ही नहीं और उनके लिए, जिनके आविर्भावके बिना जीवोंका उद्धार संभव नहीं।"

"उनका आविर्भाव क्या संभव है, गुरुदेव!?" कमलाक्षने आशा और निराशाके मिश्रित स्वरमें प्रश्न किया।

"संभव ही नहीं निश्चित है, वत्स! मैं दिव्य–दृष्टिसे देख रहा हूँ कि उनके आनेका समय निकट है। मनुष्यके पापकी आज सीमा नहीं है। हिंसा और द्वेषकी अग्निमें विश्व झुलस रहा है। यही तो अवसर है उनके

आनेका। पर वत्स! उन्हें शीघ्र आविर्भूत करानेके लिए मैं भारतके प्रत्येक तीर्थ में जा–जाकर तिल और तुलसी हाथमें ले रो–रोकर उन्हें आह्वान करूँगा। तुम्हें भी तिल–तुलसी लेकर, रो–रोकर उन्हें पुकारना होगा।"

माधवेन्द्र निकल पड़े कमला और विष्णुदाससे बिदा लेकर श्यामल नव–किशोर के सन्धान के पथपर।

सन्यास-दीक्षा

घर छोड़नेके बाद–सन्यास दीक्षा आवश्यक समझ वे खोजने लगे किसी शक्तिमान सन्यासीको, जिसका आश्रय ले सकें। भाग्यसे भ्रमण करते–करते पुरी सम्प्रदायके सन्यासियोंकी एक जमातसे उनकी भेंट हुई। उनके नेतासे प्रभावित हो उन्होंने उनके चरणोंमें आत्मनिवेदन किया शुभ मुहुर्तमें दीक्षा ग्रहणकर उनके शिष्य होगये। कुछ दिन उनके साथ रह उनकी सेवा की। फिर चल पड़े दक्षिणकी यात्रापर।

सन्यास–दीक्षा तो उन्होंने औपचारिक दृष्टिसे ले ली। पर उनके मन–प्राण इससे नहीं भरे। ज्ञान–मार्गीय सन्यासके शुष्क पथसे टकराने लगी उनके प्रेमधर्मकी अन्तः सलिला की रसधारा, जो तरुण वयससे ही उनके जीवनमें बहने लगी थी। उनके जीवनमें छिड़ गया एक भीषण अंतर्द्वन्द्व।

उड़ुपीमें भक्ति-साधना

इस मानस संकटमें पर्यटन करते–करते वे पहुँचे श्री माधवाचार्यके द्वैतवादी सम्प्रदायके प्रधान केन्द्र उड्डुपी। उस समय उड्डुपी–मठके आचार्यपदको सुशोभित कर रहे थे एक भक्ति–सिद्ध महापुरुष–आचार्य लक्ष्मीपति, जिनकी वैष्णवी दीक्षा लेकर वे अभीष्ट–सिद्धिके पथपर अग्रसर हो सकेंगे। इसलिए उन्होंने उनसे वैष्णवो–दीक्षा ग्रहणकी और उड्डुपीमठमें रहकर भक्ति साधना प्रारम्भकी।

पर उनके ह्रदयमें जिस रसमयी रागानुगा भक्ति–लताका अंकुर फूटा था, उसका धीरे–धीरे विस्तार होने लगा। उसी अवस्थामें जयदेवके गीत–गोविन्द, विल्वमंगलके कृष्णकर्णामृत और आलवारोंके प्रेम–धर्मने उन्हें विशेष रूपसे प्रभावित किया। उनके प्रभाव से वे राधा–कृष्णकी प्रेम–लीलाओंके चिन्तनमें ऐसे डूबे कि फिर उभरनेका नाम ही नहीं लिया। कुछ ही दिनोंमें उन्हें अभीष्ट–सिद्धि हुई। उनके ह्रदयमें सदाके लिए प्रतिष्ठित हुई राधा कृष्णकी रसोज्ज्वल मूर्ति और उनके जीवन–मंचपर प्रारम्भ हुई उनकी मधुर रसमयी लीला।

रागानुगाके साधकके जीवनमें भक्ति–सोतस्विनीकी गति कभी–कभी इसी प्रकार बड़ी वक्र होती है। पर टेढ़े–मेढ़े रास्तोंमें होती हुई, साधनके

विभिन्न पथोंमें बहती हुई, ज्ञान, कर्म और वैधी भक्तिकी चट्टानोंसे टकराती हुई अन्तमें वह जा मिलती है कृष्ण–प्रेमके रस सागरमें।

कृष्ण प्रेम–रससागरमें अवगाहन करने के पश्चात् आरम्भ हुआ रसिकशिरोमणि श्री माधवेन्द्रपुरीजीका आचार्य–जीवन। वे भारतकी यात्रापर निकल पड़े। भारतकी प्रेम–धर्म–साधनाके उत्सके रूपमें उनका आविर्भाव हुआ। उसी उत्सका परवर्ती कालमें श्री चैतन्य महाप्रभुकी महाभावमयी प्रेमगंगाके रूपमें महाप्रकाश हुआ।

श्री चैतन्य महाप्रभु जब दक्षिणकी यात्रापर जा रहे थे, सार्वभौम भट्टाचार्यने उनके गोदावरीके तीरपर माधवेन्द्रपुरीके प्रशिष्य राय रामानन्दसे मिलनका आग्रह किया था और कहा था–

तोमार संगेर योग्य तेंहो एक जन।
पृथ्वीते रसिक भक्त नाहि ताँर सम।।[1]

अर्थात् वे एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो सर्वथा तुम्हारे संगके योग्य हैं। उनके समान रसिक पृथ्वीमें दूसरा नहीं हैं।

श्री चैतन्य उनसे मिले थे और यात्रासे लौटकर सार्वभौम भट्टाचार्यसे कहा था–"दक्षिण में नाना धर्मों और धर्म–पथोंसे मेरा संस्पर्श हुआ। पर मैंने देखा कि रामानन्दका धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है।"[2]

रामानन्दका धर्म श्री माधवेन्द्रपुरी द्वारा प्रचारित रसोपासनाका प्रेमधर्म ही था, जो उन्होंने गुरु–परम्परासे प्राप्त किया था।

जिस प्रेमधर्म और रसरीतिका श्री माधवेन्द्रपुरीने प्रचार किया, उससे सन्यासी, गृहस्थ, आचार्य सभी आकर्षित हुए। सभी वर्गके असंख्य लोगों ने उनका आश्रय प्राप्त किया।

भारतके दक्षिण अंचलमें परमान्दपुरी, पश्चिममें श्रीरंगपुरी और पूर्वमें श्रीअद्वैताचार्य और श्रीपुण्डरीक विद्यानिधिने उनके धर्मका विस्तार किया। उनके और भी बहुत–से विरक्त शिष्य हुए, जिनमें प्रधान थे–ईश्वरपुरी, ब्रह्मानन्दपुरी, विष्णुपुरी, रघुपति उपाध्याय, कृष्णानन्द नृसिंहतीर्थ, सुखानन्दपुरी, रामचन्द्रपुरी, रघुनाथपुरी, अनन्तपुरी, गोपालपुरी इत्यादि। उनके गृहस्थ शिष्योंमें प्रधान थे नवद्वीपके श्रीवास पंडित रत्नगर्भ आचार्य, शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी, गंगाधर, हिरण्य, सदाशिव, जगदीश इत्यादि।

श्रीवास पंडितने अपने प्रभावसे प्राक्–चैतन्ययुगमें ही एक छोटा, पर दृढ़ भक्त–समाज संगठित कर लिया था। माधवेन्द्रपुरीके शिष्य पुण्डरीक विद्यानिधिने श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अति अंतरंग श्रीगदाधर पंडित को दीक्षा दी थी। उन्हीके शिष्य राघवेन्द्रने राय रामानन्दको दीक्षा दी थी।

१. चै० च० २/७/६४
२. कविकर्णपुर : चैतन्य-चन्द्रोदय

श्री जीवगोस्वामीकी वैष्णव–वन्दनाके अनुसार माधवेन्द्रपुरीके शिष्य श्रीसंकर्षणपुरीने श्रीनित्यानन्द प्रभाको दीक्षा दी थी।

इस प्रकार श्रीमाधवेन्द्रपुरीने श्रीचैतन्य महाप्रभुके आविर्भावकी भूमिका तैयार करनेमें कोई कसर नहीं रखी।

भक्तिरत्नाकरमें उल्लेख है कि दक्षिण भ्रमण करते समय श्रीमाधवेन्द्रपुरीकी श्रीनित्यानन्द प्रभुसे भी भेंट हुई थी और नित्यानन्द प्रभुने गुरु–बुद्धिसे उनका सम्मान किया था।[1]

गोपालका नया आदेश

गोपालकी सेवामें व्रजमण्डलमें रहते माधवेन्द्रपुरीको दो वर्ष हो गये।[2] उनका समय बड़े आनन्दसे कट रहा था। गोपाल अपनी सेवाके लिए अजस्र भोग–सामग्री न जाने कहाँसे नित्य मँगा लेते थे। माधवेन्द्रको उसकी चिंता बिलकुल नहीं करनी पड़ती थी। नित्य ही गोपालके मन्दिरमें महोत्सव–सा लगा रहता था। माधवेन्द्रका आजीवन उन्हें छोड़कर कहीं जानेका कोई प्रश्न नहीं था।

एकदिन गोपालने स्वप्न में उनसे कहा–"माधवेन्द्र! तुम सेवा तो अच्छी कर रहे हो। तुम्हारी सेवा से मैं प्रसन्न हूँ। पर देखो, ग्रीष्मके ताप से मेरा शरीर जला जारहा है। इसके लिए कुछ करो न।"

माधवेन्द्र सुनकर आवाक्! ज़िसका नाम लेने मात्रसे मनुष्यकी जन्म–जन्मकी ज्वाला मिट जाती है, उसके शरीरमें ज्वाला! यह कैसी प्रभुकी नयी लीला! वे विस्फारित नेत्रोंसे प्रभुकी ओर देखते रहे।

प्रभु फिर बोले–"देखों, नीलाचलमें मलयज चन्दन मिलता है। गरमी के दिनोंमें भक्तगण जगन्नाथजीके देहमें उसका लेप करते हैं। वही चन्दन लगाकर मेरे शरीरमें मलो। तभी मेरी ज्वाला दूर होगी। और देखो, किसी औरको भेजकर मँगवानेसे काम न चलेगा। तुम्हें स्वयं ही जाकर लाना होगा।"[3]

लीलामयकी लीला कौन समझ सकता है? वे किस उद्देश्यसे कब क्या लीला करते हैं, कौन जान सकता है? भक्तके लिए तो उसे जाननेका प्रश्न ही नहीं। उसके लिए तो उनकी आज्ञा ही सब कुछ है। वे जिस प्रकार सुखी रहें उसीमें उसका सुख हैं।

नीलाचलके पथपर

माधवेन्द्रपुरी दूसरे दिन ही नीलाचलकी पदयात्रापर चल दिये। उस समय गौड़ होकर नीलाचल जाना होता था। वे पहले गौड़ पहुँचे।

---

१. भक्ति रत्नाकर ५/२३०, २३२
२. चै० च० २/४/१०४
३. चै० च० २/४/१०६-१०७

उनके प्रिय शिष्य कमलाक्ष उस समय श्रीअद्वैताचार्यके रूपमें प्रसिद्ध हो चुके थे। गौड़ देशमें वे भक्ति–शास्त्रके प्रधान आचार्य माने जाते थे। वे शान्तिपुरमें रहते थे। उन्हींसे जाकर माधवेन्द्र पहले मिले। उन्हें श्रीअद्वैताचार्यके आनन्दकी सीमा न रही। उनमें अब ऐसा परिवर्तन हो गया था कि वे नहीं समझ पा रहे थे वे अपने सामने अपने शिक्षा–गुरुको देख रहे हैं या साक्षात् भक्ति देवीको, जो उनका रूप परिग्रहकर उन्हें दर्शन देने उनके घर पधारी हैं। उनके मुखारविन्द पर भक्तिका अपूर्व तेज था, उनकी मधुर–स्मितसे झाँक रही थी उनके अन्तःकरणकी अनन्त तृप्ति और उनके अश्रु–सजल नेत्रोंसे उस अनन्त तृप्ति की अनन्त प्यास । अनन्त–तृप्ति और अनन्त प्यासकी दोनों धाराओंके संगममें माधवेन्द्रपुरी निरन्तर अवगाहन करते, डूबते और उतराते जान पड़ते थे। प्रेमानन्द और प्रेमार्ति कृष्ण–प्राप्ति और कृष्ण–विरहने मिलकर उनके भक्ति–सिद्ध स्वरूपमें ऐसा चुम्बकीय आकर्षण उत्पन्न कर दिया था कि लोग उन्हें देख उनके चरणों में आत्म–समर्पण किये बिना नहीं रह सकते थे। अद्वैताचार्यने भी उनके चरणोंमें आत्म–समर्पण कर उनसे दीक्षा लेली।[1]

शान्तिपुर और नवद्वीपमें कुछ दिन रह माधवेन्द्रपुरीने वहाँकी भूमिको कृष्ण–प्रेम–रससे सींचकर श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रेम–धर्मकी खेती के विशाल अभियान के लिए उपयुक्त बना दिया। फिर उड़ीसाकी ओर अग्रसर हुए।

रेमुनामें

पहुँचे रेमुना। वहाँके जाग्रत ठाकुर श्रीगोपीनाथ जी के नयनाभिराम श्रीविग्रहके दर्शन किये। भावविभोर हो मन्दिरके प्रांगणमें आरम्भ किया नाम–कीर्तन। कीर्तन करते–करते अश्रु–कम्प–पुलकादि सात्विक भावके पुष्पोंको निवेदित किया गोपीनाथजीके चरण–कमलोंमें। गोपीनाथजी भी नवागत भक्तकी प्रेम–सेवाको अंगीकार कर भाव–विभोर होगये।

कीर्तन और स्तव–स्तुतिके पश्चात् माधवेन्द्र मन्दिरके जगमोहनमें जाकर बैठ गये और नेत्रोंकी अंजुलीमें गोपीनाथजीका रूप–सुधा–रस भर–भर पीने लगे।

मन्दिरमें राजाकी ओरसे उत्तम सेवाकी व्यवस्था थी। नित्य अनेक प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थों का गोपीनाथजी को भोग लगाया जाता था। पर भोग की प्रधान वस्तु थी अमृतकेलि खीर। इसकी बारह हड़ियों का नित्य भोग लगाया जाता था। यह इतनी प्रसिद्ध थी कि यात्री इसका स्वाद चखने के लिए लालायित रहते थे।

---

१. चै० च० २/४/११०-१११

माधवेन्द्र के मन में भी इसका स्वाद लेने की स्पृहा जागी। उन्होंने सोचा–यदि मुझे इसका स्वाद चखने का अवसर मिलता, तो मैं समझ पाता कि यह क्या वस्तु हैं और इसके बनाने की विधि मालूम कर अपने गोपालका इसका भोग लगाता।

गोपालकी प्रेम–सेवा के भाव में बहकर माधवेन्द्रको अपने स्वरूपकी विस्मृति होगयी। दूसरे ही क्षण उन्हें ध्यान आया तो वह अस्फुट स्वर में अपनेको धिक्कारने लगे–"छिः छिः। सन्यासी होकर खीरकी वासना! मैंने अयाचक–वृत्तिका व्रत लिया है। आजतक किसी वस्तुकी स्पृहा नहीं की। किसीसे कुछ माँगा नहीं। पर आज मझे यह क्या होगया? यह महापाप मेरे मनमें कैसे आया? नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं खीर माँगूँगा नहीं। यदि मेरे गोपालकी खीर खानेकी इच्छा होगी, तो वह स्वयं ही किसको प्रेरणा देकर खीर भिजवानेकी व्यवस्था कर देगा।"[1]

माधवेन्द्रपुरीके लिए गोपीनाथजीकी खीर–चोरी

भोगराग समाप्त होनेपर माधवेन्द्र मन्दिरसे बाहर निकल आये। रात्रि हो गयी थी। रेमुना का बाजार बन्द हो गया था। बाजार में एकान्त देख वे वहाँ एक कौनेमें जा बैठे। निश्चय किया कि आज सारी रात जाग कर नाम–कीर्तन करेंगे और नाम–कीर्तन द्वारा हृदयमें जागी खीरकी वासनाके अपराधका मार्जन करेंगे।

कीर्तन आरम्भ हुआ। उधर मन्दिरके पुजारी ठाकुरको शयन कराकर बगलके कमरेमें जा सोये। कुछ देर बाद, जब रेमुनामें अन्धकारने अपने साम्राज्यका पूरा विस्तार कर लिया और चारों ओर सन्नाटा–सा छा गया, हठात् किसीके मृदु मधुर कण्ठकी आवाजने उसे जगा दिया। उसने सुना किसीको कहते–"ओ रे उठ!"

पुजारी हड़ बड़ाकर उठा। किसका स्वर है यह?। जनमानवविहीन इस अंचलमें कौन किसे जगा रहा है?।

फिर वही सुधास्निग्ध स्वर–"अरे उठ, शीघ्र उठ देख मेरे पीताम्बरकी ओटमें एक हंड़िया खीर है। मैंने इसे चुरा लिया था अपने प्रिय भक्त माधवेन्द्रपुरी के लिए। वह बाजार में एक वृक्षके नीचे बैठा मेरे नामका कीर्तन कर रहा हैं। उसे खीर–प्रसाद शीघ्र दे आ। जबतक वह इसे पा नहीं लेगा, मुझे चैन न पड़ेगा।"[2]

क्या? स्वयं गोपीनाथ दे रहे हैं यह आदेश! पुजारीको रोमांच हो आया। जल्दीसे मन्दिरका दरवाजा खोला। ठाकुरके निकट जाकर देखी सचमुच उनके पीताम्बरकी ओटमें छिपी अमृतकेलि खीरकी एक हंड़िया।

१. चै० च० २/४/१२२-१२४
२. चै० च० २/४/१२३-१२४

फिर उसने गोपीनाथजीकी ओर देखा और देखता रह गया। वह कुछ कह न सका। उसके नेत्रोंसे टपक पड़े दो आँसू। गोपीनाथने उसके मनकी बात जानली। वह कहना चाहता था–"प्रभू, तुम अपने भक्तके लिए चोरी भी कर सकते हो!"

प्रकृतिस्थ हो उसने पीताम्बरके नीचे से हंड़िया निकाली। उसे लेकर "माधवेन्द्रपुरीजी महाराज, माधवेन्द्रपुरीजी महाराज"! की आवाज लगाता हुआ उन्हें खोजने लगा। थोड़ी दूर जाकर उसे सुनाई दी उनके मधुरकण्ठ की कीर्तन–ध्वनि। उनके निकट जाकर उसने आदरपूर्वक दण्डवत् प्रणाम किया। फिर पूछा–"स्वामीजी! आप ही हैं न श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी?"

पुरीजी कुछ उत्तर दें उसके पूर्व ही उसने खीर की हंड़िया उनके सामने रखी और भाव–गद्‌गद् कण्ठसे बोला–"महाराज! आपके भाग्यकी सीमा नहीं। गोपीनाथजीने यह आपके लिए भेजी है। इसे उन्होंने स्वयं चुराकर अपने पीताम्बरमें छिपा रखा था। अभी मुझे जाकर आपको दे आनेकी आज्ञा दी है। आप इसे शीघ्र ग्रहण करें। जबतक आप इसे आरोग नहीं लेंगे गोपीनाथजी को चैन न पड़ेगा। यह भी उन्होंने मुझसे कहा है।"

उसी क्षण पुजारीके हृदयमें उठी कृष्ण–प्रेमकी आँधी और उसने उनके सारे शरीरको झकझोर दिया। अश्रु–कम्प–पुलकादि सात्विक प्रेम–विकारोंने उन्हें घेर लिया। वे चेतनाशून्य हो भूमिपर लेट गये।

पुजारी उनकी यह दशा देख मन ही मन कहने लगे–धन्य हैं आप पुरी महाराज! धन्य हैं आपका प्रेम! प्रभुको क्यों आपके लिए खीरकी चोरी करनी पड़ी, यह मैंने समझ लिया।

थोड़ी देरमें प्रकृतिस्थ हो पुरी महाराज उठ बैठे। पर अश्रु–कम्पादि का अभी शेष नहीं। वे दोनों नेत्रोंसे नीर बहाते जारहे हैं और खीर खाते जा रहे हैं। बीच–बीचमें अस्फुट स्वरमें कहते जा रहे हैं–"दीनानाथ! तुम्हारी करुणाकी बहुत–सी कहानियाँ सुनी थी। शास्त्रोंमें तुम्हारी करुणाके विषय में बहुत कुछ पढ़ा था। पर तुम मुझ जैसे अधम व्यक्तिपर भी इतनी कृपा कर सकते हो, उसके लिये खीरकी चोरीतक कर सकते हो और जबतक खीर खा न ले स्वयं इतना बेचैन रह सकते हो, इसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी।"

खीर–प्रसाद तो पुरीजी ने खा ही लिया, खीरकी हंडियाके टुकड़े कर उसका एक–एक कण अपने बहिर्वासमें बाँध लिया। नित्य स्नान–पूजादिके पश्चात उसका एक कण मुखमें डालनेका नियम बना लिया। वे उस एक कणको मुखमें डालते ही आत्म–विभोर हो जाते,

आनन्दाश्रु विसर्जन करते हुए नाँचते–नाँचते बेसुध होजाते।[1]

इस घटनाका शीघ्र प्रचार हो जायगा और उनकी ख्याति उनके भजन–पथमें बाधा डालेगी, इस भयसे सूर्य निकलने के पूर्व ही माधवेन्द्र मन ही मन गोपीनाथजी को प्रणाम कर नीलाचलकी ओर चल दिये।[2]

गोपीनाथजीकी चोरीकी यह बात कोई नयी नहीं थी। चोरी करने का तो उनका चिरस्वभाव ही ठहरा। व्रजमें उनकी माखन–चोरी प्रसिद्ध थी। पर माखन तो वे तब चुराया करते थे, जब छोटे थे। तब वे चोरी करना सीख ही रहे थे। बड़े होकर उन्होंने किसका क्या नहीं चुराया, उसकी यादकर एक कविने चोराग्रगण्यके के रूपमें उन्हें बार–बार नमस्कार किया है–

व्रजे प्रसिद्धं नवनीत चौरं
गोपांगनानांच दुकूल चौरं।
अनेक जन्मार्जित पाप चौरं
चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ।।
श्रीराधिकाया हृदयस्य चौरं
नवाम्बुद श्यामलकान्ति चौरं।
पदाश्रितानां समस्त चौरं
चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि।।
अकिंचनीकृत्य पदाश्रितं यः
करोति भिक्षुं पथिगेहहीनं।
केनाप्य हो भीषण चौरं इदृक्
दृष्टः श्रुतो वा न जगत्रयेपि।।

अर्थात् ब्रजमें तुमने माखन चुराया, गोपियोंके वस्त्र चुराये और उनका हृदय चुराया, जड़–चेतन जो दीखा, उसका जो मिला वही चुराया, नव–मेघकी श्यामलकान्तितक तुमने चुरा डाली। तुम अपने आश्रितजनोंको भी नहीं छोड़ते। जो तुमरी शरण में आता है उसका धन–सम्पत्ति सब चुरा कर उसे अकिंचन कर देते हो और बाबाजी बनाकर दर–दर भीख मांगने को छोड़ देते हो। चोर तो केवल अच्छी चीजें ही चुराता है, तुम अपने आश्रितजनोंका अच्छा–बुरा सब चुरा लेते हो, उनके जन्म–जन्मके पाप तक चुराकर उन्हें नंगा कर देते हो। तुम्हारा जैसा चोर न कभी देखा न सुना। हे चोर चूणामणि, तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है!

यद्यपि गोपीनाथजीने चोरी कर कोई नयी बात नहीं की थी,

१. चै०च० २/४/१३९-१४८
२. च०च० २/४/१३९-१४०

उनकी इस चोरीकी एक विशेषता अवश्य थी। धन—सम्पत्ति, मान—मर्यादा, पाप—ताप, प्राण—सर्वस्व यह सब तो वे दूसरोंका चुराया करते थे। इस बार उन्होंने दूसरे किसीका कुछ नहीं चुराया। चुराया अपना ही। खीर तो उन्हें निवेदितकी गयी उनकी अपनी ही प्रसादी थी। उसे वे बिना किसी रोक—टोकके जिसे चाहते दे सकते थे। पुजारीसे कह सकते थे एक हंड़िया माधवेन्द्रपुरी जीके लिए बचाकर रखनेको। पर उन्होंने उसे चुराकर अपने पीताम्बरमें छिपाया और रात्रिके अंधकारमें चुपचाप पुजारीको भेजा उन्हें दे आनेको। ऐसा उन्होंने क्यों किया? इसका क्या रहस्य है?

रहस्य कुछ नहीं सिवा इसके कि वे अपना 'खीर चोरागोपीनाथ' नाम रखवाकर अपने भक्तवात्सल्यका ढिंढोरा पीटना चाहते थे। बता देना चाहते थे संसारके पतित जीवोंको कि ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसे अपने प्रिय भक्तके लिए वे नहीं कर सकते, जिससे उनसे विमुख जीव भी उनके भक्तवात्सल्यसे आकृष्ट हो उनका भजन करें।

आज भी रेमुनाके गोपीनाथजी 'खीरचोरा गोपीनाथ' के नामसे प्रसिद्ध हैं। यह नाम सुन लोग उनका इतिहास पूछते हैं और उनके भक्तवात्सल्यकी अनुपम कहानी सुन द्रवित होते हैं। यदि गोपीनाथजी पुजारी या अपने किसी भक्तको आन्तरिक प्रेरणा देकर सहज रूपसे पुरीगोस्वामीके पास खीर—प्रसाद पहुँचा देते, तो उनके भक्तवात्सल्य के कीर्ति—स्तम्भ की स्थापना कैसे होती? कैस पुरी गोस्वामीपर उनके वात्सल्सकी इतनी गहरी छाप पड़ती?

नीलाचलमें

गोपीनाथजीको असीम, अहैतुकी कृपाका स्मरण करते—करते माधवेन्द्रपुरी नीलाचल पहुँचे। जगन्नाथजीके दर्शन कर प्रेमविह्वल होगये। प्रेमावेशमें हंसने, नाचने, गाने और पृथ्वीपर लोट—पोट होने लगे। उनका भाव देख लोग चकित रह गये। उनकी ख्याति उनसे पहले ही वहाँ पहुँच चुकी थी। उनके पहुँचते ही संवाद चारों ओर फैल गया कि जिन्होंने वृन्दावनमें गोपालजीको प्रकट किया, जिनके लिए गोपीनाथजीने खीरकी चोरीकी, वही भक्ति—सिद्ध महापुरुष नीलाचल पधारे हैं। पंडा, पुजारी, राजकर्मचारी नीलाचल वासी और यात्री सब उमड़ पड़े महापुरुषके दर्शन करने।

माधवेन्द्रपुरीजीने हाथ जोड़कर विनम्र स्वरसे सबसे निवेदन किया "भाई, मेरी एक प्रार्थना है। मेरे प्राणस्वरूप गोपालजीके शरीरका ताप अभीतक नहीं गया है। ताप मिटानेके लिए मुझे यहाँसे मलयज चन्दन और कपूर ले जाकर उनके शरीरपर उसका लेप करना है। आप लोग दोनों

उपहार जुटा दें तो बड़ी कृपा हो।"

यह सुन राजकर्मचारी और विशिष्ट लोग दोनों वस्तुओंका संग्रह करनेमें लग गये। उचित समय पर एक मन चन्दन और बीस तोला सुवासित कपूर एकत्र होगया। चन्दन और कपूर ले जानेके लिए वाहकोंकी व्यवस्था की गयी। माधवेन्द्रपुरी वाहकोंके साथ वृन्दावनके पथपर अग्रसर हुए।

रेमुनामें दूसरी बार

कई दिन चलकर वे फिर रेमुना पहुँचे। गोपीनाथजीके मन्दिर गये दर्शन करने। खीरकी चोरीके बाद यह उनका गोपीनाथ का प्रथम दर्शन था। खीर–चोरीकी घटनाने भक्त और भगवान् दोनों को एक दूसरेके कितना निकट ला दिया था, दोनों एक–दूसरेको कितना अपना जानने लगे थे, यह इस बात से स्पष्ट है कि इसबार भगवान्के दर्शनपर भक्तपर जितना प्रेम बरसाया जारहा था,जितना उनका सम्मान किया जा रहा था और सेवाकी जारही थी, उसका अन्त नहीं था।

यहाँ भी माधवेन्द्रपुरीजीके आगमन का संवाद चारों ओर फैलने में देर न लगी। यहाँ भी नीलाचलकी तरह गोपीनाथजीके विशेष कृपापात्रके रूपमें उनके दर्शनके लिए लोगोंकी भीड़ उमड़ पड़ी।

पूजा, आरती और नृत्य–कीर्तनादिके पश्चात् मन्दिरके सेवकोंने किसी प्रकार भीड़को बाहर किया। माधवेन्द्रने प्रसाद ग्रहण करनेके पश्चात् मन्दिरके जगमोहनके एक कोनेमें आनन्द पूर्वक विश्राम किया।

रात्रिमें उन्होंने देखा एक स्वप्न। देखा कि गोपाल त्रिभंग मुद्रामें उनके सामने खड़े हैं, मूखपर है मधुर स्मित और कह रहे हैं–"माधवेन्द्र! अब तुम्हें चन्दन–कपूर लेकर और अधिक भाग–दौड़ करने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारा चन्दन और कपूर तो समझो मुझे मिल गया। अब तुम गोपीनाथजीके अंगमें ही नित्य चन्दन–कपूरका लेप करो। उसीसे मेरा देह शीतल हो जाएगा। जो गोपीनाथजी हैं, वही मैं हूँ। मेरे और उनके शरीर में भेद नहीं हैं।"[1]

सवेरा होते ही माधवेन्द्र पुरीजीने स्वप्नका सारा वृत्तान्त कहा। पुजारी सोल्लास गोपीनाथजीको चन्दन और कपूरसे सेवा नित्य करने लगा। माधवेन्द्रजी ग्रीष्मकाल में वहीं रहकर गोपीनाथजी की सेवा के दर्शन करते रहे। ग्रीष्म समाप्त होनेपर वे नीलाचल लौट गये।[2]

---

१. चै० च० २/४/१५७-१६१
२. चै० च० २/४/१६९

संकल्प-पूर्ति

माधवेन्द्रपुरीजीने सन्यास ग्रहण करने के पूर्व गोलोकपति श्रीकृष्णके अवतारको त्वरान्वित करनेका संकल्प लिया था। उनकी वह महत्वाकांक्षा अभीतक पुरी नहीं हुई थी। उसके पूरा हुए बिना उन्हें चैन कहाँ था? उन्हें दिन-रात यही चिन्ता व्यथित किये रहती-क्या मेरा वह सौभाग्य कभी होगा? क्या मेरे इस जीवन में प्रभुका आविर्भाव होगा? क्या मैं इन नेत्रोंसे उनका प्रत्यक्ष दर्शन कर कृतार्थ होऊँगा?

इस आकाँक्षाकी पूर्तिके लिए उन्होंने प्रवेश किया झारिखण्डके गहन वनमें। वहाँ एकान्तमें प्रारम्भ हुआ उनका ध्यान और जपके बीच प्रभुको रो-रोकर पुकारनेका नया क्रम, नयी तपस्या।

उधर शान्तिपुरमें श्रीअद्वैताचार्यने भी प्रारम्भ कर दिया था तिल-तुलसी निवेदन कर प्रभुको आर्तिभरे स्वरसे अश्रुजल विसर्जन करते हुए पुकारना।

कहते हैं कि श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी का संकल्प सिद्ध हुआ। नवद्वीपमें जब श्रीजगन्नाथ मिश्रके घर श्रीकृष्ण का श्रीचैतन्य महाप्रभुके रूपमें आविर्भाव हुआ, तब वे जीवित थे। नवद्वीप जाकर उन्होंने नवजात शिशुके दर्शन कर अपने जीवनकी साध पूरी की थी।

अन्त्य-लीला

नवद्वीपसे लौटकर श्रीपादने अपने शिष्य मैथिल पंडित श्रीपरमानन्द पुरीको निकट बुलाकर कहा-"मेरी मनोकामना पूर्ण होगयी हैं। परम प्रभुका आविर्भाव होगया है। संसारसे विदा होनेका मेरा समय भी निकट आगया है। मेरे लिए दुःख न करना। तुम भाग्यशाली हो, क्योंकि प्रभुकी लीलाका दर्शन करोगे। मुझे विधिके विधानानुसार उसके पहले ही चले जाना होगा।"

महाभावावेशमें पुरीजीके अंतिम दिन बीतने लगे। कभी स्फूर्तिमें कृष्णका दर्शन होता, कभी अदर्शन। दर्शनके बाद अदर्शन, अदर्शनके बाद दर्शन; मिलनके बाद विरह, विरहके बाद मिलन। विरह और मिलनके झूलेमें उनके प्राण सदा झूलते रहते।

विरह की स्थितिमें उनका रोना-चीखना और भूमिपर लोट-पोट होना देख रसिक-जन उन्हें कृष्ण-प्रेमका पागल जान उनके भाग्यकी सराहना करते, अरसिक उनका रोना-धोना देख उसे कृष्ण-प्रेमका दुष्परिणाम जान कृष्ण-प्रेमकी निन्दा करते।

उस समय माधवेन्द्रपुरीजीके पास रहते रामचन्द्रपुरी नामके उनके एक शिष्य। उनके शिष्य होते हुए भी वे अपने पुराने संस्कारोंके कारण

ज्ञानमार्गके दलदलसे अभी पूरी तरह निकल नहीं पाये थे। अंत समय गुरुदेवकी ऐसी अवस्था देख उनसे न रहा गया। वे बोले–"गुरुदेव! आप क्यों रो–रोकर व्याकुल हो रहे हैं, अस्वस्थ शरीरको और भी अस्वस्थ कर रहे हैं? आपके समान तत्व–ज्ञानी पुरुषको क्या यह शोभा देता हैं? अपने ब्रह्म–स्वरूपका चिन्तन कर क्यों नहीं हृदयका ताप दूर करते?"

श्रीपाद गरज उठे–"अरे ज्ञानी–मूर्ख! मैं तो कृष्ण–विरहकी ज्वाला से मर रहा हूँ। तू ज्ञानका पाठ पढ़ाकर कटेपर नमक छिड़क रहा है। तू क्या जाने कृष्ण–प्रेम किसे कहते हैं? पापी, दूर हो यहाँसे। मरते समय तेरा मुख देख नरक न जाना पड़े मुझे। दूर हो जल्दीसे।"

रामचन्द्रपुरीको उसी समय गुरुदेवसे विदा होना पड़ा।

विचित्र है कृष्ण–प्रेमकी विषम गति। इसे कोई ज्ञानी क्या समझे। कृष्ण–प्रेममें विरह भी कितना आनन्दमय है, विरहका आनन्द मिलनसे भी अधिक हैं। मिलनमें एक कृष्णके दर्शन होते हैं, विरहमें विश्व कृष्णमय हो जाता है, रोम–रोममें कृष्ण समा जाता है। मिलनमें शरीरका शरीरसे, इन्द्रियों का इन्द्रियोंसे मिलन होता है, विरहमें मनका मनसे, प्राणका प्राणसे मिलन होता है। विरहमें तन्मयता अधिक होती है, इसीलिये आनन्द भी अधिक होता है। मिलन का आनन्द तरल होता है। जैसे जल तरल और शीतल है, पर धनत्व धारण कर बरफ हो जानेपर उसका स्पर्श जलनका–सा अनुभव कराता है, उसी प्रकार आनन्द घनीभूत हो जानेपर एक प्रकारकी वेदना का अनुभव कराता है। पर वह वेदना परम आनन्दकी वेदना होती है, दुःखकी नहीं। विरह बाहरसे ही विषके समान प्रतीत होता है, भीतरसे अमृतके समान होता है। जो कृष्ण–प्रेम रसके सरोवरमें डूब जाता है वही जान सकता है कि कृष्ण–विरह कितना आस्वादनीय है।

माधुर्य मूर्ति श्रीकृष्णके माधुर्य–रसका अन्त नहीं। उनके रूपैश्वर्यका भी अन्त नहीं। इसीलिए उनके प्रमी भक्तों के रसास्वादनका भी अन्त नहीं। अनाद्यन्त माधुर्यका अनाद्यन्त आस्वादन। जितना आस्वादन उतना आस्वादन करनेकी और अधिक चाह। इसीलिए श्रीपाद माधवेन्द्रपुरीकी यह आर्ति, यह रोना–धोना और चीख–पुकार।

इस समय गुरु सेवाका भार था श्रीपाद ईश्वरपुरी पर। वे श्रद्धाभक्तिपूर्वक रात–दिन उनकी सेवा–परिचर्या में संलग्न रहते, कृष्ण–नाम–गुण–लीला–कीर्तन द्वारा उनके हृदयकी वेदना दूर करते। माधवेन्द्रपुरी भी हृदय–कलशसे स्नेहकी धारा उनपर उड़ेलते रहते। अपने महाप्रयाणके एक दिन पूर्व उन्हें अपने निकट बुलाकर अपना हाथ उनके मस्तकपर फेरते हुए बोले–"वत्स, मेरे जाने का समय अब अति निकट है। जानेके पूर्व तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि कृष्ण प्रेमसे तुम्हारा हृदय भरपूर

हो, कृष्णकी तुम्हें प्राप्ति हो।"[1]

गुरुका आशीर्वाद फलीभूत हुआ। ईश्वरपुरीका हृदय कृष्ण–प्रेमामृत से भरपूर हुआ। उसी प्रेम–सरोवरमें अवगाहनकर श्रीकृष्ण चैतन्यने जगत् को प्रेमसे परिप्लूत किया।

तभी श्रीकृष्णदास कविराजने कहा है कि माधवेन्द्रपुरीने जिस प्रेमांकुरका रोपण किया, उसीने श्रीकृष्ण चैतन्यरूपी वृक्षका रूप धारण किया–

पृथ्वीते रोपण करि गेला प्रेमांकुर।
सेई प्रेमांकुरेर वृक्ष चैतन्य ठाकुर।

आज श्रीपाद माधवेन्द्रपुरीकी लीलाका अन्तिम दृश्य हैं। शिष्य–सेवक उनकी शय्याके चारों ओर खड़े सजल नेत्रोंसे उनकी ओर निहार रहे हैं। वे नेत्रोंसे अश्रु विसर्जन करते हुए अस्फुट स्वरमें कह रहे है–

"अयि दीनदयाद्रनाथ हे
मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
हृदयं त्वदालोककातरं
दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम्।।

–हे दीनदयालु, हे मथुरानाथ, हे प्राणों से भी अधिक मेरे प्राणनाथ। कब दर्शन दोगे प्रभु? तुम्हारे दर्शन बिना मेरा हृदय कातर हो रहा है। मैं भ्रममयी दशाको प्राप्त हो रहा हूँ। हाय, मैं कैसे तुम्हें प्राप्त करूँ?"

इतना कह उनके सजल विस्फारित नेत्र एक नील प्रकाश की ओर टिक गये। प्रभुने आविर्भूत हो उन्हें अपने अंकमें समेट लिया।

भारतके आध्यात्मिक आकाशपर उदित हुआ था जो महाज्योतिर्मय नक्षत्र भूले–भटके जीवोंको श्रीकृष्णकी रसोपासना का मार्ग प्रदर्शित कर आकाशमें विलीन हो गया।

श्री लोकनाथ गोस्वामी और श्रीभूगर्भ गोस्वामी

भारत के आध्यात्मिक आकाशपर छाये कृत्रिम धर्मों और विशुद्ध भक्ति धर्म–विरोधी सामाजिक रूढ़ियोंके बादल अब छटने लग गये थे। पूर्व दिशामें कलिपावनावतार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके अविर्भाव के साथ प्रेम–भक्ति धर्मके सूर्यका उदय हो चुका था। उनकी आयु इस समय 23 वर्षकी ही थी। पर दिग्विजयी पंडितके रूपमें उनकी ख्याति देश विदेश में फैल चुकी थी। कुछ दिन पूर्व गयाधाम में माध्वाचार्य सम्प्रदायके श्रीपाद ईश्वरपुरीसे उन्होंने मन्त्र–दीक्षा ली थी। गयासे लौटते समय कानाइ–नाटशाला ग्राममें

१. चै० भा० १/११/१२५

मोरपुच्छ–मुरलीधारी श्रीकृष्णने दर्शन देकर उनके मन–प्राण हर लिए थे। तबसे उनका विद्या–विलास, वाग्–विलास, अध्ययन और अध्यापन समाप्त हो गया था। कृष्ण–प्रेम, कृष्ण–कथा, कृष्ण–नाम–कीर्तनके प्रचारका महा–अभियान वे आरम्भकर चुके थे। नवद्वीप नगर कीर्तनकी ध्वनिसे समुदभासित हो उठा था।

वृन्दावनके पुनरोद्धारका महाप्रभुका संकल्प और लोकनाथ

श्रीकृष्णकी लीला भूमि श्रीधाम वृन्दावनकी ओर उनका चित्त आकर्षित हुआ। उसको लुप्त प्राय अवस्थाको देख उनके प्राण रोने लगे। उसके नव–उज्जीवनका उन्होने संकल्प ले लिया। उनके प्राण वृन्दावन की ओर छूटनेको उद्विग्न हो उठे। पर उनके लिए वृन्दावन जाना अभी संभव न था। उन्होंने भक्ति धर्मके प्रचारकी जो विराट परिकल्पनाकी थी, उसके लिए अभी एकबड़े दलका संगठन करना था और उपयुक्त भूमिका तैयार करनी थी। अभी तो वे कथा–कीर्तन और लीला–अभिनय द्वारा वृन्दावन और वृन्दावनके कृष्ण–भक्ति रसकी ओर जन–जीवनको मोड़ देनेका प्रयास ही कर सकते थे। इसी कार्यमें वे व्यस्त थे। पर इसमें व्यस्त रहते हुए भी वे ऐसे सामर्थ्यवान, सर्वत्यागी और वृन्दावन के प्रति पूर्ण रूपसे समर्पित भक्तोंकी खोजमें थे, जिन्हें वे अभीसे वृन्दावनके पुनरोद्धारका कार्य सौंपकर निश्चिन्त हो सकते।

उनका भगवत्ता–भाव अब प्रकाशित हो चुका था और लोग उन्हें गौड़ीय वैष्णवोंके महान नायकके रूपमें ही नहीं, कृष्ण प्रेम प्रदान करने और युगधर्म संकीर्तनका प्रचार करनेके उद्देश्यसे अवतरित स्वयं भगवान कृष्णके रूपमें जानने लगे थे। उनके प्रचारके परिणाम स्वरूप नदियाका आकाश–बतास संकीर्तनकी ध्वनिसे गूंज उठा था। कृष्ण–प्रेमकी गंगा वहाँ बह चली थी। कृष्ण प्रेममें ऐसी शक्ति हैं कि जिस व्यक्तिमें इसका उदय होता हैं, वह स्वयं प्रयास न करे तो भी जोलोग उसके सम्पर्कमें आते हैं उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। उनमें कृष्ण–प्रेम आप ही संक्रमित होता है। पर महाप्रभु और उनके भक्त तो घर–घर जाकर हरिनाम–कीर्तन करनेका विनयपूर्ण आग्रह करते हुए कहते "भाई, हम तुम्हारे हाथ जोड़ते हैं, तुम्हारे चरण छूते हैं, एकबार हरिनाम कहो, और हमें सदा के लिए खरीद लो।" उनके कृष्ण–प्रेममें इतना बल था कि वे किसी को स्पर्श कर, किसी पर दृष्टिपात कर, किसी को आलिंगन कर, किसी को अपने अलौकिक नृत्य–कीर्तनसे प्रभावित कर अनायस कृष्ण–प्रेममें डुबा देते।

नवद्वीपमें संकीर्तन–पिता श्रीकृष्ण चैतन्यके अवतार और उनके प्रेम–धर्मके प्रचारका संवाद दूर–दूरतक फैल गया। उस समय नवद्वीप

भारतके श्रेष्ठ विद्या केन्द्रके रूपमें भारतका आक्सफोर्ड बना हुआ था। दूर–दूरसे प्रतिभाशाली विद्यार्थी जो यहाँ पढ़ने आया करते थे। इसलिए यहाँके सामाजिक जीवनमें जो भी नयी तरंग उठती, जो भी नया आन्दोलन छिड़ता, उसका संवाद विद्यार्थियोंके माध्यमसे देशमें चारों ओर पहुँच जाता। महाप्रभुके भारतके आध्यात्मिक आकाशपर प्रेम–भक्तिके सूर्यके रूपमें उदय होने का समाचार भी द्रुत गतिसे चारों ओर फैल गया।

सूदूर उत्तरी बंगालके तालखड़ी ग्राममें महाप्रभुके पुराने बन्धु लोकनाथ चक्रवर्ती रहते थे। महाप्रभु जब गंगादासकी टोलमें पढ़ा करते लोकनाथ अद्वैताचार्यसे भागवत अध्ययन किया करते। लोकनाथने जब पहली बार उन्हें देखा था, तभी उन्हें आत्म–समर्पणकर दिया था। कुछ ही दिनोंमें प्रथम परिचय प्रियताके घनिष्ठ सम्बन्धमें परिणत हो गया था। उन तक भी महाप्रभुके नये अभियान का समाचार पहुँचने में देर न लगी। उन्हें जब पता चला कि उनके प्रिय मित्र विश्वम्भर[1] का विद्याविलास, बाग्–विलास, औद्धत्य और चापल्य सुगम्भीर कृष्ण–प्रेममें परिणत हो गया है और उन्होंने विश्व भरको श्रीकृष्ण प्रेमसे भर अपना विश्वम्भर नाम सार्थक करनेका व्रत ले लिया है, तो वे आनन्दसे नाच उठे। उन्होंने उसी समय संसार त्याग कर उनके मधुमय संगमें सारा जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया और तालखड़ीसे नवद्वीपकी ओर चल पड़े।

दीर्घ पथ परिव्राजन कर श्रांत–क्लांत भक्तश्रेष्ठ लोकनाथ नवद्वीपमें महाप्रभुके भवन पहुँचे। महाप्रभु उस समय बाहर चबूतरे पर विराजमान थे। गदाधर, मुरारी, श्रीवासादि अन्तरङ्ग भक्त सामने बैठे थे। महाप्रभु भावावेशमें थे। जीवोंके उद्धारके लिए सन्यास ग्रहण करनेका संकल्प वे कर चुके थे। इसलिए कृष्ण–कथा कहते–कहते कभी–कभी बहुत गम्भीर हो जाते थे। उनका चिन्ताकुल गम्भीर बदन देख भक्तोंके प्राण सूख जाते थे।

वे ऐसी ही गम्भीर मुद्रामें थे, जब विरह–खिन्न लोकनाथ छिन्न तरुके समान उनके चरणोंमें आकर लोट गये। महाप्रभुका गम्भीर बदन सहसा आनन्दसे खिल गया। उन्होंने प्राणप्रिय लोकनाथ को उठाकर हृदयसे लगाया। गद्–गद् कण्ठसे कहने लगे–"लोकनाथ, तुम आ गये। आहा, कृष्ण की कैसी कृपा है! खोये हुए बन्धुको फिर मिला दिया।"

आनन्द से उन्मत्त हो प्रभुने आरम्भ किया नर्तन–कीर्तन। उनका दिव्यलावण्यमय रूप, अद्भूत भावोच्छावास और सात्विक प्रेम विकार देख लोकनाथ तन–मनकी सुध भूल गये।

देररात तक कीर्तन, कृष्ण–कथा और इष्ट गोष्ठीका दौर चलता रहा। अन्तमें प्रभुने कहा–"लोकनाथ, बहुत दूरसे पैदल चलकर आये हो,

१. सन्यासके पूर्व महाप्रभुका एक नाम विश्वम्भर भी था।

थके हुए हो। आज घर जाकर विश्राम करो। कल प्रातःकाल आना। तब तुमसे प्राण खोलकर मनकी सारी बात कहूँगा। कृष्णने बड़ी कृपाकी है, जो तुम्हें भेज दिया। कृष्णके एक महत्वपूर्ण कार्यके लिए मुझे तुम्हारी बड़ी आवश्यकता थी।"

लोकनाथको क्लांत होते हुए भी उस दिन रातको नींद न पड़ी। सारी रात महाप्रभुकी स्नेहपूर्ण वाणी उनके कान में गूंजती रही—"कृष्णने बड़ी कृपाकी जो तुम्हें भेज दिया। कृष्णके एक महत्वपूर्ण कार्य के लिए मुझे तुम्हारी बड़ी आवश्यकता थी।" न जाने कौन—सा महत्पूर्ण कार्य है वह, जिसके द्वारा महाप्रभु और कृष्ण दोनोंकी सेवा कर धन्य हो सकेंगे, यह विचार उनके मस्तिष्क में घूमता रहा। एक अनिर्वचनीय आनन्दसे उनका चित्त आन्दोलित होता रहा।

दूसरे दिन प्रातः वे महाप्रभुके निकट जा उपस्थित हुए। उनके चरणोंमें प्रणाम कर जैसे ही खड़े हुए, उन्होंने स्नेहपूर्वक आलिंगन कर कहा—"लोकनाथ, तुम बड़े भाग्यवान् हो। कृष्णने तुम्हें अपने एक प्रिय कार्य के लिए चुना है। तुम्हारा यहाँ रहना, आवश्यक नहीं। तुम वृन्दावन चले जाओ। वह कृष्णकी प्रिय लीला—भूमि आज अरण्यमय हो रही हैं। श्रीकृष्णने जहाँ—जहाँ प्रेमकी मधुर लीलायें की हैं, वे सब माधुर्य—मंडित स्थलियां लोक—चक्षुके अन्तरालमें जा पड़ी हैं। तुम जाकर उनका उद्धार करो वृन्दावनमें एकान्त भजन और कृष्ण—लीला तीर्थोंका उद्धार, यही दो कार्य अब तुम्हें करने हैं।"

लोकनाथके सिरपर जैसे वज्र आ पड़ा। वे मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिरने लगे। पर किसी दैवी शक्तिने बल दिया, जिससे वे अपने—आपको सम्हाल सके। हाथ जोड़कर नेत्रोंसे अश्रुविसर्जन करते हुए बाले—"प्रभु, घर—संसार त्यागकर आया था, आपका मधुमय संग करने, आपकी भुवन—मोहन लीलाका दर्शन कर धन्य होने। पर दर्शन देनेके साथ ही अपने चरणों से दूर ढकेलकर क्यों मेरे प्राण लेने जा रहे हैं? मैं क्या कही अन्यत्र जाकर आपके बिना प्राणोंकी रक्षा कर सकूँगा? मेरे प्रति इतना क्यों निर्दय हो रहे हैं प्रभु? मैंने ऐसा कौन—सा अपराध किया है, जिसके कारण मुझे इतना दण्ड दे रहे हैं?"

"दण्ड कहाँ लोकनाथ? तुम्हें कृष्णकी एक विशेष सेवाका अधिकार दे रहा हूँ। क्या तुम नहीं जानते कि वृन्दावन कृष्णको कितना प्रिय है? वे अपनी सेवासे भी उतना प्रसन्न नहीं होते, जितना अपने धामकी सेवासे होते हैं। मेरे भी वृन्दावन प्राण ही हैं। तुम्हें वृन्दावन भेजकर अपने प्राणोंके निकट ही तो रखना चाह रहा हूँ।"

"ना प्रभु, इस प्रकार मुझसे छल न करो। क्या तुम्हारे विशाल

हृदयमें मेरे लिए इतना भी स्थान नहीं, जो निकट आते ही मुझे दूर ठेल रहे हो?"

"जिस वृन्दावनके लिए कृष्णने कहा है—'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छामि—वृन्दावन छोड़कर मैं एक पैर भी कहीं नहीं रखता', उसी वृन्दावनको न मैं तुम्हें भेज रहा हूँ। जिस वृन्दावनके श्रीकृष्ण और उनकी लीलाओंका तुम सदा स्मरण करते हो, उसी वृन्दावनकमें रहकर श्रीकृष्णके गाढ़ स्मरणमें जीवन यापन करनेके लिए न मैं कह रहा हूँ। जिस वृन्दावनमें एक दिन भी रह लेनेसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है, उसी वृन्दावनमें चिर दिन रहनेका सुयोग तुम्हें दे रहा हूँ।"

"इतना निर्दय न बनो प्रभु। मैं तुम्हारे चरणोंका सान्निध्य छोड़ और कोई भी गति नहीं चाहता। मुझे अपने चरणोंसे दूर न करो" कहते—कहते लोकनाथ उनके चरणोंसे लिपटकर रोने लगे।

महाप्रभुने प्रबोध देते हुए कहा—"सुनो लोकनाथ, मैं जो कार्य तुमसे कराना चाहता हूँ, उसका महत्व समझो। साधन द्वारा सद्गति लाभ करने की तो सभी साधक चेष्टा करते हैं। पर श्रेष्ठ साधक वे हैं, जो अपने कल्याण के साथ दूसरों के कल्याणका पथ भी प्रशस्त करते हैं। नित्य वृन्दावन तो सिद्ध वैष्णवोंके ही लिए है; भौम वृन्दावन सबके लिए है। मैं चाहता हूँ कि तुम अपनी साधना और कर्मसे वृन्दावन नव—उज्जीवन कर उसका द्वार भक्त और अभक्त सभीके लिए उन्मोचन कर दो। मेरी प्रसन्नता चाहते हो तो इस कार्यमें विलम्ब न करो।"

महाप्रभुके शेष वाक्यका जैसा लोकनाथपर असर हुआ, वैसा उनके उपदेश और आग्रह भरे समूचे वक्तव्य का नहीं हुआ था। उन्हें श्रीकृष्णकी लीला स्थली वृन्दावनका लोभ कम न था। वे वृन्दावनके माहत्मय को खूब समझते थे। वे जानते थे कि वहाँ का एक—एक तरु—लता साधक को वह चरम वस्तु अनायास प्रदान करने की क्षमता रखता है, जो साधक अपने कोटि—कोटि जन्मोंके साधन—भजनके बलसे भी प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते। तो भी वे वृन्दावनके लिए महाप्रभुको नहीं छोड़ सकते थे। इस लोक और परलोककी सभी वस्तुओंको वे महाप्रभुके लिए छोड़ सकते थे। पर ऐसी एक ही वस्तु थी, जिसके लिए वे महाप्रभुको छोड़ सकते थे। वह थी महाप्रभुकी प्रसन्नता। इसलिए जब महाप्रभुने कहा—"मेरी प्रसन्नता चाहते हो तो इस कार्यमें विलम्बन करो", तब उनके पास कहनेको और कुछ न रहा। इसी का नाम हैं प्रेम, इसीका नाम हैं इष्ट—भक्ति—इष्टकी प्रसन्नताके लिए इष्ट तकका त्याग। जिन महाप्रभुको लोकनाथने मन ही मन इष्ट रूपमें वरण कर रखा था, जिनके देवदुर्लभ संगके लिए उन्होंने संसारका त्याग किया था, जिनकी भुवन

मोहन लीलाओंका दर्शन करनेके उद्देश्यसे नवद्वीपके एक कोनेमें भिखारी रूपसे पड़े रहनेका संकल्प लेकर वे नवद्वीप आये थे, उन्हें उन्हींकी प्रसन्नताके लिए सदाके लिए छोड़कर वृन्दावन जानेका निश्चय करनेमें अब देर न लगी।

जब लोकनाथ के वृन्दावन जाने की बात महाप्रभुकी भक्त–मण्डलीमें चल रही थी, गदाधर पंण्डितके शिष्य भूगर्भ भी वहाँ उपस्थित थे। वे बहुत दिनोंसे वृन्दावन जानेके लिए लालायित थे। लोकनाथ गोस्वामीके संगका सुयोग देख उन्होंने भी महाप्रभुसे कहा–"प्रभु, आपकी आज्ञा हो तो मैं भी लोकनाथ के साथ वृन्दावन चला जाऊँ औंर आपके प्रिय कार्यमें उनकी सहायता करूँ। यदि मैं इस कार्यमें उनका हाथ बटा सका तो मेरे लिए भी यह बड़े सौभाग्य की बात होगी।"

महाप्रभुने कहा–"यह तो बहुत ही उत्तम होगा। सहाय–सम्पदहीन लोकनाथ को तुम्हारा सहारा रहेगा।" उन्होंने खुशीसे भूगर्भको लोकनाथके साथ वृन्दावन जानेकी अनुमति दे दी।

लोकनाथने नवद्वीप आनेके पश्चात् केवल पाँच दिन उनका मधुमय संग किया और उनकी मधुर लीलाके दर्शन किये। छठे दिन भूगर्भका साथ ले वे वृन्दावन जानेको प्रस्तुत हुए।

महाप्रभु और उनके भक्तों ने अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे प्रेमालिंगन प्रदान करते हुए उन्हें विदा किया। लोकनाथ विदा होते समय मुड़–मुड़कर महाप्रभुकी मधुर मूर्तिके दर्शन करते जा रहे थे। उनके नेत्रोंसे अश्रुधार यह सोच–सोच कर उत्तरोत्तर वेग से उमड़ रही थी कि न जाने फिर उनकी मूर्तिके दर्शन होंगे या नहीं। उन्हें शंका थी कि शायद वे अपने और महाप्रभुके जीवनके प्रभातकालमें ही सदाके लिए उनसे विदा हो रहे हैं।

सचमुच यह महाप्रभु से उनका अन्तिम मिलन था। उन्हें फिर उस भूवनमोहन मूर्तिके दर्शन करनेका सौभाग्य न हुआ।

लोकनाथ का प्रारम्भिक जीवन

लोकनाथ गोस्वामी महाप्रभुसे 2/3 वर्ष बड़े थे। उनका जन्म हुआ था सन् १४८३ या १४८४ में यशोहर जिलेके तालखड़ी ग्राम में। पिताका नाम था पद्मनाभ चक्रवर्ती, माताका सीतादेवी।

पद्मनाभ ने नवद्वीप में विद्याध्ययन किया था। श्रीबअद्वैताचार्यसे मन्त्रदीक्षा ली थी। उत्तर बंगालमें एक बड़े पंडित और भक्तके रूपमें उनकी ख्याति थी तालखड़ीमें उन्होंने एक चतुष्पाठी की स्थापना की थी। बाल्यवस्थामें लोकनाथ उस चतुष्पाठीमें ही पढ़ते थे।

जब लोकनाथ चौदह वर्ष के हुए पद्मनाभने उन्हें शान्तिपुर भेज दिया अद्वैताचार्यसे भागवत पढ़ने। लोकनाथ ने अद्वैताचार्यके निकट

भागवत–पाठ आरम्भ किया। उस समय श्रीगौरांग महाप्रभु और गदाधर भी अद्वैताचार्य से पढ़ने जाया करते थे।[1] लोकनाथ गौरांगके रूप–लावण्य और उनकी असाधरण प्रतिभापर न्योछावर थे। गदाधर गौरांगके अन्तरंग साथी थे। लोकनाथको भी दोनोंसे प्रियताका सम्बन्ध जोड़नेमें देर न लगी।

भागवत पढ़ते–पढ़ते लोकनाथ कृष्ण–प्रेममें पागल हो गये। तब अद्वैताचार्यने उन्हें गौरांगके हाथों समर्पित कर दिया। गौरांगने उन्हें पूर्णतः आत्मसात् किया–

एत कहि प्रिय शिष्ये गौर समर्पिला।
श्रीगौरांग लोकनाथे आत्मसात् कैला।।

(अद्वैत–प्रकाश)

'प्रेम विलास' में लोकनाथ गोस्वामीका श्रीगौरांग महाप्रभुके शिष्यके रूपमें वर्णन है–

श्रीकृष्ण चैतन्य श्रीकृष्णेर आविर्भाव विशेष।
हरिनाम दिया तारिलेन सर्व देश।।
तार शिष्य लोकनाथ गोसाईं महामति।
यशोहर तालखड़ि ग्रामें जाँहार बसति।।

(प्रेम विलास, 20 विलास)

लोकनाथ की महाप्रभुके साथ पूर्वबंग–यात्रा

भागवत–पाठादि समाप्त कर लोकनाथ घर लौटे। चतुष्पाठी स्थापित कर अध्यापन करने लगे। उनके पांडित्य से लोग जितना प्रभावित थे, उतना ही उनके वैराग्य और भक्तिभावसे। आध्यापनादि कार्य करते समय भी कृष्ण–विरह के कारण वे संसारसे उदासीन रहते। कृष्ण–प्रेमके कारण उनके नेत्र सदा सजल रहते। गौरांगकी छवि भी उनके हृदय में सदाके लिए अंकित हो गयी थी उन्हें वे एक क्षण भी न भूल सकते। बार–बार नवद्वीप जाकर उनका संग–सुख लाभ करनेकी लालसा उन्हें उद्विग्न किये रहती।

भाग्यवश गौरांग स्वयं ही उनके घर आ पहुँचे। उनके मनको लोकनाथसे पुनः मिलनकी लालसा क्या कम आलोड़ित करती रही होगी?

चैतन्य–चरितामृतमें उल्लेख है कि गौरांग महाप्रभुने कैशोरावस्थामें पूर्वबंगकी यात्रा की थी (चै० च० १/१६/८)। 'अद्वैत प्रकाश' के आधार पर श्रीसतीशचन्द्र मित्रने लिखा हैं कि जब वे भक्त–मंडलीके साथ कीर्तन करते–करते तालखड़ीके ठीक उत्तर वारागना नदीके किनारे पहुँचे तो

१. अद्वैत प्रकाशके अनुसार गौरांग उन दिनों अद्वैताचार्यसे वेद पढा करते थे। उनकी आयु उस समय १७ सालकी थी और लोकनाथकी १९ साल की। (अद्वैत-प्रकाश, १९)

"उन्होंने लोकनाथको बुलवा लिया। सन्यास–दीक्षाके पश्चात् जब उन्होंने श्रीकृष्णचैतन्य नाम धारण किया, उसके कई वर्ष बाद वे गौड़के निकटर्ती कानाइ नाटशाला व रामकेलिसे लौटते समय पद्मा नदी के तीरपर आये थे। तब उन्होंने नरोत्तम[1] को नाम लेकर पुकारा था, ऐसा प्रवाद है। उस समय नरोत्तमका जन्म भी नहीं हुआ था। उसी प्रकार उसके कई वर्ष पूर्व बारांगनाके तीरपर उन्होंने लोकनाथको बुलाकर अपने परिकरोमें सम्मिलितकर लिया।"[2] लोकनाथको गौरांग महाप्रभुके आगमनका सम्वाद पहले ही मिल चुका था। उन्होंने पिता पद्मनाभसे उनकी अभ्यर्थना कर अपने घरले आने को कहा था। अद्वैत–प्रकाश में उल्लेख है कि पद्मनाभ लोकनाथादि निजगणके साथ उनकी सम्बर्धनाकर उन्हें घर ले गये और वे वहाँ कई दिन रहे थे–

पद्मनाभ तारे सत्कार कैला विधिमत।
महाप्रभु तथि वास कैला दिन कत।।

गौरांग महाप्रभु उस समय निमाइ पंडितके नामसे प्रसिद्ध थे। तालखड़ी भी पंडितोंका केन्द्र था। पंडित लोग निमाइ पंडितके दर्शन करने आने लगे। सबने मिलकर उनके शुभागमनके उपलक्ष्यमें सभा की। शास्त्रर्थ हुआ। तर्क चूणामणि निमाइ पंडितने सबको परास्त किया। तत्पश्चात् उन्होंने हरिनाम–कीर्तनके महात्म्यका वर्णन किया और अपने अलौकिक नृत्य–कीर्तनसे सबको मुग्ध किया। कई दिनतक यह आनन्दोत्सव चलता रहा।

अन्तमें महाप्रभु लोकनाथको साथ ले फरिदपुर होते हुए पद्मा नदी पारकर विक्रमपुर पहुँचे, जहाँ रघुनाथ भट्ट गोस्वामीके पिता तपन मिश्र रहते थे। तपन मिश्रसे साक्षात् कर और उन्हें काशी जानेका आदेश दे वे ब्रह्मपुत्र नदीके किनारे भेटादिया ग्राम गये। भेटादिया में लक्ष्मीनाथ लाहड़ी रहते थे। उन्हींके भ्राता पुरुषोत्तम सन्यास लेकर स्वरूप दामोदरके नामसे विख्यात हुए। कुछ दिन लक्ष्मीनाथका आतिथ्य स्वीकार कर वे अपने पितामह श्रीहट्टवासी उपेन्द्र मिश्रके दर्शन करने गये।

जेइ लक्ष्मी नाथ भक्त पंडित प्रधान।
दिन चारि तार घरे प्रभुर विश्राम।।
लक्ष्मी नाथे बर दिया प्रभु गौरहरि।
किछु दिने श्रीहट्टे ते आसिलेन चलि।।

(प्रेम विलास, 24)

---

१. लोकनाथके शिष्य नरोत्तम ठाकुर महाशय, जिन्होंने महाप्रभुके अन्तर्धान के पश्चात् बंगालमें भक्तिका प्रचार किया था।

२ सप्त गोस्वामी, पृ० २१

उपेन्द्र मिश्र उस समय वरूंगा गये हुए थे इसलिए वहाँ जाकर उनके दर्शन किये। इस पूरी यात्रामें लोकनाथ उनके साथ थे। वरूंगासे नवद्वीप लौटते समय लोकनाथको तालखेड़ी छोड़ते गये।

लोकनाथका गृह-त्याग

आगे पाँच वर्षोंमें गया-यात्राके पश्चात् महाप्रभु का जिस प्रकार पूर्ण विकास हुआ, उसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इस बीच लोकनाथ के माता पिता का देहावसान होगया। पाँच वर्षमें लोकनाथ के हृदयको जो महाप्रभुके विरहकी ज्वाला जर्जरित कर रही थी, वह इतनी प्रचंड होगयी कि उसने उन्हें संसार त्यागकर नवद्वीप जानेको विवश कर दिया। नवद्वीपमें पाँच ही दिन रहकर वे अपना हृदय कुछ शीतल कर पाये थे कि उन्हें वृन्दावन जानेका कठोर आदेश मिला।

वृन्दावनकी यात्रापर लोकनाथ औरभूगर्भ

वृन्दावनके यात्रापथ पर लोकनाथ और भूगर्भ को तीन मास लग गये,क्योकिं उन दिनों वृन्दावनका सीधा मार्ग निरापद नहीं था। बहुत घूम-फिर कर जाना पड़ता था। इसलिए भी कि पथमें भिक्षाके अतिरिक्त उनका कुछ संबल नहीं था कभी भोजन मिल जाता, कभी जंगल के कंद-मूल-फल खाकर रहना पड़ता कभी उपवासी रहकर ही रास्ता तय करना पड़ता। फिर भी उन्हें मार्गका कष्ट व्यापता नहीं था। वे कृष्ण-कथा या गौर-कथा रसका पान करते जाते थे। उसकी मादकता उन्हें भूख-प्यास और पथके अनेक कष्ठोंका भान नहीं होने देती थी। वे दोनों एक ही पथ के पथिक थे, एक ही उद्देश्य और एक ही भावसे अनुप्राणित थे। उनका तन-मन किसी एक ही माधुर्य-मंडित सच्चिदानन्दघन-मूर्ति के प्रेमरस-सिन्धुमें संतरण करता रहता था। उनकी पारस्परिक कथा-वार्ता उस रस-सिन्धुका मंथनकर जिस अमृतका निष्कासन करती थी, उससे उनके मन-प्राण छके रहते थे। उसने उनके साहचर्यको ऐसे प्रणय में बदल दिया था कि उनके मन-प्राण गलकर एक हो गये थे-

तनु मन एक इथे किछु भिन्न नय।
परम अद्‌भुत एइ दुहार प्रणय।।

(नरोत्तम-विलास)

कविकर्णपूरने गौर गणोद्देश दीपिकामें लोकनाथको व्रज-लीलाकी मंजुलाली या लीलामंजरी और भूगर्भको नान्दी मुखी या प्रेम मंजरीका अवतार बतलाया है। व्रज-लीलामें इन दोनों सखियोंमें अतिशय प्रेम था। इसलिए इस जन्ममें भी उनका प्रेम स्वाभाविक था। 'प्रेम-विलास' के अनुसार महाप्रभुने इसीलिए उन दोनों का साथ जोड़ दिया था-

मंजुलाली नान्दी मखी हय महा प्रीत।
गौरांग दिलेन संग जानि सुनिश्चित।।

लोकनाथ और भूगर्भ द्वारा व्रजके लुप्त तीर्थोंकी खोज

व्रजमें पहुँचते ही लोकनाथ और भूगर्भने लुप्त तीर्थोंकी खोज आरम्भ कर दी। पहले कुछ दिन मथुरामें रहकर यह कार्य किया, फिर व्रजके वन प्रान्तोंमें भ्रमण कर।

कार्य कितना कठिन और विपद ग्रस्त था, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता हैं कि व्रजमंडल उस समय पूर्ण रूपसे घने जंगलोंसे आच्छादित था, पथ दुर्गम था, जंगली जानवरों और तस्करोंका भय था, वस्ती नामका कहीं कुछ नहीं था। केवल जंगली जातियोंके कुछ लोग जहाँ–तहाँ रहते थे, जिन्हें न तो लुप्त–तीर्थोंका ज्ञान था न इस कार्यमें उनकी रुचि थी। जनश्रुतियोंका नितान्त अभाव था।

खोजका एकमात्र लुप्त–तीर्थ उद्धार करनेका महाव्रत ले रखा था। उससे पीछे हटनेका प्रश्न ही कहाँ था? वे वन–वन घूम–फिरकर तीर्थोंका अन्वेषण करते। कभी–कभी प्राणों तककी बाजी लगाकर घने जंगलों और अन्धकारमय झाड़ियोंमें प्रवेश करते। वहाँ जाकर यदि किसी प्राचीन देवालय भग्नावशेष या कुण्डादिका चिन्ह मिल जाता तो उसके सहारे प्राचीन किसी तीर्थके आविष्कारकी आशासे उनका हृदय खिल उठता। पर इतना सब करने पर भी यदि कहीं कोई संकेत न मिलता तो जंगलकी नीरवतामें गूंज उठता व्रजकी अधिष्ठात्री देवी वृन्दाके प्रति उनकी आक्षेप भरी प्रार्थनाका कण्ठस्वर "हे वृन्दा, हे कृष्ण–प्रिया, हे कृष्ण–लीला–विस्तारिका, कृष्ण–लीला–सहायिका! कब तक अपने अंचलमें छिपाये रखोगी कृष्ण–लीलाकी दिव्य स्थलियाँ, कब दिखाओगी नन्दगाँव, बरसाना, राधाकुण्ड और श्यामकुण्ड? कब तुम्हारी कृपासे हमारे दृष्टिपथपर उदित होंगे बंशीवट, शृंगारवट, चीरघाट, केसीघाट और कालीदह आदि श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंकी स्मृतिसे जटित दिव्य स्थान? तुम्हारी कृपाके बिना कब संभव है कि कोई इनमें से एक को खोज सके, करुणामयी?"

स्वप्नमें या जागरणमें उन्हें हर समय चिन्ता रहती केवल इन लीलास्थिलियोंके अन्वेषण की। कभी क्या उनसे पूर्व किसी ने उनके अन्वेषणकी इस प्रकार तन–मनसे चेष्टा की थी? श्रीनित्यानन्द और श्रीअद्वैताचार्य अवश्य उनसे पूर्व वृन्दावन आये थे और इनकी खोज में इधर–उधर भटका किये थे। पर वे थोडे ही दिन यहाँ रहकर गौड चले गये थे।

लोकनाथ और भूगर्भ निरन्तर घूम–फिरकर इस कार्यमें लगे रहे।

उनका अनुसंधान व्यर्थ नहीं गया। कुछ तथ्य सामने आते गये, जिन्हें वे लिखकर रखते गये।

लोकनाथ और भूगर्भकी दक्षिण-यात्रा

कुछ दिन बाद उन्हें संवाद मिला कि महाप्रभुने संन्यास ले लिया है, नाम हुआ है श्रीकृष्ण-चैतन्य। और उनके वृन्दावन आनेके दो ही मास बाद वे तीर्थ-दर्शनके बहाने प्रेम-धर्मका प्रचार करने दक्षिण चले गये हैं।

संन्यासी श्रीकृष्णचैतन्य के रूपमें महाप्रभुके दर्शन करनेको वे व्याकुल हो उठे। वृन्दावनका कार्य कुछ दिनके लिए स्थगित कर चल दिये दक्षिण भारतकी ओर।

यह उनका प्रेमोन्माद ही था, जो उन्हें दक्षिण ले गया। इतने बड़े दक्षिण भारतमें घूमते-फिरते महाप्रभुको पा सकना क्या संभव था? एक-एक कर सारे तीर्थोंमें उन्होंने ढूंढ डाला। पर महाप्रभु कहीं न मिले।

महाप्रभु दो वर्ष दक्षिण-भारत भ्रमण कर पुरी लौट गये। दो वर्ष पुरीमें रह कर वृन्दवनकी यात्रा को चल पड़े। पर गौड़से आगे न जा सके। रामकेलिमें रूप-सनातनको आत्मसात् कर पुरी लौट गये। दूसरे वर्ष सन् १५१४ में झाड़खण्डके जंगलमें होते हुए वृन्दावन गये। प्रेमोन्मत्त अवस्थामें समस्त व्रज-भूमिको प्रेमाश्रुओंसे अभिषिक्त किया। राधाकुण्ड-श्यामकुण्डका उद्धार किया।

लोकनाथ और भूगर्भ जब दक्षिणसे लौटकर वृन्दावन आये, उन्हें पता चला कि महाप्रभु अभी कुछ ही दिन हुए वृन्दावन आकर लौट गये हैं।

वे फिर पागलकी तरह चल पड़े वृन्दावनसे मार्गमें कहीं उनका दर्शन मिलनेकी आशा ले। कुछ दूर जाकर मार्गमें लोकनाथ को स्वप्नमें महाप्रभुके संन्यासी रूपमें दर्शन हुए। उन्होंने कहा-

"तोमार निकटे निरन्तर आछि आमि।
वृन्दावन हैते कोथा ना जाइबे तुमि।।

(नरोत्तम विलास, पृ0 16)

-मैं निरन्तर तुम्हारे साथ हूँ। फिर वृन्दावन छोड़कर जानेका क्या प्रयोजन? वृन्दावन छोड़कर कभी कहीं न जाना।"

महाप्रभुके स्वप्नमें दर्शन कर, उनकी मृदु-मधुर वाणी सुन, लोकनाथ आश्वस्त हुए। भूगर्भ के साथ वे व्रज लौट आये। तबसे फिर व्रज छोड़कर कहीं नहीं गये।

लोकनाथका वैराग्य एवं राधाविनोदकी सेवा

व्रजमें छत्रवनके निकट उमराओ ग्राममें किशोरीकुण्ड नामका एक कुण्ड है। कुछ दिन उसके निकट एक निर्जन स्थानमें तमाल वृक्षके नीचे

रह कर लोकनाथ भजन करते रहे। कुण्ड में राधाविनोद नामके सुन्दर श्रीविग्रह न जाने कबसे जलमग्न थे। भक्तको निकट आया देख उनके प्राण आनन्दसे थिरक उठे। उसकी प्रेम–सेवाके लोभने उन्हें बेचैन कर दिया।

इधर लोकनाथ गोस्वामीके मनमें भी इच्छा जागी श्रीविग्रहरूपमें इष्टकी सेवा करने की। फिर क्या था? अन्तर्यामी राधाविनोदने अवसर जान एक विचित्र लीला की। उन्होंने एक मनुष्यका रूप धारण किया और राधा–विनोदके श्रीविग्रहके रूपमें अपने–आप को लेकर चल पड़े लोकनाथ गोस्वामी के पास। उनके निकट जाकर बोले–"महाराज, यह मेरे ठाकुर श्रीराधाविनोद हैं। मैंने बहुत दिन इनकी सेवा की। अब मै वृद्ध हो गया हूँ। मुझसे इनकी सेवा नहीं होती। आप इनकी सेवा किया करें।"

लोकनाथ अवाक्! इष्टकी अहैतुकी कृपाका अनुभव कर उनके प्राण रो दिये। राधाविनोदको छातीसे लगाकर वे अपनी सुध–बुघ खो बैठे और उन्हें अभिशिक्त करते रहे। बाह्य–ज्ञान होनेपर उन्होंने देखा कि वह व्यक्ति जो राधाविनोदको लेकर आया था न जाने कहाँ अदृश्य हो गया। वह कौन था और इतनी बड़ी कृपा कर यकायक कहाँ चला गया?! यह चिंता उन्हें व्याकुल कर रही थी, उसी समय राधाविनोद मुस्करा दिये और, बोले–"मुझे और कौन लायेगा। मैं स्वयं ही आया हूँ। उमराओ ग्रामके निकट विपिन में जो किशोरीकुण्ड हैं, उसमें पड़ा था। तुम्हारी उत्कण्ठा देख व्याकुल हो यहाँ चला आया। शीघ्र कुछ खाने को दो। मैं बहुत दिनोंका भूखा हूँ–

एइ उमराओ ग्रामे बिपिने बसति।
एइ जे किशोरीकुण्ड एथा मोर स्थिति।।
तोमार उत्कण्ठा देखि व्याकुल हैल।
के मोरेआनिबे मुञि आपनि आइल।।
शीघ्र करि मोरे किछु कराओ भक्षण।"

(भ. र. प्रथम तरंग, 331–333)

हाय रे प्रभु! अनंत कोटि ब्रह्माण्ड के जीवों का आप पोषण करते हैं, नवजात शिशुओं की क्षुधा मिटाने के लिए माँ के स्तन में दुग्ध उत्पन्न करते है, चिड़ियों के बच्चों तक का पेट भरने के लिये उनकी माँ को स्वयं न खा उन्हें खिलाने की प्रवृत्ति देते हैं। पर अपना पेट स्वयं नहीं भर सकते। चातक जैसे, चाहे जितनी वृष्टि होती हो, स्वाति नक्षत्र के जल से ही अपनी तृषा बुझाता है, वैस ही आप अनन्त प्रकार की परम आस्वाद्य सामग्री उपलब्ध होते हुए भी केवल भक्त के प्रेम से समर्पित साग–पात और फल–मूलादि से ही अपनी क्षुधा मिटाते हैं।

दुर्योधन का राजभोग आपको नहीं सुहाता, पर विदुर–पत्नी के केले के छिलके या शबरी के जूठे बेर देख आपकी राल टपक पड़ती है, भूख न हो तो भी जठराग्नि सुलग पड़ती है। आप अपनी भूख प्यास के लिये अपने भक्त पर उसी प्रकार निर्भर रहते हैं, जिस प्रकार नवजात शिशु अपनी माँ पर। आप संसार भर का पोषण करते हैं, पर आपका पोषण करते हैं आपके प्रिय भक्त ही। धन्य हैं आपके भक्त जिन्हें आप अपनी सेवा का ऐसा अवसर देते हैं।

लोकनाथ ने प्रेमानन्द से उत्फुल्ल हो तत्काल पाक बनाकर राधाविनोद को अर्पण किया।

तीर्थोद्धार–कार्य के साथ–साथ प्रारम्भ हुई लोकनाथ की राधाविनोद की प्राणभरी प्रेम–सेवा। निष्किञ्चन, अरण्यचारी, कंगाल लोकनाथ के पास प्रभु की सेवा के योग्य उपकरण तो थे नहीं। पर वे सामर्थ्यानुसार उनकी सेवा में कोई कसर रखते। नित्य प्रातः वन–तुलसी और वन–फूल लाकर उनकी पूजा करते। वन के साग–पात और फलादि से भोगराग सम्पन्न करते। पुष्प–शय्या पर उन्हें शयन कराते। ग्रीष्मकाल में वन के पत्तों से उन्हें पंखा झलते, वर्षा और शीतकाल में स्वयं वृक्ष के नीचे बैठे भीगा और ठण्ड से सिकुड़ा करते, पर राधाविनोद को कोटर में विराजमान कर निश्चिन्त रहते। नित्य की सेवा–पूजा–जप–ध्यानादि समाप्त कर भूगर्भ को साथ ले लीला–स्थलियों की खोज में जहाँ–तहाँ निकल जाते।

तीर्थोद्धार में राधाविनोद का योग

पर कभी–कभी लीला स्थलियों के अनुसंधान के लिये उन्हें बहुत दूर जाना पड़ता, लौटने में विलम्ब होता और राधाविनोद की सेवा में व्यवधान पड़ता। इसलिये उन्होंने सोचा कि राधाविनोद को भी क्यों न अनुसंधान कार्य में अपने साथ रखें? इससे उनकी समयानुकूल सेवा होती रहेगी और अनुसंधान में सहयोग भी रहेगा उनका। उन्होंने उन्हें साथ रखने की एक नयी व्यवस्था की। सन का एक झोला तैयार किया। वे जहाँ भी जाते झोले में राधाविनोद को विराजमान कर उसे कण्ठमाला की तरह गले में लटका लेते, जैसे झोला ही हो राधाविनोद का चलता–फिरता मन्दिर?

शीघ्र करि एक झोला निर्माण करिल।
राधाविनोदेर जेन मन्दिर हैल।।
परम अद्भुत रूपे झोला हइल आला।
अनुक्षण बक्षे राखे जेन कण्ठमाला।।

(भ. र. 1 ।337–338)

राधाविनोद लोकनाथ की सेवा से बहुत प्रसन्न रहते। उन्हें झोले में अपने भक्त के हृदय से सटकर रहने में जो सुख मिलता, वह वैकुण्ठ

के रत्न–जटित सिंहासन और शय्या में भी न मिलता।

लोकनाथ के वैराग्य और सेवा–निष्ठा को देख वन के अधिवासी उनकी ओर आकर्षित होने लगे थे। वे उनके ठाकुर की सेवा के लिये फल–मूल ले आते। उन्होंने उनसे ठाकुर की सेवा के लिये एक पर्णकुटी भी बना देने का आग्रह किया। पर उन्होंने कहा–'मेरे ठाकुर को कुटिया की आवश्यकता नहीं। मैं जैसा बनचारी हूँ, वैसा ही वह भी बनचारी है। यदि ऐसा न होता तो मेरे पास आता ही क्यों?"

लोकनाथ के वैराग्य और सेवा–निष्ठा का वर्णन भक्ति–रत्नाकर में इस प्रकार किया गया है–

फल मूल शाक अन्न जबे जे मिलय।
यत्ने ताहा श्रीराधाविनोदे समर्पय।।
वर्षा शीतादिते एइ वृक्षतले वास।
संगे जीर्ण काँथा अति जीर्ण बहिर्वास।।
आपनि हइता सिक्त अति वृष्टि नीरे।
ठाकुरेर राखिता एइ वृक्षेर कोटरे।।
अन्य समये ते जीर्ण झोलाय लइया।
राखितेन बक्षे अति उल्लसित हिया।।

(भ. र. पू. 1262–1265)

कहते हैं कि राधाविनोद ने तीर्थ–अनुसंधान के कार्य में लोकनाथ की बड़ी सहायता की। जो भी हो, इसमें संदेह नहीं कि श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा आदिष्ट इस कार्य में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। श्रीनारायण भट्ट ने 'श्रीब्रज–भक्तिविलास' ग्रन्थ में लिखा है कि उन्होंने सब मिलाकर तीन सौ तैंतीस बन और तीर्थों का आविष्कार किया। इस ग्रन्थ से लोकनाथ की कार्यक्षमता का ठीक–ठीक पता चलता है।[1]

तीर्थोद्धार में रूप-सनातन का योग

लोकनाथ के व्यापक अनुसंधान के कुछ दिन बाद स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभु और रूप–सनातनादिका तीर्थोद्धार कार्य में योगदान हुआ। सन् १५१४ में महाप्रभु का वृन्दावन आगमन हुआ। उन्होंने भावोन्मत्त अवस्था में व्रज में भ्रमण करते हुए श्रीराधाकुंण्ड, श्रीश्यामकुण्ड और कुछ लीला–स्थलियों का आविष्कार किया। सन् १५१५ में श्रीरूप और सन्

१. नारायण भट्ट के इस ग्रन्थ को प्रामाणिक माना जाता है, क्योंकि इसकी रचना श्रीरुपगोस्वामी और श्रीसनातन गोस्वामी के जीवन-काल में सन् १५५३ में हुई और उसे उनका अनुमोदन प्राप्त था। उस समय चैतन्य महाप्रभु के इन दो प्रधान परिकरों के अनुमोदन बिना व्रज-सम्बन्धी किसी ग्रन्थ का प्रकाशन संभव ही न था।

१५१६ में श्रीसनातन ने गृहत्यागकर वृन्दावन की यात्रा की। महाप्रभु ने दोनों में शक्ति–संचारकर उन्हें लोकनाथ के साथ तीर्थोद्धार के कार्य में नियुक्त किया, साथ ही भक्ति–ग्रन्थों की रचना और श्रीविग्रहादि की स्थापना कर वृन्दावन और भागवत–धर्म को उज्जीवित करने का आदेश दिया।

क्रमशः श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी, श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, श्रीकृष्णदास कविराज, श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद और श्रीनारायण भट्ट गोस्वामी आदि का भी वृन्दावन आगमन हुआ। इनमें से प्रत्येक था प्रदीप्त भास्कर के समान प्रतिभाशाली। इन्होंने अपने असाधारण पांडित्य, शास्त्रज्ञान, कृच्छ्र साधन और भजन–निष्ठा द्वारा वृन्दावन को भक्ति–आन्दोलन के प्रधान केन्द्र के रूप में उद्भासित किया। पर इन सबमें अग्रगण्य थे श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीरूप गोस्वामी। रूप गोस्वामी विशेषरूप से कार्य–तत्पर थे।

इनके आ जानेसे लोकनाथका कार्य बहुत हल्का हो गया। उनकी भाग–दौड़ जाती रही। रूप–सनातनको बुलाकर उन्होंने तीर्थोद्धारका जितना कार्य किया था समझा दिया। उन्होंने शास्त्र और पुराणोंसे मिलाकर उसका अनुमोदन किया। कुछ तीर्थोंका नया नामकरण भी किया। उसके पश्चात् तीर्थोद्धारका कार्य उन्होंने मुख्य रूपसे रूप–सनातन पर छोड़ दिया। स्वयं वृन्दावनमें केशीघाटके निकट एक निभृत–निकुंजमें[1] रहकर राधा–विनोदकी सेवा–पूजा और ध्यान–धारणा में समय व्यतीत करने लगे। भूगर्भ भी वृन्दावन में रहकर भजन करने लगे।

राधा विनोदकी सेवासे सम्बन्धित इस समयकी एक घटना का उल्लेख बालकरामजी ने भक्तमाल की अपनी भक्त–दाम–गुण–चित्रणी नामक टीका (पत्र सं० २७९) में किया है, जो इस प्रकार है। एक बार लोकनाथ राधा–विनोदका श्रृंगार करनेके बाद उनकी छवि निहार रहे थे। निहारते–निहारते वे तन्मय हो गये। राधाविनोदके लिए रसोई बनानी है इसकी भी सुध उन्हें न रही। उस समय एक सेवक रसोई बनानेमें उनकी सहायता करता था। वह रसोई घरमें उनकी प्रतीक्षामें बैठा रहा। जब बहुत देर हो गयी, तब वह मन्दिरके भीतर जाकर उन्हें बुलानेकी सोचने लगा। राधा–विनोद नहीं चाहते थे कि लोकनाथ गोस्वामीके ध्यान में बाधा पड़े। इसेलिए वे स्वयं उसी समय लोकनाथ गोस्वामी के रूप में मन्दिरसे निकल कर रसोई का आयोजन करने लगे। कुछ देर बाद सेवक किसी कार्यसे मन्दिर में गया तो लोकनाथ को ध्यानस्थ बैठा देख चकित रह गया। वह

१. अब इसी स्थानपर बर्तमान गोकुलानन्दके मन्दिर के निकट लोकनाथ गोस्वामीके समाधि है।

बार–बार रसोईघर जाता और मन्दिरमें और बार–बार दोनों जगह लोकनाथ गोस्वामीको देखता। अन्तमें ध्यानस्थ लोकनाथ गोस्वामीके चरणोंमें गिरकर उसने जो कुछ कहा उसे सुन लोकनाथ रसोईघरमें गये। उन्होंने देखा कि वहाँ कोई नहीं है, पर रसोई सब तैयार है। यह देख वे समझ गये कि यह विनोदी राधा–विनोदकी ही विनोदभरी लीला है। तब वे कौतूहलवश मन्दिरमें जाकर राधाविनोदकी ओर देखने लगे। राधाविनोद मुस्करा दिये।

वृन्दावन नव–उज्जीवन

रूप–सनातनने लोकनाथके कार्यको आगे बढ़ाया, बहुतसे नये तीर्थोंका आविष्कार किया, नये मन्दिरोंका निर्माण किया। रघुनाथदास गोस्वामीने महाप्रभु द्वारा आविष्कृत राधाकुण्डका संस्कार किया।

इस समय रूप–सनातनादि महाप्रभुके प्रधान परिकरोंके अतिरिक्त औरभी बहुतसे गौड़ीय भक्त महाप्रभुके आदेशसे वृन्दावनमें आकर जगह–जगह वृक्ष–लताओं आवेष्टित अपनी भजन–कुटियोंमें रहने लगे, जिन्हें वे कुंज कहते। वृन्दावन उन कुंजोंसे भर गया।

इन नवागतोंमें बहुतसे पंडित और शास्त्रज्ञ भी थे, जिन्हें लेकर वृन्दावनमें एक वैष्णव–विश्व–विद्यालयकी–सी स्थापना हो गयी। श्रीरूप गोस्वामी इस विश्वविद्यालयके कुलपति–स्वरूप थे। श्रीसनातन, श्रीरूप और श्रीजीवादिके अनेकानेक भक्ति–धर्मके आकार ग्रन्थोंका निमार्ण भी इसी समय हुआ।

चिरकालसे उपेक्षित वृन्दावन जैसे अपने गौरव और सुषमाको अब फिरसे प्राप्त हुआ। जगह–जगह सुरम्य मन्दिरों और महात्माओंकी कुटियोंने घने जंगलों और झाड़ियोंका स्थान लिया। अनेकों लुप्त तीर्थोंका उद्धार होनेपर दूर–दूरसे श्रद्धालु यात्री उनके दर्शनकों आने लगे। उनके कोलाहल, साधु–महात्माओंके भजन–कीर्तन, पंडितोंकी शास्त्र–चर्चा और देवालयोंके शंखनादसे निस्तब्ध अरण्य मुखरित हो उठा। श्रीचैतन्य महाप्रभुका वृन्दावन के नव–उज्जीवनका स्वप्न साकार हो उठा। नीलाचलमें महाप्रभुका हृदय यह देख आनन्दसे परिपूर्ण हो गया।

महाप्रभु और उनके प्रधान परिकरों का अन्तर्धान

इसी समय गौड़ीय–वैष्णव समाजपर हुआ भीषण वज्रपात। महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यका नीलाचलमें अन्तर्धान हुआ। एक–एक कर उनके द्वारा प्रज्वलित भक्ति के दूसरे प्रदीप भी बुझने लगे। उनके लीला–परिकर, जो उनके कार्यके लिए उनके आगे–पीछे अवतरित हुए थे, अपनी लीला संवरण करने लगे। पहले प्रभुनित्यानन्द और अद्वैताचार्य, फिर काशीश्वर, फिर सनातन, फिर रूप और रघुनाथ भट्ट ने महाप्रभु का अनुगमन किया। रघुनाथ दास गोस्वामी महाप्रभुके अन्यतम लीला–परिकर प्रकट रहते हुए

भी अप्रकट जैसे हो गये। महाप्रभु के प्रश्चात् रूप–सनातनका अप्राकट्य उनसे सहन न हुआ। उन्होंने पूरी तरह अपनेको अपने में समेट लिया। वे सुदूर राधाकुण्डके निकट अदृश्य रूपसे एकान्त भजनमें रत रहने लगे। वृन्दावनके साधक और भक्त उनके संगसे भी वंचित हो गये। रह गये केवल चार महापुरुष, जिन्होंने वृन्दावनमें भक्ति–प्रदीपको निर्वापित होनेसे बचा रखा। वे थे लोकनाथ, भूगर्भ, गोपाल भट्ट और जीव।

भक्ति–साम्राज्यके परिचालक श्रीजीव और उनकी चिन्ता

श्रीजीव अपनी असाधरण मनीषा, पांडित्य और संगठन–शक्तिके कारण रूप गोस्वामीके तिरोभावके पश्चात् वृन्दावनके भक्ति–साम्राज्यके प्रधानपरिचालक और व्यवस्थापक थे। महाप्रभु द्वारा प्रचारित वैष्णव–धर्मको उन्होंने दार्शनिक सांचेमें ढालकर दर्शन शास्त्रके मंचपर ऊँचे स्थान पर बिठानेका सफल प्रयास किया था। तत्कालीन भारत के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक पंडित के रूपमें उनकी ख्याति थी। श्रीगोपालभट्ट दाक्षिणात्यके श्रेष्ठ ब्राह्मण, सुपंडित और सर्वशास्त्रवेत्ता थे। वैष्णव–समाजमें पूजित थे। महाप्रभुने उन्हें अपना आसन, डोर–कौपीन और बहिर्वास भेजकर गुरु–स्थानपर मनोनीत किया था। लोकनाथ दोनोंसे बड़े थे, महाप्रभु द्वारा वृन्दावन भेजे गये उनके परिकरोंमें अग्रगण्य और त्याग, तितिक्षा, भजन–साधनादि में वरेण्य थे।

इस बीच, लगभग पचास वर्षोंके भीतर रूप, सनातन, जीवादि द्वारा लुप्तप्राय भक्ति धर्मको उज्जीवित कर उसे भारतके आध्यात्मिक आकाशपर प्रचंड सूर्यके समान उद्दीप्त करनेवाले शत–शत ग्रन्थोंका निमार्ण किया जा चुका था। उत्तर भारत उनके अलौकिक प्रकाशसे उद्भासित हो उठा था। पर सुदूर बंगाल, आसाम और उड़ीसा आदिमें उनका दिव्य संदेश नहीं पहुँच सका था। महाप्रभु और उनके प्रधान–प्रधान परिकरोके अन्तर्धानके पश्चात् भक्ति–धर्मके प्रचारका कार्य वहाँ शिथिल पड़ चुका था। आवश्यकता थी इन ग्रन्थोंका वहाँ प्रचार कर उसे फिरसे गतिशील करनेकी। पर यह कार्य कुछ आसान तों था नहीं। इसके लिए चाहिए थे कुछ ऐसे व्यक्ति, जो सुपंडित, तत्वविद् और अनुभवी होने के साथ–साथ प्रभावशाली और कार्यकुशल हों और अपनी साधना और सिद्धिके बलपर लक्ष–लक्ष लोगोंको प्रेम–धर्मके पथपर चालित करनेकी क्षमता रखते हों।

इस समय लोकनाथ, जीव और गोपाल भट्ट गोस्वामीको यही एक चिन्ता उद्विग्न किये रहती कि इस दुरुह और दायित्वपूर्ण कार्यका भार किन कंधोंपर रखा जाय। वृन्दावनमें इसके लिए सभी प्रकारसे उपयुक्त व्यक्ति उन्हें नहीं दीख रहे थे। निराशाके बादल घिर–घिरकर उनकी चिन्ताको बढ़ाते जारहे थे।

उसी समय आशाकी नयी किरणें फूट पड़ी। वृन्दावनके आकाश पर उदित हुए तीन दीप्तिमान नक्षत्र। अपरिसीम श्रद्धा, त्याग, वैराग्य और आर्तिभरे प्राण लेकर वृन्दावनमें उपस्थित हुए तीन नये साधक—श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द। उत्तर कालमें इन्हीं तीनोंने बहायी पूर्वी भारतमें चैतन्य महाप्रभुके प्रेम—धर्मकी महामंदाकिनी—श्रीनिवासने दक्षिण बंगमें, नरोत्तमने उत्तर बंग और आसाम में और श्यामानन्दने उड़ीसा में।

लोकनाथ की प्रतिज्ञा

श्रीनिवास गोपाल भट्ट गोस्वामीके शिष्य हुए, श्यामानन्द श्रीजीवके और नरोत्तमने मन ही मन लोकनाथ गोस्वामीका गुरु रूपमें वरण किया। श्रीजीवने तीनोंकी शिक्षाका भार ग्रहण किया।

जीव गोस्वामीने इन विद्यार्थियोंको हर प्रकारसे उपयुक्त जान शिक्षा—दीक्षा समाप्त होनेपर प्रचार—कार्यमें नियुक्तकर देनेका निश्चय किया। पर उनके मनोभीष्ट की पूर्तिमें एक बाधा दीख रही थी। नरोत्तमकी दीक्षा नही हो रही थी। उन्होंने संकल्प कर लिया था लोकनाथ गोस्वामीसे ही दीक्षा लेनेका। लोकनाथ गोस्वामीका चिरकालसे संकल्प था किसी को दीक्षा न देनेका। उन्होंने अभीतक किसीको दीक्षा नहीं दी थी। आगे भी न देनेके अपने संकल्प पर वे दृढ़ थे। दीक्षा लिये बिना नरोत्तमका व्रजके बाहर जाना संभव नहीं था।

श्रीजीव और अन्य साधुगण समस्या की गम्भीरता को समझते थे। सभी ने मिलकर लोकनाथ गोस्वामी से विनयपूर्ण आग्रह के साथ कहा—"आप यदि नरोत्तम पर कृपा न करेंगे, तो उसे प्रचार के लिए बाहर भेजना संभव न होगा। आप जानते हैं कि नरोत्तम उत्तर बंगाल के राजा के समान वैभवशाली जमींदार का पुत्र और उसके अतुलनीय वित्त—वैभव का उत्तराधिकारी है। साथ ही जन्म से वैरागी, भजन—निष्ठ, शास्त्रविद् और कार्य कुशल है। अपने आदर्श चरित्र और प्रभाव के कारण उत्तर बंगाल में महाप्रभु के.धर्म का प्रचार करने के लिए जैसा वह उपयुक्त है, वैसा दूसरा कोई नहीं।"

पर निगूढ़ भजन में रत और भजनानन्द में मत्त लोकनाथ गोस्वामी अपने निश्चय में अटल। उनका एक ही उत्तर—"मैंने शिष्य ग्रहण न करने की जो प्रतिज्ञा की है, उससे पूरी तरह बंधा हुआ हूँ। उसे भंग करना मेरे लिये नितान्त असम्भव है। आप लोग मेरी लाचारी पर ध्यान दें। उसके विपरीत आग्रह न करें। यही मेरी आपसे करबद्ध प्रार्थना है।"

प्रतिज्ञा भंग

वयोवृद्ध, गुरु—तुल्य लोकनाथ से अब और कोई क्या व हे? सब

निराश और निरुत्तर! पर नरोत्तम अपने संकल्प में और अधिक दृढ़। लोकनाथ उन्हें शिष्य रुप में ग्रहण करें या न करें, उन्होंने तो उन्हें गुरु मान ही लिया है और उन्हें अपना जीवन उनकी सेवा–पूजा और परिचर्या में ही व्यतीत करना है।

नरोत्तम थे राजशाही के राजा कृष्णानन्द के पुत्र। कृष्णानन्द राजशाही के खेतरी ग्राम में रहते थे। उनका अतुलनीय वैभव था। राजा उनकी उपाधि थी। बहुत दिनों तक उनके कोई सन्तान नहीं थी। बहुत पूजा–पाठ और अनुष्ठानादि के पश्चात् नरोत्तम को पुत्र रुप में प्राप्तकर धन्य हुए थे। पर नरोत्तम महाप्रभु के आदर्श से उद्दीप्त हो माता–पिता का असीम प्रेम और उनका राजा के समान वित्त–वैभव त्यागकर कृष्ण–प्रेम–प्राप्ति के पथ का पथिक बनने के उद्देश्य से वृन्दावन छूटे चले आये थे। दीक्षा लाभ किये बिना इस पथ का पथिक बनना सम्भव नहीं था। लोकनाथ गोस्वामी को छोड़ दूसरे किसी से दीक्षा लेने का प्रश्न भी नहीं था। उन्होंने अपना तन–मन सब कुछ उन्हीं को समर्पण कर रखा था। इसलिये अब उनकी सेवा–परिचर्या कर जीवन व्यतीत करने के सिवा उनके पास दूसरा विकल्प ही क्या था?

लोकनाथ की भजनकुटी थी वृन्दावन के एक निभृत अरण्य में। नरोत्तम ने भी उनकी कुटिया से कुछ दूर एक झोंपड़ी डाल ली। इसमें रहकर वे भजन करने लगे। उनका मुख्य भजन था लोकनाथ गोस्वामी के एकान्त भजन में यथासंभव आनुकूल्य करना। वे उनके पास न जाते, न उनसे बात करते। ऐसा करके तो वे उलटा उनके भजन में बाधक ही बनते। वे उनके देह–रक्षक की तरह मृदु स्वर से हरिनाम करते हुए उनकी कुटिया के चारों ओर चक्कर लगाते। इस बात पर दृष्टि रखते कि कोई किसी प्रकार उनके भजन में बाधा न डाले। समय मिलने पर जीव गोस्वामी का संग करते और उनसे शास्त्राध्ययन करते।

लोकनाथ की और भी न जाने कितनी सेवा करने को उनके प्राण व्याकुल रहते। वे यही सोचा करते कि कब किस प्रकार अलक्षित रूप से उनकी सेवा कर धन्य हों। अकस्मात् एक उपाय सूझा उन्हें।

लोकनाथ गोस्वामी प्रातः अंधियारा रहते निकट के वन में एक निर्दिष्ट स्थान पर शौच के लिये जाया करते। नरोत्तम ने सोचा उनके मेहतर का कार्य वे आसानी से कर सकते हैं। जब वे शौच से निवृत हो कुटिया को लौट जायें, तो उस स्थान से मल उठाकर फेंक सकते हैं, उसे झाड़ू लगाकर परिष्कार कर सकते हैं। उनकी कुटिया से उस स्थान तक जाने का रास्ता भी झाड़ू लगाकर साफ कर सकते हैं। इससे लोकनाथ के शौच जाने के स्थान की सफाई तो होगी ही, उनके अपने अन्तर की भी

सफाई होगी।

कदाचित् उनके मन में यह भाव जागा कि यद्यपि वे राजकुमार के समान वैभव और मान–सम्मान को तिलांजलि देकर वृन्दावन चले आये हैं, उनका अहंभाव अभी सूक्ष्म रुप से बना हुआ है। वृन्दावन में प्रायः सभी लोग उन्हें राजा के लड़के के रुप में जानते हैं, उनके प्रति आदर का भाव रखते हैं और संकोच–संभ्रम प्रदर्शित करते हैं। इससे उनके सूक्ष्म अहं की वृद्धि होती है। क्यों न वे उसे जड़ से ही उखाड़ फेंकें लोकनाथ स्वामी के मेहतर बन कर?

बस वे इस कार्य में जुट गये। नित्य चार दण्ड रात्रि रहते शौच के स्थान पर जाते, उसे झाड़ू से झाड़–पोंछकर साफ करते। पास में रख देते एक बर्तन में जंल और हाथ धोने को छनी हुई मिट्‌टी[1] और कुछ दूर जाकर पेड़ों के पीछे खड़े हो जाते। जब लोकनाथ शौच से निवृत्त हो लौट जाते तो एक ठीकरे से मल उठाकर उस स्थान को झाडू से. परिष्कार कर देते। झाड़ू निकट के एक स्थान में मिट्‌टी के नीचे छिपाकर रख देते।

जेइ स्थाने गोसाईं करेन बहिर्देश।
सेइ स्थाने जाइ करें संस्कार विशेष।।
मृत्तिका शौचेर लागि माटि छानि आने।
नित्य–नित्य एइ मत करेन सेवने।।
झांटि गाछि पुति राखे माटीर भितरे।
बाहिर करि सेवा करे आनन्द अन्तरे।।

(प्रेमविलास,11 वाँ उल्लास)

यह सेवा कर वे अतिशय आनन्द का अनुभव करते। झाड़ू को गुरु–चरण प्राप्ति का एकमात्र साधन जान बार–बार हृदय से लगाते और नेत्रों के जल से सिक्त करते–

आपनारे धन्य माने शरीर सफल।
प्रभूर चरण प्राप्ते एइ मार बल।।
कहिते–कहिते कांदे झाँटा बुके दिये।
पाँच–सात धारा बहे मुख बेये।।

(प्रेम0 वि0 11वाँ उल्लास)

लोकनाथने प्रथम दिन ही जान लिया कि किसी व्यक्तिने अलक्षित रूपसे उस स्थान को परिष्कार कर जलका पात्र और मिट्टी रखदी हैं

1. मृत्तिका शौचेर तरे सुन्दर माटि आने।
छड़ा झाटी जल आने विविध विधाने।।
(अनुरागवल्ली)

उनकी सेवाके उद्देश्यसे। उन्होंने सोचा कि निकट बनमें रहने वाला कोई आदिवासी उन्हें वृद्ध जान उनकी सेवा करना चाहता है। कुछ दिन यह कार्य चलता रहा। दिन पर दिन, मास पर मास बीतते गये। कृष्ण–भजनमें लीन लोकनाथ गोस्वामीने इधर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। एक वर्ष होनेका आया। तब एक दिन हठात् उन्हें जैसे एक धक्का लगा–कौन है यह, जो नित्य इस प्रकार मेरी सेवा करता है? वह जो भी हो, उससे इस प्रकारकी सेवा ग्रहण करना क्या मेरे लिए उचित है? कितना घृणित कार्य है यह! नहीं, मैं उसे यह गर्हित कार्य नहीं करने दूँगा। आज ही इसका प्रतिविधान करूँगा।

उस दिन रात्रि के पाँच दण्ड रहते वे शौचके स्थानके निकट एक पेड़के पीछे जा छिपे। कुछ ही देर बाद एक मनुष्यको आते देखा। अन्धकारके कारण दूरसे उसे पहचान न सके।

"कौन हो तुम? पास आओ।" उच्च स्वर में उसे लक्ष्य कर उन्होंने कहा।

धीरे–धीरे वह निकट आया और उनके चरणोंमें लोट गया।

अन्धकारके कारण निकट आने पर भी वे उसे पहचान न सके। दोनों हाथोंसे उसे उठाकर खड़ा करते हुए पूछा–"कौन हो तुम?"

"नरोत्तम," नीचा सिर किये मन्द स्वरमें उसने उत्तर दिया।

"नरोत्तम, तुम! रोज तुम ही यह कार्य करते हो?" वेदना और विस्मय भरे स्वरमें उन्होंने पूछा।

नरोत्तमने बिना कुछ कहे सिर और नीचा कर लिया।

"राजाके लड़के होकर मेहतरका कार्य! नहीं, यह कार्य मैं तुम्हें नहीं करने दूँगा। कलसे यहाँ न आना।"

"प्रभु, राज–घरानेमें जन्म लेकर भी मैं कंगाल हूँ। कृष्ण–कृपा प्राप्त करनेके लोभ से संसार त्यागकर यहाँ चला आया हूँ। पर निराश्रय हूँ। कृष्ण–प्राप्तिका प्रकृत पथ नहीं खोज पा रहा हूँ। गुरु–कृपा बिना कृष्ण–प्राप्ति संभव नहीं है। आप ही को गुरु मानकर आपके चरणोंमें सदाके लिए आत्म–समर्पण कर चुका हूँ।"

लोकनाथ गोस्वामी का हृदय कुछ विचलित हुआ। वे खड़े सोचते रहे–नरोत्तम है तो ऊँचा अधिकारी, महाप्रभुका चिन्हित दास और दीक्षा के सभी प्रकारसे योग्य। पर अपनी प्रतिज्ञा कैसे भंग करूँ? कैसी कठिन परिस्थितिमें डाल दिया है इसने मुझे।

लम्बी साँस खींचते हुए नरोत्तमने लोकनाथका दण्डवत् की और वहाँसे चल दिये।

दूसरे दिन जब वे लोकनाथकी कुटियाकी परिक्रमा कर लौट रहे

थे, लोकनाथने उन्हें बुलाया। कहा–"वत्स, कृष्णने तुम्हारे ऊपर कृपा की है। मैं अपनी प्रतिज्ञा भंग करने को बाध्य हूँ। आगामी श्रावणी पूर्णिमाको तुम्हें दीक्षा दूँगा।"

नरोत्तम के आनन्दकी सीमा न रही। आत्महारा वे लोट गये उनके चरणोंमें और अभिषिक्त किया उन्हें अपने नेत्रोंके जलसे।

गुरु–दीक्षाके पश्चात् प्रारम्भ हुआ नरोत्तम की प्रेम–साधना और गुरुकी प्राणभरी अंतरंग सेवाका नया क्रम। साथही बरस पड़ी उन पर गुरुकृपाकी अजस्र धारा। लोकनाथ व्रजरासके सिद्ध महात्मा थे। उनकी बतायी पद्धति के अनुसार भजन कर उनकी कृपासे उन्हें भी सिद्ध होनेमें देर न लगी।

नरोत्तम अब केवल नरोत्तम ही न रहे। देव–मानवके रूपमें लोग उन्हें जानने लगे। जो पहले राज–पुत्र होनेके कारण उनके प्रति सम्भ्रमका भाव रखते वे अब उनकी आध्यात्मिक उपलब्धिके कारण उनकी तपःसिद्ध आनन्दमूर्तिके आ आगे श्रद्धा और सम्भ्रमसे नतमस्तक होने लगे।

यह देख जीव गोस्वामीने स्थानीय महात्माओंसे परामर्श कर उन्हें 'ठाकुर' उपाधि दी। नरोत्तम 'नरोत्तम ठाकुर' कहलाने लगे।

नरोत्तमकी विदा

एक दिन जीव गोस्वामीने लोकनाथ गोस्वामीकी कुटियापर जाकर उनसे कहा–"श्रीनिवास और श्यामानन्दको हम महाप्रभुके भक्ति–धर्मके प्रचारके लिए गौड़ भेज रहे हैं। उनके साथ नरोत्तमको भी भेजना चाहते हैं। आप कृपा कर अनुमति प्रदान करें।"

लोकनाथ गोस्वामीकी आयु अब लगभग सौ वर्षकी हो चुकी थी। इस अवस्था में भी वे अपना बहुत–सा कार्य स्वयं ही करते थे। तो भी उन्हें नरोत्तम जैसे एक सेवा परायण शिष्यकी आवश्यकता थी। दूसरा कोई शिष्य उन्होंने किया नहीं था। करने का विचार भी नहीं था। ऐसी स्थितिमें नरोत्तमका उनके पास रहना आवश्यक था। फिर भी उन्होंने उत्तर दिया–"यह तो बड़े आनन्दकी बात है। नरोत्तम गौड़ जानेकी अनुमति मैं अवश्य दूँगा। वह महाप्रभुके धर्मका प्रचार करेगा, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

नरोत्तमको विदा करते समय उन्होंने कहा–"वत्स, मैं हृदयसे आशीर्वाद करता हूँ, तुम्हारा यह नया व्रत सुसम्पन्न हो। तुम मेरे एकमात्र शिष्य हो। बहुत दिनोंकी अपनी प्रतिज्ञा भंग कर मैंने तुम्हें शिष्य किया है। विषय संपर्कसे दूर रहकर अष्ट–प्रहर लीला–चिंतन करते हुए एकमात्र तुम्हींको मेरी शिक्षा–दीक्षा और साधनाकी दीप–शिखाको प्रज्वलित रखना है।"

हाथ जोड़कर कातर–कण्ठसे नरोत्तमने कहा–"प्रभु, आज्ञा दें कि यह दास गौड़से बीच–बीचमें आकर आपके चरण दर्शन कर जाया करे।"

"ना वत्स" लोकनाथ गोस्वामीने तुरन्त कहा, "अब मेरे पास आने की आवश्यकता नहीं। यह मेरा अन्तिम दर्शन है।"

नरोत्तम इस वज्राघात को सहन न कर सके। मूर्च्छित हो भूमिपर गिर पड़े।

बाह्य–ज्ञान होनेपर उन्होंने गुरुदेवसे माँगी उनकी चरण–पादुका। उसे हृदय से लगा श्रीनिवासाचार्य और श्यामानन्दके साथ चल पड़े वृन्दावन से ग्रन्थोंके चार बड़े सन्दूक दो बैलगाड़ियोंपर साथ ले प्रेम–धर्मके प्रचारके उद्देश्यसे।

चैतन्य-चरितामृतकी रचनामें लोकनाथ और भूगर्भ का हाथ

जो ग्रन्थ श्रीनिवासाचार्य आदिसे साथ गौड़ भेजे गये, उनमें चैतन्य–चरितामृत था या नहीं, इस सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतैक्य नहीं है। श्रीसतीशचन्द्र मित्र का कहना है कि चैतन्य–चरितामृतकी समाप्ति हुई सन् १५८१ में, ग्रन्थ भेजे गये सन् १५८२ में इसलिए चैतन्य–चरितामृत भी उन ग्रन्थोंमें, अवश्य रहा होगा।[1] पर यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि चैतन्य–चरितामृत, मध्यलीला, प्रथम परिच्छेदमें जीव गोस्वामीकृत गोपालचम्पू ग्रन्थका उल्लेख है[2], जिसका समाप्ति काल ग्रन्थमें शाके १५१४ अर्थात् सन् १५९२ दिया हुआ है। इससे स्पष्ट है कि चैतन्य–चरितामृतकी रचना सन् १५९२ के बाद ही हुई। श्री राधागोविन्दनाथने चैतन्य–चरितामृतकी भूमिका (पृ० ७-२९) में इस ग्रन्थके समाप्तिकाल सम्बन्धी सभी प्रश्नोंपर बड़े विस्तार से विचार करनेके पश्चात् मत व्यक्त किया है कि इसकी समाप्ति सन् १६१५ में हुई, अर्थात् श्रीनिवासाचार्य, नरोत्तम ठाकुर और श्यामानन्द द्वारा गौड़ ग्रन्थ भेजे जानेके बहुत दिन बाद।

चैतन्य चरितामृतकी रचना में लोकनाथ और भूगर्भका भी हाथ था, यह प्रसिद्ध है। इसकी रचना की कहानी इस प्रकार है।

गोविन्दजीके मन्दिरमें नित्य श्रीमद्भागवतका पाठ हुआ करता था। श्रीगदाधर भट्ट गोस्वामी पाठ किया करते थे। लोकनाथ गोस्वामी, भूगर्भ गोस्वामी और जीव गोस्वामी समेत वृन्दावनके सभी महात्मा पाठ सुना करते थे। उसी बीच वृन्दावन दासने चैतन्य–भागवतकी रचना समाप्त की। ग्रन्थकी एक प्रति गौड़से वृन्दावन लायी गयी। गोविन्दजी के मन्दिरमें श्रीमद्भागवतके पाठको कुछ दिनके लिए विश्राम देकर

---

१. सप्तगोस्वामी, पृ० २३२

२. गोपालचम्पू-नाम ग्रन्थ महाशूर।''
(चै० च० २/१/४४)

चैतन्य–भागवतका पाठ आरम्भ किया गया। सबको अपार सुख मिला। पर सबके मनमें यह क्षोभ रहा कि महाप्रभुकी गूढ़ अन्त्य–लीलाका उसमें वर्णन नहीं है। तब सबने मिलकर कृष्णदास कविराज से महाप्रभुकी शेष–लीलाका विशेष रूपसे वर्णन करनेके उद्देश्यसे चैतन्य–चरितामृत ग्रन्थ की रचना करनेका आग्रह किया। इनमें भूगर्भ गोस्वामी मुख्य थे। इसलिए कविराज गोस्वामीने चैतन्य–चरितामृत में आग्रह करने वाले लोगोंमें से जिनके नामोंका उल्लेख किया है, उनमें भूगर्भ गोस्वामी और उनके शिष्योंका नाम पहले है–

पंडित गोसाइंर शिष्य भूगर्भ गोसाई।
गौर कथा बिना तांर मुखे अन्य नई।।
तार शिष्य-गोविन्द पूजक चैतन्यदास।
मुकुन्दानन्द चक्रवर्ती, प्रेमी कृष्णदास।।
आचार्य गोसाइंर शिष्य-चक्रवर्ती शिवानन्द।
निरवधि ताँर चित्ते श्री चैतन्यानन्द।।
आर जत वृन्दावने वसे भक्तगन।
शेष लीला सुनिते सबार हैल मन।।
मोरे आज्ञा करिल सबे करूणा करिया।
ताँ सबार बोले लिखि निर्लज्ज हइया।।

(चै० च० १/८/६८-७२)

लोकनाथ और भूगर्भ का दैन्य

लोकनाथ गोस्वामी का नाम चैतन्य–चरितामृतकी इस सूचीमें नहीं है। ग्रन्थमें और कहीं भी उनके नामका उल्लेख नहीं है, यद्यपि उन्होंने इसकी रचना में कविराज गोस्वामी की बहुत सहायता की थी। भूगर्भ गोस्वामीका भी केवल नाम ही इसमें उल्लेख है। उनके विषय में भी कहीं किसी प्रकारकी चरचा नहीं है। इसका कारण यह है कि दोनों ने दैन्यवश अपने सम्बन्ध में कुछ भी न लिखने का आदेश दिया था।

दानों महापुरुषोंके जीवनकालमें किसीका साहस न हुआ जो उनके सम्बन्धमें कुछ लिखे। परवर्ती कालमें भक्तिरत्नाकर और प्रेमविलासादि ग्रन्थोंमें लोकनाथ गोस्वामीके सम्बन्ध में थोड़ा–बहुत लिखा गया। पर भूगर्भ गोस्वामीके सम्बन्धमें उन्होंने भी कुछ नहीं लिखा। इसलिए उनके सम्बन्धमें हमारी जानकारी इसके सिवा और कुछ नहीं है कि वे महापंडित थे और लोकनाथ गोस्वामीके अभिन्न शरीर, तीर्थोद्धार के कार्यमें वे लोकनाथ गोस्वामीके साथ थे और महाप्रभुके परिकरोंमें इस महान कार्यमं अग्रगण्य दो व्यक्तियोंमें लोकनाथके साथ उनका भी नाम है।

लोकनाथ और भूगर्भ गोस्वामीने किसी ग्रन्थकी रचना नहीं की।

उन्हें इसके लिए अवकाश भी नहीं था। वे सब समय नाम–जप और अष्ट–कालीन लीला–चिन्तनमें रत रहते थे।[1] पर इनसे, विशेष रूपसे लोकनाथ गोस्वामीसे रूप और सनातनने भक्ति–धर्मके गूढ़ रहस्योंके सम्बन्धमें बहुत–कुछ ग्रहण किया था, ऐसा प्रवाद है।

अंतर्धान

सन् १५८३ और १५८८ के बीच किसी समय श्रावण, कृष्ण पक्षकी अष्टमी तिथीको वृन्दावनके समुद्धारके अग्रदूत लोकनाथ गोस्वामीका अंतर्धान हुआ। वृन्दावनमें श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीपादके ठाकुर गोकुलानन्दके मन्दिर के निकट उनकी समाधि है। उनके ठाकुर श्रीराधाविनोदकी श्रीमूर्तिकी गोकुलानन्दके मन्दिरमें सेवा होती है।

---

१. लोकनाथ प्रणीत "सीता-चरित्र" नामक एक ग्रन्थ का सतीशचन्द्र मित्रने उल्लेख किया है (सप्त गोस्वामी, पृ०५०)। यह अद्वैत-पत्नी सीतादेवीका चरित्र है। किसी-किसीका मत है कि इसके लेखक 'लोकनाथ दास' श्रीलोकनाथ गोस्वामी ही हैं।

श्रीसनातन गोस्वामी

सन् १५१४। अक्टूबरका महीना। चैतन्य महाप्रभु संन्यास रूपमें नीलाचलमें विराज रहे थे। श्रीकृष्ण–प्रेम–रससे परिपूर्ण उनके हृदय–सरोवरमें उठी एक भाव–तरंग श्रीकृष्ण–लीलास्थली मधुर वृन्दावनके दर्शन की। देखते–देखते वह इतनी विशाल और वेगवती हो गयी कि नीलाचल के प्रेमी भक्तों के नीलाचल छोड़कर न जानेके विनयपूर्ण आग्रहका अतिक्रमण कर उन्हें बहा ले चली वृन्दावनके पथपर। साथ चल पड़ी भक्तों की अपार भीड़ भावावेशमें उनके साथ नृत्य और कीर्तन करती।

गौड़ देश होते हुए उन्होंने झाड़खण्ड के रास्ते वृन्दावन जाना था। पर आश्चर्य! झाड़खण्ड न जाकर वे मुड़ चले गौड़ देशके राजा हुसेनशाह की राजधानी गौड़की ओर। ऐसा कौन–सा प्रबल आकर्षण था, जो वृन्दावनकी ओर बहती हुई उस भाव और प्रेमकी सोतस्विनीके वेगको थामकर अपनी ओर मोड़नेमें समर्थ हुआ, किसीकी समझमें न आया।

आकर्षण था अमरदेव और संतोषदेव नामके दो भाइयोंका, जो गौड़ देशके बादशाह हुसेनशाहके मन्त्री थे, अमरदेव प्रधानमन्त्री थे, संतोषदेव, राजस्व–मन्त्री। दोनों भाई संस्कृत, फारसी और अरबीके महान् विद्वान थे। दोनों मुसलमान राजाके अधीन होते हुए भी बड़े धर्मनिष्ठ और सदाचारी थे। दोनों का मान–सम्मान जैसा राज–दरबारमें था, वैसा ही प्रजा और हिन्दु समाज में भी। दोनोंका कृष्ण–प्रेम भी अतुलनीय था। दोनों महाप्रभु और उनके प्रेम–धर्मसे आकृष्ट हो संसार त्यागकर उनके अनुगत्य में कृष्ण–प्राप्तिके पथपर चल पड़नेका संकल्प कर चुके थे।

दोनों ने पहलेही महाप्रभुको कई पत्र लिखकर उनकी कृपासे उद्धार पानेकी प्रार्थना की थी। महाप्रभुने उत्तर में लिखा था–"कृष्ण तुम्हारा उद्धार शीघ्र करेंगे। पर कुछ दिन प्रतीक्षा करो। जिस प्रकार परपुरुषसे प्रेम करनेवाली कुल–रमणी घरके कार्यमें व्यस्त रहते हुए भी चिंतन द्वारा उसके नव–संगमरसका आस्वादन करती है, उसी प्रकार प्रभुकी प्रेम–सेवाका मनसे चिन्तन करते हुए संसारका कार्य करते रहो–

पर व्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु।
तदेवास्वादयत्यन्तर्नवसंग रसायनम्।।"

महाप्रभु हुसेनशाह की राजधानीके निकट पहुँचकर वहाँ विश्राम कर रहे थे। दोनों भ्राताओंको जब उनके आगमनका संवाद मिला, उनके आनन्दका ओर–छोर न रहा। उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि स्वयं महाप्रभु इतना मार्ग चलकर उनतक आनेकी अयाचित और अहैतुकी

कृपा करेंगे। उन्होने उसी राज दीन वेशमें वहाँ जाकर उन्हें दण्डवत् की। उनके चरणोंमें गिर कर पुलकाश्रु विसर्जन करते हुए उनसे प्रार्थना की–"प्रभु जब आपने इतनी कृपा की है तो हमारे उद्धारका भी उपाय करें। हमें अपने चरणोंका सेवक बना लें। विषय–विषसे अब हमारा जीवन दुःसह हो चला है"

महाप्रभु ने दोनों को उठाकर आलिंगन किया। मृदु–मधुर कण्ठसे आशीर्वाद देते हुए कहा–"चिन्ता न करो। कृष्ण तुम्हारे ऊपर कृपा करेंगे। तुम दोनों उनके चिन्हित दास हो। तुम्हें वे अपने सेवा–कार्यमें नियुक्त कर शीघ्र कृतार्थ करेंगे। आजसे कृष्णदासके रूपमें तुम्हारा नाम अमर और सन्तोषकी जगह हुआ सनातन और रूप।[1] महाप्रभुने उन्हें पूर्ण रूप से आश्वस्त करनेके लिए आगे कहा–"यहाँ आनेका मेरा उद्देश्य ही है तुम दोनों को देखना और तुम्हें आश्वस्त करना कि तुम्हारा उद्धार निश्चित है। मेरा और कोई प्रयोजन नहीं हैं–

गौड़ निकट आसिते मोर नाहि प्रयोजन।
तोमा दोंहा देखिते मोर इहाँ आगमन।।"

(चै० च० २/१/१९८)

यह देख–सुनकर सब अवाक्! लोग एक बार महाप्रभुकी ओर देखते, एक बार रूप और सनातन की ओर। अब उनकी समझमें आया महाप्रभुके इतना रास्ता कटकर इधर आनेका कारण। पर कौन हैं यह दोनों भाई, जिनके लिए महाप्रभुने इतना कष्ट किया? ऐसा कौन–सा गुण है इनमें जिससे ये इतना लुब्ध हैं? यह उनकी अब भी समझमें नहीं आ रहा। महाप्रभुको उन्होंने यह कहते अवश्य सुना है कि "तुम मेरे चिन्हित दास हो।" पर दास के पास ये स्वयं इतना कष्ट उठाकर क्यों आये? दास कष्ट उठाता है स्वामीसे मिलने के लिए, न कि स्वामी दाससे मिलने के

---

१. प्रभु चिनि दुइ भाइर विमोचन।
शेषे नाम थुइलेन रूप-सनातन।।

(चै० च० १/१-१५३)

आज हैते दोंहार नाम रूप-सनातन।

(चै० च० २/१/१९५)

डा० नरेश चन्द्र जानाने आपनी पुस्तक 'वृन्दावनेर छय गोस्वामी' (पृ० ३९-४१) में इस सम्बन्ध में शंका की है। उनकी धारणा है कि दोनों भाईके रूप-संनातन नाम पहले से ही थे, क्योंकि महाप्रभु जब दक्षिणमें भ्रमण कर रहे थे तभी उन्होंने गोपाल भट्टसे कहा था-वृन्दावन शीघ्र जाना। तुम्हारी वहाँ रूप-सनातनसे भेंट होगी-

पुनः कहे अचिरे जाइबा वृन्दावन।
मिलिब दुर्लभं रत्न रूप-सनातन।।

(भ० र० १/१२१)

इस आधार पर डा० जानाकी यह धारणा उचित नहीं लगती, क्योंकि यह तो लेखकका अपना वर्णन है। उसने महाप्रभुके ठीक शब्दोंको तो उद्धृत किया नहीं है। ग्रन्थ लिखनेके समय दोनों भाईयोंका नाम रूप-सनातन नाम ही प्रचलित था। यह भी संभव है कि महाप्रभुने पहले ही उनके नाम रूप-सनातन रखने का निश्चय कर लिया हो और वे अपनी गोष्ठीमें इसी नामसे दोनोंको पुकारते रहे हों, क्योंकि उन्होंन पत्रों द्वारा महाप्रभुको पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया था और महाप्रभुने अपने सेवकोंके रूपमें उन्हें स्वीकार भी कर लिया था। एसी अवस्थामें उनके द्वारा उनका नाम रखा जाना स्वाभाविक नहीं था।

लिए। दासकी गरज होती है स्वामीसे, न कि स्वामीकी दाससे।

पर वे क्या जाने कि भगवान् और उनके भक्तके बीच सम्बन्ध जगत् के स्वामी और दास जैसा नहीं होता। यहाँ गरज दोनोंकी दोनों से होती हैं। भक्त जितना भगवान्से मिलनेको उत्सुक रहता हैं, उतना ही भगवान् भक्तसे मिलने को। भक्तकी जितनी भगवान्से अटकी होती है, उतनी ही भगवान् की भक्तसे। सच तो यह है कि भगवान् ही सदा भक्तके पास आते हैं, भक्त भगवान्के पास नहीं जाते। भक्त विचारेकी सामर्थ्य ही कहाँ जो उनतक पहुँच सके। वे केवल उसपर कृपा करने और उसे दर्शन देने ही उसके पास खींच ले जाता है। तभी न ध्रुवके उपाख्यानमें श्रीमद् भागवतमें कहा है कि भगवान मधुवन में ध्रुव पास गये, उसे दर्शन देने के उद्देश्य से नहीं उसके दर्शन करनेके उद्देश्य से–"मधोर्वनं भृत्यदि दृक्षया गतः" (भा० ४/९/१)।

महाप्रभु इन दोनों भाइयोंके भक्ति भावसे आकृष्ट होकर तो रामकेलि आये थे ही, उनका एक और भी महत्वपूर्ण उद्देश्य था। वे इनकी असाधारण प्रतिभा और शक्तिका उपयोग वैष्णव–धर्मके प्रचारके लिए करना चाहते थे, इनसे वैष्णव–शास्त्र लिखवाना और व्रजके लुप्त तीर्थो का उद्धार करवाना चाहते थे।

वंश–परम्परा

रूप और सनातन के असाधारण व्यक्तित्वकी गरिमाका सही मूल्यांकन करनेके लिए उनकी वंश परम्परापर दृष्टि डालना आवश्यक है उनके पूर्वपुरुष दक्षिण भारतमें रहते थे। वे राजवंशके थे और जैसे राजकार्य में दक्ष थे वैसे ही शास्त्र–विद्या में प्रवीण। उनके भतीजे श्रीजीव गोस्वामीने लघुवैष्णवतोषणीके अन्तमें अपनी वंशपरम्पराका वर्णन इस प्रकार किया हैं–

कर्नाट देशके एक बड़े पराक्रमी राजा थे श्रीसर्वज्ञ जगद्गुरु।[1] वे भरद्वाज गोत्रके थे। बड़े धर्मनिष्ठ और वेदवित होनेके कारण वे राजमण्डलीके पूज्य पात्र थे। उनके पुत्र राजा अनिरुद्ध यजुर्वेदके अद्वितीय उपदेष्टा थे। अनिरुद्धके दोपुत्र हुए–रूपेश्वर और हरिहर। रूपेश्वर शास्त्रविद्यामें और हरिहर शस्त्र–विद्यामें प्रवीण थे। वैकुण्ठ प्राप्तिके दिन अनिरुद्ध ने अपने राज्य का दोनों पुत्र में बँटवारा कर दिया था। पर हरिहरने रूपेश्वरका राज्य छीन लिया। रूपेश्वर राजच्युत हो पौरस्तदेश चले गये। वहाँ अपने सखा शिखरेश्वरके राज्यमें मुखसे वास करने लगे। उनके पद्मनाभ नाम

१. डा० दीनेशचन्द्रसेन और श्रीनगेन्द्रनाथ बसुने जगद्गुरुका आविर्भाव-काल चतुर्दश शताब्दीके शेष भागमें निर्दिष्ट किया है।

के एक गुणवान पुत्र हुए। वे यजुर्वेद और समस्त उपनिषदोंके श्रेष्ठ ज्ञाता थे। गंगातीरपर वास करनेकी इच्छासे वे शिखर देश परित्याग कर राजा दनुजमर्दनके आह्वानपर नवहट्ट(नैहाटी)[1] चले आये। उनके अठारह कन्या और पाँच पुत्र हुए। पुत्रोंके नाम थे–पुरुषोत्तम, जगन्नाथ, नारायण, मुरारी और मुकुन्द। यशस्वी मुकुन्दके पुत्र हुए कुमार। कुमार किसी द्रोहके कारण नवहट्ट छोड़कर बंगदेश (पूर्व बंग) चले गये।[2] कुमार के भी कई पुत्र हुए, जिनके वैष्णव समाजमें विशेष रूपसे प्रसिद्ध हुए तीन– सनातन, रूप और वल्लभ (अनुपम)। इनमें सनातन सबसे बड़े और रूप उनसे छोटे और वल्लभ उनसे छोटे।

बाल्यकाल और शिक्षा

जन्म

सनातन गोस्वामीकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में निश्चित रूपसे कुछ कहना सम्भव नहीं जान पड़ता। डा० दीनेशचन्द्र सेनने उनका जन्म सन् १४९२ में बताया है।[3] और भी कई विद्वानोंने डा० सेनका अनुसरण करते हुए उनका जन्म सन् १४९२ या उसके आस–पास बताया है। पर डा० सतीशचन्द्र मित्रने उनका जन्म सन् १४६५ (सं० १५२२) में लिखा हैं। यही ठीक जान पड़ता है, क्योंकि महाप्रभु जब रामकेलि गये, उस समय सनातन गोस्वामी हुसेनशाहके प्रधानमन्त्री थे। महाप्रभुकी आयु उस समय २८/२९ वर्षकी थी। महाप्रभुका आविर्भाव हुआ १४८६ में। वे रामकेलि गये सन्यासके पंचम वर्ष सन् १५१४ या १५१५ में। इस हिसाब से सनातन गोस्वामीकी आयु डा० सेनके मतके अनुसार उस समय 23 वर्षकी होती। रामकेलिमें महाप्रभुसे मिलनेके कई वर्ष पूर्व वे प्रधानमंत्री हुए होंगे।[4] उस समय उनकी आयु केवल १८/१९ वर्षकी या उससे कम होगी और रूप गोस्वामीकी उससे भी कम, जो विश्वास करने योग्य नहीं। यदि उनका जन्म मित्र महाशयके अनुसार सन् १४६५ में माना जाय, तो उनकी उम्र रामकेलि में महाप्रभु से उनके मिलने के समय ४९।५० की होती है, जो प्रा

---

१. कुछ लोगोंका मत है कि यहाँ तात्पर्य वर्धमान जिलाके अन्तर्गत वर्तमान नैहाटीसे है। पर डा० सुकुमारसेन द्वारा आविष्कृत सनातन, रूप और जीवके परिचयपत्र में उल्लेख है कि पद्मनाभ शिखर देशसे कुमारहट्ट चले गये (डा० सुकुमारसेन, बांला साहित्येर इतिहास, प्रथम खण्ड, पूर्वार्ध, ३ य सं० पृ० ३०२-३०३)। इससे सिद्ध है कि तात्पर्य कुमार हट्टके सन्निकट नैहाटीसे है।

२. भक्तिरत्नाकर के अनुसार वे बंगदेशके दक्षिण प्रान्तमें बाकला चन्द्रद्वीपमें जाकर रहने लगे(भ० र० १/५६१-५६५)।

3- D. C. Sen : The Vaisnava Literature of Medieval Bengal p. 29.

४. भक्तिरत्नाकरमें उल्लेख है कि श्रीचैतन्य महाप्रभुने संन्यासके पूर्व ही (अर्थात् सन् १५१० के पूर्व) रूप-सनातनकी मंत्री रूपमें ख्याति सुनी थी (भ० र० १/३६४-३८३)।

प्रधानमन्त्री पद के लिए ठीक लगती है।

एक और प्रकार से भी मित्र महाशय के मत की पुष्टि होती है। श्रीरूप गोस्वामी ने गोविन्द–विरुदावली में लिखा है–

"पालितङ्करणीदशा प्रमो मुहुरन्धङ्करणी चमां गता।
शुभङ्करणी कृपा शुभैर्ण तवाद्यङ्करणी च मय्यभूत।।

(स्तवमाला)

–हे प्रभो, इस समय मैं वृद्धप्राय और अन्धप्राय हो गया हूँ, फिर भी इस शरणागत के प्रति आपकी कृपादृष्टि नहीं हुई।"

गोविन्द–विरुदावली रूपगोस्वामी के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में उद्धत है। भक्तिरसामृतसिन्धु का रचना–काल सन् १५४१ है। इस आधार पर गोविन्द–विरुदावली का रचनाकाल १५४० माना जाय और उस समय रूपगोस्वामी का आविर्भाव सन् १४७० के लगभग मानना होगा। सनातन गोस्वामी को रूपगोस्वामी से ४।५ साल बड़ा माना जाय, तो उनका जन्म १४६५।६६ के लगभग ही मानना होगा।

शिक्षा

सनातन गोस्वामी के पितामह मुकुन्ददेव दीर्घकाल से गौड़ राज्य में किसी उच्च पद पर आसीन थे। वे रामकेलि में रहते थे। उनके पुत्र श्रीकुमार देव बाकलाचन्द्र द्वीप में रहते थे। कुमारदेव के देहावसान के पश्चात् मुकुन्ददेव श्रीरूप–सनातन आदि को रामकेलि ले आये। उन्होंने रूप–सनातन की शिक्षा की सुव्यवस्था की। उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा दिलायी रामभद्र वाणीविलास नामक एक पंडित से। उसके पश्चात् उन्हें भेज दिया नवद्वीप, जो उस समय शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र था। वहाँ कुछ दिन प्रसिद्ध नैयायिक श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य से न्याय–शास्त्र की शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वे उनके छोटे भाई विद्यावाचस्पति[1] की टोल में पढ़ने लगे। असाधारण मेधावान् और प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण दोनों थोड़े ही दिनों में साहित्य, व्याकरण और नाना शास्त्रों में पारंगत हो गये।

परन्तु उन दिनों केवल संस्कृत साहित्य और शास्त्रादि में व्युत्पन्न होना ही वैषयिक जीवन में उन्नति करने के लिए पर्याप्त न था, क्योंकि सरकार का सारा काम फारसी और अरबी में हुआ करता था। इसलिए मुकुन्ददेव ने उन्हें अरबी और फारसी की शिक्षा देना भी आवश्यक समझा। इसके लिए उन्होंने दोनों भाइयों को सप्तग्राम भेज दिया। सप्तग्राम के शासक फकरुद्दीन उनके बंधु थे। उनकी देखरेख में वे अरबी और फारसी

१. डा० दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने सिद्धि किया है कि उनका प्रकृत नाम था विष्णुदास भट्टाचार्य (साहित्य परिषद पत्रिका, वर्ष ५६ ३य-४र्थ संख्या पृ० ६६-८१)

के विशेषज्ञ मुल्लाओ से इन भाषाओं का अध्ययन करने लगे। थोड़े ही दिनों में उन्होंने इन भाषाओं में भी पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया।

विभिन्न भाषाओं और शास्त्रों के अध्ययन में तत्पर रहते हुए भी सनातन गोस्वामी प्रारम्भ से ही श्रीमद्भागवत में विशेष रुचि रखते थे। श्रीजीव गोस्वामी ने लघुवैष्णवतोषणी के अन्त में दी हुई वंशपरिचायिका में उल्लेख किया है कि उन्हें बाल्यावस्था में स्वप्न में एक ब्राह्मण द्वारा श्रीमद्भागवत की एक प्रति प्राप्त हुई थी और प्रभात होने पर उसी ब्राह्मण ने वही प्रति उन्हें भेंट की थी। तभी से वे नियमित रुप से श्रीमद्भागवत का पाठ किया करते थे। अपने वृन्दावनवास के प्रारम्भ में उन्होंने परमानन्द भट्टाचार्य नामक एक भक्ति–सिद्ध आचार्य से भी भागवत के निगूढ़ तत्व की शिक्षा ग्रहण की थी।

वृहत्वैष्णवतोषणी के प्रारम्भ में मंगलाचरण में उन्होंने उन सभी महानुभावों की वन्दना करते हुए, जिनसे उन्होंने शिक्षा ग्रहण की थी, लिखा है–

भट्टाचार्य सार्वभौम विद्यावाचस्पतीन् गुरून्।
बन्दे विद्याभूषणञ्च गौड़देशविभूषणम्।।
बन्दे श्रीपरमानन्द भट्टाचार्य रसप्रियं।
रामभद्रं तथा बाणी विलासञ्चोपदेशकम्।।

दीक्षा–गुरू

उपर्युक्त मंगलाचरण में सनातन गोस्वामी ने केवल विद्यावाचस्पति के लिये 'गुरुन् शब्द का प्रयोग किया है, जिससे स्पष्ट है कि वे उनके दीक्षा गुरु थे और अन्य सब शिक्षा गुरु। 'गुरुन' शब्द बहुवचन होते हुए भी गौरवार्थ में बहुत बार एक वचन में प्रयुक्त होता है। यहाँ भी एक वचन में प्रयुक्त होकर विद्यावाचस्पति के साथ जुड़ा हुआ है।[1] यदि विद्यावाचस्पति और सार्वभौम भट्टाचार्य दोनों से जुड़ा होता तो द्विवचन में प्रयुक्त किया गया होता। यदि जिनके नामों का यहाँ उल्लेख है उन सबसे जुड़ा होता तो दो बार 'बन्दे' शब्द का प्रयोग न किया गया होता।

मनोहरदास ने भी अनुरागबल्ली में वृहत्–वैष्णवतोषणी के मंगलाचरण का यही अर्थ किया है–

श्रीसनातन कैल दशम टिप्पणी।
तार मङ्गलाचरणे एइ मत बाणी।।
विद्यावाचस्पति निज गुरू करिलेन जे।
ताँहार श्रीमुख वाक्य देख परतेके।। (1म मञ्जरी)

1 डा. सुशील कुमार दे ने भी अपनी पुस्तक Early History of the Vaisnava Faith and Movement in Bengal (p 148 fn) में लिखा है "The word gurun in the passage expressly qualifies Vidyavachaspatin only, and the plural is honorific."

श्रीनरहरि चंक्रवर्ती ने भक्तिरत्नाकर मे विद्यावाचस्पति को ही सनातन का गुरु कहा है–

''श्रीसनातन गुरू विद्यावाचस्पति।
मध्ये-मध्ये रामकेलि ग्रामे ताँर स्थिति।।

(१।५९८)

–श्रीसनातन के गुरु विद्यावाचस्पति थे। वे बीच–बीच में रामकेलि ग्राम में आकर रहा करते थे।''

डा. राधागोविन्दनाथ ने[1] भी कहा है कि वैष्णवतोषणी के मंगलाचरण में उक्त विद्यावाचस्पति ही सनातन के गुरु थे। गौड़ीय–वैष्णव समाज में प्रचलित मत भी यही है।

पर डा. विमानबिहारी मजूमदार[2] और डा. जाना ने[3] श्रीचैतन्य महाप्रभु को सनातन गोस्वामी का दीक्षा–गुरु माना है। प्रमाण में उन्होंने कहा है कि वृहद्भागवतामृत के दशम और एकादश श्लोक में सनातन गोस्वामी ने स्पष्ट रुप से श्रीचैतन्य को प्रणाम किया है। श्लोक इस प्रकार है–

''नमः श्रीगुरुकृष्णाय निरुपाधिकृपाकृते।
य श्रीचैतन्यरूपोऽभूत् तन्वन् प्रेमरसं कलौ।।
भगवद्भक्ति शास्त्राणामयं सारस्यसंग्रहः।
अनुभूतस्य चैतन्यदेवे तत्प्रियरूपतः।।

–जो कलियुग में प्रेमरस का विस्तार करने के लिए श्रीचैतन्य रुप में अवतीर्ण हुए हैं, उन निरुपाधि–कृपाकारी श्रीकृष्णरुप गुरुवर को मैं प्रणाम करता हूँ। यह ग्रन्थ भगवद्भक्ति–शास्त्र समूह का सार–स्वरुप है, जो श्रीचैतन्यदेव के प्रिय रुप, (यति रुप)[4] द्वारा अनुभूत हुआ है।''

डा. मजूमदार और डा. जाना का इस आधार पर श्रीचैतन्य को सनातन गोस्वामी का दीक्षा–गुरु मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ उन्होंने श्रीचैतन्यदेव की गुरुरुप में प्रणाम किया है अवश्य, पर दीक्षा–गुरु रुप में नहीं, श्रीकृष्ण का अवतार होने के कारण जगद्गुरु रूप में। इन श्लोकों की टीका में उन्होंने स्वयं इस बात को स्पष्ट कर दिया है। टीका

१. चैतन्यचरितामृत, परिशिष्ट, पृः ४१९
२. चैतन्यचरितेर उपादान, २ य सं, पृः १३७
३. वृन्दावनेर छय गोस्वामी, पृः ४७-४८
४. व्रजमण्डल के छय गोस्वामियों के अनुसार श्रीचैतन्यदेव का प्रियरूप है उनका यति रूप, जिसके द्वारा उन्होंने राधा के भाव-माधुर्य का आस्वादन किया। गौड़मण्डल के शिवानन्द सेन, नरहरि सरकार, वासु घोष vkfndsvufjkjmudhvo}hisylykdhfd 'ks गौराङ्गमूर्ति उनका श्रेष्ठतम रूप है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कहा जाता है कि द्वारका और कुरुक्षेत्र के कृष्ण पूर्ण हैं, मथुरा के पूर्णतर और वृन्दावन के पूर्णतम, उसी प्रकार ये गौर पारम्यवादीगण यतिवेशधारी श्रीचैतन्य को उनका पूर्ण रूप, गया से लौटने पर उनके भावोन्मत्तरूप को उनका पूर्णतररूप और नवद्वीप के किशोर गौराङ्ग को उनका पूर्णतम रूप मानते हैं।

में उन्होंने लिखा है–"श्रीवैष्णव सम्प्रदाय रीत्या स्वस्यष्टदैवतरुपं श्रीगुरुवरं प्रणमति–वैष्णव सम्प्रदाय की रीति के अनुसार अपने इष्टदेव रूप में गुरुवर श्रीचैतन्यदेव को प्रणाम करता हूँ।" इष्ट समष्टि–गुरुरुप में साधक का गुरु होता है, दीक्षा–गुरुरुप में नहीं। वैष्णवशास्त्रानुसार श्रीमन्महाप्रभु हैं स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण तत्वतः समष्टिगुरु होते हुए भी व्यष्टिगुरु का कार्य नहीं करते। वे स्वयं किसी को दीक्षा नहीं देते। दीक्षा है कृष्ण–प्राप्ति का उपाय, श्रीकृष्ण हैं उपेय। उपेय स्वयं उपाय नहीं होता।

डा. राधागोविन्दनाथ ने इस सम्बन्ध में एक और तर्क उपस्थित किया है। श्रीचैतन्य–चरितामृत में उल्लेख है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शनकर रूप–सनातन अपने घर चले गये और चैतन्य–चरण–प्राप्ति की आशा से उन्होंने दो पुरश्चरण कराये। हरिभक्तिविलास ७।३ श्लोक की विधि के अनुसार पुरश्चरण दीक्षा के पश्चात् ही होता है, उसके पूर्व नहीं। इससे स्पष्ट है कि श्रीचैतन्य का साक्षात् होने के पूर्व ही उनकी दीक्षा हो चुकी थी।

रुप–सनातन ने विवाह किया या नहीं, इस सम्बन्ध में निश्चित रुप से कुछ नहीं कहा जा सकता। चैतन्यचरितामृत और भक्तिरत्नाकर में उनके परिवार–परिजन आदि का उल्लेख है। उसके आधार पर कुछ लोगों का अनुमान है कि उन्होंने विवाह किया था। पर किसी प्राचीन ग्रन्थ में उनके विवाह का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

राज-कार्य

मन्त्रीपद पर नियुक्ति

हुसेनशाह के दरबार में रूप–सनातन किस प्रकार राज–मन्त्री हुए, इस सम्बन्ध में श्रीसतीशचन्द्र मित्र ने 'सप्त गोस्वामी' ग्रन्थ में लिखा है–"शैशव में सनातन और उनके भाई बाकला से रामकेलि अपने पितामह मुकुन्ददेव के पास ले जाये गये। उन्होंने ही उनका लालन–पालन किया। मुकुन्ददेव राज दरबार में किसी उच्च पद पर आसीन थे। दरबार में उनका बड़ा सम्मान था। उनके पौत्रों ने अपनी असामान्य प्रतिभा और विद्या–बुद्धि के कारण सबका ध्यान सहज ही आकर्षित किया। कुछ दिन पश्चात् गौड़ में भागीरथी के तीर पर मुकुन्द को परलोक–प्राप्ति हुई (सन् १४८३)। उस समय सनातन की आयु १८ वर्ष थी। उसी समय उन्हें पितामह का पद प्राप्त हुआ।[1] यह मत ठीक नहीं लगता। हुसेनशाह गौड़ के सुलतान हुए १४९२ ई. में। इसलिये १४८३ ई. में रूप–सनातन का उनके मन्त्री पद पर नियुक्त होना नहीं बनता।

१. सप्त गोस्वामी, पृ. ६७

कई लेखकों ने इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है। हुसेनशाह ने अपने राजमिस्त्री पीरू को एक मन्दिरा–स्तम्भ[1] बनाने का आदेश दिया। जब उसका निर्माण पूरा होने को आया, उसने पीरू के साथ ऊपर चढ़कर उसका निरीक्षण किया। उसे देख वह बहुत प्रसन्न हुआ, पीरू की प्रशंसा की और उसे इनाम देने को कहा। पीरू ने कहा–"जहाँ पनाह, मैं इससे भी और अच्छा बना सकता हूँ।" यह सुन हुसेनशाह को क्रोध आया। उसने कहा–"नमकहराम, जब तू इससे अच्छा बना सकता है, तो क्यों नहीं बनाया? क्या उस हुनर को किसी दूसरे राजा के लिये छिपा रखा है? तुझे प्राण दण्ड मिलेगा।" तत्काल उसे मन्दिर के ऊपर से धक्का देने का अपने सिपाही को आदेश दिया। पर वह पहले उसे इनाम देने को कह चुका था, इसलिये मरने के पहले उससे इनाम भी मांगने को कहा। पीरू ने कहा–"मुझे जब मरना ही है तो और इनाम लेकर क्या करूँगा। इस मन्दिरा का नाम मेरे नाम पर 'पीरूसा–मन्दिरा' रख दिया जाय।" हुसेनशाह ने उसे मन्दिरा के ऊपर से गिराकर मरवा दिया, पर मन्दिरा का नाम रख दिया "पीरूसा–मन्दिरा।"

मन्दिरा का शिरावरण अभी नहीं बना था। एक दिन हुसेनशाह हिंगा नामक एक प्यादे को साथ लेकर उसे देखने गया। शिरावरण को अधूरा देख वह बहुत दुःखी हुआ। हिंगा से कहा–"हिंगा, तू मोरगाँय (मोरग्राम) जा।" उसी समय उसका मुरशिद आ गया। उसकी अभ्यर्थना कर उसके साथ वार्तालाप में लग जाने के कारण वह यह न बता सका कि किस कार्य के लिये जाना है। हिंगा भी कुपित गौड़पति से यह पूछने का साहस न कर सका कि वह मोरगाँय किसलिये जाय। बस वह मोरगाँय चला गया। वहाँ विषण्ण मन से इधर–उधर फिरता रहा। सनातन गोस्वामी को जब उसकी दयनीय अवस्था का पता चला, तो उन्होंने उसे कुछ सुदक्ष मिस्त्रयों को साथ ले गौड़ जाने की सलाह दी। वह उन्हें लेकर गौड़ चला गया। हुसेनशाह मिस्त्रियों को देखकर प्रसन्न हुआ। उसे आश्यर्च हुआ कि हिंगां ने बिना बताये उसका अभिप्राय कैसे जान लिया। इस सम्बन्ध में उसे सनातन की कुशाग्र बुद्धि का पता चला। वह पहले भी अपने मुरशिद से रूप–सनातन दोनों भाईयों की प्रशंसा सुन चुका था। उसने तुरन्त उन्हें पालकी में बिठाकर आदर सहित ले आने का अपने कुतवाल केशव क्षत्री को आदेश दिया। उनके आने पर उसने मंत्री पद स्वीकार कर राज्य–भार ग्रहण करने को कहा। राजाज्ञा उल्लंघन के

---

१. उन दिनों प्रायः राजा अपनी राजधानी में एक ऊँचा मीनार बनवाये करते थे, जिस पर चढ़कर वे दूर तक निरीक्षण कर सकते थे। उसे 'मन्दिरा' कहा जाता था।

भीषण परिणाम के भय से उन्हें मंत्री पद स्वीकार करना पड़ा।[1]

श्रीसतीशचन्द्र मिश्र के मत और उपरोक्त किंवदंती में कितना तथ्य है नहीं कहा जा सकता। पर इतना निश्चित है कि सनातन गोस्वामी को मंत्री पद पर नियुक्त किया गया उनकी असाधारण बुद्धिमत्ता के कारण ही। यह भक्तिरत्नाकर में नरहरि चक्रवर्ती के इस विवरण से स्पष्ट है–

"सनातंन रूप महामन्त्री सर्वशेते।
शुनिलेन राजा शिष्ट लोकेर मुखे ते।।
गौड़ेर राजा जवन अनेक अधिकार।
सनातन रूपे आनि दिल राज्य भार।।

(भक्ति रत्नाकर, १।५८१-८२)

–राजा ने जब शिष्ट लोगों के मुख से सुना कि सनातन और रूपकी रग–रग में महामन्त्रीत्व भरा है,तो उन्होंने अपने अधिकार का प्रयोग कर उन्हें अपने निकट बुलवाया और राज्य भार उन पर सौंप दिया ।"

सनातन गोस्वामी अपने असाधारण व्यक्तित्व,विचक्षणता और कर्मठता के कारण हुसेनशाह के दक्षिण हस्त बन गये। राज्य के शासन और प्रतिरक्षा आदि का कोई भी महत्वपूर्ण कार्य हुसेनशाह सनातन गोस्वामी के परामर्श के बिंना न करते । उनके अनुज रूप और वल्लभ भी उनके प्रभाव से उच्च राज पद पर नियुक्त कर दिये गये।

सनातन को उपाधि दी गयी 'साकर मल्लिक' और रूप को 'दबीर खास' ।[2] 'मल्लिक' अरबी के 'मलिक' शब्द से उत्पन्न है, जिसका अर्थ है 'राजा'। 'साकर' अरबी के 'सागिर' शब्द से उत्पन्न है, जिसका अर्थ है 'छोटा' या 'उप'। 'साकर मल्लिक' का अर्थ है छोटा राजा अर्थात् प्रधानमंत्री, जिसका राजा के बाद स्थान है। 'दबीर खास' फारसी के 'दबिर–इ–खास' शब्द से उत्पन्न है, जिसका अर्थ है निजस्व–सचिव या प्राइवेट–सेक्रेटरी।

भक्ति-साधना

सनातन गोस्वामी गौड़ दरबार में सुलतान के शिविर में रहते समय मुसलमानी वेश–भूषा में रहते, अरबी और फारसी में अनर्गल

---

१. डा० नरेशचन्द्र जाना : छय गोस्वामी, पृ० २५; कृष्णदास बाबा : उज्ज्वल नीलमणी, भूमिका, पृ० ९-११।

२. कई विद्वानों के मत से दबीर खास सनातन की उपाधि थी और साकर मल्लिक रूप की। पर चैतन्य-चरितमृत और चैतन्य-भागवत में सनातन की साकर मल्लिक उपाधि के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण है। चैतन्य-चरितामृत में उल्लेख है कि रूप और सनातन जब रामकेलि महाप्रभु के दर्शन करने गये, उस समय नित्यानन्द और हरिदास ने, जो महाप्रभु के साथ थे, कहा-

रूप साकर आइला तोमा देखिबारे। (चै. च. २।१।१७४)

अर्थात्, रूप और साकर आपके दर्शन को आये हैं। यहाँ सनातन को ही साकर (मल्लिक) कहा गया है।

वार्तालाप करते और विधर्मी सुलतान और अमीर–उमराव की सामाजिक रीतिनीति के अनुसार व्यवहार करते। पर दिन ढ़लते अपने गृह रामकेलि पहुँचते ही उद्भासित हो उठता उनका निज–स्वरुप। स्नान तर्पणादि के पश्चात् शुद्ध होकर वे लग पड़ते दान–ध्यान, पूजा–अर्चना, शास्त्र–पाठ और धर्म सम्बन्धी आलाप–आलोचना में।

रामकेलि में और उसके आसपास सनातन गोस्वामी ने बना रखा था एक अपूर्व धार्मिकता का परिवेश। उनके द्वारा प्रतिष्ठित श्रीमदन मोहन का मन्दिर और उनके बनवाये सनातन सागर, रुप सागर, दीधि, श्यामकुण्ड, राधाकुण्ड, ललिताकुण्ड, विशाखाकुण्ड, सुरभीकुण्डद्व रङ्गदेवीकुण्ड और इन्दुरेखाकुण्ड आज भी यहाँ वर्तमान हैं। इन कुण्डों के किनारे आरोपित कदम्ब के वृक्षों के नीचे बैठकर वे कृष्ण–लीला का चिन्तन करते थे। भक्ति–रत्नाकर में नरहरि चक्रवर्ती का उल्लेख है–

बाड़ीर निकटे अति बिभृत स्थाने ते
कदम्ब-कानन धारा श्यामकुण्ड ताते
वृन्दावन लीला तथा करये चिन्तन,
ना धरे धैरज नेत्रे धारा अनुक्षण।

(१।६०४-६०५)

अर्थात्, उनके घर के निकट एक निभृत स्थान में कदम्ब के वृक्षों से घिरा हुआ श्यामकुण्ड था। वहाँ बैठकर वे वृन्दावन–लीला का चिन्तन करते–करते धैर्य खो बैठते और उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने

चैतन्य भागवत में दो जगह सनातन को साकर मल्लिक कहा गया है-

साकर मल्लिक आर रूप दुई भाई।
दुइ प्रति कृपा दृष्ट्ये चाहिला गोसाञि॥

(चै. भा. ३।१०।२३४)

यहाँ रूप का नाम लिया गया है और सनातन को साकर मल्लिक कहा गया है।

महाप्रभु ने साकर मल्लिक की ही जगह सनातन का नाम सनातन रखा इसका चैतन्य-भागवत में स्पष्ट उल्लेख है:-

साकर मल्लिक नाम घुचाइया तान।
सनातन अवधूत थुइलेन नाम॥

(चै. भा. ३।१०।२६८)

गिरिजा शंकर राय चौधरी का मत है कि सनातन को ही साकर मल्लिक और दबीर खास, इन दोनों नामों से पुकारा जाता था (श्रीचैतन्यदेव ओ ताँहार पार्षदगण, पृ० १४७-१४९)। उनका कहना है कि चैतन्य-चरितामृत और चैतन्य-भागवत में कहीं भी 'दबीर खास' शब्द का प्रयोग रूप के लिये नहीं किया गया। पर चैतन्य-भागवत की निम्न पंक्तियों को देखकर ऐसा नहीं कहा जा सकता-

''दबीर खासेरे प्रभु बलिते लागिला।
एखने तोमार कृष्ण प्रेम-भक्ति हैला॥

(चै. भा. ३।१०।२६३)

लगती।

आत्म-ग्लानि

सनातन गोस्वामी की यह मनोवृत्ति उनके वंशगत वैशिष्ट्य के कारण थी, जो अब तक दबी हुई थी उनके जटिल राजकार्य के दायित्वपूर्ण भार के कारण। दबी होते हुए भी यह भट्टे की अग्नि की तरह भीतर–भीतर सुलग रही थी। हवा का एक झोंका लगते ही इसे धधककर बाहर आ जाना था। झोंका आया जब हुसेनशाह की सेना ने निर्ममता से उड़ीसा के देव–देवियों की मूर्त्तियों को ध्वंस कर दिया। सनातन से यह न देखा गया। अनुताप की अग्नि उनके अन्तर में धूं–धूंकर जलने लगी। उन्हें अपने आपसे ग्लानि होने लगी। वह प्रधान–मन्त्रीत्व किस काम का, जिसमें अपने वैषयिक वैभव के लिये अपनी आत्मा को विधर्मी राजा के हाथों गिरवीं रख देना पड़े? वह वैभव सुख–सम्पत्ति और मान–सम्मान किस काम का, जिसमें अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति को विकास का अवसर न मिले? वह जीवन किस काम का, जिसके आन्तरिक और बाह्य स्वरूपों में दिन और रात के अन्तर को कम करने का कोई उपाय ही न हो? वे इस विषम स्थिति से परित्राण पाने का उपाय खोजने लगे।

मन्त्रीत्व-त्याग और कारागार

इसी बीच हुआ महाप्रभु का रामेकेलि शुभागमन और रुप–सनातन के नवजन्म का शुभारम्भ। उनकी कृपादृष्टि पड़ते ही उनके कृष्ण–प्रेम में ऐसी बाढ़ आयी कि उनके सभी सांसारिक बन्धनों को छिन्न–भिन्न करती

-दबीर खास से प्रभु कहने लगे-अब समझ लो कि तुम्हें प्रेम-भक्ति प्राप्त हो गयी।''

इससे पूर्व अद्वैताचार्य ने दोनों को आशीर्वाद देते हुए कहा था-

''कायमनोवचने मोहार एई कथा।
ए-दुइर प्रेम भक्ति होउक सर्वथा।।

(चै. भा. ३।१०।२६१)

-काय, मन और वचन से मेरा यह आशीर्वाद है कि इन दोनों को प्रेम-भक्ति हो।'' इन पंक्तियों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उपरोक्त पंक्तियों में महाप्रभु ने अद्वैताचार्य के आशीर्वाद के परिणाम स्वरुप केवल सनातन गोस्वामी के प्रेम-भक्ति लाभ करने की बात कही हो। स्पष्ट है कि यहाँ 'दबीर खास' शब्द का प्रयोग दोनों के लिये किया गया है। इससे यह संभव जान पड़ता है कि 'साकर मल्लिक' केवल सनातन की उपाधि रही हो और 'दबीर खास' दोनों को पुकारा जाता रहा है। डा० नाना ने जयानन्द के चैतन्यमंगल से निम्न पंक्तियों को उद्धृत करके भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि दबीर खास दोनों को कहा जाता था-

हेन काले दबीर खास भाइ दुइ जने।
देखिञा चैतन्य चिनिलेन ततक्षणे।।
X X X
श्रीकृष्ण चैतन्य रहिलेन कुतूहले।
दबिर खास दुइ भाइ गेला नीलाचले।।

हुई उन्हें बहा ले गयी कृष्ण–प्रेम के अनन्त, अगाध सागर की ओर। महाप्रभु के रामकेलि से जाते ही दोनों भाईयों का सांसारिक जीवन असंभव हो गया। इससे परित्राण पाने के उद्देश्य से उन्हीं दो शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों को बहुत सा धन देकर उनसे कृष्ण–मन्त्र के दो पुरश्चरण करवाये (चै. च. २।१९।४-५)

पुरश्चरण के पश्चात् दोनों ने संसार त्यागकर वृन्दावन जाने का निश्चय किया। सनातन के ऊपर राजकार्य का दायित्व अधिक था। इसलिये दोनों ने आपस में परामर्श कर स्थिर किया कि पहले रूप गुप्त रुप से वृन्दावन की यात्रा करेंगे। फिर कुछ दिन बाद सनातन उनसे वृन्दावन में जा मिलेंगे।

पर रूप–सनातन पर आत्मीय स्वजन और आश्रित ब्राह्मण, पंडित साधु–सज्जन आदि के भरण–पोषण का दायित्व भी कम न था। संसार त्याग करने के पूर्व उन्हें उन सबकी समुचित व्यवस्था करनी थी। तदर्थ रूप स्वोपार्जित विपुल धनराशि लेकर फतेहाबाद चले गये। उन्होंने अपने परिवार के लोगों को पहले ही फतेहाबाद और चन्द्रद्वीप भेज दिया था (भ. र. १।६४८-४९)। चैतन्य–चरितामृत में उल्लेख है कि उन्होंने अपने संचित धन का आधा ब्राह्मण और वैष्णवों में बांट दिया। बाकी में से आधा परिवार के लोगों को उनके पोषण के लिये देकर दस हजार मुद्रायें एक बनिये के पास सनातन गोस्वामी के खर्च के लिये जमा कर दी। जो बचा उसे सज्जन ब्राह्मणों के पास आकस्मिक विपत्तियों के लिये जमा कर दिया। जयानन्द ने चैतन्यमंगल में लिखा है कि इस प्रकार उन्होंने बाइस लाख स्वर्ण मुद्राओं का बँटवारा कर स्वयं वैराग्य वेष धारण कर परमार्थ पथ का अनुसरण किया।

रूप के राजसभा त्यागने के पश्चात् सनातन ने भी राजसभा जाना बन्द कर दिया। हुसेनशाह से कहला भेजा–"मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। मैं अब राजकार्य करने के योग्य नहीं हूँ।"

हुसेनशाह को संदेह होना स्वाभाविक था। उसने सोचा दबीर खास तो बिना कुछ कहे सुने कहीं चला गया ही है, शाकर मलिक भी भाग निकलने की तैयारी में है। उस समय राज्य के चारों ओर युद्ध के बादल मंडरा रहे थे। ऐसे समय सनातन जैसे कुशल प्रधानमंत्री का घर बैठे रहना उसे कब अच्छा लग सकता था?

उसने तत्काल राजवैद्य को भेजा सनातन की परीक्षा करने। राजवैद्य ने लौटकर सनातन के निरोग होने का संवाद दिया। हुसेनशाह को क्रोध आया। दूसरे दिन वह स्वयं गया सनातन के रामकेलि प्रासाद में उन्हें देखने। उसने देखा उन्हें प्रसन्न मुद्रा में साधु–वैष्णवों के बीच बैठे

धर्म–चर्चा करते। भ्रकुटी तानते हुए उसने कहा–'सनातन! जानते नहीं इस समय राज्य की कैसी परिस्थिति है? ऐसे समय बीमारी का बहाना कर तुम्हारा घर बैठ रहना क्या राज–विद्रोह का सूचक नहीं है? छोड़ो इस पागलपन को और राज्य की बागडोर पूर्ववत् हाथ में लो। नहीं तो राजाज्ञा की अवहेलना का दण्ड भोगने के लिये तैयार रहो।"

पर सनातन अपने हृदय–सिंहासन पर गौड़ेश्वर के बदले परमेश्वर को बिठा चुके थे। उन्होंने दृढ़ता के स्वर में उत्तर दिया–"जहाँपनाह, मैं अब भगवान् का दास हूँ, और किसी का नहीं। भगवान् की सेवा छोड़कर अब मेरे लिये और किसी की सेवा सम्भव ही नहीं। दरबार का कार्य अब मैं नहीं करुँगा। मुझे क्षमा करें।"

हुसेनशाह को अपने प्रधानमन्त्री से अपनी आज्ञा की अवहेलना कब बरदास्त हो सकती थी? उसने तत्काल उन्हें बन्दी बनाकर कारागार में ड़ाल दिया।

उड़ीसा के युद्ध में हुसेनशाह का सेनापति हार खाकर लौट आया। इस बार हुसेनशाह ने स्वयं सेना लेकर राजा प्रतापरुद्र का मुकाबला करने का निश्चय किया। सनातन जैसे तीक्ष्ण बुद्धिवाले सहायक की आवश्यकता पड़ी। उन्हें कारागार से बुलाकर उसने कहा–"सनातन! मेरी बात मानो, हट छोड़ दो। अपना दायित्वपूर्ण कार्य फिर से सम्हालो और मेरे साथ उड़ीसा के युद्ध में चलो।"

सनातन ने दो टूक जवाब दिया–"नहीं, जहाँपनाह, यह मुझसे नहीं होगा। आपकी सेना मार्ग के सभी देव–मन्दिरों को ध्वंस करती और देव–मूर्त्तियों को कलुषित करती जायेगी। यह मैं अपने नेत्रों से न देख सकूंगा। मैं इस पापकार्य में साझी न बनूँगा।"

सनातन को फिर कारागार में डाल हुसेनशाह ने ससैन्य उड़ीसा के लिए प्रस्थान किया। सनातन कारागार में पड़े निरन्तर महाप्रभु का चिन्तन करते रहे और उनसे प्रार्थना करते रहे–"गौर सुन्दर! तुमने रूप परं कृपा की। उसे भव–बन्धन से मुक्त कर दिया। मेरे ऊपर कब कृपा करोगे नाथ? तुम्हारे सिवा अब मेरा कौन है, जिसकी कृपा का भरोसा रख प्राण धारण कर सकूं?"

कारागार से मुक्ति

कुछ ही दिन बाद उन्हें मिला रूप का एक गुप्त पत्र। उसमें सांकेतिक भाषा में लिखा था– "महाप्रभु ने वृन्दावन की यात्रा प्रारम्भ कर दी है। मैं और वल्लभ भी वृन्दावन जा रहे हैं। अमुक बनिये के पास दस हजार मुद्रा छोड़े जा रहे हैं। आप उन्हें काराध्यक्ष को उत्कोच में देकर

कारागार से मुक्ति पाने का उपाय करें और यथाशीघ्र वृन्दावन चले आयें। (चै. च. २।१९।३०-३४)

सनातन ने ऐसा ही किया। काराध्यक्ष पर उन्होंने पहले अनुग्रह किया था। वह उनका अहसानमन्द था। पर हुसेनशाह का उसे भय था इसलिये सनातन गोस्वामी को मुक्त करने में असमर्थ था। सनातन गोस्वामी ने उससे कहा–"हुसेनशाह यदि उड़ीसा के युद्ध से जीवित लौट आये, तो उससे कहना–"सनातन बेड़ीं पहने लघुशंका के लिये बाहर गये और गंगा में डूबकर मर गये।" इतना कह जब उन्होंने मुद्राओं की थैली उसके सामने रखी, उसे लोभ आ गया। उसने बेड़ी काटकर स्वयं उन्हें गंगा के पार पहुँचा दिया। (चै. च. २।२०।१४)"[१]

वृन्दावन के पथ पर

सनातन गोस्वामी नें दरवेश का भेष बनाया और अपने पुराने सेवक ईशान को साथ ले चल पड़े वृन्दावन की ओर। उन्हें हुसेनशाह के सिपाहियों द्वारा पकड़े जाने का भय था। इसलिये राजपथ से जाना ठीक न था। दूसरा मार्ग था पातड़ा पर्वत होकर, जो बहुत कठिन और विपदग्रस्त था। उसी मार्ग से जाने का उन्होंने निश्चय किया।

सनातन को आज मुक्ति मिली है। हुसेनशाह के बन्दीखाने से ही नहीं, माया के जटिल बन्धन से भी। उस मुक्ति के लिये ऐसी कौन सी कीमत है, जिसे देने को वे प्रस्तुत नहीं। इसलिये धन–सम्पत्ति, स्वजन–परिजन, राजपद, मान और मर्यादा सभी को तृणवत् त्यागकर आज वे चल पड़े हैं दीन–हीन दरवेश के छद्मवेश में पातड़ा पर्वत के ऊबड़–खाबड़, कंटकाकीर्ण, निर्जन पथ पर। दिन–रात लगातार चलते–चलते वे पर्वत के निकट एक भुइयाँ की जमींदारी में जा पहुँचे। उसने उनका बड़ा आदर–सत्कार किया और कहा–"आप लोग थके हुए हैं। रात्रि में यहीं भोजन और विश्राम करें। सवेरे मेरे आदमी आपको पर्वत पार करा देंगे।"

दो दिन के उपवासी सनातन ने नदी में स्नान कर रंधन और भोजन किया। पर उन्हें भुइयाँ द्वारा किये गये असाधारण आदर–सत्कार से कुछ संदेह हुआ। उन्होंने सुन रखा था कि उस स्थान के भुइयाँ पर्यटकों का बड़ा आदर–सत्कार करते हैं, उन्हें अपने पास ठहरने को स्थान देते हैं और रात्रि में उनका सब कुछ लूटकर उनकी हत्या कर देते हैं। सनातन के पास तो लूटे जाने के लिये कुछ था नहीं। पर उन्हें ईशान

---

१. काराध्यक्ष का नाम था शेख हबू। आज भी गौड़ के इंगलिहार ग्राम में शेख हबू के घर और सनातन के कारागृह के अवशेष विद्यमान हैं। (गौड़ेर इतिहास खण्ड २, पृ० १०९।

का कुछ पता नहीं था। उन्होंने पूछा उससे—"तेरे पास कुछ है?"

"मेरे पास सात अशर्फियाँ हैं" उसने उत्तर दिया।"

"सात अशरफियाँ! मैंने तुझे साथ लिया था वैराग्य पथ पर अपना साथी जान। पर तूने मुझे धोखा दिया। धिक्कार है तुझे" कह सनातन ने ईशान की भर्त्सना की। अशरफियाँ उससे लेकर भुइयाँ के सामने रखीं और कहा—"हमारे पास यह अशरफियाँ हैं। इन्हें आप ले लें और हमें निर्विघ्न पहाड़ पार करा दें।"

भुइयाँ सनातन की सरलता और सत्यवादिता से प्रभावित हुआ। उसने कहा—"आपने मुझे एक पाप कर्म से बचा लिया। मुझे मेरे ज्योतिषी ने पहले ही बता दिया था कि आपके साथी के पास आठ अशरफियाँ हैं। रात्रि में आप दोनों की हत्या कर मैं उन्हें ले लेता। पर अब मैं अशरफियाँ नहीं लूंगा। पहाड़ यूं ही पार करा पुण्य का भागी बनूँगा।" सनातन ने आग्रह करते हुए फिर कहा—"यदि आप नहीं लेगें, तो कोई और हमें मार कर ले लेगा। इसलिए आप ही लेकर हमारी प्राण—रक्षा करें।" **(चै. च. २।२९-३१)**

भुइयाँ ने तब अशरफियाँ ले लीं। दूसरे दिन चार सिपाहियों को साथ कर उन्हें पहाड़ के उस पार पहुँचा दिया।

पहाड़ पारकर सनातन ने ईशान से कहा—"भुइयाँ ने आठ अशरफियों की बात कही थी। तेरे पास और भी कोई अशरफी है क्या?'

ईशान ने एक अशरफी और छिपा रखने की बात स्वीकार की। तब सनातन ने गम्भीर होकर कहा—"ईशान, तेरी निर्भरता है अर्थ पर, मेरी भगवान् पर। मैंने जिस पथ को अंगीकार किया है, तू उसका अधिकारी अभी नहीं है। इसलिये शेष बची उसी अशरफी को लेकर तू घर लौट जा।"

ईशान सनातन को साश्रुनयन प्रणाम कर अनिच्छापूर्वक रामकेलि लौट गया। सनातन एकाकी आगे बढ़े।

चलते—च्लते वे हाजीपुर पहुँचे। हाजीपुर में उनकी भेंट हुई अपने भगिनीपति श्रीकान्त से। श्रीकान्त हुसेनशाह के दरबार में किसी बड़े पद पर नियुक्त थे। बादशाह के लिए घोड़े खरीदने हाजीपुर आये थे। हाजीपुर पटना के उस पार शोनपुर के पास एक ग्राम है, जहाँ कार्तिक पूर्णिमा से एक महीने तक एक विशाल मेले में देश के विभिन्न स्थानों से हाथी घोड़े बिकने आया करते थे। आज भी इन्हीं दिनों वह मेला वहाँ लगा करता है।

श्रीकान्त से राजमन्त्री सनातन का भिक्षुक वेश न देखा गया। उन्होंने उनसे वस्त्र बदलने का आग्रह किया। पर वह निष्फल रहा। अन्त

में उन्होंने एक मोटा कम्बल देते हुए कहा–"इसे तो लेना ही पड़ेगा, क्योंकि पश्चिम में शीत बहुत है। इसके बिना बहुत कष्ट होगा।"

कम्बल कन्धे पर डाल सनातन वृन्दावन की ओर चल दिये, महाप्रभु से मिलने की छटपटी में लम्बे–लम्बे कदम बढ़ाते हुए; पथ में कभी आहार करते हुए, कभी निराहार रहते हुए; कभी नींद भर सोते हुए कभी रात भर जाग कर महाप्रभु की याद में अश्रु विसर्जन करते हुए। अनशन, अनिद्रा और मार्ग के कष्ट से उनका शरीर शीर्ण हो रहा था। पर उन्हें कष्ट का अनुभव नहीं हो रहा था। उनके पैरों में चलने की शक्ति नहीं रही थी। पर वे चल रहे थे, गौर–प्रेम–मदिरा के नशे में छके से, गिरते, पड़ते और लड़खड़ाते हुए।

काशी में महाप्रभु से मिलन

कुछ ही दिनों में वे काशी पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही सुसंवाद मिला कि महाप्रभु वृन्दावन से लौटकर कुछ दिनों से काशी में चन्द्रशेखर आचार्य के घर ठहरे हुए हैं। उनके नृत्य कीर्तन के कारण काशी में भाव–भक्ति की अपूर्व बाढ़ आयी हुई है। यह सुन उनके आनन्द की सीमा न रही।

दूसरे ही क्षण दीन–हीन वेश में वे चन्द्रशेखर आचार्य के दरवाजे पर उपस्थित हुए। उनके प्राण महाप्रभु के दर्शन के लिये छटपट कर रहे थे। पर वे अपने को दीन और अयोग्य जान भीतर जाने का साहस नहीं जुटा पा रहे थे। विशाल गौड़ देश के मुख्यमंत्री, जिनके दरवाजे पर उनके कृपाकटाक्ष के लोभ से सैंकड़ों सामंत प्रतीक्षा में बैठे रहते। आज चन्द्रशेखर आचार्य के घर के बाहर बैठे अपने को अनधिकारी जान दरवाजा खटखटाने का भी साहस नहीं कर पा रहे!

यही तो है भक्ति महारानी का अलौकिक प्रभाव! जो उनका आश्रय ग्रहण करता है, उसमें वे इतना दैन्य भर देती है कि वह महान होते हुए भी अपने को दीन मानता है, पवित्र होते हुए भी अपने को अपवित्र मानता है, भक्ति धन का सर्वोच्च धनी होते हुए भी अपने को उसका कंगाल मानता है, प्रभु के इतना निकट आकर भी अपने को अपराधी जान उनसे मिलने के लिए उनका दरवाजा खटखटाने में भी संकोच करता है।

पर उसे प्रभु का दरवाजा खटखटाने की आवश्यकता ही कब पड़ती है? उसके आगमन पर अन्तर्यामी प्रभु के प्राण बज उठते हैं और वे सिंहासन छोड़कर उसे अपने बाहुपाश में भर लेने को स्वयं भाग पड़ते हैं। महाप्रभु को अपने प्राण–सनातन के आगमन की खबर पड़ गयी। प्राण–प्राण से मिलने को भाग पड़े। उच्च स्वर से 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण' कहते सनातन को उनका मधुर कण्ठस्वर पहचानने में देर न लगी। उन्होंने जैसे ही सिर

ऊँचा किया तो देखा कि उनके प्राण धन श्रीगौरांग कनक–कान्ति सी दिव्य छटा विखरते, प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रों से उनकी ओर एकटक निहारते, भाव गदगद कण्ठ से 'मेरे सनातन! मेरे प्राण!' कहते, दोनों भुजायें पसारे उन्हें आलिंगन करने उनकी ओर बढ़े आ रहे हैं!

सनातन चिरअपराधी की तरह उनके चरणों में लोट गये। उन्होंने झट उठाकर हृदय से लगाना चाहा। पर सनातन छिटककर अलग जा खड़े हुये और हाथ जोड़कर कातर स्वर कहने लगे–'प्रभु, मैं नीच, पामर, विषयी, यवनसेवी आपके स्पर्श करने योग्य नहीं। मुझे न छुएँ।''

''नहीं, नहीं, सनातन। दैन्य रहने दो। तुम्हारे दैन्य से मेरी छाती फटती है।[1] तुम अपने भक्तिबल से ब्रह्मांड तक को पवित्र करने की शक्ति रखते हो। मुझे भी अपना स्पर्श प्राप्त कर धन्य होने दो।'' कहते–कहते महाप्रभु ने सनातन को अपनी भुजाओं में भर नेत्रों के प्रेमजल से अभिषिक्त कर दिया।

चन्द्रशेखर से महाप्रभु ने कहा सनातन का क्षौर करा उनका दरवेश–वेश बदलने को। चन्द्रशेखर ने क्षौर और गंगा–स्नान करा उन्हें एक नूतन वस्त्र पहरने को दिया। सनातन ने उसे स्वीकार करते हुए कहा–''यदि मेरा वेश बदलना है तो मुझे अपना व्यवहार किया कोई पुराना वस्त्र देने की कृपा करें।''

तब मिश्रजी अपना व्यवहार किया एक पुराना वस्त्र ले आये। सनातन ने उसके दो टुकड़े कर डोर–कौपीन और वर्हिवास के रूप में उसे धारण किया। तभी से गौड़ीय–वैष्णवों में वैराग्य वेश की प्रथा प्रारम्भ हुई, जो अब तक चली आ रही है।

उस दिन तपन मिश्र के घर महाप्रभु का निमंत्रण था। महाप्रभु के वहाँ भिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् सनातन ने उनका प्रसाद सेवन किया।

दूसरे दिन महाप्रभु के भक्त एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ने सनातन से अनुरोध किया कि वे जब तक काशी में रहें, प्रसाद उनके घर ग्रहण किया करे। सनातन ने उसे स्वीकार नहीं किया वे भिक्षा का झोला हाथ में ले चले। विभिन्न स्थानों से मधुकरी माँगने।

---

१. भक्तिरत्नाकर का मत है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने विभिन्न परिवारों द्वारा विभिन्न भाव और शक्ति का प्रकाश किया है। सनातन और रुप द्वारा दैन्य का प्रकाश किया है–

रामानन्द द्वारे कन्दपेर दर्पनाशे।
दामोदर द्वारे निरपेक्ष परकाशे॥
हरिदास द्वारे सहिष्णुता जानाइल।
सनातन रुप द्वारे दैन्य प्रकाशिल॥

(प्रथम तरंग ६३०, ६३१)

महाप्रभु यह देख बहुत उल्लसित हुए। वे उच्छवसित कण्ठ से चन्द्रशेखर और तपन मिश्र से सनातन के वाराग्य की प्रशंसा करने लगे। वे सनातन का गुण–गान करते जाते, पर बार–बार उनके कंधे पर रखे भोटे कम्बल की ओर देखते जाते।

सनातन को उनकी तीक्ष्ण दृष्टि का अर्थ समझने में देर न लगी। वे गये गंगातट पर। देखा कि एक भिखारी अपनी पुरानी गूदड़ी धूप में सुखा रहा है। कातर स्वर से उससे बोले–"भाई, मेरा एक उपकार करो। मेरा यह कम्बल ले लो और यह बदले में यह गूदड़ी मुझे दे दो। मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानूँगा।"

भिखारी की भृकुटि चढ़ गयी। वह समझा कि यह बाबाजी स्वयं भिखारी होते हुए मेरी दरिद्रता का मजाक बना रहा है। पर सनातन के समझाने पर वह इस विनिमय के लिये तैयार हो गया। उसकी गूदड़ी प्रेम से कंधे पर ड़ाल वे चन्द्रशेखर आचार्य के घर लौट आये।

उन्हें देख महाप्रभु के मुखारविन्द पर छा गयी अपार आनन्द की दिप्ति। सब कुछ जानकर भी विस्मय का भाव दिखाते हुए उन्होंने कहा–"सनातन, कम्बल क्या हुआ?"

सनातन के मुख से स्वेच्छा से कम्बल को गूदड़ी से बदल लेने की बात सुन महाप्रभु आनन्द से डगमग होते हुए बोले–"हाँ, तभी तो मैं सोचता था कि कृष्ण जैसे सुवैद्य ने जब तुम्हें विषय–रोग से मुक्त किया है, तो उसका अंतिम चिन्ह भी क्यों रखेगें?। **चै० च० २।२०।९०॥**

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु ने हुसेनशाह के प्रधानमंत्री को सर्वत्यागी वैरागी का रूप देकर खड़ा किया वैराग्य और दैन्य के आदर्श का वह मानचित्र, जिसके सहारे वैष्णव–धर्म में नये प्राण फूंकने का उन्होंने संकल्प किया था।

इसके पश्चात आरम्भ हुआ प्रश्नोत्तर का वह क्रम, जिसके द्वारा महाप्रभु ने सनातन के माध्यम से जगत् में विशुद्ध भागवत–धर्म का प्रचार किया। सनातन एक के बाद एक प्रश्न करते जाते और महाप्रभु प्रसन्न मुख से उसका उत्तर देते जाते। कुछ दिन पूर्व गोदावरी के तीर पर रामानन्द राय से महाप्रभु के संलाप के माध्यम से उद्‌घाटित हुआ था भागवत–धर्म के निर्यास व्रज–रस तत्व का गूढ़ रहस्य। अब वाराणसी में गंगातट पर उनके सनातन के साथ संलाप से प्रकाशित हुआ वैष्णव साधना का क्रम और निगूढ़ तत्व।

पहले महाप्रभु ने श्रीकृष्ण की भगवत्ता और उनके विभिन्न अवतारों का वर्णन किया। फिर साधन–भक्ति और रागानुगा–भक्ति का विस्तार से

निरूपण किया। दो महीने सनातन को अपने घनिष्ठ सान्निध्य में रख वैष्णव–सिद्धान्त में निष्णात करने के पश्चात उन्होंने कहा–"सनातन, कुछ दिन पूर्व मैंने तुम्हारे भाई रूप को प्रयाग में कृष्ण रस का उपदेश कर और उसके प्रचार के लिए शक्ति संचार कर वृन्दावन भेजा है। तुम भी वृन्दावन जाओ। तुम्हें मैं सौंप रहा हूँ चार दायित्वपूर्ण कार्यों का भार। तुम वहाँ जाकर मथुरा मण्डल के लुप्त तीर्थो और लीला स्थलियों का उद्धार करो, शुद्ध भक्ति सिद्धान्त की स्थापना करो, कृष्ण–विग्रह प्रकट करो। और वैष्णव–स्मृति ग्रन्थ का संकलन कर वैष्णव सदाचार का प्रचार करो।"

इसके पश्चात कंगालों के ठाकुर परम करुण गौरांग महाप्रभु ने दयाद्र चित्त से, करुणा विगलित स्वर में कहा–"इनके अतिरिक्त एक और भी महत्वपूर्ण दायित्व तुम्हें संभालना होगा। मेरे कथा–करंगधारी कंगाल वैष्णव भक्त, जो वृन्दावन भजन करने जायेगें, उनकी देख–रेख भी तुम्हीं को करनी होगी (चै० च० २।२५।१७६)।"

सनातन ने कहा–"प्रभु! यदि मेरे द्वारा यह कार्य कराने हैं, तो मेरे मस्तक पर चरण रख शक्ति संचार करने की कृपा करें।"

महाप्रभु ने सनातन के मस्तक पर अपना हस्त कमल रख उन्हें आर्शीवाद दिया।

आज महाप्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर सनातन वृज जाने के लिये महाप्रभु से विदा हो रहे हैं। पर उनके प्राण उनके चरणों से लिपटे हैं। वे उन्हें जाने कब दे रहे हैं? पैर आगे बढ़ते–बढ़ते पीछे लौट रहे हैं। जाते–जाते वे अश्रुपूर्ण नेत्रों से बार–बार महाप्रभु की ओर देख रहे हैं और मन ही मन कह रहे हैं न जाने कब फिर उनका भाग्योदय होगा। कब फिर करुणा और प्रेम की उस साक्षात मूर्ति के दर्शन कर वे विरहाग्नि से जर–जर अपने प्राणों को शीतल कर सकेगें।

सनातन जब वृन्दावन की ओर चले उसी समय रूप और बल्लभ उनसे मार्ग में मिलने के उद्देश्य से वृन्दावन से प्रयाग की ओर चले। पर दोनों का मिलन न हुआ, क्योंकि सनातन गये राजपथ से, रूप और वल्लभ आये दूसरे पथ से गङ्गा के किनारे–किनारे।

महाप्रभु ने नीलाचल से वृन्दावन की यात्रा की सन् १५१५ के शरद काल में (चै. च. २।१८।११२)। वृन्दावन से लौटते समय वे प्रयाग होते हुए काशी आये। सनातन का उनसे साक्षात हुआ, सन् १५१६ के माघ फाल्गुन अर्थात् जनवरी–फरवरी में और उन्होंने वृन्दावन की यात्रा की दो महीने पीछे अप्रैल–में।

वृन्दावन में एकान्त भजन और लुप्त तीर्थोद्धार

ब्रजधाम पहुँचते ही सनातन गोस्वामी ने पहले सुबुद्धिराय से

साक्षात् किया, फिर लोकनाथ गोस्वामी और भूगर्भ पण्डित से, जो महाप्रभु के आदेश से पहले ही ब्रज में आ गये थे। तत्पश्चात् उन्होंने जमुना–पुलिन पर आदित्य टीला नाम के निर्जन स्थान में रहकर आरम्भ किया एकान्त भजन–साधन, त्याग और वैराग्य का जीवन। किसी पद कर्ता ने उनके भजनशील जीवन का सजीव चित्र इन शब्दों में खींचा है–

"कभू कान्दे, कभू हासे, कभू प्रेमानन्दे भासे
कभु भिक्षा, 'कभु उपवास।
छेंड़ा काँथा, नेड़ा माथा, मुखे कृष्ण गुणगाथा
परिधान छेंड़ा बहिर्वास
कखनओ बनेर शाक अलवने करि पाक
मुखे देय दुई एक ग्रास।

–वे कृष्ण प्रेमरस में सदा डूबे रहते। कभी रोते, कभी हंसते, कभी भिक्षा करते, कभी उपवासी रहते, कभी बन का साग–पात अलोना पकाकर उसके दो–एक ग्रास मुख में दे लेते। फटा–पुराना बहिर्वास और कथा धारण करते और कृष्ण के नाम–गुण–लीला का गान करते हुए एक अलौकिक आनन्द के नशे में शरीर की सुध–बुध भूले रहते।"

उस समय वृन्दावन में बस्ती नाम मात्र को ही थी। इसलिये साधकों को मधुकरी के लिये मथुरा जाना पड़ता। सनातन गोस्वामी की तन्मयता जब कुछ कम होती तो वे कंधे पर झोला लटका मथुरा चले जाते। वहाँ जो भी भिक्षा मिलती उससे उदरपूर्ति कर लेते।

कुछ दिन बाद उन्होंने महाप्रभु के आदेशानुसार व्रज की लीला–स्थलियों के उद्धार का कार्य प्रारम्भ किया। इसके पूर्व लोकनाथ गोस्वामी ने इस दिशा में कुछ कार्य किया था। उसे आगे बढ़ाते हुए उन्होंने व्रज के वनों, उपवनों और पहाड़ियों में घूमते हुए और कातर स्वर से व्रजेश्वरी की कृपा प्रार्थना करते हुए, शास्त्रों, लोक–गाथाओं और व्रजेश्वरी की कृपा से प्राप्त अपने दिव्य अनुभवों के आधार पर एक–एक लुप्त तीर्थ का उद्धार किया।

नीलाचल में एक वर्ष

इस कार्य में संलग्न रहते हुए एक वर्ष बीत गया, तो महाप्रभु का विरह उन्हें असह्य हो गया। महांप्रभु ने स्वयं ही एक बार नीलाचल जाने को उनसे कहा था। इसलिये वे झारिखण्डं के जंगल के रास्ते नीलाचल की पदयात्रा पर चल पड़े।

मार्ग में चलते–चलते अनाहार और अनियम के कारण उन्हें विषाक्त खुजली रोग हो गया। उसके कारण सारे शरीर से क्लेद बहिर्गत

होते देख वे लगे इस प्रकार विचार करने–एक तो मैं वैसे ही म्लेक्ष राजा की सेवा में रह चुकने के कारण अपवित्र और अस्पृश्य हूँ। अब इस रोग को लेकर नीलाचल जा रहा हूँ। इसके रहते मैं मन्दिर में तो जा सकूंगा ही नहीं, महाप्रभु के दर्शन करना भी कठिन होगा, क्योंकि महाप्रभु जगन्नाथ जी के मन्दिर के पास रहते हैं, जहाँ होकर जगन्नाथ जी के सेवकों का आना–जाना लगा रहता है। यदि मुझसे उनका शरीर छू गया तो अपराध होगा। ऐसे शरीर का भार ढोते रहने से तो अच्छा यह होगा कि मैं रथयात्रा के समय जगन्नाथ जी के नीचे प्राण त्यागकर इस विपद से छुटकारा पाऊँ और सद्गति भी लाभ करुँ। ऐसा करने का निश्चय कर वे नीलाचल पहुँचे।

नीलाचल में उनके ठहरने का उपयुक्त स्थान था यवन हरिदास की पर्णकुटी। हरिदास अपने को दीन, पतित और अस्पृश्य जान नगर के एक कोने में अपनी पर्णकुटी में रहते थे। किसी को स्पर्श करने के भय से जगन्नाथजी और महाप्रभु के दर्शन करने नहीं जाते थे। महाप्रभु स्वयं नित्य जगन्नाथजी के उपल–भोग के दर्शन कर अपने परम प्रिय भक्त हरिदास को दर्शन देने उनकी कुटी पर जाया करते थे। सनातन भी हरिदास की ही तरह अपने को पतित और अस्पृश्य मानते थे। इसलिये वे उनकी खोज करते–करते उनकी कुटिया पर जा पहुँचे।

थोड़ी ही देर बाद महाप्रभु नित्य की भाँति जगन्नाथजी के दर्शन कर वहाँ पहुँचे। सनातन ने उन्हें दूर से ही दण्डवत् की। वे उन्हें देख आनन्द विभोर हो गये और दोनों भुजायें फैलाकर आलिंगन करने के लिये उनकी ओर अग्रसंर हुए। पर वे जितना आगे बढ़ते सनातन उतना पीछे हटते जाते। पीछे हटते हुए दैन्य और विनय भरे स्वर में उन्होंने कहा–"प्रभु, स्पर्श न करें। मैं हूँ पतित, पामर, यवनों के संग के कारण जातिभ्रष्ट एक पापी जीव और मेरे अंग से निकल रहा है घृणित क्लेद। यह आपके अंग में लग जायेगा और मैं और भी अधिक पाप का भागी बनूंगा।"

पर महप्रभु कब मानने वाले थे? उन्होंने आनन्द के आवेश में बलपूर्वक बार–बार उन्हें आलिंगन किया। खुजली का क्लेद उनके सारे शरीर में लग गया। सनातन की आत्मग्लानि पराकाष्ठा पर पहुँच गयी।

महाप्रभु ने सनातन के रहने की व्यवस्था हरिदास ठाकुर के निकट ही कर दी। सनातन दैन्य के कारण मन्दिर में दर्शन करने न जाते। हरिदास ठाकुर की ही तरह मन्दिर के चक्र को दूर से देख प्रणाम कर लेते। महाप्रभु नित्य भक्तगण के साथ उनके पास आते, उन्हें आलिंगन करते और उनके साथ कृष्ण–लीला–कथा की आलोचना कर आनन्दमग्न होते। नित्यप्रति का उनका आलिंगन सनातन को असह्य हो गया। वे शीघ्र

किसी प्रकार प्राण–त्याग करने की बात सोचने लगे।

एक दिन कृष्ण–कथा कहते–कहते हठात् सनातन की ओर देखते हुए महाप्रभु कहने लगे–

"सनातन; देह त्यागे कृष्ण जदि पाइये।
कोटि-देह क्षणेके त छाड़ित पारिये।।
देह त्यागे कृष्ण ना पाइ, पाइये भजने।
कृष्ण प्राप्त्येंर कोन उपाय नाहि, भक्ति बिने।।
X X X
भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नव विधा भक्ति।
'कृष्ण प्रेम' 'कृष्ण' दिते धरे महाशक्ति।।
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ-नाम-संकीर्तन।
निरपराध नाम हैते पाय प्रेम-धन।।

(चै. च. ३।४।५४-५५, ६५-६६)

–सनातन! कहीं देह–त्याग करने से कृष्ण–प्राप्ति होती है। ऐसा हो तब तो एक ही क्षण में कोटि–कोटि प्राण त्याग देना भी उचित है। कृष्ण–प्राप्ति होती है भजन से और भक्ति से। इसके सिवा कृष्ण–प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं है। भजन में नवविधा भक्ति श्रेष्ठ है। इसमें कृष्ण–प्रेम और कृष्ण को देन की महान शक्ति है। इसमें भी सर्वश्रेष्ठ है नाम–संकीर्तन। निरपराध हो नाम–कीर्तन करने से प्रेम–धन की प्राप्ति होती है।"

अन्तर्यामी प्रभु के मुख से यह सुन सनातन को आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा–"प्रभु, आप सर्वज्ञ और स्वतंत्र हैं। मैं आपकी काठ की पुतली हूँ। जैसे नचायेंगे वैसे नाचूंगा। पर मेरे जैसे नीच, अधम व्यक्ति को जीवित रखने से आपका क्या लाभ होगा?"

उत्तर में महाप्रभु ने कहा–"तुमने मुझे आत्मसमर्पण किया है। तुम्हारा देह मेरा निज–धन है। दूसरे का धन नाश करने का तुम्हें क्या अधिकार है? तुम्हें धर्माधर्म का इतना भी ज्ञान नहीं? तुम्हारा शरीर तो मेरा प्रधान साधन है। इसके द्वारा मुझे करना है–लीला–तीर्थों का उद्धार, वैष्णव–सदाचार का निर्धारण और शिक्षण, कृष्ण–भक्ति का प्रचार, वैराग्य के आदर्श की स्थापना और कितना कुछ और, जिसे मैं नहीं कर सकता माँ की आज्ञा से नीलाचल में ही पड़े रहने के कारण। सनातन का सिर नीचा हो गया। उन्होंने आत्म–हत्या का संकल्प छोड़ दिया। हरिदास और सनातन को आलिंगन कर महाप्रभु मध्यान्ह–कृत्य के लिये चले गये।

कुछ ही दिन बाद श्रीजगन्नाथदेव की रथयात्रा का समय आ गया। प्रति वर्ष की भाँति गौण देश के अनेकों भक्तों का आगमन हुआ।

वर्षाकाल के चार महीने उन्होंने नीलाचल में व्यतीत किये। महाप्रभु ने एक–एक कर उन सबसे सनातन का परिचय कराया। रथयात्रा के दिन उन्होंने सदा की भाँति रथ के आगे रसमय नृत्य किया। उसे देख सनातन चमत्कृत और कृत–कृत्य हुए।

ज्येष्ठ मास में एक दिन महाप्रभु ने सनातन की परीक्षा की। उस दिन वे यमेश्वर के शिव–मन्दिर के बगीचे में भिक्षा को गये हुए थे। भिक्षा के समय उन्होंने सनातन को भी बुलवा भेजा। महाप्रभु का निमन्त्रण प्राप्तकर सनातन बहुत प्रसन्न हुए। ठीक मध्यान्ह के समय समुद्र के किनारे–किनारे उत्तप्त बालुका पर चलते हुए वे यमेश्वर पहुँचे। तप्त बालुका पर चलने के कारण उनके पैर में छाले पड़ गये। पर महाप्रभु ने उन्हें आमन्त्रित किया है, इस कारण उनका मन इतना आनन्दोल्लसित था कि उन्हें इसका कुछ भान ही न हुआ। महाप्रभु के सेवक गोविन्द ने महाप्रभु की भिक्षा का अवशेष पात्र उनके सामने रख दिया। प्रसाद ग्रहणकर जब वे महाप्रभु के विश्राम–स्थान पर गये, तो उन्होंने पूछा–"सनातन, तुम कौन से मार्ग से आये?"

"समुद्र के किनारे–किनारे" सनातन ने उत्तर दिया।

"समुद्र के किनारे–किनारे, तप्त बालुका पर से! सिंहद्वार के शीतल पथ से क्यों नहीं आये? बालुका से अवश्य तुम्हारे पैर जल गये होंगे और उनमें छाले पड़ गये होंगे। फिर तुम आये कैसे?"

"मुझे कष्ट कुछ नहीं हुआ प्रभु। छालों का मुझे पता भी नहीं पड़ा। सिंहद्वार से आने का मेरा अधिकार ही कहाँ? उधर जगन्नाथजी के सेवकों का आना–जाना लगा रहता है। उनमें से किसी को मेरा स्पर्श हो जाये तो अपराधी न बनूं।"

यह सुन महाप्रभु सनातन को परीक्षा में सफल जान बोले–"सनातन, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम सारे जगत् को पवित्र करने की शक्ति रखते हो। तुम्हारे स्पर्श से देवगण और मुनिगण भी पवित्र हो सकते हैं। पर मर्यादा का पालन करना भक्त का स्वभाव है। मर्यादा की रक्षा तुम नहीं करोगे तो कौन करेगा?"

इतना कह महाप्रभु ने सनातन को प्रेम से आलिंगन किया। फिर दोनों अपने–अपने मार्ग से अपने–अपने स्थान को चले गये।

महाप्रभु के अंतरंग भक्त पंडित जगदानन्द गौड़ देश की यात्रा पर गये हुए थे। उस दिन जब वे लौटकर आये तो सनातन के दर्शन करने गये। सनातन ने कहा–"पंडितजी, मैं इस समय एक बड़ी उलझन में पडा हूँ। आप महाप्रभु के निजजन हैं। मुझे उचित परामर्श देने की कृपा करें। मुझे महाप्रभु नित्य आलिंगन करते हैं। मेरे रोगी शरीर के विषाक्त रस से

उनका कनक–कान्तिमय दिव्य देह सन जाता है। मैंने आत्महत्या कर इस दुःख से परित्राण पाने का निश्चय किया था। पर महाप्रभु ने निषेध कर दिया। अब मैं क्या करूँ?"

जगदानन्द के तो महाप्रभु प्राण थे। सनातन के क्लेदभरे शरीर से उनका नित्य स्पर्श होना सुन वे काँप गये। उन्होंने कहा–"सनातन, इसका सीधा उपाय यही है कि तुम रथयात्रा के पश्चात् शीघ्र वृन्दावन चले जाओ। यहाँ और अधिक रहने का क्या काम? महाप्रभु के दर्शन तुमने कर ही लिये। जगन्नाथ के दर्शन रथयात्रा के दिन कर लोगे। उसके पश्चात् जितने दिन यहाँ रहोगे तुम्हें इस विपद का सामना करना पड़ेगा। फिर महाप्रभु ने तुम्हें जो दायित्वपूर्ण कार्य सौंपा है, उसके लिये भी तो तुम्हारा और विलम्ब न कर वृन्दावन पहुँच जाना ही उचित है।"

दूसरे दिन जब फिर महाप्रभु उनसे और हरिदास से मिलने गये, हरिदास ने उनकी चरण–बन्दना की और उन्होंने हरिदास को आलिंगन किया। सनातन ने आलिंगन के भय से दूर से ही दण्डवत की। उनके बुलाने पर भी निकट नहीं आये। वे उनकी ओर जितना बढ़े उतना वे पीछे हटते गये। पर उन्होंने बलपूर्वक उन्हें पकड़कर आलिंगन किया। जब वे दोनों को लेकर बैठ गये, निर्विण्ण सनातन ने हाथ जोड़कर कातर स्वर से निवेदन किया–"प्रभु, मुझे एक बड़ा कष्ट है। मैं आया था यहाँ आपके दर्शन और संग द्वारा अपना कल्याण सिद्ध करने। पर देख रहा हूँ कि हो रहा है उसका उलटा। मेरे स्पर्श से आपका शरीर नित्य दुर्गंधयुक्त क्लेद से सन जाता है। आपको उससे तनिक भी घृणा नहीं होती। पर मुझे अपराध लगता है और मेरा सर्वनाश होता है। इसलिए आप मुझे आज्ञा दें, जिससे मैं वृन्दावन चला जाऊँ। कल पंडित जगदानन्द ने भी मुझे यही उपदेश किया है।"

महाप्रभु का मुखारविन्द क्रोध से तमतमा गया। जगदानन्द पर क्रोध करते हुए वे गरज–गरजकर कहने लगे–"जगा! कल का जगा तुम्हें उपदेश करेगा, तुम जो व्यवहार और परमार्थ में उसके गुरुतुल्य हो और मेरे भी उपदेष्टा के समान हो। उसे इतना गर्व! इतना साहस उसका!"

सनातन महाप्रभु की क्रोधोदीप्त मूर्ति को निर्निमेष देखते रहे। उनके गण्डस्थल से बह चली प्रेमाश्रुकी धार। फिर कुछ अपने को सम्हाल उनके चरण पकड़कर बोले–"प्रभु, आज मैंने जाना कि जगदानन्द कितने भाग्यशाली हैं और मैं कितना अभागा। उन्हें आप अपना समझते हैं, इसलिए कठोर भाषा द्वारा तिरस्कार करते हुए आत्मीयता का मधुपान कराते हैं। मुझे पराया समझते हैं, इसीलिए गौरव–स्तुति द्वारा तिक्त निम्बरस का पान कराते हैं। यह मेरा ही दुर्भाग्य है कि मेरे प्रति आपका

आत्मीयता–ज्ञान आज तक न हुआ। इसमें आपका दोष कुछ नहीं, क्योंकि आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं।"

यह सुन महाप्रभु कुछ लज्जित हुए। मधुर कण्ठ से सनातन को सान्त्वना देते हुए बोले–"सनातन, ऐसे मत कहो। मुझे जगदानन्द तुमसे अधिक प्रिय कदापि नहीं। पर मुझे मर्यादा–लंघन, पसन्द नहीं। तुम्हारे जैसे शास्त्र–पारदर्शी व्यक्ति को उपदेश कर जगदानन्द ने तुम्हारी मर्यादा का लंघन किया। इसलिए मैंने उसकी भर्त्सना की। तुम्हारी स्तुति की तुम्हारे गुण देखकर, तुम्हें बहिरङ्ग जानकर नहीं। तुम्हें अपना देह लगता है वीभत्स। पर मुझे लगता है अमृत के समान, क्योंकि वह अप्राकृत है। प्राकृत होता तो भी मैं उसकी उपेक्षा न कर सकता, क्योंकि मैं ठहरा सन्यासी। सन्यासी के लिये अच्छा–बुरा, भद्र–अभद्र कुछ नहीं होता। उसकी सम–बुद्धि होती है।"

यह सुन हरिदास ने कहा–"प्रभु, यह सब तुम्हारी प्रतारणा है।"

"प्रतारणा नहीं हरिदास। सुनो, तुमसे अपने मन की बात कहता हूँ। तुम्हारे सबके प्रति मेरा पालक अभिमान रहता है। मैं अपने को पालक मानता हूँ, तुम्हें पाल्य। माता को बालक का अमेध्य जैसे चन्दन के समान लगता है, वैसे ही सनातन का क्लेद मुझे चन्दन जैसा लगता है। इसके अतिरिक्त वैष्णव–देह प्राकृत होता ही कब है? वह अप्राकृत, चिदानन्दमय होता है। दीक्षा के समय जब भक्त आत्मसमर्पण करता है, तभी कृष्ण उसे आत्मसम कर लेते हैं। उसका देह चिदानन्दमय कर देते हैं। उस अप्राकृत देह से ही वह उनका भजन करता है–

दीक्षाकाले भक्त करे आत्मसमर्पण।
सेइ काले कृष्ण तारे करे आत्मसम।।
सेइ देह करे तार चिदानन्दमय।
अप्राकृत देहे तार चरन भजय।।

(चै० च० ३।४।१८४-१८५)

इतना कह प्रभु सनातन से बोले–"सनात्तन, तुम दुःख न मानना। तुम्हारा आलिंगन करने से मुझे अपार सुख होता है। उसमें मुझे चन्दन और कस्तूरी की गंध आती है। इसलिए तुम इस बात की चिन्ता छोड़ो कि मेरे आलिंगन से तुम्हें अपराध होता है। निश्चिन्त होकर इस वर्ष यहाँ रहो और मुझे अपने संग का सुख दो। वर्ष के पश्चात् मैं तुम्हें वृन्दावन भेज दूंगा।"

कहते–कहते उन्होंने सनातन को फिर आलिंगन किया। आलिंगन के साथ ही उनका खुजली रोग जाता रहा और देह स्वर्ण की तरह दीप्तिमान हो गया।

हरिदास यह देख चमत्कृत! उन्होंने कहा—'प्रभु, तुम्हारी लीला बड़ी विचित्र है। इसे तुम्हारे सिवा और कौन जान सकता है? तुम्हीं ने सनातन को झारिखण्ड का पानी पिलाकर उनके शरीर में रोग उपजाया उनकी परीक्षा लेने के लिए और तुम्हीं ने उनका आलिंगन कर उसे दूर किया।''

दोलयात्रा (होली) तक महाप्रभु ने सनातन को पास रखा। दिन प्रतिदिन उनके साथ तत्वालोचना की और पूरा किया साध्य—साधन सम्बन्धी अपने उस उद्देश्य का परवर्ती अध्याय, जो उन्होंने वाराणसी में उन्हें दिया था। दोलयात्रा के पश्चात् साश्रुनयन उन्हें विदा किया।

वृन्दावन प्रत्यागमन और मदनगोपाल की सेवा

वृन्दावन पहुँचकर सनातन ने जमुना पुलिन के वन प्रान्त से परिवेष्टित आदित्यटिले के निर्जन स्थान में अपनी पर्णकुटी में फिर आरम्भ किया अपनी अंतरंग साधना के साथ महाप्रभु द्वारा निर्दिष्ट—लीलातीर्थ—उद्धार कृष्ण—भक्ति—प्रचार और कृष्ण—विग्रह—प्रकाश आदि का कार्य।

श्रीविग्रह की प्राप्ति

ग्राउस ने लिखा है कि वृन्दावन आने के पश्चात् श्रीसनातनादि गौड़ीय गोस्वामियों ने सर्वप्रथम वृन्दादेवी के मन्दिर की स्थापना की, जिसका अब कहीं कोई चिन्ह नहीं है।[1] उसके पश्चात् अन्य मन्दिरों और श्रीविग्रहों की स्थापना का कार्य आरम्भ हुआ।

एक दिन सनातन मथुरा गये मधुकरी के लिए। दामोदर चौबे के घर में प्रवेश करते ही उन्हें दीखी श्रीश्री मदनगोपाल की नयनाभिराम मूर्ति। दर्शन करते ही उन्हें लगा कि जैसे उसने उनके मन—प्राण चुरा लिए। वे एक अपूर्व भाव—समाधि में डूब गये और उनके अन्तर में जाग पड़ी श्रीमूर्ति की सेवा की प्रबल आकाँक्षा।

उस आकाँक्षा को लेकर वे आदित्यटीले पर अपनी कुटिया में लौट आये। उन्होंने बहुत चेष्टा की उसे दबाने की—ऐसी आकाँक्षा से क्या लाभ, जिसकी पूर्ति सम्भव ही नहीं? वह चौबे परिबार अपने प्राणप्रिय ठाकुर को मुझे क्यों सौंपने लगा? सौंप भी दे तो मेरे पास वह साधन ही कहाँ, जिनके द्वारा उनकी सेवा कर मैं उन्हें सुखी कर सकूं? पर आकाँक्षा बड़ी दुर्दमनीय सिद्ध हुई। वे जितना उसे दबाने की चेष्टा करते, उतना ही वह और प्रबल होती जाती। चलते—फिरते, सोते—जागते, यहाँ तक कि भजन—पूजन करते समय भी मदनगोपाल की वह नयनमनविमोहन मूर्ति बार—बार मानसपट पर उदित हो उन्हें अस्थिर कर देती। वे बार—बार मथुरा जाते और मधुकरी के बहाने दामोदर चौबे के घर उसके दर्शन कर

1- Growse : A District Memoir, 3rd. Ed. p. 24

लौट आते।

चौबेजी की पत्नी का मदनगोपाल जी के प्रति सुन्दर, सरल वात्सल्य–भाव था। उनका एक लड़का था, जिसका नाम था सदन। वे मदन और सदन दोनों से बराबर का प्रेम करतीं, दोनों का लाड़–चाव और दोनों की सेवा–सुश्रूषा एक सी करतीं। दोनों में किसी प्रकार का भेदभाव न रखतीं।

कहते हैं कि मदन गोपालजी भी उस परिवार के एक बालक की ही तरह वहाँ रहते और सदन के साथ खेला–कूदा करते।

धीरे–धीरे चौबे परिवार के साथ सनातन हिलमिल गये। चौबे–पत्नी का मदनगोपाल जी के प्रति सहज, स्वाभाविक प्रेम देख उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके मन में इच्छा जागी शुद्धा ागमयी भक्ति की कसौटी पर उसे कसने की। इस उद्‌देश्य से एक दिन उन्होंने उससे कहा–"माँ, तुम बड़े स्नेह से मदनगोपाल की सेवा करती हो, सो ठीक है। पर घर के एक बालक की कक्षा में उन्हें रख ठीक उसी रीति से उनकी सेवा करना ठीक नहीं लगता। इष्ट की सेवा–परिचर्या होनी चाहिये इष्ट की तरह, विशेष विधि–विधान के साथ । इष्ट में और तुम्हारे पुत्र सदन में तो भेद है न। उसी के अनुसार दोनों की सेवा में भी भेद होना उचित है।"

भोली व्रजमाईने कहा–"बाबा, आपका कहना ठीक हैं। मैं अब ऐसा ही करूँगी।"

दूसरी बार फिर जब वे उसके घर गये,तो उन्हें देखते ही वह बोली –"बाबा, आपका उपदेश पालन करने की मैंने चेष्टा की । पर वह मदनगोपाल को अच्छा नहीं लगा। उस दिन स्वप्न में उन्होंने राग करते हुए मुझसे कहा–'माँ, अब तुम मुझमें और सदना में भेद बरतने लगी हो। सदना को अपना बेटा समझ अपने निकट रखती हो। मुझे इष्ट मान, सेवा–परिचर्या का आडम्बर खड़ा कर, अपने से दूर रखती हो। यह मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता।"

सनातन यह सुनकर अवाक! एक मीठी सिहरन उनके अङ्ग में दौड़ गयी। नेत्रों से अश्रुबिन्दु टप–टप गिरने लगे। मदनगोपालजी ने व्रजमाई के समक्ष अपने प्रेमस्वरूप का और उसकी प्रेम–सेवा के प्रति अपने लोभ का जैसा उद्‌घाटन किया, उसे देख वे मन ही मन उसके भाग्य की प्रशंसा करने लगे। साथ ही अपने इष्ट–सेवा के उपदेश के परिणाम–स्वरुप मदनगोपाल को उसके वात्सल्य–प्रेम रस से कुछ समय वंचित रखने के कारण अपने को दोषी मान उनसे क्षमा–प्रार्थना करने लगे।

मदनगोपाल की प्रेम–सेवा का सौभाग्य स्वयं प्राप्त करने की

आशा सनातन को पहले ही दुराशा प्रतीत होती थी। अब उस पर और भी पानी फिर गया। जब मदनगोपाल को उस व्रजमाई की सेवा इतनी प्रिय है और उसमें थोड़ी सी कमी आने पर भी वे अधीर हो उठते हैं, तो उसकी सेवा छोड़ उनकी क्यों अंगीकार करना चाहेंगे?

पर सनातन का अनुमान ठीक न था। जिस दिन से मदनगोपाल की उनके ऊपर दृष्टि पड़ी थी, उनके हृदय में भी एक नवीन आलोड़न की सृष्टि होने लगी थी। उनका मन भी सनातन की प्रेम–सेवा–रस का आस्वादन करने के लिये मचलने लग गया था। ज्यों–ज्यों सनातन का आकर्षण उनके प्रति बढ़ता जा रहा था, उनका आकर्षण भी सनातन के प्रति बढ़ता जा रहा था।

सनातन को सुखद आश्चर्य हुआ जब एक दिन दामोदर चौबे की पत्नी ने उदास होकर अश्रु–गद्‌गद् कण्ठ से उनसे कहा–"बाबा, आज से तुम्हें लेना है मदनगोपाल की सेवा का सम्पूर्ण भार। गोपाल अब बड़ा हो गया है। माँ के आँचल तले रहना नहीं चाहता। कल रात स्वप्न में उसने मुझसे कहा उसे तुम्हें सौंप देने को। मैं भी अब बूढ़ी हो गयी हूँ। हाथ–पैर चलते नहीं। कहीं ठाकुर को मेरे कारण कष्ट भोगना पड़े, इससे अच्छा है कि अवस्था और अधिक बिगड़ने के पूर्व उन्हें किसी ऐसे व्यक्ति को सौंप दूँ, जो उनकी सेवा प्रेम से करे।"

इस प्रकार अपने भाग्य के सूर्य को अकस्मात् उदय होता देख सनातन का हृदय कमल आनन्द से खिल उठा। प्रेम के आवेश में अपने हृदय–धन को साथ ले वे अपनी कुटी को चले गये।

मदनगोपालजी के श्रीविग्रह का एक प्राचीन इतिहास है। कहते हैं कि सत्ययुग में महाराज अम्बरीष इनकी सेवा करते थे। कालक्रम से ये लंकापति रावण के पास पहुँचे। रामचन्द्र द्वारा लंका–विजय के पश्चात् जानकी जीने इनकी सेवा की। फिर श्रीशत्रुघ्न द्वारा इन्हें मथुरा लाया गया। बहुत दिन बाद श्रीअद्वैत प्रभु ने आदित्यटिला के भूगर्भ से इनका उद्धार कर मथुरा के चौबे परिवार को इनकी सेवा का भार दिया।[1]

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि श्रीकृष्ण के प्रपौत्र महाराज बज्रनाभ ने ब्रजमण्डल में अपने अनुसन्धान के फलस्वरुप जिन आठ विग्रहों का आविष्कार किया था, इनमें इन मदनगोपालजी का श्रीविग्रह भी था।[2]

---

१. श्रीसतीशचन्द्र मिश्र : सप्त गोस्वामी, पृ० १०९

२. वही

अलोना साग और बाटी का भोग

सनातन गोस्वामी ने अपनी कुटिया के निकट ही एक फूँस की झोंपड़ी का निर्माण किया और उसमें मदनगोपाल जी को स्थापित किया। उनके भोग के लिये वे मधुकरी पर ही निर्भर करते। मधुकरी में जो आटा मिलता उसकी अंगाकड़ी (बाटी) बनाकर भोग के रुप में उनके सामने प्रस्तुत करते। साथ में निवेदन करते जंगली पत्तियों का बना अलोना साग। कुछ दिन बीते ठाकुर को इस आटे के पिंड और अलोने साग को किसी प्रकार निगलते। संकोच में पड़कर वे अपने प्रेमी भक्त से कुछ न कह सके। पर अन्त में उनसे न रहा गया। स्वप्न में दर्शन देकर कहा–"सनातन, अलोने साग के साथ तुम्हारी अंगाकड़ी मेरे गले के नीचे नहीं उतरती। और कब तक उसे जबरदस्ती ठेलता रहूँगा। उसके साथ थोड़ा नमक दिया करो न।"

सनातन के नेत्रों से बह चली प्रेमाश्रु की धारा। कातर स्वर से उन्होंने कहा–"प्रभु, मैं ठहरा आपका एक तुच्छ सेवक, जिसका डोर–कौपीन के सिवा कोई सम्बल नहीं। आप आज नमक की कह रहे हैं, कल गुड़ की कहेंगे, परसों राजभोग की, तो मैं कहाँ से लाऊँगा? यदि आपकी राजभोग की इच्छा है, तो स्वयं ही उसकी व्यवस्था कर लें।"

यह कैसी सनातन की निष्ठुरता अपने ही प्राणप्रिय मदनगोपाल के प्रति! जिनकी सेवा की तीव्र आकाँक्षा ने उन्हें पागल कर रखा था, उन्हीं की सेवा में ऐसी कृपणता और उदासीनता! ऐसी कौन सी वस्तु थी, जिसे विरक्त होते हुए भी मदनगोपाल की सेवा के लिए वे संग्रह नहीं कर सकते थे, जब उन जैसे महात्मा की इच्छापूर्ति करने के किसी भी अवसर के लिए बड़े–बड़े धनी व्यक्ति लालायित रहते थे?

बात कुछ गूढ़ है। थोड़ा गहराई में उतरे बिना समझ में आने की नहीं। सनातन मदनगोपाल की सेवा के लिए अपने प्राण तक न्यौछावर कर सकते थे, पर उस भजन–पथ को नहीं त्याग सकते थे, जो उनकी सर्वोत्तम सेवा का अधिकार जन्माने के लिए आवश्यक था। उनकी सर्वोत्तम सेवा है मानसी–सेवा। मानसी–सेवा में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता। सेवा के जो उपकरण वैकुण्ठ में भी प्राप्त न होते हों उन्हें साधक मानसी–सेवा में स्वेच्छा से जुटा सकता है। देश, काल, समाज और प्रकृति के नियमों की सीमा से बाहर रहकर इष्ट की प्राणभर मनचाही सेवा कर उन्हें सुखी कर सकता है। मानसी–सेवा का अधिकार प्राप्त उसे होता है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिये त्याग–वैराग्ययुक्त एकांतिक भजन–पथ का अनुशीलन आवश्यक है। यदि

सनातन मदनगोपाल के राजभोग के लिए तरह–तरह की सामग्री जुटाने में लग जाते, तो उनकी परापेक्षा बढ़ जाती और वे एकांतिक भजन–पथ से च्युत हो जाते। इष्ट की सर्वोत्तम मानसी–सेवा की योग्यता प्राप्त करने के लिए उनकी व्यावहारिक सेवा की सीमा बाँधना आवश्यक था।[1]

इसके अतिरिक्त स्वयं उनके इष्ट ने महाप्रभु में जगद्गुरू का दायित्व ओटते हुए उन्हें आज्ञा दी थी वैराग्यमय जीवन का चरम आदर्श स्थापित करने की। गुरु–आज्ञा ईश्वराज्ञा से भी अधिक बलवती है। तब वे गुरुरूपी इष्ट की आज्ञा का पालन करते या उपास्यरूपी इष्ट की इच्छा की पूर्ति करते? इसीलिए उन्हें दो टूक कह देना पड़ा मदनगोपालजी से–अपने उत्तम भोग की व्यवस्था आप स्वयं कर लें।

यदि कहा जाय कि ऐसा कह सनातन गोस्वामी ने उनकी मर्यादा की हानिकी, तो इसके लिए भी मूल रूप से दोषी मदनगोपाल ही हैं। वे क्या जानते नहीं थे कि सनातन एक निष्किञ्चन साधक हैं, जिनका डोर–कौपीन के सिवा दूसरा कोई सम्बल नहीं? उनकी सेवा अङ्गीकार करने के पहले उन्हें नहीं समझ लेना चाहिए था कि उन्हें भी उन्हीं की तरह रूखी–सूखी खाकर रहना पड़ेगा?

असल बात यह है कि उनसे अपने प्रेमी भक्तों के साथ चुहल किये बिना भी तो नहीं रहा जाता। वे उनके साथ जानबूझ कर अटपटा व्यवहार कर, उन्हें झूठा–सच्चा उलहना देकर या किसी न किसी प्रकार उन्हें उपहासास्पंद स्थिति में डालकर और उनकी खरी–खोटी सुनकर प्रसन्न होते हैं। उन रसिक–शेखर को उनकी खरी–खोटी जितनी अच्छी लगती है, उतनी वेद–स्तुति भी अच्छी नहीं लगती।

मन्दिर का निर्माण

मदनगोपाल को अपनी व्यवस्था आप करनी पड़ी। उस दिन पंजाब के एक बड़े व्यापारी श्रीरामदास कपूर जमुना के रास्ते नाव में कहीं जा रहे थे। नाव अनेक प्रकार की बहुमूल्य सामग्री से लदी थी, जिसे उन्हें कहीं दूर जाकर बेचना था। दैवयोग से आदित्यटिले के पास जाकर नाव फँस गयी जल के भीतर रेत के एक टीले में और एक ओर टेढ़ी हो गयी। मल्लाह ने बहुत कोशिश की उसे निकालने की, पर वह टस–से–मस न हुई। आदित्यटिले के पास यदि बस्ती का कोई चिन्ह होता तो कुछ लोगों को बुलाकर उनकी सहायता से उसे सीधा कर रेत में से निकाल लेते। पर वह जन–मानवहीन बिलकुल सूनसान स्थान था। ऊपर से कृष्णपक्ष

---

१. व्यावहारिक सेवा की सीमा वैरागियों और मानसी सेवा के अधिकारी साधकों के लिए ही है, साधारण लोगों के लिए नहीं। साधारण लोगों के लिए सामर्थ्यानुसार उत्तम से उत्तम ठाकुर-सेवा का शास्त्र-विधान है।

की रात्रि का अंधियारा घिरा आ रहा था। रामदास चिन्ता में पड़ गये–नाव यदि ऐसे ही पड़ी रही तो उसके डूब जाने का भय है। डाकुओं का भी इस स्थान में आतंक बना रहता है। यदि उन्हें खबर पड़ गयी तो किसी समय टूट पड़ सकते हैं।

सोचते–सोचते हठात् उन्हें दीख पड़ी टीले के ऊपर टिम–टिमाते हुए एक दीपक की क्षीण शिखा। आशा की एक किरण फूट निकली उनके भीतर घुमड़ते निराशा के घोर अन्धकार में। नौका से उतरकर वे आये तैर कर किनारे और द्रुतगति से चढ़ गये टीले के ऊपर। ऊपर जाते ही दीखी सामने कुटिया में मदनगोपाल की नयनाभिराम मूर्ति और उसके सामने ध्यानमग्न बैठे एक तेज़स्वी महात्मा। मंगलमय उन दोनों मूर्तियों के दर्शन करते ही उन्हें लगा कि जैसे उनके अमंगल के बादल छँट गये। महात्मा के चरणों में गिरकर उन्होंने कातर स्वर से निवेदन की अपनी दुःखभरी कहानी और कहा–"मुझे विश्वास है कि आप कृपा करें तो इस विपद से मेरा उद्धार अवश्य हो जायगा। यदि आप कृपा न करेंगे. तो मेरा सर्वस्व लुट जायगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि आपकी कृपा से नाव सुरक्षित् निकल आयी, तो इस बार व्यापार में जो भी लाभ होगा, उसे आपके ठाकुरजी की सेवा में लगा दूँगा।"

सनातन मदनगोपाल जी की ओर देख थोड़ा मुस्काये और रामदास को आश्वस्त करते हुए बोले–"चिन्ता मत करो। हमारे मदनगोपालजी शीघ्र इस विपद से तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

सनातन गोस्वामी का आशीर्वाद लेकर टीले से उतरे रामदास को अभी कुछ ही क्षण हुए थे, उन्होंने देखा कि न जाने कहाँ से जमुना में आयी एक नयी धार और नौका को मुक्त कर सही पथ पर ले चली।

रामदास को उस बार व्यापार में आशातीत लाभ हुआ। कुछ दिन बाद वे गये लौटकर वृन्दावन और उस विपुल धनराशि को मदनगोपाल जी की सेवा में नियुक्त कर कृतार्थ हुए। उसी धन से मदनगोपाल जी के लिये आदित्यटिले पर एक सुन्दर मन्दिर और नाटशाला का निर्माण हुआ और भू–सम्पत्ति क्रय कर ठाकुर के भोग–राग और सेवा–परिचर्या की उत्तम से उत्तम स्थायी व्यवस्था की गयी। रामदास और उनकी पत्नी सनातन गोस्वामी से दीक्षा लेकर धन्य हुए।

इस प्रकार मदनगोपालजी ने अपने मनोनुकूल सेवा–पूजा की व्यवस्था अपने–आप कर ली और सनातन गोस्वामी की झोंपड़ी से निकलकर तीर्थराज रूप से भक्तों को दर्शन देने के उपयुक्त मंचपर जा विराजे। कालान्तर में जब श्रीराधा को उनके बाम भाग में विराजमान

किया गया उनका नाम हो गया 'मदनमोहन' या 'श्रीराधामदनमोहन'।[1]

मदनमोहन की प्रेम–सेवा के आवेश में सनातन महाप्रभु की आज्ञा भूल गये। कुछ दिन बाद उसकी याद आयी,तब उनके चरणों में दण्डवत् कर अश्रुगद्गद् कण्ठ से बोले–"ठाकुर,अब मुझे छुट्टी दें, जिससे मैं एकान्तवास में वैराग्यधर्म का पूर्णरुप से पालन करते हुए अपना भजन और महाप्रभु द्वारा निर्दिष्ट कार्य कर सकूं।"

वे श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी पर मदनमोहन की सेवा का भार छोड़कर अन्यत्र चले गये। कभी गोवर्धन की तरहटी में, कभी गोकुल के वन–प्रान्त में, कभी राधाकुण्ड और नन्दग्राम में किसी वृक्षतले या पर्णकुटी में रहकर अपना भजन–साधन और महाप्रभु द्वारा आदिष्ट तीर्थोद्धारादि का कार्य करते रहे। पर बीच–बीच में मदनमोहन की याद उन्हें सताती रही। उनके दर्शन करने और यह देखने कि उनकी सेवा ठीक से चल रही हैं या नहीं, वे वृन्दावन जाते रहे। वृन्दावन में पुराने मदनमोहन के मन्दिर के पीछे उनकी भजनकुटी आज भी विद्यमान है।

विविध घटनाएं

मदनगोपाल की कृपा

नन्दग्राम में जिस कुटी में सनातन गोस्वामी भजन करते थे, वह आज भी विद्यमान है। इसमें रहते समय एक बार मदनगोपाल जी ने उनके ऊपर विशेष कृपा की। यद्यपि वे मदनगोपालजी को वृन्दावन में छोड़कर यहाँ चले आये थे, मदनगोपाल उन्हें भूले नहीं थे। वे छाया की तरह हर समय उनके आगे–पीछे रहते और उनके योग–क्षेम की चिन्ता रखते।

सनातन गोस्वामी इस समय लीला–स्मरण में इतना डूबे रहते कि उन्हें खाने–पीने की भी सुधि न रहती। मधुकरी भिक्षा के लिये कहीं जाने का तो प्रश्न ही न था। नन्दग्राम के व्रजवासी उन्हें दूध दे जाया करते। वही उनका आहार होता।

---

1. श्री कविराज गोस्वामी के समय यह दोनों ही नाम प्रचलित थे, जैसा कि उनके इस उल्लेख से स्पष्ट है-

एइ ग्रन्थ लेखाय मोरे मदनमोहन।
आमार लिखन जेन शुकेर पठन।।
सेइ लिखि मदनगोपाल जे लिखाय।
काष्ठेर पुतली जेन कुहके नाचाय।।

(चै.च. 1।8।73–74)

भक्तिरत्नाकारके अनुसार उड़ीसा के महाराज प्रतापरुद्र के पुत्र पुरुषोत्तम जानाने दो राधा-विग्रह गोविन्ददेव और मदनगोपालजी के लिये वृन्दावन भेजे थे। स्वप्नादेश के अनुसार उनमें से छोटे को राधारूप में मदनगोपालजी के बाम भाग में और बड़े को उनके दाहिने ललितारुप में स्थापित किया गया। तभी से उनका नाम हुआ मदनमोहन।

एक बार दैवयोग से तीन दिन तक कोई दूध लेकर न आया। चौथे दिन एक सुन्दर गोप–बालक आया लोटे में दूध लेकर। बोला–"बाबा, मइया ने तेरे तई दूध भेज्यौ है, पाय लै।" सनातन गोस्वामी बालक के मधुर कण्ठ–स्वर का अपने कर्ण–पात्रों से और उसकी रूप–माधुरी का नयन–अंजलि से कुछ देर पान करते रहे। उसकी घुँघराली, काली अलकों पर लाल पगड़ी बरबस उनके मन–प्राण खींच रही थी। उन्होंने नन्दग्राम में उस बालक को पहले कभी नहीं देखा था। उसे देर तक रोक रखने के लिये उन्होंने उसी की भाषा में उससे एक के बाद एक कई प्रश्न पूछ डाले–"लाला, तू कौन को है? कहाँ रहे? तेरे मइया–बाप को कहा नाम है? तेरे कै भइया हैं? इत्यादि। बालक ने अपने माँ–बाप का नाम बताया, पता–ठिकाना बताया और कहा–"हम चार भइया हैं। मैं सबन ते छोटो हूँ।"

दूध देकर बालक चला गया। पर उसकी छबि सनातन गोस्वामी के मन में बसकर रह गई। जब दूध पिया तो उसके अप्राकृत स्वाद और सौरभ से उनकी आँखें खुल गयीं। बालक की छवि में उन्हें अपने ही मदनगोपालजी की छवि भासने लग गयी। उस छलिये का छल अब उनकी समझ में आ गया। फिर भी वे उसके बताये ठिकाने पर जाये बगैर न रह सके। वहाँ जाकर उन्होंने उसे और उसके घरवालों को खोजने की बहुत चेष्टा की। पर वह निरर्थक सिद्ध हुई।

प्रियादासजी ने भक्तमाल की टीका में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है–

रहैं श्रीसनातन जू नन्दगाँव पावन पै,
आब न दिवस तीनि दूध लै कै प्यारियै।
साँवरो किशोर, आप पूछे "किहिं ओर रहो?"
कहे चारि भाई पिता रीति हूँ उचारियै॥
गये ग्राम, बूझी घर, हरि पै न पाये कहुँ,
चहूँ दिसि हेरि हेरि नैन भरि डारियै।
अब के जो आवै, फेर जान नहीं पावै,
सीस लाल पाग भावै, निस दिन उर धारियै॥

जगदानन्द पंडित से हास्य

एक घटना से संकेत मिलता है कि सनातन गोस्वामी महागंभीर और एकान्त भजननिष्ठ महात्मा होते हुए भी हास्य–कौतुक प्रिय थे।

नीलाचल से जगदानन्द पंडित आये हुए थे। उन्होंने एक दिन सनातन गोस्वामी को निमन्त्रण दिया। सनातन ने निमन्त्रण स्वीकार किया। जगदानन्द की कुटिया पर जाने से पहले सिर से एक गेरुआ वस्त्र

बांध लिया।

गेरुआ वस्त्र सिर से बंधा देख जगदानन्द को प्रेमावेश हो आया। उन्होंने समझा कि सनातन ने महाप्रभु का प्रसादी वस्त्र सिर से बाँध रखा है। प्रसन्न हो उन्होंने पूछा–"यह प्रसादी कहाँ मिली?"

"मुकुन्द सरस्वती ने दी है।"

"किसने दी है?"

"मुकुन्द सरस्वती ने।"

"मुकुन्द सरस्वती! महाप्रभु नहीं, मुकुन्द सरस्वती! अन्य सन्यासी का बहिर्वास सिर से!" कहते हुए जगदानन्द ने क्रोध में भर भात की हाँडी उठाई उनके सिर से मारने को।

सनातन नत–मस्तक हँसते हुए अविचल खडे रहे। उनकी भाव भंगी देख जगदानन्द को आभास हुआ कि उस वस्त्र का प्रकृत रहस्य कुछ और है। वे स्तब्ध से सनातन की ओर देखते रहे।

सनातन ने कहा–"इसी को कहते हैं चैतन्य–निष्ठा। पंडितजी, यही देखने को तो मैंने यह नाटक किया था।"

जगदानन्द का क्रोध शांत हुआ। सनातन को गले से लगाकर उन्होंने कहा–"ऐसी हँसी ठीक नहीं, सनातन।"

तब दोनों ने एकसाथ बैठकर आहार किया। आमोद–प्रमोद और आलाप–संलाप में दोनों की चरचा का एक ही विषय–महाप्रभु का गुणगान। दोनों के भाव की एक ही गति–महाप्रभु के विरह में अश्रुविसर्जन।

जीवन ठाकुर का परिवर्तन

सनातन गोस्वामी ने जगजीवन को जैसा अपने ग्रन्थों से प्रभावित किया, वैसा ही अपने आचरण से। उनके त्याग–वैराग्य से जुड़ी हुई है वर्धमान जिले के मानकड़े ग्राम के जीवन ठाकुर की कहानी। जीवन ठाकुर बड़े धर्मात्मा व्यक्ति थे। पर उनका सारा जीवन दरिद्रता से जूझते बीता था। अंब वृद्धावस्था में उससे जूझते नहीं बन रहा था। हारकर एक दिन उन्होंने विश्वनाथ बाबा से प्रार्थना की–"बाबा, अब कृपा करो। दारुण दरिद्रता के थपेड़े झेलने में मैं अब बिलकुल असमर्थ हूँ। ऐसी कृपा करो जिससे दरिद्रता का मुख मुझे और न देखना पड़े।"

विश्वनाथ बाबा ने प्रार्थना सुन ली। स्वप्न में आदेश दिया–"तू व्रज जाकर सनातन गोस्वामी की शरण ले। उनकी कृपा से तेरा सब दुःख दूर हो जायगा"।

जीवन ठाकुर ने व्रज जाकर सनातन गोस्वामी से अपना रोना रोया। सनातन गोस्वामी को उनकी सब बात सुनकर बड़ा विस्मय हुआ।

वे सोचने लगे—मैं स्वयं, डौर—कौपीनधारी कंगाल वैष्णव हूँ। एक कंगाल दूसरे कंगाल की क्या सहायता कर सकता है? फिर विश्वनाथ बाबा ने उसे आश्वासन दे मेरे पास क्यों भेजा?"

हठात् उनके स्मृति—पटल पर जाग गयी एक पुरानी घटना। एक बार भावमग्न अवस्था में जमुनातट पर टहलते समय उनके पैर से टकरा गया था एक स्पर्शमणि। उसे उन्होंने अपने भजन—पथ में विघ्न जान जमुना में फेंक देना चाहा था। पर यह सोचकर कि शायद कभी किसी दरिद्र व्यक्ति के काम आये वहीं एक गुप्त स्थान में रख दिया था।

जीवन ठाकुर को उस गुप्त स्थान का संकेत करते हुए उन्होंने कहा—"तुम जाकर उस मणि को ले लो। तुम्हारा दारिद्रय दूर हो जायगा।"

जीवन ठाकुर वहाँ गये। स्पर्शमणि को प्राप्त कर उनके आनन्द की अवधि न रही। आनन्दाश्रु से नेत्र भर आये। मन तरह—तरह की उड़ाने भरने लगा। वे अब दरिद्र नहीं रहे। अब वे स्पर्शमणि के सहारे इतना धन प्राप्त कर लेंगे कि राजा भी उनके ईर्षा करने लग जायेंगे।

मन ही मन विश्वनाथ बाबा की जय बोलते हुए और सनातन गोस्वामी के प्रति कृतज्ञता अनुभव करते हुए वे आनन्दाम्बुधि में तैरते चले जा रहे थे। हठात् एक नयी तरंग उनके मस्तिष्क से जा टकराई। बिजली—की सी एक करेंट ने उनकी चेतना को झकझोर दिया। विस्मय के साथ लगे सोचने—"जिस धन के लोभ से काशी से पैदल भागता आया हूँ, उसके प्रति सनातन गोस्वामी की ऐसी उदासीनता! इतने दिन से उसे एक जगह पटककर ऐसे भूल जाना, जैसे वह कोई वस्तु ही नहीं। जिस रत्न का लोभ राजाओं तक को उन्मत्त कर दे, उसका उनके द्वारा ऐसा तिरस्कार! निश्चय ही वे किसी ऐसे धन के धनी हैं, जिसकी तुलना में यह राजवाञ्छित रत्न इतना तुच्छ है। तभी तो वे इतना वैभव और राज—सम्मान त्याग कर करुआ—कंथाधारी त्यागी बाबाजी बने हैं। और एक मैं हूँ, जो उस तुच्छ वस्तु को प्राप्त कर अपने को धन्य मान रहा हूँ। जिस वैषयिक जीवन को त्यागकर वे इस प्रकार आप्तकाम और आनन्दमग्न हैं, उसी में मैं एक विषयकीट के समान और अधिक लिप्त होता जा रहा हूँ। धिक्कार है मुझे और मेरी विषयलिप्सा को। मैंने जब विश्वनाथ बाबा की कृपा से ऐसे महापुरुष का सान्निध्य लाभ किया है, तो क्यों न उनसे उस परमधन को प्राप्तकर अपना जीवन सार्थक करूँ, जिसे प्राप्त कर वे इतना सुखी हैं?"

सनातन गोस्वामी के क्षणभर के संग से जीवन ठाकुर के जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। वह अमूल्य रत्न, जो अभी थोड़ी देर पहले उनके मृतदेह में नयी जान डालता लग रहा था, अब उन्हें साँप—बिच्छू की

तरह काटने लगा। उसे जमुना में फेंक उन्होंने उस यंत्रणा से अपने को मुक्त किया। फिर तुरन्त सनातन गोस्वामी के पास जाकर उनके प्रति आत्म–समर्पण करते हुए आर्त स्वर से प्रार्थना की–"प्रभु, आपकी अहैतुकी कृपा से मेरा मोहाधंकार जाता रहा। अब आप मुझे लौकिक धन के बजाय उस अलौकिक धन का धनी बनने की कृपा करें, जिसके आप स्वयं धनी हैं। मैं आज से आपके चरणों में पूर्णरुप से समर्पित हूँ।"

सनातन गोस्वामी से दीक्षा लेकर जीवन ठाकुर ने आरम्भ किया अपने जीवन का एक नया अध्याय और उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलकर प्राप्त किया वह अलौकिक धन। इन्हीं जीवन ठाकुर के वंशज हुए हैं काठ–मागुण के प्रसिद्ध गोस्वामी परिवार के गोस्वामीगण।

प्रवाद है कि जीवन ठाकुर ने जब स्पर्शमणि जमुना में फेंक दिया, तो दिल्ली के बादशाह को इसका पता चला। उसने अपनें आदमियों को भेजा उसकी खोज करने। उन्होंने हाथियों को जमुना में उतारकर उसकी खोज आरम्भ की। मणि तो उन्हें मिला नहीं। पर दैवयोग से एक हाथी के पैर की जंजीर मणि से टकराकर सोने की हो गयी।

सनातन गोस्वामी और अकबर बादशाह

ग्राउस ने लिखा है कि गौड़ीय गोस्वामियों की द्रुतगति से फैलती हुई ख्याति से आकृष्ट हो अकबर बादशाह ने सन् १५७३ में वृन्दावन में उनसे भेंट की। उन्होंने उसे दिव्य वृन्दावन के दर्शन कराये, जिसके उपलक्ष्य में वृन्दावन में गोविन्द देव, गोपीनाथ, जुगलकिशोर और मदनमोहन के मन्दिरों का निर्माण हुआ।[1]

सनातन गोस्वामी गौड़ीय गोस्वामियों में श्रेष्ठ थे। संभवतः इसलिये कुछ विद्वानों ने इस घटना को मुख्य रूप से उनसे जोड़ा है।[2]

सनातन गोस्वामी से अकबर बादशाह की भेंट को स्वीकार तभी किया जा सकता है, जब १५७२ में सनातन गोस्वामी जीवित रहे हों, जिसकी सम्भावना बहुत कम जान पड़ती है।

डा० सुकुमार सेन,[3] श्रीसतीशचन्द्रमित्र[4] और डा० जाना का [5] मत

1- " On their arrival at Brindaban the first shrine which the Gossains erected was one in honour of eponymous Goddess Brinda Devi. Of this no traces now remain, if (as some say) it stood in Seva Kunja, which is now a large walled garden with a masonary tank near the Ras Mandal. Their fame spread so rapidly that in 1573 the Emperor Akbar was induced to pay them a visit and was taken blindfold into the sacred enclosure of the Vrindavan, where such a marvellous vision was revealed to him that he was fain to acknowledge the place as indeed holy ground.

The four temples, commenced in honour of this event, still remain, though in a ruinous and hitherto neglected condition. They bear the titles of Govinda Deva, Gopinath, Jugal Kishore and Madan Mohan "(District Memoir of Mathura, 3rd ed . p 241)

२ मुरारीलाल अधिकारी :वैष्णव दिग्दर्शनी, पृ० ९७; हरिदास दास : गौड़ीय वैष्णव साहित्य, परिशिष्ट, पृ० १०

३ बाला साहित्येर इतिहास, प्रथम खण्ड पूर्वाध, ३य सं, पृ० २८६

४ सप्तगोस्वामी, पृ० १२८

५ वृन्दावनेर छय गोस्वामी, पृ० ६५

है कि सनातन गोस्वामी का तिरोभाव सन् १५५४ में हुआ। पर डा0 दिनेशचन्द्रसेन ने Th: Vaishnava literature of Mediaeval Bengal (p.39) में लिखा है कि उनका तिरोभाव १५९१ में हुआ। डा0 राधागोविन्दनाथ ने भी चैतन्य–चरितामृत की भूमिका (४र्थ सं, पृ० २६) में लिखा है कि उनका तिरोभाव सन् १५९१ में हुआ।

यदि डा0 सेन और डा0 राधागोविन्दनाथ का मत स्वीकार किया जाये तो सनातन गोस्वामी की आयु १२०-१२५ वर्ष के लगभग मान्य होगी। यह असम्भव नहीं है। भजन–निष्ठ महात्माओं की अवसत आयु साधारण लोगों की आयु से कहीं अधिक होती है। लेखक द्वारा प्रणीत 'व्रज के भक्त'[1] पुस्तक से ज्ञात हुआ कि व्रज के अर्वाचीन सिद्ध महात्मा भी दीर्घायु हुए हैं और १०० से अधिक वर्ष की आयु उनमें से कईयों की हुई है। पर सनातन गोस्वामी १२०-१२५ वर्ष तक जीवित रहे। इसकी संभावना बहुत कम ही जान पड़ती है। कारण यह है कि १५५४ ई0 में रचित वृहद वैष्णवतोषणी उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना हैं। यदि वे १५९२ तक जीवित रहे होते तो उन्होंने १५५४ के पश्चात भी कुछ ग्रन्थों की रचना अवश्य की होती।

रूप गोस्वामी का तिरोभाव सनातन गोस्वामी के तिरोभाव के एक महीने पीछे हुआ, यह सर्वविदित है। आषाढ़ी पूर्णिमा को सनातन गोस्वामी का तिरोभाव हुआ, श्रावणी शुक्ला द्वादशी को रूप गोस्वामी का। यदि यह माना जाये कि सनातन गोस्वामी का तिरोभाव १५९२ में हुआ, तो रूप गोस्वामी का तिरोभाव भी उसी वर्ष मानना होगा।

रूप गोस्वामी भी कोई रचना १५१४ के बादकी नहीं हैं। यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि दोनों भाई, जिन्होंने १५१४ तक अपना सारा जीवन महाप्रभु द्वारा आदिष्ट ग्रन्थ–रचना और तीर्थोद्धारके कार्यों में लगाया १५१४ के पश्चात् सहसा इस ओरसे उदासीन हो गये और दोनोंने जीवनके शेष ३५ वर्षोंमें कुछ भी न लिखनेका संकल्पकर अपनी लेखनीको सदाके लिये विश्राम वे दिया।

जीवगोस्वामीके 'माधव महोत्सव' में एक श्लोक है, जिसमें सनातन गोस्वामी के तिरोभाव का वर्णन है। माधव–महोत्सवका रचना काल सन् १५१५ है। इससे स्पष्ट है कि उनका तिरोभाव १५५४-५५ में हुआ। श्लोक इस प्रकार है:–

अंघ्रि युग्ममिह सार-सारसस्पर्द्धि मूर्द्धनि दधातु मामके।
यः सनातनतया स्म विन्दते वृन्दकवनममन्द-मन्दिरम्।।१/३।।

---

१. यह ग्रन्थ श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवा संस्थान से ५ खण्डों में प्रकाशित है।

अर्थात् जिन्होंने सनातन–नामसे सुविख्यात हो श्रीमन्महाप्रभुकी कृपासे महानिकुंज–मन्दिर–भूषित श्रीवृन्दावन धामको चिरवास्तव रूपसे प्राप्त किया–वही श्रीसनातन गोस्वामी मेरे सिरपर अपने सुन्दर पद्मविजयी चरण–युगल स्थापित करें।[1]

डा0 राधागोविन्दनाथने इस सम्बन्धमें अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है–"कोई–कोई कहते हैं कि शक सम्वत् १४८० में सनातन गोस्वामीका तिरोभाव हुआ, परन्तु यह विश्वास योग्य नहीं। कारण शक सम्वत् १४९५ में भी वे प्रकट थे, इसका इतिहास साक्षी है। सन् १५७३ (शक सम्वत् १५९५) में मुगल सम्राट अकबर शाहने वृन्दावन जाकर उनसे साक्षात् किया, यह इतिहास प्रसिद्ध घटना है।"

"पहले ही कहा जा चुका है कि शक सम्वत् १५१२ में रूप–सनातनके तत्वावधानमें महाराज मानसिंह द्वारा गोविन्ददेवका मन्दिर का निर्माण हुआ। इससे जाना जाता है कि शकाब्द १५१२ में वे प्रकट थे और शकाब्द १५१४ के वैशाख मासमें, जब श्रीनिवास वृन्दावन पहुँचे, तब वे अप्रकट हो चुके थे। इसलिए १५१२ और १५१४ के बीच ही उनका तिरोभाव हुआ होगा।"

सन् १५७३ में अकबर ने सनातन गोस्वामीसे भेंटकी, इसके प्रमाणमें डा0 राधागोविन्दनाथने ग्राउसका सहारा लिया है। ग्राउसने कहीं यह नहीं लिखा कि अकबरने सनातन गोस्वामीसे भेंट की। इस सम्बन्धमें उन्होंने जो कुछ लिखा है उसे हमने ऊपर उद्धृत किया है। उसमें उन्होंने केवल यह कहा है कि अकबरने गौड़ीया गोस्वामियोंसे भेंट की। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि रूप–सनातनके अप्रकाट्य के पश्चात् उसने लोकनाथ गोस्वामी, भूगर्भ गोस्वामी और जीव गोस्वामी आदिसे भेंटकी, जो उस समय प्रकट थे।

गोविन्ददेवके मन्दिरका मानसिंह द्वारा निर्माण रूप–सनातनके रहते उनके सत्वावधानमें किया गया, इसे भी राधागोविन्दनाथने मुख्य रूपसे इतिहास–प्रसिद्ध घटनाके रूपमें ही लिया है। प्रमाणमें भक्तिरत्नाकर और प्रेम विलासके आधारपर केवल यह कहा है कि श्रीनिवासाचार्यकी जीव गोस्वामीसे प्रथम भेंट गोविन्ददेवके मन्दिरमें हुई सनातन गोस्वामीके अप्राकट्य के कुछ ही महीने बाद और मन्दिरका निर्माण हुआ सन् १५९० में, जिसका अर्थ यह होता है कि १५९० के बाद और श्रीनिवासाचार्यके

१. पक्षान्तरमें इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है- जिन्होंने सनातन-रूपसे (सदाके लिए) सुमहान (निकुंज) मन्दिर-मण्डित वृन्दावन लाभ किया है, (अर्थात् जो वृन्दावन त्यागकर कभी कहीं नहीं जाते) वही श्रीकृष्ण मेरे मस्तकपर अपने अत्युत्कृष्ट कमल-विनिन्दी पादमधु स्थापित करें।

पर स्पष्ट है कि यह श्लोकका सरल और सीधा अर्थ नही है।

वृन्दावन आगमन के पूर्व तक सनातन गोस्वामी जीवित रहे। श्रीनिवासाचार्य १५९० के बाद ही वृन्दावन गये, क्योंकि गोविन्ददेवका नया मन्दिर बन जानेके बाद उस मन्दिर में जीव गोस्वामीसे भेंट हुई। श्रीनिवासाचार्य की गोविन्ददेवके नये मन्दिर में ही भेंट हुई इसका उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। भक्तिरत्नाकर में गोविन्ददेव मन्दिरमें इस भेंटका उल्लेख है, पर भेंट नये मन्दिरमें हुई या पुराने में इस सम्बन्धमें कुछ नहीं लिखा है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि सनातन गोस्वामी सन् १५७३ के बाद तक जीवित थे और अकबर बादशाहसे उनकी भेंट हुई, तो यह विश्वसनीय नहीं जान पड़ता कि उन्होंने अकबरको दिव्य वृन्दावन दर्शन कराये।

इस प्रकारकी एक किंवदंती श्रीहरिदास गोस्वामीके सम्बन्धमें भी प्रचलित है। कहा जाता है कि अकबरने जब स्वामीजीसे कोई सेवा स्वीकार करनेका आग्रह किया तो उसे बिहारीघाट ले गये, जहाँ उसे दिव्य वृन्दावन के घाटके दर्शन कराने। घाटकी प्रत्येक सीढ़ी एक ही विशाल रत्नकी बनी थी। एक सीढ़ीमें थोड़ा नुक्स दिखाते हुए उन्होंने अकबरसे उसे बदलवा देने को कहा। पर यह अकबर बादशाहकी सामर्थ्यके बाहर था।[1]

दोनोंके सम्बन्धमें यह किंवदंतियाँ काल्पनिक ही कही जा सकती हैं, क्योंकि ये भक्ति–सिद्धान्तके विपरीत हैं। भक्ति–सिद्धान्तके अनुसार वृन्दावन धाम स्वरूपतः धामी श्रीकृष्णसे अभिन्न है और उसके दर्शन प्रेम–चक्षुसे ही किये जा सकते हैं, जो अकबरके पास नहीं थे। यदि माना जाय कि इन महाप्ररुषोंने अपनी शक्तिसे उसे प्रेम–चक्षु प्रदान किये, तो उसके व्यक्तित्व में तत्काल आमूल परिवर्तन हो जाना चाहिए था, जो नहीं हुआ।

१. इस किंवदंती को ग्राउस ने श्रीस्वामी हरिदास के किसी अनुयायी द्वारा लिखित 'भक्ति-सिन्धु' नामक ग्रन्थ से अपने Mathura Memoir (p.220) में उद्धत किया है।

भागवत-धर्मका पुनरोद्धार

प्राचीन भक्तिशास्त्रोंका संग्रह और नये ग्रन्थोंके निर्माणका कार्य भी सनातनं गोस्वामी बड़ी लगन के साथ करते रहे। धीरे–धीरे रूप गोस्वामीके अतिरिक्त श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, श्रीरघुनाथ भट्ट गोस्वामी और श्रीजीव गोस्वामी भी उनसे आ मिले और जुट गये उनके साथ तीर्थों और भक्ति–शास्त्रों को पुनर्जीवित करनेके महान प्रयासमें।

इनमेंसे प्रत्येक त्याग, तितिक्षा, वैराग्य शास्त्रज्ञान और भक्ति–साधना का महान आदर्श था। इनके सहयोग से सनातन गोस्वामी उत्तर भारत के आध्यात्मिक जीवन में एक नयी क्रान्ति लाने में समर्थ हुए। उन्होंने स्वयं तो महत्वपूर्ण आकर–ग्रन्थोंकी रचना की ही, इनके द्वारा अपनी देख–रेख में बहुत से भक्ति–ग्रन्थों की रचना करवाकर वैष्णव–साहित्य की जैसी अभिवृद्धि की वैसी पहले कभी नहीं हुई थी।

वैष्णव–धर्मके पुनरोद्धार में और उसकी भक्तिको आगे के लिए सुदृढ़ करनेमें गौड़ीय गोस्वामियोंका सबसे बडा हाथ है। यह कार्य कितना दुष्कर था, इसका अनुमान वैष्णव इतिहास के गवेषक श्रीसतीशचन्द्र मित्र के इस वक्तव्य से लगाया जा सकता है–

"षोडश शताब्दीके प्रथम भागमें गौड़ीय गोस्वामियोंने धर्मको लेकर जो देशव्यापी तुमुल आन्दोलन छेड़ा, उसका प्रवाह कै शताब्दीके बाद हो पाता, कौन जाने? कारण बंगदेशके शक्तिशाली और समृद्धशाली लोग और बंगीय समाजमें कुलीन कहलाने वाले लोग–ब्राह्मण, कायस्थ, वैद्य प्रभृति अधिकतर शाक्त–मतावलम्बी और गौड़ीय–वैष्णवमतके घोर शत्रु थे। जो ब्राह्मणगण पांडित्य–प्रतिभा और वंश–परम्पराके कारण सर्वत्र ख्याति–सम्पन्न थे और जिनका धर्म साधनाकी अपेक्षा आचार–निष्ठामें अधिक आग्रह था, वे सभी इस नवीन मतको अनाचरणीय और अशास्त्रीय कह कर इसकी उपेक्षा करते थे।"

महाप्रभु जानते थे कि शास्त्रोंमें आस्था रखनेवाले और शब्द प्रमाण को ही सर्वोच्च माननेवाले पंडितोंके इस देशमें किसी धर्मकी स्थापना तब तक नहीं की जा सकती, जब–तक उस धर्म का विरोध करनेवाले व्यक्तियों के धर्मध्वजी नेताओंको शास्त्रार्थमें परास्त न किया जाय। वे यह भी जानते थे कि केवल भावकी भित्तिपर खड़ा किया गया धर्म बहुत दिन टिक नहीं सकता। उसके लिए चाहिए शास्त्र–प्रमाण और तर्कसंगत युक्तियोंकी सुदृढ़ भित्ति। पहला काम तो उन्होंने स्वयं ही किया। सार्वभौम भट्टाचार्य और प्रकाशानन्द सरस्वती जैसे देशविख्यात वेदान्तियोंको शास्त्रार्थमें

पराजितकर अपने धर्मका मार्ग प्रशस्त किया। उसे शास्त्र–सम्मत सिद्ध करने का काम अपने रूप–सनातन जैसे योग्य भक्तोंपर छोड़ दिया। उन्हें विशुद्ध भक्ति–धर्मका उपदेशकर तदनुसार ग्रन्थोंकी रचनाका आदेश दिया। साथ ही यह आज्ञा दी कि वे जो कुछ लिखें, उसकी पुष्टि शास्त्र वाक्योंसे अवश्य करें। ऐसा कुछ भी न लिखें, जिसकी प्रामाणिकता वे शास्त्र–वाक्योंके आधारपर सिद्ध न कर सकें। विशेष रूपसे उन्होंने श्रीमद्भागवत को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानकर उसी का अनुसरण करने का उपदेश किया, क्योकि उनके अनुसार श्रीमद्भागवत वेदव्यासके ब्रह्मसूत्रका अपना ही भाष्य था और इसलिए सब शास्त्रोंका सार था।

सच तो यह है कि महाप्रभुने स्वतंत्र रूपसे किसी धर्मका प्रचार नहीं किया। उन्होंने श्रीमद्भागवतके धर्मको ही अपना धर्म माना[1] और उसीके श्लोक उद्धृत करते हुए विशुद्ध भागवत धर्मका अपने धर्मके रूपमें प्रचार करनेका रूप–सनातनको आदेश दिया।

रूप–सनातन ने जिस दक्षताके साथ इस कार्यको सम्पन्न किया, वह अतुलनीय है। डोर–कौपीनधारी परम विरक्त साधुके रूपमें एकान्त–भजनमें रत रहते हुए भी उन्होंने राशि–राशि ग्रन्थोंकी रचना और टीका, व्याख्यादि द्वारा गौड़ीय–वैष्णव धर्मको सुदृढ़ भित्तिपर स्थापित कर इसकी विजय–पताका फ़हराई।

सनातन गोस्वामीके ग्रन्थोंका परिचय हम आगे देंगे। यहाँ उनके जीवनसे सम्बन्धित कुछ विशेष घटनाओंका उल्लेख करेंगे।

व्रज–परिक्रमा

सन् १५३३ में महाप्रभुके अप्राकट्यके पश्चात् रघुनाथदास गोस्वामी और बहुत–से भक्त गौड़ और उड़ीसासे आकर वृन्दावनमें रहने लगे। उनके सहयोगसे वैष्णव–धर्मके प्रचारका काम और भी तेज गति से चलने लगा।

सनातन गोस्वामी ने चौरासी कोस व्रजकी परिक्रमाकी प्रथा आरम्भ की। वे प्रति वर्ष सदलबल चौरासी कोस व्रजकी परिक्रमा को जाया करते। उनका एक उद्देश्य होता गांव–गांवमें जाकर भक्ति–धर्मका प्रचार करना। उनके असाधारण त्याग, वैराग्य, पांडित्य और मदनगोपालके विशेष कृपा भाजन होनेकी ख्याति तो चारों ओर फैली थी ही, वे गौड़ीय–वैष्णव धर्मके प्रधान नेता और संरक्षक के रूप में भी भलीभाँति परिचित थे। वे जिस गाँवमें भी जाते, वहाँ के लोग उनके आगमनका संवाद सुन पागलकी तरह उनके पास दौड़े चले आते। उनके लिए तरह–तरहकी खाद्य सामग्री

१. भगवते कहे मोर तत्व अभिमत।
(चै०भा० २/२१/१७)

लाकर उनकी सेवा करते। उनके दर्शन कर और उनके उपदेश सुन कृतार्थ होते। उनके आगमनके उपलक्ष्यमें महोत्सवोंका आयोजन करते। सनातन गोस्वामी अपनी मधुर–मूर्ति, मधुर–वचन और मधुर व्यवहारसे सबके मन–प्राण हर लेते। वे सब जैसे सदाके लिए उनके हाथ बिक जाते।

सनातन इस प्रकार विजयी सम्राटके समान परिक्रमा करते हुए लोगोंके हृदय क्षेत्रपर अधिकार कर अपने साम्राज्य का विस्तार करते रहते।

उनके द्वारा चलाई प्रतिवर्ष व्रज–परिक्रमा करनेकी परिपाटी गौड़ीय–वैष्णव समाजमें आज तक चली आ रही है।

राधा-कृपा

नन्दगाँवके निकट कदम्बटेर है। वहाँ एक सुरम्य सरोवरके तटपर रूप गोस्वामीकी भजन–कुटी आज भी विद्यमान है। उसमें रहते समय एक बार उन्हें क्षोभ हुआ कि भजन करते–करते इतने दिन बीत गये, फिर भी राधारानीकी कृपा न हुई। क्षोभ बढ़ता गया, विरहाग्नि तीव्र होती गयी। खाना–पीना दूभर हो गया। मधुकरीको जाना भी बन्द हो गया। संवाद मिला कि सनातन गोस्वामी आ रहे हैं उन्हें देखने। तब उनके मन वासना जागी कि कहींसे दूध मिलता तो खीरका भोग लगाकर उन्हें खिलाते। पर किसीसे कुछ माँगनेका तो उनका नियम था नहीं। खीर बनती कैसे?

यह देख राधारानीका हृदय आलोड़ित हुआ। रूप गोस्वामीको दो दिन हो गये थे बिना अन्न–जलके। उन्हें सांत्वना देकर कुछ खिलाना था ही उन्हें। साथही पूर्ण करनी थी सनातन गोस्वामी को खीर खिलानेकी उनकी वासना। एक साथ अपने दो प्रिय भक्तोंकी सेवा करनेका अवसर उन्हें और कब मिलता? वे स्वयं आयीं व्रज–बालिकाके रूपमें रूप गोस्वामीके पास दूध लेकर और उनसे उसे ग्रहण करनेका आग्रह किया।

दूध से जो खीर बनी उसके अप्राकृत स्वाद और गन्धसे सनातन गोस्वामी को कौतूहल हुआ। पूछनेपर जब उन्हें सारा वृत्तान्त मालूम हुआ, तब उन्होंने रूपसे कहा–"तुमने स्वयं निराहार रहकर और मुझे खीर खिलानेकी वासना मन में लाकर राधारानी को कष्ट दिया। भक्तको कभी किसी प्रकारकी वासना मनमें न लाना चाहिए, न ही अकारण अनाहार करना चाहिए। दोनों अवस्थाओं में इष्टको दुःख होता। वह न भक्तकी वासना पूर्ण किये बिना रह सकता है, न अनाहारको दूर किये बिना। ऐसा करनेके लिए उसे स्वयं कष्ट करना पड़ता है।"

इस घटना का हमने यहाँ संकेत भर किया है। इसका विस्तार से वर्णन करेंगे रूप गोस्वामी के चरित्र में।

राधारानी की सनातन गोस्वामी पर कितनी कृपा थी एक और घटना भी प्रकट है। श्रीरूप गोस्वामी ने 'चाटुपुष्पाञ्जलि' की रचना की। उसका प्रथेम श्लोक देखकर सनातन गोस्वामी को कुछ संदेह हुआ। श्लोक इस प्रकार है–

नवगौरोचना गौरीं प्रवरेन्दीवराम्बरां।
मणि स्तव कविंद्योतिवेणी व्यालाङ्गनाफणां।।

–हे वृन्दावनेश्वरी! मैं तुम्हारी वन्दना करता हूँ। तुम अभिनव गोरोचनके समान गौरांगी हो। सुन्दर नीलपद्मके समान तुम्हारे वस्त्र हैं। तुम्हारी लम्बी बेणी, जिसंके ऊपर मणिरत्न खचित कवरी बन्ध है, फणयुक्त नागिनके समान लगती है।"

सनातन गोस्वामी को लगा कि श्लोक में राधारानीकी वेणीकी तुलना नागिनसे करना ठीक नहीं। महाभावमय राधारानीके केश भी सच्चिदानन्द–स्वरूप और महाभावमय हैं। उनकी तुलना नागिनसे करना अमृतकी तुलना विषसे करना जैसा है।

उसी दिन मधुकरी–भिक्षासे लौटते समय उन्होंने देखा कि राधासरके किनारे एक वृक्षपर झूला पड़ा है। उसपर आकाशमें चंचल विद्युतके समान एक बालिका झूल रही है, सखियां झूला रही हैं। सहसा उसकी पीठकी ओर देखकर वे चीख पड़े–"लाली सांप, सांप, तेरी पीठपर।" इतना कह वे सांपको हटानेके लिए जैसे ही बालिकाकी ओर दौड़े बालिका उन्हें देखकर मुसकाई और सखियों सहित अन्तर्धान हो गयी। सनातन गोस्वामी समझ गये कि बालिका स्वयं राधारानी ही थीं। उन्होंने उन्हें यह अनुभव करानेको दर्शन दिये थे कि रूप गोस्वामीने उनकी चोटीकी उपमा नागिनसे ठीक ही थी। सांपकी तरह लफलफाती उनकी बेणीका दृश्य वे भूल नहीं पा रहे थे। उसमें जैसा आकर्षण था उसे देख उन्हें बोध हो रहा था कि निश्चय ही उसे देख रसिकशेखर श्यामसुन्दरके मनमें उनसे मिलनेकी व्याकुलता उन्हें विषधर सर्पके दर्शन का सा अनुभव कराती होगी।

उसी समय वे गंये रूप गोस्वामीके पास। उनकी परिक्रमा और उनके चरणोंकी वन्दनाकर अपनी भूल स्वीकार करते हुए बोले–"रूप, तुम धन्य हो। राधारानाी की तुमपर बड़ी कृपा है। तुम्हारे काव्य में कल्पनाका लेश भी नहीं है। तुम जो देखते हो उसीका वर्णन करते हो।"[1]

१. भक्तिरत्नाकर, पंचम तरंग, ७५४-७६५ प्रियादासजी ने भक्तमालकी टीकामें इस घटनाका वर्णन इस प्रकार किया है-

कही व्याली रूप बैनी, निरखि सरूप नैन,
जानी श्रीसनातन जू काव्य अनुसारियै।
'राधासागर' तीर द्रुम डार गहि झूलैं,
फूलैं देखत लफलफातै गति मति बारियै।।
आये यों अनुज पास, फिरै आस-पास।
देखि भयी अति त्रास, गहे पाऊँ उर धारियै।।
चरित अपार उभै भाई हितसार पगे,
जगे जग माहिं, मति मन मैं उचारियै।।

(भक्ति-रस-बोधिनी, ३६३)

अंतर्द्धान

श्रीचैतन्य महाप्रभुने एकबार सनातन गोस्वामी की असाधारण शक्ति का मूल्यांकन करते हुए कहा था–

"आमाके ओ बुझाइते तुमि धर शक्ति।
कत ठाञि बुझायाछ व्यवहार-भक्ति।।

(चै० च० ३/४/१६३)

–तुम्हारे भीतर मुझ तकको समझाने और पथप्रदर्शन करनेकी शक्ति है। कितनी बार तुमने इसका परिचय भी दिया हैं।"

इस शक्तिके कारण ही उन्होंने उनके शरींरको अपने उद्देश्यकी सिद्धि का प्रधान साधन माना था–

"तोमार शरीर मोर प्रधान साधन।"

(चै० च० ३/४/७३)

और कहा था–

"शरीरे साधिब आमि बहु प्रयोजन।
भक्त, भक्ति, कृष्ण-प्रेम तत्वेर निर्धार।
वैष्णोवेर कृत्य, आर वैष्णव आचार।।
कृष्ण-भक्ति, कृष्ण-प्रेम-सेवा प्रवर्तन।
लुप्त-तीर्थ-उद्धार आर वैराग्य-शिक्षण।।
निज-प्रिय स्थान मोर मथुरा-वृन्दावन।
ताहाँ एत धर्म चाहि करिते प्रचारन।।

(चै० च० ३।४।७३-७६)

–तुम्हारे शरीर से मैं अपने बहुत से प्रयोजनों को सिद्ध करूंगा। कृष्ण–प्रेम–तत्व और वैष्णवों के कृत्य का निर्धारण, अपने प्रिय स्थान मथुरा–वृन्दावन में कृष्ण–भक्ति और कृष्ण–प्रेम–सेवा का प्रवर्तन, लुप्त तीर्थों का उद्धार और वैराग्य का शिक्षण, यह सब कार्य मैं तुम्हारे शरीर के माध्यम से करूंगा।"

सनातन गोस्वामी के शरीर से महाप्रभु के प्रयोजन की सिद्धि अब हो चुकी थी। उनका शरीर बहुत वृद्ध हो गया था। उन्होंने जीवन के बचे हुए कुछ दिन एकान्त भजन में व्यतीत करने का निश्चय किया। वे मानसगंगा के तीर पर चक्रेश्वर महादेव के मन्दिर के निकट एक वृक्ष के नीचे भजन करने लगे। उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी हो गयी। आहार–निद्रा तक की चिन्ता न कर वे हर समय राधा–कृष्ण के चिन्तन और हरिनामामृत के आस्वादन में डूबे रहते। उस समय की उनकी अवस्था का वर्णन श्रीराधावल्लभदास ने एक पद में इस प्रकार किया है–

"कत दिने अन्तर्मना, छप्पान्न दण्ड भावना,
चारिदण्ड निद्रा वृक्षतले।
स्वप्ने राधाकृष्ण देखे, नाम गाने सदा थाके,
अवसर नाहि एक तिले।"

इसी अवस्था में एक बार उन्हें बहुत समय से निर्जल, निराहार देख श्रीकृष्ण से न रहा गया। वे स्वयं एक गोप–बालक के वेश में गये दूध का पात्र हाथ में लिये अपने प्रिय भक्त के लिए और निकट जाकर बोले–

"आछह निर्जने, तोमा केह नाहि जाने।
देखिलाम तोमारे आसिया गोचारने।।
एइ दुग्ध पान कर आमार कथाय।
लइया जांइब भाण्ड, राखिओ एथाय।।

(भ० र०, ५ म तरंग, १३०५-६)

–बाबा, तुम यहाँ निर्जन में रहते हो। किसी को तुम्हारा पता नहीं। मैं यहाँ आया गोचारण को तो तुम्हें देखा। तुम भूखे हो। मेरा कहा मानो, यह दूध पी लो। पीकर बरतन यहीं रखो, मैं अभी आकर ले जाऊंगा।"

उसने आगे कहा–

"कुटीरे रहिले, मो सभार सुख हबे।
ऐछे रह, न हिले व्रजवासी दुःख पाबे।।

(भ० र०, पंचम तरंग, १३०७)

–तुम ऐसे रहते हो वृक्षतले, यह ठीक नहीं। कुटिया में रहा करो, जिससे हम सबको सुख मिले। ऐसे रहोगे तो हम व्रजवासियों को बड़ा दुःख होगा।"

उन्होंने व्रजवासियों को प्रेरणा दे उनके लिए एक कुटिया का निर्माण करवा दिया। व्रजवासियों के आग्रह से वे उसमें रहने लगे।

उस समय सनातन गोस्वामी के मुख पर छायी रहती तृप्ति की एक उज्ज्वल कान्ति, जो स्वाभाविक रूप से फूट पड़ती है, जब जीवन का उद्देश्य पूरा हो लेता है, जीवन की सभी समस्याओं का हल और सभी रहस्यों का उद्घाटन हो लेता है। उस कान्ति के आलोक में वे अपनी कुटिया के एक कोने में बैठे रहते गम्भीर पांडित्य और उच्चतम आध्यात्मिक उपलब्धियों की सम्पत्ति को दैन्य की ओढ़नी से यत्नपूर्वक छिपाए, दीन–हीन कंगाल के वेश में।

फिर भी दूर–दूर से दर्शनार्थी आते इस मानव रूपी देवता के दर्शन करने, तत्ववेत्ता पंडित आते अपनी–अपनी समस्याओं को लेकर उन्हें सुलझाने साधक आते उपदेश ग्रहण करने भक्तिपथ के निराश्रय

पथिक आते आश्रय ग्रहण करने। सभी उनके पास आकर तृप्ति लाभ करते, उनके दर्शन कर जीवन सार्थक करते।

सनातन गोस्वामी का नियम था गिरि गोवर्द्धन की नित्य परिक्रमा करना। अब उनकी अवस्था 90 वर्ष की हो गयी थी। नियम निबाहना मुश्किल हो गया था। फिर भी वे किसी प्रकार निबाहे जा रहे थे।

एकबार वे परिक्रमा करते हुए लड़खड़ाकर गिर पड़े। एक गोप–बालक ने उन्हें पकड़ कर उठाया और कहा–"बाबा, तो पै सात कोस की गोवर्द्धन परिक्रमा अब नाँय हय सके। परिक्रमा को नियम छोड़ दे।"

बालक के स्पर्श से उन्हें कम्प हो आया। उसका मधुर कण्ठस्वर बहुत देर तक उनके कान में गूंजता रहा। पर उन्होंने उसकी बात पर ध्यान न दिया। परिक्रमा जारी रखी।

एकबार फिर वे परिक्रमा मार्ग पर गिर पड़े। दैवयोग से वही बालक फिर सामने आया। उन्हें उठाते हुए बोला–"बाबा, तू बूढ़ो हय गयौ है। तऊ माने नाँय परिक्रमा किये बिना। ठाकुर प्रेम ते रीझें, परिश्रम ते नाँय।"

फिर भी बाबा परिक्रमा करते रहे। पर वे एक संकट में पड़ गये। बालक की मधुर मूर्ति उनके ह्रदय में गड़ कर रह गयी थी। उसकी स्नेहमयी चितवन उनसे भुलायी नहीं जा रही थी। वे ध्यान में बैठते तो भी उसी की छबि उनकी आँखों के सामने नाचने लगती थी। खाते–पीते, सोंते–ज़ागते हर समय उसी की याद आती रहती थी।

एक दिन जब वे उसकी याद में खोये हुए थे, उनके मन में सहसा एक स्पंदन हुआ, एक नयी स्फूर्ति हुई। वे सोचने लगे–एक साधारण व्रजवासी बालक से मेरा इतना लगाव! उसमें इतनी शक्ति कि मुझ वयोवृद्ध, तपोवृद्ध वैरागी के मन को भी इतना वश में कर ले कि मैं अपने इष्ट तक का ध्यान न कर सकूँ! नहीं, वह कोई साधारण बालक नहीं हो सकता, जिसका इतना आकर्षण है। तो क्या वे मेरे प्रभु मदनगोपाल ही हैं, जो यह लीला कर रहे हैं? एकबार फिर यदि वह बालक मिल जाय तो मैं सारा रहस्य जाने वगैर न छोड़ूँ।

संयोगवश एक दिन परिक्रमा करते समय वह मिल गया। फिर परिक्रमा का नियम छोड़ देने का वही आग्रह करना शुरु किया। सनातन गोस्वामी ने उसके चरण पकड़कर अपना सिर उन पर रख दिया और लगे आर्तिभरे स्वर में कहने लगे–"प्रभु, अब छल न करो। स्वरूप में प्रकट होकर बताओ मैं क्या करूँ। गिरिराज मेरे प्राण हैं। गिरिराज परिक्रमा मेरे प्राणों की संजीवनी है। प्राण रहते इसे कैसे छोड़ दूं?"

भक्त–वत्सल प्रभु सनातन गोस्वामी की निष्ठा देखकर प्रसन्न हुए। पर परिक्रमा में उनका कष्ट देखकर वे दुःखी हुए बिना भी नहीं रह सकते थे। उन्हें भक्त का कष्ट दूर करना था, उसके नियम की रक्षा भी करनी थी और इसका उपाय करने में देर भी क्या करनी थी?

सनातन गोस्वामी ने जैसे ही अपनी बात कह चरणों से सिर उठाकर उनकी ओर देखा उत्तर के लिए, उस बालक की जगह मदनगोपाल खड़े थे। वे अपना दाहिना चरण एक गिरिराज शिला पर रखे थे। उनके मुखारविन्द पर मधुर स्मित थी, नेत्रों में करुणा झलक रही थी। वे कह रहे थे–"सनातन, तुम्हारा कष्ट मुझसे नहीं देखा जाता। तुम गिरिराज परिक्रमा का अपना नियम नहीं छोड़ना चाहते तो इस गिरिराज शिला की परिक्रमा कर लिया करो। इस पर मेरा चरण–चिन्ह अंकित है। इसकी परिक्रमा करने से तुम्हारी गिरिराज परिक्रमा हो जाया करेगी।"

इतना कह मदनगोपाल अंतर्धान हो गये। सनातन गोस्वामी मदनगोपाल–चरणान्कित उस शिलाको भक्तिपूर्वक सिरपर रखकर अपनी कुटिया में गये। उसका अभिषेक किया और नित्य उसकी परिक्रमा करने लगे।

आज भी मदगोपालके चरणचिन्हयुक्त वह शिला वृन्दावनमें श्रीराधादामोदरके मन्दिर में विद्यमान हैं, जहाँ जीव गोस्वामी सनातन गोस्वामीके अप्राकट्यके पश्चात् उसे ले आये थे।

अन्तके कुछ दिनोंमें सनातन गोस्वामी शिलाके सामने आसनपर बैठ जाते और अर्द्धनिमीलित नेत्रोंसे नाम–जप करते रहते। उस समय उनका मनोभाव कुछ इस प्रकार का होता–

"नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं।
कालमेव प्रतीक्षेऽहं निदेशं भृतको यथा।।"

अर्थात् "हे भगवन्, मैं जीवन नहीं चाहता, मरण भी नहीं चाहता। भृत्य जिस प्रकार स्वामी के आदेशकी प्रतीक्षा करता है, मैं भी उसी प्रकार कालकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

ऐसी अवस्था में जीवन और मरण के बीचकी दीवार टूट जाती है। साधक स्वेच्छासे या इष्टके इंगितपर किसी समय जीर्णवास छोड़कर इष्टके साथ उसके धामको चला जाता है।

ऐसे ही एक दिन सनातन गोस्वामी शिला के सम्मुख बैठे भावना में गिरिराज–परिक्रमा कर रहे थे। भावना करते–करते यकायक उनके मुखारविन्दपर छा गयी एक अलौकिक दीप्तिकी आभा और शरीर अश्रु–कम्प–पुलकादि सात्विक भावोंसे परिपूर्ण हो गया। कुछ ही क्षणोंमें भाव–लक्षण समाधिमें विलीन हो गये, नेत्र स्थिर हो गये और देहस्पन्दनहीन

हो गया। परिक्रमा मार्गमें उन्हें मिल गये गिरिधारी और अपने साथ कहीं ले जानेको हुए। सनातन गोस्वामी कुछ ठिठके। उनका मनोभाव जान गिरिधारीने राधा–मदनमोहन के जुगल रूपमें दर्शन दिये। तब उन्होंने इष्टके चरणोंमें आत्म–निवेदन किया, पार्थिव शरीर छोड़ मंजरी–स्वरूपसे निकुंजकी ओर उनका अनुगमन किया।

सनातन गोस्वामीका अप्राकट्य हुआ **सन् १५५४** की आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन। उस दिन प्रेम–साधनाका आलोक–स्तम्भ अन्तर्हित हो गया। समस्त व्रजमंडलपर छा गया शोक और विषादका अन्धकार।

श्रीहरिराम व्यास जैसे रसिक महात्माओंको कहते सुना गया कि 'साधु–सिरोमनि' सनातन गोस्वामीके अन्तर्हित हो जानेसे व्रजका साधु–समाज 'अनाथ' हो गया, रस–मन्दाकिनीका मुख्य स्रोत अतीतके गर्भमें विलीन हो गया। उसके बिना अब सूखे पत्ते चबाना ही बाकी रह गया–

तिन बिनु 'व्यास' अनाथ भये सब सेवत सूखे पातन।

(व्यासवाणी, २२)

वृन्दावनमें मदनमोहनके मन्दिरके प्रांगणमें सहस्रों साधु–वैष्णों और व्रजवासियोंके प्रेमाश्रुओंकी भावभरी श्रद्धांजलिके साथ उन्हें समाधि दी गयी।

सनातन गोस्वामीके विशेष अवदानका वर्णन करते हुए श्रीप्रियादास जी ने भक्तमाल की भक्ति–रस बोधिन टीकामें लिखा है–

वृन्दावन व्रजभूमि जानत न कोऊ प्राय, दई दरसाय
जैसी शुक मुख गाई है।
रीति हूं उपासनाकी भागवत अनुसार, लियो रससार
सो रसिक सुख दाई है।।

एक और कविने सनातन और रूपके सम्बन्धमें कहा है–

को सब त्यजि, भजि वृन्दावन
को सब ग्रन्थ विचारत।
मिश्रित खीर, नीर बिनु हंसन,
कौन पृथक् करि पारत।।
को जानत, मथुरा वृन्दावन,
को जानत व्रज-रीति।
को जानत, राधा-माधव रति,
को जानत सब नीति।।

सनातन गोस्वामी व्रजके समस्त वैष्णव–समाजके अधिनायक थे। सभी अपने पिताके समान उनका आदर करते थे। इसलिए उस आषाढ़ी

पूर्णिमाके दिन सबने मस्तक मुड़वा कर उनके तिरोभाव पर शोक प्रकट किया। तभी से व्रजमें आषाढ़ी पूर्णिमाका नाम 'मुड़िया पूर्णिमा' पड़ गया। सनातन गोस्वामी की गिरिराज के प्रति अटूट श्रद्धा थी और उन्होंने अन्ततक गिरिराज परिक्रमा का अपना व्रत निभाया था। इसलिए उस दिन सभी वैष्णवोंने गिरिराज की परिक्रमा कर उन्हें श्रद्धाजंलि अर्पित की। इसीलिए तबसे मुड़िया पूर्णिमा पर विशेष रूपसे गिरिराज परिक्रमा करनेकी प्रथा चली आ रही है।

सनातन गोस्वामी द्वारा लिखित ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

सनातन गोस्वामी द्वारा लिखित ग्रन्थों में चार ऐसे हैं, जिनका उनके द्वारा प्रणीत होनेके सम्बन्ध में किसी प्रकारका विवाद या संशय नहीं है, क्योंकि उनका उनके नामसे उल्लेख किया गया है जीव गोस्वामी की लघुतोषणीके उपसंहार में, श्रीकृष्णदास कविराजके चैतन्य–चरितामृत (२/१/३०-३१) में और नरहरि चक्रवर्ती के भक्तिरत्नाकर (१/८०६-८०८) में। वे हैं–

(1) हरिभक्तिविलास की दिग्दर्शनी टीका, (2) 'वृहत् वैष्णवतोषणी' नामकी श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धकी टीका (3) 'लीला–स्तव' और (4) 'वृहत्भागवतामृत' और उसकी टीका।

हरिभक्तिविलास की दिगदर्शिनी टीका

हरिभक्तिविलास महामूल्यवान् वैष्णव–स्मृति है, जिसमें वैष्णवोचित आचारका प्रामाण्य शास्त्र–वाक्यों द्वारा परिपुष्ट विस्तृत वर्णन है। इसके रचयिता श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी हैं। यह ग्रन्थके प्रारम्भिक श्लोकसे स्पष्ट है, जो इस प्रकार है–

भक्तेर्विलासांश्चिनुते प्रबोधानन्दस्यशिष्यो भगवतप्रियस्य।
गोपालभट्टो रघुनाथदासं सन्तोषयन् रूप-सनातनौ च।।

इसके प्रत्येक विलास के अन्त में भी लेखक रूपमें गोपाल भट्टके ही नाम का उल्लेख है। परन्तु श्रीजीव गोस्वामी ने लघुतोषणीके उपसंहारमें, कृष्णदास कविराजने चैतन्य–चरितामृत (२/१/३०-३१) में और नरहरि चक्रवर्ती ने भक्तिरत्नाकर (१/६०६-६०८) में इसे सनातन गोस्वामी की कृति बतलाया है। इसलिए यथार्थमें इसका लेखक कौन है, इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है।

डा0 दिनेशचन्द्र सेन ने इसका समाधान यह कहकर किया है कि ग्रन्थके वास्तविक रचयिता सनातन गोस्वामी ही हैं। पर वे यवनोंके संसर्गमें रहने के कारण जातिच्युत थे। यदि वे अपने नामसे इसका प्रचार

करते तो सर्वसाधारण द्वारा इसके ग्रहण किये जानेकी संभावना कम होती। इसलिए उन्होंने गोपाल भट्टजी के नाम से इसका प्रचार किया, जो दक्षिण देशके एक सुप्रसिद्ध नैष्ठिक और आचारवान ब्राह्मण वंश के थे।[1] सनातन गोस्वामी ज्ञातिच्युत थे, इसका कोई प्रमाण देखने में नहीं आता। पर वे स्वयं दैन्यवश यवन राजाके प्रधानमन्त्री रह चुकनेके कारण अपने को अस्पृश्य मानते थे। इसलिए यह बिल्कुल संभव है कि इस महत्वपूर्ण स्मृति ग्रन्थ का प्रचार उन्होंने अपने नामसे न कर गोपाल भट्टके नाम से किया हो। नरहरि चक्रवर्ती ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि उन्होंने इस ग्रन्थ कीं रचना कर गोपाल भट्ट का नाम ग्रन्थकार के रूपमें दे दिया–

गोपालेर नामे श्रीगोस्वामी सनातन।
करिला श्रीहरिभक्तिविलास वर्णन।।

(भ. र. १/१९८)

पर इस सम्बन्ध में उचित मत यह जान पड़ता है कि सनातन गोस्वामी ने एक संक्षिप्त वैष्णव–स्मृतिकी रचना की और गोपालभट्ट गोस्वामीने उसका विस्तार किया। इस मत की पुष्टि दो बातों से होती है। एक तो यह कि सनातन गोस्वामी कृत 'लघुहरिभक्तिविलास' नामक एक ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियाँ जयपुर के गोविन्द–ग्रन्थकार में और राजशाही वरेन्द्रानुसंधान समितिमें वर्तमान हैं। दूसरा यह कि ग्रन्थ के प्रत्येक विलास के शेषमें लिखा मिलता है, 'इति श्रीगोपालभट्ट विलिखित।' 'विलिखित' का अर्थ है विशेषरूप से लिखित या विस्तार से लिखित। यदि गोपाल भट्ट ने मूल रूप में इसकी रचना की होती तो वे 'विलिखित' की जगह 'लिखित' शब्दका ही प्रयोग करते।[2]

मनोहरदासकी अनुरागवल्लीकी निम्न पंक्तियों से भी इस मतका समर्थन होता है–

श्रीसनातन गोस्वामी ग्रन्थ करिल।
सर्वत्र आभोग भट्ट गोसाईं दिल।।

(1म मंजरी)

वास्तविकता यह है कि गोस्वामीगण सभी मिलकर भगवत्तत्व की आलोचना करते थे। श्रीभगवान् उनके अन्तःकरणमें जो भाव परिस्फुरित करते
थे, उसी के अनुसार ग्रन्थों की रचना करते थे, अपनी स्वतंत्र बुद्धि से कुछ नहीं लिखते थे। इसलिये अपने को ग्रन्थ–कर्ता भी नहीं मानते थे।

पर जो भी हो, हरिभक्ति विलास की दिग्दर्शिनी टीका के रचयिता

1. Dr. D. Sen : The Vaisnava Leterature of Medieval Bengal, hh. 37-38.
२. डा० जाना : वृन्दावनेर छय गोस्वामी, पृ० ७५।

सनातन गोस्वामी हैं, इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। श्रीरामनारायण विद्यारत्न ने उसे जीव गोस्वामी कृत अवश्य कहा है। पर उसका कोई मूल्य नहीं, क्योंकि जीवगोस्वामी ने स्वयं हरिभक्तिविलास और उसकी टीका दोनों को सनातनकृत लिखा है।

हरिभक्तिविलास का ठीक रचना काल भी निर्धारित करना कठिन है। पर इतना निश्चित है कि इसकी रचना सन् १५४१ के पूर्व हुई। क्योंकि रूप गोस्वामी के भक्तिरसामृतसिन्धु में इसका उल्लेख है। भक्तिरसामृतसिन्धु का रचना काल सन् १५४१ है।

वृहद्वैष्णवतोषणी

वृहद्वैष्णवतोषणी, श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की विस्तीर्ण टीका, सनातन गोस्वामी की शास्त्र–साधना का चरम फल है। ग्रन्थ के आरम्भ में उन्होंने लिखा है कि इस टीका में उन्होंने उन सब विषयों को खोलकर लिखा है, जो श्रीधर गोस्वामी की टीका में अस्पष्ट रह गये हैं। पर वास्तविकता यह है कि उन्होंने इसमें सभी विषयों की जैसी पांडित्यपूर्ण और रसमयी व्याख्या की है, वैसी किसी प्राचीन टीका में देखने को नहीं मिलती। कारण यह है कि उन्होंने श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य–भाव को छोड़ उनके माधुर्य–भाव पर जितना बल दिया है, उतना प्राचीन टीकाकारों ने नहीं दिया।

जीव गोस्वामी ने वैष्णव तोषणी का एक संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किया है। जो 'लघुतोषणी' के नाम से जाना जाता है। उसके अन्त में उन्होंने वृहद्वैष्णवतोषणी का रचना–काल १४७६ शकाब्द, अर्थात् सन् १५५४ लिखा है। इससे स्पष्ट है कि इसकी रचना करते समय सनातन गोस्वामी अति वृद्ध थे और जिस वर्ष इसकी रचना समाप्त हुई उसी वर्ष उन्होंने नित्य–लीला में प्रवेश किया।

लीलास्तव

श्रीजीव गोस्वामी ने 'लीलास्तव' नामक सनातन गोस्वामी के एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। श्रीकृष्णदास कविराज ने चैतन्य–चरितामृत में –दशम चरित' नामक सनातनकृत एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है (चै० च० २।१।३०)। नरहरि चक्रवर्ती ने स्पष्ट किया है कि दशम चरित लीलास्तव का ही दूसरा नाम है (भ० र० १।८०७-८०८), क्योंकि इसमें भागवत के दशम स्कन्ध के प्रथम पैंतालीस अध्यायों में से प्रत्येक का लीला–सूत्र नामाकार में वर्णित है।

इनके अतिरिक्त और कई ग्रन्थ सनातन गोस्वामी के नाम पर आरोपित हैं, पर उनका सनातनकृत होने के सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण नहीं हैं। इतना निश्चित है कि उस समय के कुछ अन्य लोगों द्वारा लिखे

गये ग्रन्थों में भी हरिभक्तिविलास की तरह सनातन गोस्वामी का हाथ है, जैसे श्रीरूप गोस्वामी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में। उस समय व्रजमंडल में कोई गौड़ीय साधक या शास्त्रविद् कोई ग्रन्थ लिखता तो उसके लिए सनातन गोस्वामी का
सहयोग या समर्थन प्राप्त करना आवश्यक होता , क्योकि उसके बिना भक्त –समाज में उसके ग्रहण किये जाने की सम्भावना ही न होती ।

वृहद्भागवतामृत

वृहद्भागवतामृत जैसा सनातन गोस्वामी के शास्त्र ज्ञान का परिचायक है, वैसा ही उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का। इसमें उन्होंने भक्ति–शास्त्र के विशाल सागर का मन्थन कर सार तत्व को बड़े सरल और आकर्षक ढ़ंग से उपस्थित किया है। यह उनकी क्रमिक आध्यात्मिक उपलब्धियों और उच्चस्तरीय रसानुभूतियों का मनोरम उपाख्यान के द्वारा हृदयस्पर्शी वर्णन है।

यह दो खण्डों में लिखा गया है। प्रथम खण्ड में यह दिखाने की चेष्टा की गयी है कि भगवान् का सबसे अधिक कृपापात्र कौन है। दूसरे में भक्ति के विभिन्न सोपानों का वर्णन है।

प्रथम खण्ड के नायक हैं नारद। वे भगवान के सबसे अधिक कृपापात्र भक्त की खोज में ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते हैं। सर्वप्रथम प्रयाग तीर्थ के एक ब्राह्मण को भगवान का सबसे अधिक कृपापात्र जान उसकी प्रशंसा करते हैं। ब्राह्मण दाक्षिणात्य के एक क्षत्रिय राजा को भगवान् का परमप्रिय भक्त निर्धारित करता है। नारद उस राजा के पास जाते हैं, तो वह ब्रह्मा को भगवान् का परमप्रिय भक्त बताते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा शिव को, शिव प्रह्लाद को, प्रह्लाद पाण्डवों को, पाण्डव यादवों को, विशेष रूप से उद्धव को, उद्धव व्रज की गोपियों को और उनमें भी राधा को भगवान् का सबसे अधिक कृपापात्र बताते हैं। प्रत्येक अपने मत की पुष्टि में जो कारण उपस्थित करता है, उससे भक्तों की विभिन्न श्रेणियों की विशेषतायें प्रकाश में आती हैं।

दूसरे खण्ड के नायक हैं गोवर्धनवासी एक गोपकुमार, जिनके गुरु हैं गौड़देश में गंगातट पर जन्मे जयन्त नाम के एक ब्राह्मण। जयन्त के स्वरूप और भाव का जैसा वर्णन है, उसके आधार पर कुछ लोगों का निश्चित मत है कि जयन्त नाम से सनातन गोस्वामी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को इंगित किया है और गोपकुमार नाम से स्वयं अपने आप को।[1]

---

१. जाना: छय गोस्वामी, पृ० ७३

गोपकुमार गुरुदत्त मन्त्र का जप करते हुए प्रयाग, जगन्नाथपुरी और वृन्दावन गये। मन्त्र के ही अचिन्त्य प्रभाव से वे स्वर्गलोक, महर्लोक, तपोलोक और सत्यलोकं गये। इस यात्रा में वे पहले राजा बने, फिर इन्द्र के पद को प्राप्त हुए और फिर ब्रह्मा के पद को। पर इन लोकों और पदों के वैभव को प्राप्त करके भी उन्हें तृप्ति न हुई।

इसलिए ब्रह्मत्व त्यागकर वे पृथ्वी पर मथुरा लौटे। वहाँ गुरुदेव ने कहा– "वत्स! मैंने तुम्हें मन्त्र के रूप में अपना सर्वस्व दान कर दिया है। उसके प्रभाव से तुम सब कुछ जान जाओगे। और तुम्हारी सर्वार्थ सिद्धि होगी।" वे मन्त्र जप करते रहे। उसकें प्रभाव से उन्हें प्रतीत होने लगा कि उनका पाञ्चभौतिक देह एक अपार्थिव देह में परिणत हो गया है। तब वे मन्त्र के प्रभाव से उस अपार्थिव देह से क्रमशः शिवलोक, वैकुण्ठ, अयोध्या, द्वारका और गोलोक गये । गोलोक में उन्हें अपने इष्ट मदनगोपाल के दर्शन हुए और वे उनकी नित्यलीला में प्रवेश कर गये ।

इस आध्यात्मिक आख्यामिका के माध्यम से सनातन गोस्वामी ने इन सभी लोकों का सुन्दर चित्रांकन किया है,उन भगवत्–स्वरूपों का वर्णन किया है, जो इनका संचालन और शासन करते हैं और उस सुख का वर्णन किया है, जो उनके सान्निध्य में उनके भक्तों को मिलता है। यह सभी लोक बहुत आकर्षक होते हुए भी गोपकुमार की आत्मा को सन्तुष्ट नहीं करते। वे निरन्तर अपने मन्त्र का जप करते रहते हैं और जिस लोक में जाते हैं, उसमें प्रकट भगवद्स्वरुप से मदनगोपाल की कृपा और गोलोक प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं।

वृहद्भावतामृत का महत्व बंगाल के श्रीअतुलकृष्ण गोस्वामी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :"वैष्णवधर्म का मर्म जानने के लिए साधन–भजन के सुगम सोपान का अबलम्न करने के लिए, विविध लोकों और विविध अवतारों का तत्व जानने के लिए, और श्रीराधाकृष्ण के पादपद्म की प्राप्ति कराने के लिए यदि कोई चोटी का ग्रन्थ है तो वृहद्भागवतामृत है।....... .... सरल कहानी के माध्यम से सभी सिद्धान्तों की अभिज्ञता उत्पन्न करने वाला, एक शब्द में, अति सहज रुप से जिससे मानव–जन्म सफल हो सके ऐसा उपाय बतानेवाला और कोई ग्रन्थ नहीं है।"[1]

ग्रन्थ में कुछ जटिल और दुर्बोध विषयों को सरल करने के लिए सनातन गोस्वामी ने स्वयं ही 'दिग्दर्शिनी' नाम की इसकी विस्तृत टीका लिखकर इसकी उपादेयता और बढ़ा दी है।

---

१. श्री सतीशचन्द्र मित्र द्वारा श्रीजयगोविन्ददास के वृहद्भागवतामृत के बंगला पद्मानुवाद में श्री अतुलचन्द्र गोस्वामी के सम्पादकीय लेख से उद्धृत (सप्त गोस्वामी, पृ० १२५)

वृहद्भागवतामृत द्वारा प्रतिपादित सनातन गोस्वामी का भक्ति-सिद्धान्त

भगवत्ता का सार माधुर्य

वृहद्भागवतामृत का मूल उद्देश्य है दो गूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन करना। एक तो यह कि भगवान् को अपने पूर्णतम रूप में अपनी भगवत्ता का ज्ञान नहीं है। वे जैसे अपनी भगवत्ता को बिलकुल भूले हुए हैं। उन्हें अभिमान है अपने गोपवेश-मोरपिच्छ-बंसीधारी-लीला-कौतुक-प्रिय, नीलकान्ति, युक्त नवकिशोर, नटवर गोपाल होने का। वे मधुर से भी मधुर हैं। उनका रूप-रंग बोलना-चालना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, नाचना-गाना, खेलकूद और हास-परिहास सभी कुछ अति मधुर है। माधुर्य ही उनकी भगवत्ता का सार है।

जिस भगवत् स्वरूप में माधुर्य का जितना विकास है, उसमें उतना ही ऐश्वर्य का प्रकाश कम है। उनके इस पूर्णतम रूप में माधुर्य का पूर्णतम विकास है। इसलिये इस रूप में यद्यपि उनके ऐश्वर्य का भी पूर्णतम विकास है, ऐश्वर्य माधुर्य से पूर्णतः आच्छादित है। उसका उन्हें किंचित भी ज्ञान नहीं। वे साधारण गोप बालकों के साथ उन्हीं की तरह खेलते हैं, उन्हें अपने कन्धे चढ़ाते हैं, उनके कन्धे चढ़ते हैं, उनका जूठा खाते हैं, उन्हें अपना जूठा खिलाते हैं। साधारण बालकों की तरह ही नन्दबाबा की पादुका अपने सिर पर उठाकर ले जाते हैं, माँ यशोदा द्वारा ताड़ित होनेपर भय खाते हैं, रो देते हैं। यह सब उनका नाटक बिलकुल नहीं होता। नाटक होता, यदि उन्हें अपनी भगवत्ता का ज्ञान रहता। यदि नाटक होता तो उन्हें वह रसानुभूति भी न होती, जिसका इन मधुर लीलाओंके माध्यमसे आस्वादनकर वे श्रुतिके "रसो वै सः" वाक्य को सार्थक करते हुए अपने अखिलरसामृत-मूर्ति रूपका परिचय देते हैं।

भगवान का भक्तवात्सल्य

दूसरा रहस्य, जिसका सनातन गोस्वामी ने उद्घाटन किया है, यह है कि भगवान् सब प्रकार से पूर्ण, आत्माराम, आंप्तकाम होते हुए भी अपने भक्तों का प्रेम रस आस्वादन करने के लिए सदा उत्कंठित हैं, लालायित हैं। उन्हें अपने स्वरूपानन्द से भी भक्तों की सेवा से उत्पन्न आनन्द का लोभ अधिक है। आत्मानन्द से प्रेमानन्द कोटिगुना अधिक आस्वाद्य हैं। प्रेमका स्वभाव हैं अतृप्ति। प्रेम जितना अधिक होता है, उतना ही उसकी कमी का अनुभव होता है, उतना ही उसकी भूख और अधिक होती है। भगवान् का प्रेम अनन्त हैं। इसलिए उनकी प्रेमकी भूख भी अनन्त है। अनन्त कोटि भक्तों के प्रेम का आस्वादन करके भी वे अतृप्त हैं। इसलिए अनन्तकोटि जीव, जो उनसे विमुख हैं, उनके उन्मुख होनेपर

उनके प्रेमका सुख आस्वादन करने की आशासे उनका हृदय सदा उद्वेलित है। जीव उनका भजन नहीं करते, तो भी वे उनका भजन करते हैं, उन्हें किसी प्रकार अपनी ओर उन्मुख करने के लिए यत्नशील रहते हैं।[1] वृहद्भागवतामृत में वैकुण्ठाधिपति श्रीनारायण की गोपकुमारके प्रति उक्ति से इस रहस्य का उद्घाटन भली प्रकार होता है। गोपकुमारके वैकुण्ठ में प्रवेश करने पर उन्होंने भावगद्गद् कण्ठ से उनसे कहा–"वत्स! स्वागत है! स्वागत है! मैं चिरकाल से तुम्हारे दर्शनके लिए उत्कंठित था। बड़े सौभाग्य की बात है जो आज तुम्हारे दर्शन हुए। तुमने बहुत जन्म व्यतीत किये, पर किंचिन्मात्र भी मेरी ओर उन्मुख न हुए। तुम्हारी उपेक्षा देख मैं बहुत दुःखी हुआ। इसलिए अपने ही बनाये मर्यादा–मार्गका लंघन कर तुम्हें गोवर्धन में जन्म दिया ओर स्वयं जयन्त नाम के तुम्हारे गुरु रूप में अवतीर्ण हुआ। तब यह आशा बंधी कि इस बार अवश्य तुम मेरी ओर अग्रसर होगे। इस आशा को हृदय में धारणकर मैं अनवरत आनन्द से नृत्य करता रहा हूँ। तुमने मेरी आशा सफल की। अब स्थिरं रूपसे यहाँ रहकर मुझे सुखी करो और तुम भी सुखी हो।" (वृ० भा० २/४/८१-८७)।।

यह हैं वैकुण्ठाधीश्वर श्रीनारायणके गोपकुमारके प्रति प्रेमोद्गार। पर नारायण में ऐश्वर्यकी प्रधानता है। उनका माधुर्य ऐश्वर्य से आच्छादित है। अयोध्यापति राम, द्वारकाधीश श्रीकृष्ण और वृन्दावन बिहारी श्रीकृष्ण में क्रमशः माधुर्य का अधिक विकास हैं। माधुर्य का सार है प्रेम। इसलिए उनमें प्रेम और भक्त–वत्सलता का भी क्रमशः अधिक विकास है। वृन्दावन बिहारी, मोरपिच्छ–वंशीधारी श्रीकृष्ण में माधुर्य की पराकाष्ठा हैं। इसलिए उनमें भक्तवत्सलता की भी पराकाष्ठा हैं।

भगवत्–स्वरूपों में माधुर्य और भक्तवात्सल्य का क्रमिक विकास

सनातन गोस्वामी ने वृहद्भागवतामृत में विभिन्न भगवद्स्वरूपों में माधुर्य के क्रमिक विकास के अनुसार भक्तवात्सल्य के विकास का चित्रण बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

गोपकुमार सख्यभाव के उपासक थे। दशाक्षर मन्त्रराज का वे सदा जप करते रहते थे। उसके प्रभावसे इष्ट के प्रति भय, सम्भ्रम, गौरवादि उनमें बिल्कुल नहीं रह गया था। इसलिए जब वे वैकुण्ठ में नारायण के निकट पहुँचे तो उन्हें देखते ही प्रेमावेश में उन्हें आलिंगन करने को उनके सिंहासन की ओर दौड़े। उनके पार्षदों ने ऐसा करने से उन्हें रोका, क्योकि ऐसा करना वैकुण्ठनाथकी मर्यादा और गौरवके विरुद्ध

1. गीताके "ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्" वाक्य का आशय कुछ लोग यह समझते हैं कि भगवान् उन्हीं का भजन करते हैं, जो उनका भजन करते हैं। पर सनातन गोस्वामी ने इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि वे अपने स्वाभाव से उनका भी भजन करने को, (उनकी चिंता करने को) बाध्य हैं; जो उनका भजन नहीं करते।

था।

वैकुण्ठनाथ उन्हें प्राप्त कर बहुत प्रसन्न हुए, बचनोंसे उनका सत्कार किया। पर ऐसा कोई व्यवहार नहीं किया, जो गोपकुमार को सम्भ्रम–संकोच– रहित मनोवृत्ति के अनुकूल हो। जब उनके भोजनका समय आया, उनके पार्षदों ने महालक्ष्मी के इंगितपर उन्हें कौशलपूर्वक अन्तःपुर से बाहर कर दिया।

जब वे अयोध्या पहुँचे और श्रीरामचन्द्र के दर्शन किये तो उन्होंने स्वयं उनसे गौरव–बुद्धि त्याग देने को कहा और बोले–"हे सुहृत्तम्! तुम मेरे प्रति स्नेह से प्रेरित हो यहाँ चले आये हो। कुछ देर विश्राम करो, प्राणामादि करने का कष्ट न करो। तुम्हारा कष्ट देखकर मुझे भी कष्ट होता है, क्योंकि तुम मेरे चिरबन्धु हो। मैं तुम्हारे प्रेमके सदा अधीन हूँ।"

गोपकुमार उनके वचनोंसे परमसंतुष्ट हुए। पर वे पूर्वाभ्यास और दशाक्षर मन्त्र–जपके प्रभाव के कारण रामचन्द्र में मदनगोपालके रूपगुणादि का आरोप करते और तदनुरूप उनके आलिंगन–चुम्बनादि सहित प्रेमपूर्ण व्यवहार की आशा करते। उन्हें जब उनकी इस प्रकार की लीला–माधुर्य और कृपा का अनुभव न होता, तब वे शोकातुर हो पड़ते। यह देख रामचन्द्रने द्वारकापुरी को उनके भावके अधिक उपयुक्त जान उन्हें वहाँ भेज दिया।

द्वारकापुरीमें गोपकुमार राज–राजेश्वर के वेशमें अपने इष्ट श्रीकृष्णकी रूपमाधुरी के दर्शन कर आनन्द–समुद्र में डूब गये। क्षण भर में उन्हें मूर्छा आ गयी। उद्धवजीने यत्नपूर्वक उन्हें सचेत किया। फिर भी वे प्रभु केदर्शन कर आनन्दातिरेक के कारण इतना विवश थे कि उनकी स्तुति आदि कुछ नहीं कर पा रहे थे। प्रभु स्वयं उन्हें अपने निकट ले आनेके लिए जैसे ही आगे बढ़े, उद्धवने उन्हें बलपूर्वक खींचकर उनका मस्तक उनके चरणों पर रख दिया। प्रभुने अपने हस्त कमल से उनका अंग मार्जन किया और कुशल–प्रश्न पूछे। फिर उनका हाथ पकड़कर अन्तःपुर में रोहिणी, देवकी माता और सोलह हजार आठ महिषियोंके बीच ले गये। वहाँ गोपकुमार की वंशी लेकर उन्होंने जैसे ही अपने हाथ में धारण की उनकी भावमुद्रा गोकुलके मदन गोपाल जैसी हो गयी। उनमें अपनी ध्यानध्येय मूर्ति के दर्शन कर गोपकुमार को फिर आनन्दमूर्छा आ गयी। तब द्वारकाधीश ने अपने हस्तकमल से उनका गात्र मार्जन किया। प्रबोध वाक्यों द्वारा उन्हें सचेत किया। फिर अपने हाथ से पहले उन्हें भोजन कराया, पीछे स्वयं भोजन किया।

गोपकुमार परमानन्दपूर्वक द्वारकापूरी में रहने लगे। यहाँ का आनन्द वैकुण्ठ और अयोध्या के आनन्द से भी कोटिगुना श्रेष्ठ था। विशेष

रूप से. यहाँ वे अपने इष्टदेव श्रीव्रजेन्द्र कुमारकी अनुपम रूप माधुरी के दर्शन कर, अपने प्रति सौहार्दपूर्ण व्यवहार को देखकर और उनके अमृतमय, करुणापूर्ण वचनों को सुनकर जिस सुख का अनुभव करते उसकी तुलना नहीं की जा सकती। फ़िर भी उनपर एक अनिर्वचनीय उदासी छायी रहती।उनके मुखारविन्दपर अतृप्ति के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते। कारण यह था कि द्वारका में उनके इष्ट का सान्निध्य और उनका प्रेमपूर्ण व्यवहार था, तो भी वे राजैश्वर्य की मर्यादा से बंधे हुए थे। यहाँ न तो उनके साथ गोचारण और खेल–कूद आदि का अवसर था, न व्रजका आलिंगन–चुम्बन आदि का उन्मुक्त वातावरण, जिसकी उन्हें ध्यान में स्फूर्ति हुआ करती।

एक दिन नारद मुनि ने उनकी अवस्था जानकर उपदेश किया–"तुम्हारी पूर्ण तृप्ति गोलोक में ही सम्भव है। तुम व्रजभूमिमें जाकर स्मरण–कीर्तनादि साधन द्वारा गोलोक प्राप्ति का उद्योग करो। वहीं तुम्हारा साधन सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकेगा, क्योंकि वह पृथ्वीपर स्थित होते हए भी वैकुण्ठ के ऊपर स्थित गोलोकसे अभिन्न है। द्वारकानाथ तुम्हारी अवस्था से अवगत है। वे स्वयं तुम्हें वहाँ पहुँचा देंगे।"

नारद मुनि के वचनामृत सुन गोपकुमार मोहदशाको प्राप्त हुए उनके नेत्र मुद्रित हो गये। उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें कोई कहीं ले जा रहा है। कुछ देर में नेत्र खोले तो देखा कि वे गोलोक में उपस्थित हैं।

गोलोक में गोलोक–स्थित मथुरा–वृन्दावनमें श्रीकृष्णका अन्वेषण करते हुए वे गोपराज नन्दकी पुरी पहुँचे। श्रीकृष्ण उस समय गोचारण को गये हुए थे। इसलिए संध्या समय वे जमुना के किनारे उनके आगमन–पथ पर जा खड़े हए और उत्कण्ठा सहित उस ओर दृष्टि लगाए खड़े रहे, जिस ओर से नन्दनन्दन आने वाले थे। थोड़ी देर में गायों का हम्बारव और प्राण–आकर्षिणी मुरलीकी मधुर ध्वनि सुनाई दी। एक स्निग्ध श्यामल कान्तिसे दसों दिशाये उज्ज्वल हो गयी। मनोरम अंग–गन्धने वातावरण को उन्मत्त कर दिया। फिर एक ही क्षण में वन्य–वेष में मोरमुकुट–बंसीधारी श्रीकृष्ण के मृदुमन्द–हास्ययुक्त प्रफुल्ल मुख कमल की अपूर्व सौन्दर्यराशि के दर्शन कर वे मोह दशा को प्राप्त हुए। श्रीकृष्णने उन्हें देख श्रीदाम से कहा–"वह देख! मेरा प्यारा सखा आ गया," और कहते–कहते उनकी ओर दौड़ पड़े।

गोपकुमार को जब चेतना आई तो उन्होंने देखा कि नन्दनन्दन के साथ वे भूमिपर पड़े हैं। नन्दनन्दन प्रेम के आवेश में उन्हें अपने बाहुपाश में कसे हुए मूर्च्छित अवस्था को प्राप्त हो गये है। उनके दोनों नेत्रोंसे प्रवाहित अश्रुधारा के वेग से रजोमय पथ पंकिल हो गया हैं। गोपियाँ उन्हें देखकर लज्जाहीन हो रोदन करती हुई कह रही हैं–"हाय! हमारे प्राणनाथको

यह क्या हुआ? क्या यह व्यक्ति कंसका कोई मायावी अनुचर है, जिसके आते ही उनकी ऐसी दशा हो गयी?" कृष्ण के साथी गोपगण भी उच्च स्वर से रोदन कर रहे हैं। उस क्रन्दनध्वनि को दूर से सुन नन्दादि गोपगण और पुत्रवत्सला यशोदा आदि वृद्धा गोपियाँ भी वहाँ आ गये हैं और कृष्ण को मूर्च्छित देख हा–हा खा रहे है। पशुगण कतरतासूचक शब्द करते–करते उनके निकट आकर उनके श्रीअंग को सूंघ–सूंघकर उसे चाट रहे हैं। पक्षी उनके ऊपर आकाश में मँडराते हुए शोक–सूचक कोलाहल कर रहे हैं।

गोपकुमार मर्माहत और किंकर्तव्यविमूढ़से यत्नपूर्वक श्रीकृष्णके बाहुपाश से अपने को मुक्त करते हुए उठे और उनके चरण युगल मस्तक पर धारण कर बहुत–कुछ विलाप करते हुए रोदन करने लगे। इतने में बलराम आये पीछे से भागते हुए। उन्हें गोपकुमार को देख श्रीकृष्ण को मूर्च्छा का रहस्य समझने में देर न लगी। उन्होंने गोपकुमार की बाँह श्रीकृष्ण के गले में डाल दी, उनके हाथ से श्रीकृष्ण के अंग का मार्जन करवाया, और दीन वाक्यो द्वारा उच्च स्वर से उन्हें बुलवाते हुए भूमि से उठवाया। तब उनके नेत्रों को, जो अश्रुधार के कारण मुद्रित हो रहे थे, खुलवाया। सखा के हाथ के स्पर्श से उन्हें कुछ बाह्य ज्ञान हुआ। विकसित नेत्रोंसे उन्हें देखते ही उन्होंने उनका आलिंगन–चुम्बन किया। जैसे बहुत दिनों के बिछुड़े अपने प्राणप्रिय सखा को प्राप्त कर कोई परमानन्दित होता है, उस प्रकार परमानन्दित हो अपने बायें हस्त कमल से उनका दाहिना हाथ पकड़ कर उनसे बहुत–से कुशल–प्रश्न किये।

तब झूमते–झूमते उनके साथ पुर में प्रवेश किया। गोदोहन के पश्चात् अन्तःपुरमें उन्हें ले जा कर माता यशोदा की बन्दना करवाई। यशोदा माँ ने उनके प्रति कृष्ण का अतिशय प्रेम देख उनका भी अपने पुत्र के समान लालन –पालन किया।

स्नानादि कर कृष्ण ने नन्दबाबा और बलराम के साथ भोजन गृह में प्रवेश किया। श्रीनन्द कनकासन पर विराजमान हुए। श्रीकृष्ण उनके बाईं ओर बैठे, बलराम दाईं ओर। गोपकुमार को श्रीकृष्ण ने आग्रहपूर्वक सामने बैठाया। यशोदा माँ ने परिवेशन प्रारम्भ किया। उसी समय ब्रजसुन्दरियाँ अपने–अपने घर से नाना प्रकार की भोज्य सामग्री लेकर आयीं। श्रीकृष्णने प्रशंसा सहित उन्हें आरोगा और अपने हाथ से गोपकुमार को खिलाया। जब श्रीराधा द्वारा लाये गये लड्डू उनके सामने रखे गये, तो उनका एक कण जिह्वा से स्पर्श करते ही उन्होंने राधा की ओर देखते हुए ऐसा मुंह बनाया जैसे वह नीमकी तरह कड़वा हो और यह कहते हुए कि 'हे राधे! यह लड्डू तुम्हारे वंश में ज्ञात इस व्यक्ति के ही योग्य हैं' गोपकुमार को

उन्हें दे दिया। इस परिहास के छलसे उन्होंने गोपकुमारको वह वस्तु प्रदान की जिससे अधिक और कुछ देने को उनके पास न था।

गोलोक में गोपकुमार को अभीष्ट फल की पूर्ण रूप से प्राप्ति हुई। वे नित्य वहाँ रहकर युंगल की नित्य नयी रूप–माधुरी, नित्य नयी लीला–माधुरी और उनकी प्रेम–सेवाके अनिर्वचनीय रसका आस्वादन करने लगे।

साध्य भगवान् नहीं, भगवत्प्रेम है

वृहद्भागवतामृत की आख्यायिका के बीच में गोपकुमार को समय–समय पर दिये गये नारदादि के उपदेशों के माध्यम से सनातन गोस्वामी ने साध्य– साधन–तत्व का भी निरूपण किया है।

साध्य मुक्ति नहीं, भगवान् भी नहीं, भगवत्प्रेम है। प्रेम प्राप्त हो जाने पर भगवान् स्वयं भक्त से वशीभूत हो जाते हैं और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में उसका तुच्छ भाव हो जाता है (२/७/१०६)।

मुक्ति–सुख भक्ति–सुखका विरोधी हैं, क्योंकि मुक्ति–सुख सीमित और तृप्तिजनक है। भक्तिसुख असीम है, सदा वर्धनशील हैं, क्योकि भगवान् का स्वरूप सदा एक होते हुए भी नित्य नवीन है वे नित्य नयी रूप–माधुरी और नयी–नय़ी लीलाओ को प्रकट कर भक्तों को सुखी करते है। यही भक्तों के प्रति उनकी करुणा की पराकाष्ठा है (२/२/२१७-२१९)।

मुक्ति की अवस्था में आत्माराम मुनियों को केवल एक ही सुख का अनुभव होता है। मनकी वृत्ति के अभाव के कारण उसका विस्तार सम्भव नहीं होता। वह उत्कण्ठा–रहित और शून्य–सा प्रतीत होता हैं। भक्तों में वही सुख मनकी वृत्तिके कारण कई गुना अधिक हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार आकाश स्थित सूर्य का प्रकाश स्फटिक मणि पर पड़ने से कई गुना अधिक हो जाता है (२/२/२१५)।

मुक्ति भक्ति का गौण फल है, पर आत्मारामता भक्ति का गौण फल भी नहीं है। आत्मारामता प्रेम की विरोधी है, क्योंकि इससे उत्कण्ठा का नाश होता है। प्रेम का स्वरूप ही है सदा अतृप्त रहना अर्थात् आत्मारामताका न होना। आत्मारामता का न होना भक्ति का दूषण नहीं, भूषण है।(२/२/२०९-२११)

नारद मुनिने भगवान् से वर मांगा कि भक्ति या प्रेम में किसी को कभी तृप्ति न हो, तो भगवान् ने उत्तर दिया–"यह तो मेरी भक्ति का स्वभाव ही है। आपने क्या मेरे किसी भक्त को कभी तृप्त देखा है?"(१/७/१३५-१३९)

प्रेम-प्राप्ति का साधन

प्रेम–प्राप्ति का मुख्य कारण श्रीकृष्ण की कृपा हैं। किसी–किसी पर यह कृपा अकस्मात् हो जाती है; कोई इसे साधन द्वारा क्रमसे लाभ करते है, जैंसे कोई उदार दाता किसी की बना हुआ भोजन दानं कर देता है, किसी को सीधा दे देता है, जिससे उसे भोजन स्वयं तैयार करना पड़ता है (२/५/२१५-२१६)।

प्रेम–प्राप्तिके साधकको पहले उसे भय को दूर कर देना चाहिए, जो उसे श्रीकृष्ण को ईश्वर जानने के कारण लगता है। उसे श्रीकृष्ण में बन्धु– भाव रखना चाहिए। उनसे दास, सखा, माता–पिता या कान्ताका लौकिक नाता जोड़कर उस भाव के व्रज गोप–गोपी के आनुगत्य में भजन करना चाहिए। भजन नवधा–भक्ति के अनुरूप होना चाहिए। उसमें श्रीकृष्ण की व्रज–लीलाओं का ध्यान–गान और उसमें भी प्रभुका नाम–संकीर्तन मुख्य होना चाहिए। यह साधन श्रीकृष्ण की प्रिय क्रीड़ाभूमि व्रजमें रहकर करना चाहिए, क्योंकि वहाँ रहकर करने से निश्चित रूप से प्रेम की प्राप्ति शीघ्र हो जाती हैं (२/५/२१५-२२०)।

कीर्तन–भक्ति स्मरण–भक्ति से श्रेष्ठ है, क्योकि स्मरण–भक्ति एकमात्र चंचल मन में ही प्रकाशित होती है और कीर्तन–भक्ति जिह्वा, कान तथा मन में प्रकाशित होती हैं और आस–पास रहने वाले दूसरे जीवों को भी प्रभावित करती है (२/३/१४८)। श्रीकृष्ण की प्रेमरूप सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए नाम–संकीर्तन ही बलवान तथा श्रेष्ठ साधन है, क्योंकि यह आकर्षण–मन्त्रकी तरह श्रीकृष्ण को साधक के पास खींच लाने की सामर्थ्य रखता है (२/३/१६४)।

पर यदि ध्यान के प्रभावसे समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर मनकी वृत्ति में प्रकाशित हो जायें, अर्थात् ध्यान अवस्था में श्रवण–कीर्तन–दर्शन आदि मनमें बाहर की तरह प्रकाश पाने लगें, तो इस प्रकार का ध्यान बाह्य कीर्तनादि की अपेक्षा श्रेष्ठ है (२/३/१५१)।

वैसे कीर्तन और ध्यान को एक–दूसरे से बिल्कुल प्रथकं नहीं समझना चाहिए, क्योकि कीर्तन से ध्यानका सुख बढ़ता है, ध्यान से कीर्तनका (२/३/१५३)।

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि साधारण रूपसे कीर्तन को सब साधनों से श्रेष्ठ माना गया हैं, तो भी जिसकी जिस साधनमें सम्यक् प्रीति हो, जिससे उसे पूर्णरूप से सुख प्राप्त होता हो, उसके लिए वही साधन सर्वश्रेष्ठ हैं। उसे उसीका अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि उसके लिए वह साधन फलरूपी ही है (२/३/१५२)।

इसका यह अर्थ नहीं कि निष्काम भक्तिके अनुष्ठानों के अतिरिक्त कर्म, ज्ञानादि और किसी साधन से प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। कर्म, ज्ञानादि साधनों की प्राप्ति और निष्काम भक्तिकी प्राप्तिमें बहुत अन्तर है।

सकाम पुण्यकर्म करनेवाले गृहस्थियों को भूः, भुवः, स्वः इन तीनों लोकों की प्राप्ति होती है। निष्काम–कर्म करने वाले गृहस्थी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासियों को, इनसे ऊपर महः जनः, तपं, सत्यं इन चार लोकों की प्रांप्ति होती है। भोग समाप्त होने पर यह सब फिर भूमण्डल पर आकर जन्म ग्रहण करते हैं। जो महर्लोकादिकों को प्राप्त होते हैं, उनमें से कोई–कोई ब्रह्माजी के साथ मुक्त हो जाते हैं। जो भगवान् के सकाम भक्त हैं वे अपनी इच्छा से सब सुख भागों को भोगते हुए, विशुद्ध होकर भगवद्धाम को प्राप्त होते हैं। पर जो भगवान् के निष्काम भक्त हैं, वे तत्क्षण उस वैकुण्ठ को प्राप्त होते हैं, जो सच्चिदानन्द–स्वरूप हैं, और मुक्त पुरुषों को भी दुर्लभ है। (२/१/१०-१५)

निष्काम भक्ति कर्म–ज्ञानादिके संस्पर्शसे मुक्त होनी चाहिए, क्योंकि कर्म से भक्ति में विक्षेप होता हैं, वैराग्य से उसका रस सूख जाता है और ज्ञानसे वह नष्ट हो जाती है। इन तीनों से दूर हो जाना ही भक्ति की प्रथम कक्षा है (२/२/२०५)।



श्री रूप गोस्वामी

श्रावण की अंधेरी रात है। बहुत देर से घनघोर वृष्टि हो रही है। अभी कुछ धीमी पड़ी है। पर तूफानी हवा अभी भी सायं–सायं कर रही है। कभी बादलों की गड़गड़ाहट दिशाओं को विकम्पित कर जाती है, कभी श्मशान–सी खामोशी छा जाती है। रामकेलि ग्रामसे हुसेनशाह की राजधानी गौड़ शहर जाने का पथ पिच्छिल है, कहीं–कहीं घोंटूतक जल है। जब बिजली कौंधती है, तब किंखावसे मंडित एक पालकी और उसे ले जा रहे वाहकों की जरींदार वर्दियों की एक झलक दीख जाती है।

पालकी के भीतर मखमली मसनदके सहारे, मुँह में फरसी हुक्केकी नल की दबाये चिंतित बैठे हैं हुसेनशाह के राजस्व–मन्त्री सन्तोष देव। बादशाहने किसी जरूरी कामसे उन्हें तलब किया है। हुक्केकी गड़गड़ाहट के बीच अम्बूरी तम्बाकूका खुशबूदार धुआँ उड़ाते हुए वे सोचते जा रहे है कि उनके असमय तलब किये जाने का क्या कारण हो सकता है।

तूफ़ान के कारण वृक्षों के गिर जाने से राजपथ अविरुद्ध है। इसलिए पालकी वाहक राजपथ छोड़ पालकी उधर से ले जा रहे हैं जिधर एक धोबी की झोपड़ी है। झोंपड़ी के भीतर से उनके पानी में छप–छप कर चलने का शब्द सुनाई पड़ रहा है।

उसे सुन धोबी कहता है धोबिन से–"कौन है जो इस तूफानी रात में छप–छप करता चला जा रहा है?"

उत्तर में धोबिन कहती है–"कौन होगा? होगा कोई कुत्ता, या चोर या राजाका कोई गुलाम। और किस की शामत आयी है जो ऐसे में बाहर निकलेगा?

धोबिन की उक्ति सन्तोष देव के कर्णद्वार से होकर जा टकराई उनके मर्मस्थल से। हुक्केकी निगाली उनके हाथ से छूट गई। मसनदका सहारा छोड़ वे तन कर बैठ गये, सोते से जगा दिये गये से और लगे सोचने–"कुत्ता, चोर और राजा का गुलाम, सब एक समान! हाँ, ठीक ही तो है। बात एक निरक्षर स्त्री के कण्ठ की है, पर तथ्यपूर्ण है। गुलाम तो गुलाम, राजाका हो या उसकी किसी प्रजाका। पिंजड़ा तो पिंजड़ा, सोने का हो या लोहे का। गुलाम और कुत्ते में भेद ही क्या है" गुलाम कुत्ते की ही तरह मालिकका मुँह निहारा करता है और उसके इशारे पर नाचा करता है। चोर और गुलाम में भी क्या भेद है? चोर जिस तरह दूसरे की वस्तुएँ चुराकर बेच देता है और इस प्रकार कमाये हुए धन का स्वयं

भोग करता है, गुलाम भी उसी तरह दुर्लभ मनुष्य–जीवन को, जो प्रभुने उसे अपनी सेवा के लिए दिया है, दूसरे के हाथ बेच उससे कमाये धनका स्वयं भोग करता है।"

"दासत्व की जंजीरसे मुक्ति पानेके लिए मैं सारा जीवन छटपटाता रहा हूँ। पर जंजीर तोड़ फेंकने के बजाय उसे और पुष्ट ही करता रहा हूँ। विषय, वैभव, मान–सम्मान जितना कुछ अर्जित किया है, उससे इस सोने की जंजीर पर पालिश ही तो फिरा है, यह ढीली कब हुई है? बस अब हो ली बादशाह की गुलामी। अब नहीं चाहिए मुझे आत्माकी आँखों को झुलसा देने वाली विषय–वैभव की चकाचौंध। यह कोई साधारण स्त्री का कण्ठ नहीं, जिसके स्वर की गूंज ने मेरे हृदय में एक अपूर्व आलोड़न की सृष्टि की हैं। यह साक्षात् योगमाया की पुकार है। मुझे अब मन्त्रीपद का त्याग कर, अपरिमित मान–सम्मान, विषय–सम्पत्ति, स्वजन–परिजन सब कुछ को तिलांजलि देकर उस पथ का पथिक बनना है, जिससे श्रीकृष्ण और उनकी प्रेम–सेवा की प्राप्ति होती है।"

वंश परम्परा

संतोषदेव कौन थे? इनके पूर्वपुरुष दक्षिण भारत के वैदिक श्रेणी के ब्राह्मण थे। कर्नाट देशके किसी अंचल में उनका राज्य था। परवर्ती कालमें उनके वंशज श्रीपद्मनाभ गंगातीर पर वास करने के उद्देश्य से नवहट्ट (नैहाटी) चले गये थे। उनके पुत्र मुकुन्ददेव गौड़ के बादशाह के एक उच्च कर्मचारी थे, जो गौड़ देश की राजधानी गौड़ शहर के निकट रामकेलि में रहते थे। मुकुन्ददेव के पुत्र श्रीकुमार देव पूर्वबंग के बाक्ला चन्द्रद्वीप में जाकर रहने लगे थे। उनके कई पुत्र थे, जिनमें अमर, सन्तोष और वल्लभ मुख्य थे। उनकी अकाल मृत्यु के पश्चात् तीनों के पालन–पोषण का भार मुकुन्ददेव पर आ पड़ा।

शिक्षा

मुकुन्ददेव उन्हें रामकेलि ले गये। उनकी शिक्षा की उत्तम व्यवस्था की। रामकेलि में रामभद्र बाणीविलास को व्याकरण पढ़ाने के लिए नियुक्त किया। व्याकरण का पाठ समाप्त होने पर उन्हें नवद्वीप भेज दिया। वहाँ तीनों भाइयोंने सावभौम भट्टाचार्य और उनके छोटे भाई विद्यावाचस्पति[1] से न्याय आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। जब वे सभी शास्त्रों में व्युत्पन्न हो गये मुकुन्ददेव ने उन्हें राजकार्य के योग्य बनाने के लिए अरबी और

---

१ डा० जाना : वृन्दावनेर छय गोस्वामी, पृ० २४

फारसी की शिक्षा देना आवश्यक समझा। इन भाषाओं का अध्ययन करने के लिए उन्होंने उन्हें अपने मित्र सप्तग्राम के शासक सैयद फकरुद्दीन के पास भेज दिया। उनके तत्वावधान में उन्होंने वहाँ के मुल्लाओं की सहायता से इन भाषाओं पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया।

राजकार्य

अब तीनों भाई राजकार्य के लिए हर तरह से उपयुक्त थे। उनकी विद्वता और बुद्धिमत्ता की ख्याति चारों ओर फैलने लगी थी। उनके पितामह के कारण या उनकी अपनी योग्यता के कारण हुसेनशाह की दृष्टि भी उन पर पड़ी। उन्होंने पहले अमरदेव को और संताषदेव को किसी ऊँवे पद पर नियुक्त कर दिया। दोनों ने अपनी विलक्षणता का परिचय दिया। कुछ ही दिनों में उन्नति कर अमरदेव ने प्रधान–मन्त्री और सन्तोष ने राजस्व–मन्त्री का पद ग्रहण किया।

दोनों की कार्यदक्षता से प्रसन्न हो हुसेनशाह ने अमर देव को 'साकर–मल्लिक' और सन्तोष को 'दबीर खास' की उपाधि दी।

राजकार्य करते समय सन्तोष अमरदेव की तरह मुसलमानी पोषाक पहनते, मुसलमानी तौर–तरीके और अदब–कायदे का पालन करते और फारसी भाषा बोलते। उन्हें देख किसी को यह अनुमान करना कठिन होता, कि वे धर्मनिष्ठ हिन्दू हैं। पर जब वे रामकेलि में अपने घर पर होते, तब अमरदेव की ही तरह वैष्णवोचित सदाचार का पालन करते, साधुसंग, शास्त्र–चर्चा, श्रीविग्रह–सेवादि करते और समय–समय पर वृन्दावन लीला का अनुष्ठान करते। वृन्दावन–लीलासे सम्बन्धित उनके द्वारा बनवाये श्यामकुण्ड, राधाकुण्ड, ललिताकुण्ड, विशाखाकुण्ड आदि सरोवर वहाँ आज भी वर्तमान हैं। इसलिए रामकेलि का एक नाम कृष्णकेलि भी है।

गृह-त्याग : विषय और विधर्मी राजा की सेवा करते हुए सन्तोषदेव का इस प्रकार निरन्तृर नियमित रूपसे सेवा–पूजा, अर्चना और ध्यानादि में लगे रहना दुष्कर था। फिर भी वे यथा संभव अपने आत्मा को उसका स्वाभाविक आहार देने की चेष्टा करते रहते। इसमें जब बाधा पड़ती तो बेचैन हो उठते राजा और माया के दासत्व की बेड़ियाँ काट फेंकने के लिए। पर माया की बेड़ियों से छुटकारा पानां मनुष्य के अपने बस की बात तो है नहीं। प्रभु ने स्वयं ही कहा है कि इनसे छुटकारा पाने के लिए मेरे शरणापन्न होना आवश्यक है–

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

(गीता० ७/१४)

इसलिए उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु की शरण ली। उन्होंने और उनके अग्रज अमरदेव ने उन्हें पत्र लिखकर कातर भावसे माया के हाथ से अपने उद्धारकी प्रार्थना की। महाप्रभुने उत्तर में प्रतीक्षा करने का आदेश दिया। कुछ दिन बाद वे स्वयं आये रामकेलि दोनों से मिलने और उन्हें यह आश्वासन देकर चले गये कि उनका उद्धार शीघ्र होगा। उन्हें अपना कृपाभाजन बनाने के प्रमाण–स्वरूप अपनी ओर से नाम दे गये–सनातन और रूप। वल्लभका नाम रख गये–अनुपम।

सन्तोष देव अब सन्तोष देव न रहे। रूप गोस्वामी के रूपमें उनका नया जन्म हुआ और वैष्णव–समाज में वे इसी नामसे पुकारे जाने लगे। महाप्रभु के चले जाने के पश्चात् उन्होंने पुरश्चरण किया, जिससे चैतन्य–चरण की शीघ्र प्राप्ति हो। पर उनकी प्रतीक्षा की घड़ी अभी भी बीती नहीं थी। प्रतीक्षा करते–करते वे धैर्य खो चुके थे, जब उपरोक्त किंवदंती के अनुसार धोबिन के शब्द उनके कान में पड़े। उन्हें महाप्रभु की प्रेरणा से योगमाया की पुकार जान, उन्होंने उसी क्षण गृह त्याग करने का निश्चय कर लिया।

बादशाह से मिलकर और उनकी समस्या का समाधान कर वे जब घर लौटे, तब भी धोबिन के शब्द उनके कानमें गूंज रहे थे। सनातन गोस्वामी से उन्होंने जाते ही कहा–"मेरे लिए महाप्रभु की पुकार पड़ चुकी है। अब मैं और विलम्ब न करूँगा। मुझे संसार त्यागकर सदाके लिए उनकी शरणमें जाने की अनुमति प्रदान करें।"

सनातन सुन कर अवाक्! रूप गोस्वामी से घटना का सारा विवरण सुनने के पश्चात् वे बोले–"तुम्हारा संकल्प शुभ हैं। पर संसार का त्याग मुझे भी तो करना है। जितनी जल्दी हम दोनों इस नरक से निकल जायें उतना अच्छा। मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। मैंने सोचा था कि मैं तुमसे पहले निकल जाऊँगा। मेरे पीछे समस्त आश्रितजनों की समुचित व्यवस्थाकर तुम भी चले आओगे। अभी तक मैं कभी का चला भी गया होता। पर महाप्रभु के आदेश के कारण किसी प्रकार रुक रहा था। अब यदि तुमने ऐसा संकल्प कर ही लिया है, तो पहले मुझे जाने दो।"

रूप गोस्वामी ने कहा–"मुझे इसमें कोई आपत्ति न होती। आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता ही नहीं हैं। मैं आपको अपना पारमार्थिक गुरु भी मानता हूँ। आपकी आज्ञाका सदा पालन करने को तत्पर रहता हूँ। पर आपके ऊपर राज्य का सर्वाधिक दायित्व है। बादशाह आपके ऊपर पूर्ण रूपसे निर्भर हैं। कोई भी कार्य आपसे परामर्श किये बिना नहीं करते। इस समय राज्य की स्थिति भी साधारण नहीं है। उड़ीसा से विवाद चल रहा है। किसी समय युद्ध छिड़ सकता है। इस समय यदि हम दोनों ही स्तीफा देकर

चले जायें तो बादशाह को शंका हो सकती है कि हमनें उड़ीसा के हिन्दू राजा के साथ मिलकर जान–बूझ कर उन्हें संकट में डालने का षड़यन्त्र किया है। तब वे हमारे और हमारे परिवार के लोगों पर अत्याचार कर सकते हैं औंर हमारी संसार त्याग करने की योजना खटाई में पंड़ सकती है। इसलिए यह अच्छा होगा कि मैं अकेला स्तीफा देकर जाऊँ। आप अवसर देखकर किसी समय पीछे आ जायें। रही परिवार और आश्रितजनों के भरण पोषण की व्यवस्था की बात, तो उसकी आप बिलकुल चिन्ता न करें। मैं जाने के पूर्व सब व्यवस्था कर जाऊँगा।"

सनातन गोस्वामी को सहमत होना पड़ा। दोनों ने मिलकर सारी योजना बना ली। उसके अनुसार रूप गोस्वामी ने स्तीफा दे दिया। आश्रितजनों में से कुछ को चन्द्रद्वीप और कुछ को फतेहाबाद भेज दिया। स्वयं अपनी अपरिमिति धन–सम्पत्ति लेकर नौका द्वारा फतेहाबाद चले गये (भ० र० १/६४८-६४९)। उसे अपने आश्रितजनों, और ब्राह्मण–वैष्णवों में बाँटकर उसका एक चौथाई आवश्यकता पड़ने पर राजदण्डादिके लिए विश्वस्त लोगों के पास और दस हजार रुपये एक बणिक के पास जमाकर दिये (चै० च० २/१९/६-९)।

इसी समय एक आदमी को भेजा नीलाचल चैतन्य महाप्रभुका पता करने। उसने लौटकर समाचार दिया कि प्रभु झाड़िखण्ड के पथ से वृन्दावन के लिए चल दिये हैं। उसी समय उन्होंने भी झाड़िखण्ड के रास्ते से अपनी वृन्दावन–यात्रा आरम्भ कर दी। साथ हो लिए उनके छोटे भाई अनुपम(वल्लभ)।

मार्ग में उन्हें संवाद मिला कि सनातन को हुसेनशाह ने कैद कर लिया है। उसी समय उन्होंने उन्हें एक गोपनीय पत्र द्वारा उस बणिक के पास रखे दस हजार रुपये घूस में देकर कैदखाने से मुक्ति लाभ करने का सुझाव दिया सुझाव कारगर सिद्ध हुआ।

प्रयाग में महाप्रभु से मिलन

प्रयाग पहुँच कर उन्होंने सुना कि महाप्रभु वृन्दावन से लौटकर यहाँ आये हुए है और इस समय बिन्दुमाधव–मन्दिर में दर्शन करने गये हैं। यह सुन उनके आनन्द की सीमा न रही। वे चल पड़े बिन्दुमाधव मन्दिरकी ओर। मन्दिर के निकट पहुँचते ही उन्होंने देखी भावविभोर अवस्था में नृत्य–कीर्तन करते महाप्रभु आनन्दघन मूर्ति और उन्हें घेर कर नृत्य–कीर्तन करते सहस्रों दर्शनार्थियों की भीड़।

भाव–विभोर अवस्था में नृत्य–कीर्तन करते महाप्रभु की अनुपम रूप माधुरी के दूर से दर्शन कर रूप भी भावाविष्ट हो गये और उनके नेत्रों

से बह चली प्रेमाश्रुओं की धारा। पर उस भीड़ में उनके सम्मुख होना तो सम्भव था नहीं। कुछ देर बाद वे उनसे जाकर मिले एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण के घर, जहाँ उनका उस दिन निमन्त्रण था। जैसे ही उन्होंने महाप्रभु को दण्डवत् की उन्होंने आनन्दोल्लसित हो उन्हें उठाकर आलिंगन करते हुए इतिहास–सम्मुचय का निम्न श्लोक पढ़ा–

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः स्वपचः प्रियः।
तस्तै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम॥

अर्थात् चतुर्वेदाध्यायी ब्राह्मणभी मेरा प्रिय नहीं है, यदि वह भक्तिशून्य है। भक्तिमान् पुरुष चाण्डाल भी है, तो मेरा प्रिय है। चाण्डाल होते हुए भी वह सत्पात्र है। उसी को दान करना चाहिए, उसी से ग्रहण करना चाहिए,उसी की मेरे समान पूजा करना चाहिए।

यह श्लोक पढ़ महाप्रभु ने दोनों के सिर पर अपना चरण स्थापित कर उन्हें आशीर्वाद दिया।

महाप्रभु का कृपा–आशीर्वाद प्राप्त कर श्रीरूप ने स्वयं रचित निम्न श्लोक द्वारा उनकी स्तुति की–

"नमो महावदान्याय कृष्णप्रेम प्रदायते।
कृष्णाय कृष्ण चैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः॥

–महावदान्य, कृष्ण–प्रेम–प्रदाता, कृष्ण–स्वरूप कृष्णचैतन्यनामा गौरांगरूपधारी प्रभु, तुम्हें नमस्कार करता हूँ।" (चै० च० २/१८/५०-५३)

महाप्रभु ने कहा–"आहा! कृष्ण की कैसी कृपा है तुम्हारे ऊपर, जो भव–कूप से तुम्हारा उद्धार किया। तुम दोनों कितने भाग्यशाली हो!"

तब रूप को निकट बैठाकर उन्होंने सनातन का समाचार पूछा। रूप ने कहा–"उन्हें हुसेनशाहने बन्दी कर रखा है। वे कारागार में है। आपकी कृपा हो तभी उनका उद्धार हो सकता है।"

महाप्रभु ने कहा–"सनातन का उद्धार हो चुका है। उनका शीघ्र मुझसे मिलन होगा।" (चै० च० २/१९/५६-५७)

उस दिन रूप और अनुपम ने उस दाक्षिणात्य ब्राह्मण घर ही अवस्थान किया। महाप्रभु के प्रसाद ग्रहण कर चुकने के बाद उनका अवशिष्ट ग्रहण किया।

महाप्रभु त्रिवेणी तीर पर एक भक्त के घर ठहरे थे। उन्ही के निकट एक कुटियामें यह दोनों भाई भी ठहर गये।

उस समय त्रिवेणी से कुछ दूर अड़ैल ग्राम में श्रीपाद वल्लभाचार्य रहते थे (चै० च० २/१२/६१)।[1] महाप्रभु के शुभागमन के विषय में सुनकर वे

1. D. C. Sen : Caitanya and His Age, p. 239; Caitanya and His Companions, p. 200f.

उन्हें सपार्षद निमन्त्रण करने आये। वे रूप की दिव्य कान्ति और उनके भावावेष को देख मुग्ध हो गये। महाप्रभुने जब उनका और अनुपम का परिचय दिया तो वे उन्हें प्रेमसे आलिंगन करने को अग्रसर हुए। दोनों भाई चकित हो पीछे खिसकते हुए बोले "नहीं, नहीं श्रीपाद, हमें स्पर्श न करें। कहाँ हम अस्पृश्य, पामर, कहाँ आप! हम आपके स्पर्श के योग्य नहीं।"

ऐश्वर्य और विलास के तुंग शिखर पर रहने के चिरअभ्यासी रूप का इस प्रकार दैन्य और वैराग्य देख महाप्रभु प्रसन्न हुए। वे दूर से ही यह देख तृप्ति पूर्वक मन्द–मन्द मुस्काते रहे और वल्लभाचार्य से बोले–"श्रीपाद, आप इन्हे स्पर्श न करें। ये अति हीन हैं। आप जैसे वैदिक, याज्ञिक और कुलीन व्यक्ति के स्पर्श करने योग्य नहीं।"

वल्लभाचार्य ने कहा–"पर इन्हें दोनों को मैं निरन्तर कृष्ण–नाम करते देख रहा हूँ। फिर ये हीन कैसे? ये तो सर्वोत्तम हैं।

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
ते पुस्तपस्ते जहुवुः सस्नूरार्या ब्रह्मानूचूर्नाम गृणन्ति ये ते।।

(चै० च० ३/३३/७)

–अहो! वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ हैं, जिसकी जिह्वा के अग्रभाग में आपका नाम (भगवन्नाम) विराजमान है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचार का पालन और वेदाध्ययन सब कुछ कर लिया।"

यह सुन महाप्रभु बहुत प्रसन्न हुए और प्रेमावेश में यह श्लोक पढ़ने लगे–

"भगवद्भक्ति हीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः।
अप्राण स्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम्।।
शुचिः सद्भक्तिदीप्ताग्निदग्ध दुर्जाति कल्मषः।
स्वपाकोऽपि बुधैः श्लाध्यो न वेदज्ञोऽपि नास्तिकः।।

(चै० च० २।१९।७४-७५ में उद्धत हरिभक्तिसुधोदयका ३।११-१२ श्लोक)

–सच्चरित्र और सद्भक्तिरूप दीप्ताग्नि द्वारा जिसका दुर्जातित्व–कल्मष दग्ध हो गया है, ऐसा चाण्डाल भी पण्डितों के सम्मान के योग्य है। भक्तिहीन व्यक्ति की सज्जाति और उसका शास्त्रज्ञान, जप, तपादि मृत देह के अलंकार के समान किसी काम के नहीं। वे केवल लोकरञ्जन के लिए हैं।"

वल्लभाचार्य महाप्रभु को नौका पर बिठाकर अपने घर ले गये।[1]

---

१. चै० च० २।१९।७७

वे उनके शरीर में श्रीकृष्ण के दर्शनकर कृतार्थ हुए।[1] उन्होंने उनका पादप्रक्षालन किया। वंशसहित उस जल को मस्तक पर धारण किया। भक्ति–पूर्वक धूप–दीपादि से उनका महापूजन किया। उन्हें अनिवेदित द्रव्य का भोजन करायां। भोजन के उपरान्त उन्हें शयन कराया और उनका पाद–सम्वाहन किया।[2]

महाप्रभु के आगमन का संवाद पाते ही असंख्य लोग उनके दर्शन को आने लगे। तब भीड़ के भय से नौका पर सवार हो वे त्रिवेणी के दशाश्वमेध घाट पर चले गये और वहाँ रूप और वल्लभ सहित एक निर्जन कुटी में रहने लगे।

महाप्रभु द्वारा प्रेमधर्म की शिक्षा

दस दिन वहाँ रहकर उन्होंने रूप को प्रेम धर्म के निगूढ़ तत्व की शिक्षा दी और व्रजरस की व्याख्या की। कविकर्णपूर के "चैतन्य चन्द्रोदय" नाटक और चैतन्य–चरितामृत में उस शिक्षा का विवरण है।

उन्होंने कहा–"रूप! भक्तिरस के लक्षाणादि सूत्र रुप में कहता हूँ। भक्तिरस–सिन्धु असीम और अतुल है। उसका बिन्दुमात्र तुम्हें आस्वादन कराता हूँ, सुनो। कोटि ज्ञानियों में कोई एक मुक्त होता है, कोटि मुक्तों में कोई एक कृष्ण–भक्त होता है। कृष्ण–भक्त पूर्णरूप से निष्काम होता है। कर्मी, ज्ञानी, योगी आदि पूर्णरूप से निष्काम नहीं होते। उनमें मोक्षादि की कामना रहती है। इसलिए कृष्ण–भक्त पूर्ण शान्त होता है। ज्ञानी, कर्मी आदि अशान्त होते हैं–

कृष्ण-भक्त निष्काम, अतएव शान्त।
भुक्ति-मुक्ति सिद्धिकामी, सकलि अशान्त।।

(चै० च० २।१९।१४९)

भक्ति–लता का बीज किसी भाग्यवान जीव को गुरु और कृष्ण के प्रसाद से प्राप्त होता है। तब वह माली बनकर अपने हृदय क्षेत्र में उसका रोपण करता है, श्रवण और कीर्तन के जल से उसका सिंचन करता है। इस प्रकार सींचे जाने पर लता वर्धित होती है। बढ़ते–बढ़ते विरजा, ब्रह्मलोक और वैकुण्ठ को भेदकर गोलोक–वृन्दावन में कृष्ण–चरण रूपी कल्पवृक्ष से जा लिपटती है। वहाँ उसमें प्रेमरूपी फूल उत्पन्न होता

---

१. "बंगदेश तें कृष्णचैतन्य वृन्दावन आवत अड़ेल में आपको निवास सुनिकें श्रीआचार्यजी के पास आये। तिनके शरीर में श्रीकृष्ण को निवास देखी आप श्रीआचार्य जीने तिनकों असमर्पित वस्तुमे सुँसामुग्री दे जिमाये।"-गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी-कृत श्रीआचार्यजी महाप्रभु (श्रीवल्लभाचार्यजी) की निज वार्ता, घरुवार्ता तथा चौरासी बैठकन की वार्ता, प्रकाशक एन० डी० मेहता की कम्पनी, कालबादेवी रोड, बम्बई। सं० १९५९, वार्ता प्रसंग ३४, पृ० ६८

२. चै० च० २।१९।८५-९०

है, जिसका आस्वादन कर माली धन्य होता है। पर यदि उसके बढ़ते–बढ़ते वैष्णव–अपराधीरूपी मत्त हाथी कहीं से आ जाए, तो उसे उखाड़ फेंकता है, या तोड़ डालता है। तोड़ने पर उसके पत्ते सूख जाते हैं। और यदि भक्ति – लता के साथ–साथ उसमें भुक्ति–मुक्ति–वांछा, निषिद्धाचार, जीव–हिंसा, लाभ–पूजा–प्रतिष्ठादि की उपशाखाएँ निकल आयें तो मूल शाखा बढ़ने नहीं पाती। इसलिए माली प्रारम्भ से ही इन उपशाखाओं को छाँट देता है। तभी मूल शाखा बढ़ती है, क्योंकि अन्य सभी वांछाओं, देवताओं और कर्म–ज्ञानादि का परित्यागकर सर्वेन्द्रियों से कृष्णानुशीलन या कृष्ण–सेवा करने का नाम ही शुद्धा भक्ति है–

अन्य वांछा, अन्य पूजा छाड़ि ज्ञान-कर्म।
आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन।।

(चै० च० २।१९।१६९)

श्रीमद्भागवत और पञ्चरात्र में शुद्धा–भक्ति का इसी प्रकार वर्णन है–

सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश-सेवनं भक्तिरुच्यते।।

(नारद–पञ्चरात्र)

भुक्ति–मुक्ति की वांछा रहते साधना करने से भी प्रेम का उदय नहीं होता–,

भुक्ति-मुक्ति आदि-वांछा यदि मने हय।
साधन करिले प्रेम उत्पन्न ना हय।।

(चै० च० २।१९।१७५)

शुद्धा भक्ति की साधना से रति का उदय होता है। रति गाढ़ होने से प्रेम होता है। प्रेम क्रमशः वृद्धि प्राप्तकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव में परिणत होता है।

कृष्ण–भक्तिरस पाँच प्रकार का है–शान्त, दास्य, संख्य, वात्सल्य और मधुर। ये मुख्य भक्ति–रस हैं, जो स्थायी रुप से भक्त के हृदय में रहते हैं। हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, वीभत्स और भय सांत गौण रस हैं, जो कारण विशेष से आगन्तुक रूप से उत्पन्न होते हैं।

शान्त भक्त हैं नवयोगेन्द्र और सनकादि। दास्य भक्त हैं हनुमान और चित्रक–पत्रक आदि। सख्य भक्त हैं भीम, अर्जुन और श्रीदामादि। वात्सल्य भक्त हैं नन्द–यशोदा, वसुदेव–देवकी और श्रीकृष्ण के गुरुजन। मधुर रस की भक्त हैं व्रज की गोपियाँ तथा द्वारका और मथुरा की महिषीगण। शान्त भक्ति रस के दो प्रधान गुण हैं–कृष्णनिष्ठा और तृष्णा–त्याग। शान्त भक्त स्वर्ग और मोक्षादि की कामना नहीं करता। वह

कृष्ण को परब्रह्म, परमात्मा रूप में देखता है। पर कृष्ण के प्रति उसमें ममता की गन्ध भी नहीं होती। दास्य भक्त में कृष्ण के प्रति एकनिष्ठता और तृष्णा–त्याग तो होता ही है, कृष्ण के प्रति गौरव और संभ्रम के साथ सेवा भाव भी होता है। सख्य रस में कृष्णनिष्ठा, तृष्णा–त्याग और कृष्ण–सेवा के अतिरिक्त कृष्ण के प्रति ममता और आत्मसम ज्ञान होता है। इसलिये सख्यरस में कृष्ण–सेवा सम्भ्रम–संकोच–रहित होती है। वात्सल्यरस में शान्तरस की निष्ठा, दास्य की सेवा और सख्य के असम्भ्रम और असंकोच के साथ ममताधिक्य के कारण ताड़न–भर्त्सन भी होता है। वात्सल्यभाव का भक्त अपने को कृष्ण का पालक और कृष्ण को पाल्य मानता है। मधुरस में कृष्ण–निष्ठा, सम्भ्रमरहित सेवा, ममता और लालन वात्सल्य रस से भी अधिक होता है। साथ ही मधुररस में कान्ताभाव से कृष्ण को अपना अङ्ग देकर सेवा करने की प्रवृत्ति भी होती है।"

भक्ति की इस प्रकार व्याख्या कर महाप्रभु बोले–"रूप, मैंने तुम्हें भक्तिरस का दिग्दर्शन मात्र कराया है। तुम मन ही मन भावना द्वारा इसका विस्तार करना। भावना करते–करते अन्तःकरण में कृष्ण की स्फूर्ति होती है और कृष्ण की कृपा से अज्ञ व्यक्ति भी रससिन्धु पार कर लेता है।"

मथुरा–वृन्दावन की यात्रा

दस दिन रूप को इस प्रकार उपदेश करने के पश्चात् महाप्रभु ने वाराणसी के लिये प्रस्थान किया। तब रूप ने उनके चरणों में निवेदन किया–"यदि आज्ञा हो तो मैं भी आपके साथ चलूँ। मुझसे आपका विरह सहन न होगा।"

महाप्रभु ने कहा–"अभी तो तुम वृन्दावन जाओ। वृन्दावन से लौटकर गौड़ देश होते हुए नीलाचल में मुझसे मिलना।"

इतना कह वे नौका पर चढ़ वाराणसी जाने लगे। रूप उस समय मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़े। दूसरे दिन उन्होंने अनुपम के साथ वृन्दावन की यात्रा की।

मथुरा पहुँचकर उनकी सुबुद्धि राय से भेंट हुई। सुबुद्धि राय गौड़ के एक 'अधिकारी' थे। बादशाह हुसेनशाह ने अपने प्रारम्भिक जीवन में उनकी नौकरी की थी। किसी अपराध के कारण सुबुद्धि राय ने उनकी पीठ पर चाबुक मारा था, जिसका निशान मौजूद था। एक बार हुसेनशाह की बेगम ने उसे देखकर उसका कारण पूछा, तो हुसेनशाह ने सब वृत्तान्त कह सुनाया। बेगम सुनते ही आग–बबूला हो गयी। उसने सुबुद्धिराय को प्राणदण्ड देने का आग्रह किया। पर हुसेनशाह ने कहा–"जिसने मुझे अपने दुर्दिनों में आश्रय दिया और जिसका मैंने नमक खाया है, उसकी

हत्या मैं नहीं कर सकता।"

तब बेगम और ओमराव आदि ने मिलकर निश्चय किया कि सुबुद्धि राय के प्राण नाश करने के बजाय उनका धर्मनाश कर दिया जाय।ऐसा ही किया गया। उनके मुख में करुए का पानी डालकर उन्हें जाति-भ्रष्ट कर दिया गया।

जाति भ्रष्ट सुबुद्धिराय विषय-सम्पत्ति त्यागकर काशी पहुँचे। वहाँ उन्होंने पंडितों से प्रायश्चित का उपाय पूछा। उन्होंने तप्तघृत पानकर प्राण त्याग देने की सलाह दी।

उसी समय चैतन्य महाप्रभु का काशी में शुभागमन हुआ। पंडितों द्वारा बताये गये प्रायश्चित के अनुसार प्राण त्याग करने के पूर्व सुबुद्धिराय ने उनसे भी परामर्श किया। उन्होंने कहा-"प्राण त्यागने की कोई आवश्यकता नहीं। तुम वृन्दावन जाओ। वहाँ की पवित्र रज में नित्य लोटा करो और श्रीकृष्ण-नाम का जप और ध्यान किया करो। इससे तुम्हारे सब पाप क्षय हो जायेंगे। एक कृष्ण-नाम में जितने पाप क्षय करने की क्षमता है, उतने पाप करने की जीव में क्षमता नहीं।

सुबुद्धिराय के जीवन में नये प्राण और नयी आशा का संचार हुआ। उन्हें पता चला कि गौड़ के बादशाह के मन्त्री दबीरखास ने गृह त्यागकर श्रीचैतन्य महाप्रभु की शरण ली है और उनके आदेश से वृन्दावन जाते हुए मथुरा पहुँचे हैं, तो उनके आनन्द की सीमा न रही। वे पहले से ही उन्हें भली प्रकार जानते थे। उन्होंने मथुरा जाकर उनसे भेंट की। उनके साथ घूम फिर कर उन्हें व्रज के पवित्र द्वादश वनों के दर्शन कराये। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णचैतन्य की कृपा और उनकी लीला-कथा की आलोचना करते हुए कुछ दिन उनके सान्निध्य में आनन्द से व्यतीत किये।

लोकनाथ गोस्वामी और भूगर्भ गोस्वामी पहले ही चैतन्य महाप्रभु के आदेश से व्रज आ चुके थे और वन-वन में श्रीकृष्ण की लीला स्थलियों का अन्वेषण करते हुए भ्रमण कर रहे थे। पर रूप गोस्वामी की इस समय उनसे भेंट न हो सकी। इस समय उनकी चिन्ता का एक मात्र विषय था ज्येष्ठ भ्राता सनातन गोस्वामी की कारागार से मुक्ति। कारागारसे मुक्त हो कर वे चैतन्य महाप्रभु से अभी तक मिल सके या नहीं, वृन्दावन के लिए उनका पथ अभी तक प्रशस्त हुआ या नहीं, यह चिंता उन्हें दिन-रात सताया करती थी। इसलिए वे वृन्दावनमें एक मास से अधिक न ठहर सके। उनकी खोज-खबर लेने के लिए अनुपम के साथ गंगा के किनारे-किनारे काशी की ओर चल दिये।

इसी समय सनातन काशीमें महाप्रभु से मिलने के पश्चात् राजपथ

से मथुरा जा रहे थे। भिन्न पथ से जाने के कारण रूप गोस्वामी की मार्ग में उनसे भेंट न हो सकी। काशी पहुँचकर उन्हें जब यह संवाद मिला, तो वे बड़े धर्म–संकट में पड़ गये–महाप्रभु की आज्ञानुसार नीलाचल जाकर उनके दर्शन करें या वृन्दावन जाकर सनातन से मिलें?

नीलाचल यात्रा

उन्होंने नीलाचल जाने का निश्चय किया। अनुपम ने आग्रह किया गौड़ होकर नीलाचल जाने का, क्योंकि सनातन भी गृह त्यागकर चले आये थे। वहाँ की विषय–सम्पत्ति की पूरी व्यवस्था अभी नहीं हो पायी थी और एक बार वहाँ जा कर उसकी व्यवस्था कर देना आवश्यक था। इसलिए वे उसी पथ पर चल दिये।

गौड़ पहुँच कर दुर्दैववश अनुपम को गंगा–प्राप्ति हो गयी। रूप को अकेले ही दायित्वपूर्ण सांसारिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। उनका यथाशीघ्र समाधान कर वे चल पड़े नीलाचल की पदयात्रा पर।

अनुपम के एकमात्र पुत्र श्रीजीव उस समय अल्प–वयस्क थे। नीलाचल की यात्रा करने के पूर्व रूप ने उन्हें प्राण भर आशीर्वाद देकर परिजनों के साथ वाक्ला भेज दिया।

रूप ने महाप्रभु के अति प्रिय यवन पार्षद श्रीहरिदास ठाकुर के विषय में सुन रखा था। हरिदास भक्तोचित दैन्य के कारण अपने को अस्पृश्य जान नीलाचल में जन–सम्पर्क से दूर एक निर्जन स्थान में रह कर नित्य तीन लाख नाम–जाप करते थे। दर्शन के लिए जगन्नाथजी के मन्दिर न जाकर वहींसे मन्दिर के चूणा के दर्शन कर जगन्नाथजी के दर्शन की अपनी पिपासा मिटा लिया करते थे। महाप्रभु के दर्शन करने उनकी कुंटिया पर भी वे इसी भय से नहीं जाते थे कि कहीं उनके किसी भक्त को उनके अपवित्र देह का स्पर्श न हो जाय। महाप्रभु स्वयं उन्हें दर्शन देने, या उनके दर्शन करने, नित्य उपलभोग के दर्शन कर मन्दिर से लौटते समय उनके पास जाया करते और उनके तथा अन्य अंतरंग भक्तों के साथ इष्ट–गोष्ठी किया करते। रूप भी बहुत दिन मुसलमान–बादशाह के दरबार में रह चुकने के कारण म्लेक्ष–स्पर्श दोष से अपने को दूषित मानते थे। इसलिए नीलाचल में उनके ठहरनेका एकमात्र स्थान हरिदास की कुटी ही था। वे सीधे वहाँ पहुँचे। हरिदास ने बाहु पसार कर प्रेमालिंगन द्वारा उनकी आन्तरिक अभ्यर्थना की और स्नेहभरे शब्दों में कहा–"रूप, तुम्हारे आने की बात हमें सबको ज्ञात थी। तुम्हारे भाग्य की सीमा नहीं। महाप्रभु बड़े आग्रह से तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बार–बार तुम्हारी ही चर्चा कर आत्म–विभोर हो जाते थे।"

दूसरे दिन प्रातः महाप्रभु के कुटिया पर आते ही रूप ने भावविह्वल अवस्था में उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। उन्होंने आनन्द सहित उनका आलिंगन किया। कुशलप्रश्न करने के पश्चात् बहुत समय उनके साथ इष्टगोष्ठी में व्यतीत किया।

उस समय रथयात्रा निकट थी। महाप्रभु के दर्शन और सान्निध्य के लोभ से श्रीअद्वैत और श्रीनित्यानन्द आदि उनके बहुत से भक्त गौड़ देश से पद यात्रा कर पुरी आये हुए थे। प्रभु निरन्तर उनके साथ इष्टगोष्ठी और प्रेमतत्त्व की आलोचना में आनन्दमग्न रहते। एक दिन वे उन्हें सबको लेकर हरिदास की कुटी पहुँचे। रूप को आलिंगन कर अद्वैत और नित्यानन्द आदि से बोले—"कृष्ण के आह्वान पर रूप विषय—कूप छोड़कर चला आया है। आप दोनों इसे आशीर्वाद करें, जिससे यह कृष्णभक्तिरस—विषयक ग्रन्थों की रचना कर जीवों का मंगल कर सके।" सबने उन्हें प्रीतिभरा आशीर्वाद दिया।

रूप भी हरिदास जी की तरह दैन्यवश अपने का म्लेक्ष और पतित मानने के कारण जगन्नाथजी के मन्दिर दर्शन करने न जाते। दूर से मन्दिर के चूड़ा के दर्शन करते। प्रभु का भक्तों के साथ कीर्तन—नर्तन और भाँति—भाँति की आनन्द—लीलाओं का भी दूरसे ही दर्शन करते।

जगन्नाथ जी के भोगराग के पश्चात् महाप्रभु दोनों एकान्तवासी भक्तों के लिए प्रसाद भेज देते। प्रसाद ग्रहण कर दोनों अपनी—अपनी साधना में लग जाते, हरिदास नाम—जप और कीर्तनमें, रूप ग्रन्थ लिखने में।

'विदग्ध-माधव' और 'ललित-माधव'

रूप जन्म से ही कवि थे। उनके व्यक्तित्व में जैसा कवित्व, पाण्डित्य और भक्तिका समावेश था, वैसा साधारणतः देखने में नहीं आता। गृह त्याग करने के पूर्व ही उन्होंने 'हंसदूत' और 'उद्धव—संदेश' नामक दो नाटकों की रचना आरम्भ कर दी थी। गृह त्याग करने के पश्चात् कृष्ण—लीला विषयक एक नाटक लिखना आरम्भ किया था। उसमें कृष्ण की व्रज—लीला और द्वारका—लींलाको एकत्र लिखने का विचार किया था। पर सत्यभामाने स्वप्न में व्रज—लीला और द्वारका—लीलासे सम्बन्धित दो पृथक्—पृथक नाटक लिखनें का आदेश किया—

पृथक नाटक करिते सत्यभामा आज्ञा दिल। (चै० च० ३/१/६९)

महाप्रभु ने भी एक दिन यह कहकर वैसा ही संकेत किया कि कृष्ण को व्रजसे बाहर न करना—

कृष्णेरे बाहिर नांहि करिह व्रज हैते।
व्रज छाँड़ि कृष्ण कभू ना जान काहाँते।।

(चै० च० ३/१/६६)

तब उन्होंने पृथक्-पृथक् दो नाटकों की रचना करने का निश्चय किया। श्रीकृष्णकी व्रज-लीला-विषयक नाटक का नाम रखा 'विदग्धमाधव' और द्वारका-लीला-विषयक नाटक का नाम रखा 'ललितमाधव'। नीलाचल में रहते समय वे इन्हीं दो नाटकों की रचना में संलग्न रहते। दोनों का अधिकांश भाग वहीं लिखा गया। वृन्दावन लौटनेपर उन्होंने पहले विदग्धमाधव समाप्त किया, पीछे ललित-माधव।

स्वरूप दामोदर और राय रामानन्द के संग

इन ग्रन्थों तथा भक्तिरस के अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थों के लिए, जिनकी रूप गोस्वामीने पीछे रचना की, चाहिए था व्रजरस-सिद्धान्त का सम्यक् ज्ञान और चाहिए थी व्रजरस की आन्तरिक उपलब्धि। प्रयाग में महाप्रभु ने तत्वोपदेश कर और अपनी शक्ति का संचार कर रूप गोस्वामी को पहले ही यह योग्यता प्रदान की थी। पर नीलाचल में उन्हें प्राप्त हुआ उनका दीर्घकालीन सान्निध्य। उनका अमृतमय संग ही था रसका वह उत्स, जिसमें निरन्तर आवगाहन कर उन्होंने नयी उद्दीपना प्राप्त की और उनकी लेखनी से फूट पड़ा रसका वह अजस्र और अमूल्य स्रोत, जिसकी विश्वभर के साहित्य में तुलना नहीं जिसने रस-साहित्य को नयी दिशा प्रदान की और मानव के लिए उनके चरम उत्कर्षका नया मार्ग प्रशस्त किया।

महाप्रभु के अतिरिक्त उन्हें यहाँ संग मिला उनके दो ऐसे पार्षदों का, जो रस सिद्धान्त के मूर्तमान स्वरूप थे और उनके रसास्वादन में सहायक हुआ करते थे। वे थे स्वरूप दामोदर और राय रामानन्द।

स्वरूप दामोदर नवद्वीपवासी थे। बाल्यकाल से ही महाप्रभु के प्रति अनुरागी थे। महाप्रभु के संन्यास लेने के पश्चात् यह भी संन्यास ग्रहण कर नीलाचल चले आये थे। यह महापंडित कृष्ण-रस-तत्ववेत्ता और प्रेममय विग्रह थे, जैसे महाप्रभु के द्वितीय स्वरूप ही हों। महाप्रभु का मनोभाव केवल वे ही जानते थे। महाभाव के मूर्त विग्रह महाप्रभु प्रेमभक्ति-धर्म के विरुद्ध या रसाभासयुक्त कोई गीत या रचना नहीं सुन सकते थे; उन्हें जब कोई गीत, श्लोक या ग्रन्थ सुनाना होता, तो पहले स्वरूप दामोदर उसकी परीक्षा करते।

स्वरूप की एक विशेषता यह थी कि वे बड़े संगीतज्ञ भी थे। उन्हें संगीत में गन्धर्व के समान और शास्त्र में वृहस्पति के समान कहा जाता था-

"संगीते गन्धर्व सम शास्त्रे वृहस्पति।"

महाप्रभु की कृष्ण-विरह दशा मे वे उनके मनोभाव के अनुकूल विद्यापति, चण्डीदास या गीतगोविन्द के पदों का कीर्तन कर या भागवत

के श्लोक पढ़ उनके भावकी पुष्टि कर उन्हें सुखी करते थे।

रामानन्दराय राजा प्रतापरुद्र के अधीन राजमहेन्द्री के शासक थे। गोदावरी के तटपर बसे विद्यानगर में उनका मुख्य कार्यालय था। उड़ीसा के श्रेष्ठ वैष्णव और नाट्यकार के रूप मे उनकी ख्याति थी। जगन्नाथवल्लभ नाटक की उन्होंने रचना की थी। महाप्रभु की दक्षिण यात्रा के समय उनकी उनसे भेंट हुई थी। उनके साथ कथोपकथन के समय उन्होंने उनके मुख से भजन–साधन की विभिन्न श्रेणियों और व्रजरस–सिद्धान्त के निगूढ़ रहस्यका उद्घाटन करवाया था, जिसका चैतन्य–चरितामृत में विस्तार से वर्णन है।

बाह्य दृष्टि से वे महाप्रभु के उपदेष्टा थे। महाप्रभु दैन्यवश उनसे कहा करते–"मैं ठहरा शुष्क संन्यासी। व्रजरस की बात मैं क्या जानूं। वह तो तुम्हींने सिखायी है।"

रामानन्द उत्तर देते–"प्रभु, व्रजरस, कान्ताभाव और राधाप्रेम की महिमा मैं क्या जानूं। मैं तो आपकी काष्ठपुतली हूँ। आप जैसे नचाते हैं नाचता हूँ। आप जो मुझसे कहलाते हैं, कहता हूँ"–

राय कहे-इहा आमि किछुइ ना जानि।
तुमि जेइ कहाओ, सेइ कही बानी।।
तोमार शिक्षाय पढ़ि जेन पाठ।
साक्षात् ईश्वर तुमि, के बुझे तोमार नाट।।

इन दोनों महापुरुषों के संग से भी रूप गोस्वामी को व्रजरस के सम्बन्ध में बहुत कुछ सीखने को मिला।

महाप्रभु द्वारा रूप के कवित्व की प्रशंसा

रथयात्रा आ पहुँची है। लाखों की संख्या में नर–नारी जगन्नाथजी की विजययात्रा के दर्शन करने दूर–दूरसे आये हैं। रथयात्रा का एक बड़ा आकर्षण है रथ के सामने महाप्रभु चैतन्यदेव का देवदुर्लभ नृत्य–कीर्तन। रथ खींचना प्रारम्भ होते ही वे भक्त–मण्डली के साथ कीर्तन करने लगते हैं। उनका गौरकान्तियुक्त दिव्य देह असाधारण सात्विक प्रेम–विकारों से परिपूर्ण हो जाता है, जिसके दर्शन कर यात्री आनन्द–विह्वल हो जाते हैं। रथयात्रा का कार्यक्रम कई दिन तक चलता रहता है।

रूप दूसरे महाप्रभु के उद्दण्ड नृत्य और कीर्तन का दर्शन कर भाव–समुद्र में गोते खाते हुए अपनी भजन–कुटी को लौट जाते हैं।

एक दिन महाप्रभु रथ के आगे कीर्तन करते–करते भाव–प्रमत्त हो 'काव्य–प्रकाश' का एक श्लोक बार–बार गाने लगे। स्वरूप दामोदर के अतिरिक्त और कोई उनका मनोभाव न समझ सका। रूप ने श्लोक सुन उसी समय उस श्लोक का अर्थ सूचक एक श्लोक बनाया। दूसरे दिन

प्रातः उसे एक ताल–पत्र में लिख कुटिया के छप्पर में उड़सकर समुद्र स्नान को चले गये। उसी समय वहाँ पधारे महाप्रभु। उनकी दृष्टि छप्पर में उड़से ताल–पत्र पर गयी। उसे निकालकर उन्होंने श्लोक पढ़ा। श्लोक पढ़ते ही आविष्ट हो गये। रूप समुद्र स्नान से लौटे। महाप्रभु प्यार से थप्पड़ मार कर उन्हें आलिंगन करते हुए बोले–"कोई तो मेरे श्लोक का अर्थ नहीं समझा। तुमने मेरा मनोभाव कैसे जान लिया?"

महाप्रभु ने जो श्लोक गाया था, वह इस प्रकार था–

यः कौमार हरः सः एव हि वरस्ता एव
चैत्रक्षपास्तें चोन्मीलित मालतीसुरभयः प्रौढ़ा कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीला विधौ
रेवारोधसि वेतसीतरतले चेतः समुत्कण्ठ्यते।।

(चै० च० २/१/५८ धृत काव्य-प्रकाश १/४ श्लोक)

यह श्लोक प्राकृत नायक–नायिका के विवाह से पूर्व एकान्त में मिलन से सम्बन्धित है। विवाह के पश्चात् नायिका अपनी किसी अन्तरंगा सखी से कहती है।

"सखी, आज मुझे अपने पति से विवाह के पूर्व रेवा नदी के तीर पर बेतसी तरुतले प्रथम मिलन की याद आ रही है। आज भी चैत्र मास की वही परम रमणीय बसन्त–रजनी है, जब हमारा प्रथम मिलन हुआ था। आज भी उसी प्रकार मालती–कुसुम का सौरभ लिए समीर मन्द–मन्द वह रहा है, आज भी मैं और मेरे पति वही हैं, जो उस दिन थे। पर वह मिलन–सुख अब कहाँ हैं? मेरा मन प्राणवल्लभ से रेवती–तीर पर बेतसी तरूके नीचे फिर मिलने को व्याकुल हो रहा है।"

यद्यपि यह श्लोक प्राकृत नायक–नायिका के परस्पर एकान्त में प्रथम मिलन से सम्बन्धित है, महाप्रभुका मनोभाव श्रीमती राधिका के उस भावसे था, जिसका उनके हृदय में कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण से मिलने के समय उदय हुआ था। वे उस समय श्रीकृष्ण–मिलन का सुख अनुभव करते हुए भी वृन्दावन में उनसे मिलने के लिए उत्कंठित थीं,। कुरुक्षेत्र के ऐश्वर्य–प्रधान परिवेश में, जहाँ श्रीकृष्ण का राजवेश था, हाथी, घोड़े और जन–कोलाहल था, श्रीकृष्ण से मिलन उन्हें उतना सुखकर प्रतीत नहीं हो रहा था, जितना मधुर वृन्दावन के निभृत निकुंजों में होता था, जहाँ उनका गोपवेश और मुरली का मधुर रव था।

रूप गोस्वामी ने राधा के उसी भाव को व्यक्त करते हुए इस श्लोक की रचना की थी–

"प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरूक्षेत्रमिलित–
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः संगम सुखम्।

तथाप्यन्तः खेलन्मधुरमुरलीपंचजुषे
मनो में कालिन्दी-पुलिन-विपनाय स्पृहयति।।

(चै० च० २/१/७६ धृत पद्यावली ३८७ संख्यक श्लोक)

—हे सहचरि, मेरा आज उन्हीं अपने अति प्रिय श्रीकृष्ण से कुरुक्षेत्र में मिलन हुआ है। मैं भी आज वही राधा हूँ और हमारा दोनों का मिलन सुख भी वही हैं। फिर भी वन में क्रीणाशील इन्ही श्रीकृष्ण की मुरली के पंचम सुर से आनंन्द—प्लावित कालिन्दी—पुलिनके बनों की मेरे मन में स्पृहा हो रही है।"

महाप्रभु ने जब इसपर आश्चर्य व्यक्त किया तों स्वरूप दामोदर ने कहा—"इस में आश्चर्य की क्या बात है? इससे तो यही सिद्ध होता है कि रूप पर आपकी विशेष कृपा है।"

महाप्रभु ने कहा—"हाँ, रूप पर मेरी कृपा है। मैं उससे सन्तुष्ट हूँ। उसे आलिंगन कर मैंने उसमें शक्ति—संचार किया है। गूढ़ ब्रजरस की विवेचना के लिए वह योग्य पात्र है। तुम भी उसके साथ ब्रजरस की विवेचना किया करना—

योग्य पात्र हय गूढ़रस-विवेचने।
तुमिओ कहिओ तारे गूढ़ रसख्याने।।"

(चै० च० २/१/७४)

रूपकी नाटक रचना का कार्य चल रहा था प्रभु जानते थे कि उनके यह दोनों नाटक रसिक जनों को अत्यन्त प्रिय होंगे, उनकी रसके दो प्रधान स्रोतों के रूप में गणना होगी। वे इनकी पूर्ति के पूर्व ही इनका कुछ आस्वादन करने को उत्कंठित थे। एक दिन वे उनके कागज—पत्र उठाकर उलटने लगे। उनपर लिखे मोती के समान सुन्दर अक्षरों को देख आनन्दित हो उनकी स्तुति की—

श्रीरूपेर अक्षर-जेन मुकुतार पाँति।
प्रीति हआ करेन प्रभु अक्षरेर स्तुति।।

(चै० च० ३/१/७४)

कहीं—कहीं से उनका पाठ कर मन ही मन स्थिर किया कि भाषा के लालित्य, रस की परिपाटी और शास्त्र—सिद्धान्त की दृष्टि से रचनाये सचमुच अपूर्व हैं। 'विदग्ध—माधव' का निम्न श्लोक वे परमाविष्ट हो उच्च स्वर से पढ़ने लगे—

तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावली लब्धये।
कर्णक्रीड़म्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।।
चेतः प्रांगण संगिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं।
नी जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी।।

—आहा! 'कृष्ण' यह दो शब्द न जाने कितने अमृत को लेकर उत्पन्न हुए हैं। देखो, जब (नटी के समान) ये मुख में नृत्य करने लगते हैं, तो बहुत से मुख प्राप्त करने की लालसा जाग उठती है, जब कर्ण कुहर में प्रवेश करते हैं तो अरबों कर्णों के लिए स्पृहा होने लगती है, जब चित्त रूपी प्रांगण में संगिनीरूप से उदित होते हैं तो समस्त इन्द्रियों को हर लेते हैं।

श्लोक सुन हरिदास उल्लसित हो नृत्य करने लगे और कहने लगे—"कृष्णनाम की महिमा शास्त्रों में बहुत पढ़ी है और साधु—मुख से भी बहुत सुनी है, पर ऐसी महिमा आज तक पढ़ी, न सुनी।"

महाप्रभु ने आनन्द—विह्वल हो हरिदास और रूप दोनों को आलिंगन किया। पर उन्हें इतने से संतोष न हुआ। रूप की महिमा बढ़ाने और उन्हें नयी और तीव्रतर प्रेरणासे उद्बुद्ध करने के लिए स्वरूप और रामानन्द जैसे रस—सिद्धान्त में पारंगत व्यक्तियों की स्वीकृति भी दिलवाना चाहा।

इसलिए एक दिन वे उन्हें और सार्वभौम भट्टाचार्य आदि प्रधान—प्रधान भक्तों को लेकर वहाँ पहुँचे। रूप से कहा दोनों नाटकों के कुछ—कुछ अंश पढ़कर सुनाने को। वे संकोच के साथ जिन—जिन अंशों को राय रामानन्द ने कहा सुनाने लगे। सुनकर सब अति चमत्कृत हो आनन्द—समुद्र में गोते खाने लगे। महाप्रभु का मुखारविन्द अपूर्व तृप्ति के आनन्दसे खिल गया।

रामानन्द ने कहा—"यह कवित्व नहीं, अमृत की धार है। इसे सुन चित्त आनन्दसे झूमने लगता है। सिद्धान्त और प्रेमपरिपाटी की दृष्टि से यह अद्भुत है—

कवित्व नाट्य एइ अमृतेर धार।
नाटक लक्षण सब सिद्वान्तेर सार।।
प्रेम परिपाटी एइ अद्भुत वर्णन।
सुनि चित्त कर्णेर हय आनन्द-पूर्णन।।

(चै० च० २/१/१९३-१९४)

महाप्रभु की ओर मुख फेरते हुए उन्होंने कहा—"आप ईश्वर है, जो चाहे कर सकते हैं, जिसे जैसे चाहे काष्ठपुतली की तरह नचा सकते है। भक्तों के प्रति कृपा कर आपने व्रजरस का प्रचार करने का संकल्प किया है। रूप को इसका माध्यम बनाया है, सो ठीक ही किया है।"

रूप गोस्वामी को नीलाचल में रहते दस माह हो गये हैं। उन्होंने व्रजरस के प्रचार की महाप्रभु की वांछा की पूर्ति के लिए उनकी प्रेरणा और कृपा और शीषस्थानीय रसज्ञ वैष्णवों की स्वीकृति प्राप्त कर ली है। अब महाप्रभु चाहते हैं कि वे शीघ्र वृन्दावन जाकर सनातन गोस्वामी के साथ

इस कार्य में जुट जायें।

इसलिए आज श्रीरूप सबका आशीर्वाद ग्रहण कर वृन्दावन के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। उन्हें विदा करते समय महाप्रभु आज्ञा कर रहे हैं–

"व्रजे जाइ रस शास्त्र कर निरूपण।
लुप्त सब तीर्थ तार करिह प्रचारण।।
कृष्ण सेवा रस भक्ति करह प्रचार।
आमिओ देखिते ताहा ज़ाब एक बार।।

(चै० च० ३/१/२१८-२१९)

–व्रज जाकर रसशास्त्र का निरूपण और व्रज के लुप्त तीर्थों का उद्धार और प्रचार करना। कृष्ण–सेवा और रस–भक्ति का भी प्रचार करना।
मैं भी एक बार देखने व्रज जाऊँगा।"[1]

वृन्दावन प्रत्यागमन और कृष्ण-भक्ति का प्रचार

सन् १५१९ में रूप गोस्वामी वृन्दावन लौट आये। जिस समय रूप वृन्दावन की यात्रा पर थे, उसी समय सनातन नीलाचल की यात्रा कर रहे थे। पर सनातन नीलाचल जा रहे थे झाड़िखण्ड के वन–पथ से और रूप वृन्दावन आ रहे थे विष्णु पुर के राजपथ से। इसलिए इस बार भी दोनों की भेंट न हो सकी। सनातन जब नीलाचल पहुँचे, उसके ८/१० दिन पूर्व ही रूप जा चुके थे।

पर सनातन अधिक दिन नीलाचल न रहे। दोलयात्रा[2] के बाद ही उन्हें भी महाप्रभु ने वृन्दावन भेज दिया।

बहुत दिन बाद दोनों भ्राताओं का वृन्दावनमें मिलन हुआ। विशाल गौड़ देशका राजमन्त्री–पद और गृह त्यागने के पश्चात् वृन्दावन के मुक्त वातावरण में यह उनका प्रथम मिलन था। दीर्घकाल से वे वुन्दावनमें वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए कृष्ण–भक्तिका याजन करने का जो स्वप्न देख रहे थे उसे सत्य हुआ देख आज उनके हृदयमें आनन्द समा नहीं रहा था। महाप्रभुकी अपार करुणा का स्मरणकर दोनों आत्म–विभोर

---

१. महाप्रभुकी एक बार और वृन्दावन जानेकी इच्छा थी। पर वह पूर्ण हुई अप्रत्यक्ष रूपसे जब वे काशीश्वरको दिये आपने 'गौर-गोविन्द' श्रीविग्रहके रूपमें वृन्दावन आये। इसका विवरण आगे दिया गया है।

कुछ लोगों मत है कि महाप्रभु राधारमण के श्रीविग्रह के प्राकट्य के समय राधारमणके रूपमें भी वृन्दावन पधारे। श्रीपाद रामदास बाबाजी महाराज अपने कीर्तनों में अकसर कहा करते- गौर हइल राधारमण अथार्त गौर ही राधारमण हुए।

२. होली।

हो रहे थे।

कृष्ण–भक्तिके प्रचारकी महाप्रभुकी आज्ञाका पालन करने में वे तन–मनसे जुट गये। प्रचारका मुख्य अंग है आचार। बिना स्वयं आचरण किये प्रचार सफल नहीं होता। इसलिए दोनोंने कठोर साधनाके साथ–साथ शास्त्रालोचना, भक्ति–ग्रन्थोंका निर्माण और श्रीविग्रहों की प्रतिष्ठा–सेवादिका कार्य आरम्भ किया। पांडित्य के साथ–साथ दैन्य और रागानुगा भक्तिके मूर्तिमान स्वरूपके रूपमें दोनोंकी ख्याति द्रुत गतिसे चारों ओर फैलने लगी। मानवरूपी देवताके रूपमें लोग दूर–दूरसे उनके दर्शनकर जीवन चरितार्थ करने आने लगे। उनके द्वारा लिखित, संकलित और व्याख्यात ग्रन्थ विश्व–साहित्यकी सर्वोच्च निधिके रूपमें प्रकाश में आने लगे।

महाप्रभुने सनातन गोस्वामीसे कहा था–"मैं अपने बहुतसे डोर–कौपीनधारी कंगाल भक्तोंको वृन्दावन भेजूँगा। तुम्हें उन्हें आश्रय देना होगा और उनकी देख–रेख करनी होगी।" उन भक्तों की टोलियाँ अब आने लगीं। सनातन गोस्वामीने उनके प्रति अपने कर्तव्य का यथासम्भव पालन किया। पर सनातन स्वभावसे गम्भीर प्रकृतिके थे। रूप जैसी कर्मपटुता उनमें न थी। इसलिए रूपको ही अग्रणी होकर उनके रहन–सहन और भजन–साधनकी व्यवस्था करनी होती। कोई नया भक्त वृन्दावन मैं आता तो उन्हीं को खोजता, उन्हीं की शरण लेता और उन्हीं के तत्वावधानमें अपनी जीवन–यात्रा सफल करता।

रूप–सनातन के वृन्दावन आने के कई वर्ष बाद गोपालभट्ट गोस्वामी वृन्दावन आये। उसी समय नीलाचल में अकस्मात् महाप्रभुका अन्तर्धान हो गया। तब रघुनाथदास गोस्वामी आदि भी वृन्दावन आ गये। गोस्वामियोंकी टोली वृन्दावनमें एकत्र हो जाने के पश्चात् श्रीविग्रह–प्रतिष्ठा और सेवा–कार्य तेजीसे चल पड़ा। एक–एक गोस्वामी ने एक–एक श्रीकृष्णके विग्रहकी प्रतिष्ठा की। और उसीके नामसे वह परिचित हुआ।

गोस्वामियों द्वारा प्रतिष्ठित श्रीकृष्ण के इन विग्रहों में श्रीरूप गोस्वामी द्वारा प्रतिष्ठित श्रीगोविन्ददेव की स्थापना महाप्रभुके प्रकटकाल में हुई। और सब विग्रहों की स्थापना महाप्रभु के अप्राकट्यके पश्चात् हुई। सनातन गोस्वामी के मदनगोपाल की स्थापना भी महाप्रभु के अप्राकट्यके पश्चात् हुई। कुछ लोगों का मत है कि मदनगोपालकी सेवा के साथ ही महाप्रभुके अप्राकट्य एक वर्ष पीछे गोविन्ददेव की सेवा की स्थापना हुई। पर गोविन्ददेव की स्थापना महाप्रभुके प्रकट रहते ही होने का प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है। यह हो सकता है कि रूप गोस्वामी ने गोविन्ददेवका आविष्कार पहले किया हो, पर मन्दिरादि निर्माणपूर्वक

समारोहके साथ विग्रह प्रतिष्ठा का कार्य पीछे हुआ हो।[1]

गोविन्ददेवका आविष्कार

गोविन्ददेवके आविष्कार और उनकी सेवा की स्थापना का वृत्तान्त श्री राधाकृष्ण गोस्वामीकृत 'साधन–दीपिका' नामक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थमें विस्तार से दिया है। भक्तिरत्नाकरमें श्रीनरहरि चक्रवर्ती ठाकुरने साधन–दीपिकाके मूल श्लोकों को उद्धृत करते हुए उनका वर्णन इस प्रकार किया है।

महाप्रभु ने रूप गोस्वामी को शास्त्र–प्रमाणानुसार लुप्त तीर्थों का उद्धार करनेकी आज्ञा की थी। शास्त्रोंमें उल्लेख था कि महाराज बज्रनाभ विनिर्मित श्रीगोविन्ददेवजी वृन्दावनके योगपीठमें विराजमान हैं। रूप गोस्वामी ब्रजके वनों, उपवनों और ग्रामोंमें घूम–घूमकर योगपीठका अन्वेषण करते। ग्रामवासियों से कहते–"बताओ वह योगपीठ कहाँ है, जहाँ गोविन्ददेव विराजमान हैं?" पर उसका कहीं कोई पता न दे सकता। एक दिन वे हताश हो इसी चिन्ता में यमुनातटपर बैठे थे। सोच रहे थे–भगवान की खोज करने की शक्ति मनुष्य में कहाँ? सूर्य जैसे किसी को चेष्टा से नहीं, स्वयं ही प्रकाशित होते हैं। यह सोचते–सोचते वे मन ही मन, "हा, गोविन्द, हा, गोविन्द!" कह इष्टदेवसे प्रार्थना करने लगे। उनके नेत्रोंसे अश्रुधार प्रवाहित होने लगी।

अकस्मात् एक परम सुन्दर ब्रजवासी उधर आ निकला। मधुर स्वर में उनसे बोला–"स्वामी, आप उदास क्यों बैठे हैं?"

रूपने उदासीका कारण बताया। उसने कहा–"आप चिंता बिल्कुल न करें। मैं जो कहता हूँ उसे सुनें। वृन्दावनमें केशीतीर्थ के "गोमाटिला" नाम से जो स्थान प्रसिद्ध है, वही योगीपीठ है। वहाँ नित्य पूर्वाह्नमें एक श्रेष्ठ गाय आती है। बड़े प्रेम और उल्लाससे अपने थनों से दूध की वृष्टि कर जाती है। गोविन्ददेव वहीं गुप्त रूपसे विराजमान हैं। चलो मैं तुम्हें उस स्थानपर लिए चलता हूँ" उस स्थान पर उन्हें ले जाकर व्रजवासी अन्तर्द्धान् हो गया।

रुप को इस रहस्य को समझने में देर न लगी। व्रजवासी के अन्तर्द्धान के साथ वे भी मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़े। बाह्यज्ञान होने पर उनके हृदय में आनन्द नहीं समा रहा था। अविराम आनन्दाश्रु बहाते वे पास की व्रजवासियों की बस्ती में गये और उन्हें यह शुभ संवाद दिया।

व्रजवासियों ने मिलकर बड़े उल्लास के साथ उस टीले पर दुग्ध–धारा से भीगे स्थान का खनन किया। कुछ दूर खुदाई करने के पश्चात् गोविन्ददेव का अपरूप श्रीविग्रह प्राप्तकर उनके आनन्द की सीमा

---

१ श्री तसीशचन्द्र मित्र : सप्त गोस्वामी, पृ०१७४

न रही। उनकी हर्षध्वनि और गोविन्ददेव की जय–जयकार से आकाश गूंज गया।

रूप गोस्वामी ने शास्त्र वाक्य द्वारा प्रमाणित किया कि गोमाटिला द्वापर युग का योगपीठ है और आविष्कृत श्रीविग्रह वज्रनाभ महाराज द्वारा प्रतिष्ठित और पूजित गोविन्ददेव हैं।[1] गोविन्ददेव के प्राकट्य की बात सुन असंख्य नर–नारी दूर–दूरसे उनके दर्शन करने आने लगे। कई दिन तक अपूर्व हर्षोल्लास के साथ महोत्सव होता रहा।

रूप गोस्वामी ने गोविन्ददेव के प्राकट्य का समाचार पत्र द्वारा महाप्रभु को भिजवाया–

गोविन्द प्रकट मात्रे श्रीरूप गोसाञि।
क्षेत्रे पत्री पाठाइला महाप्रभु ठाञि।।
श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु पार्षद सहिते।
पत्री पढ़ि आनन्दे ना पारे स्थिर हैते।।

(भक्तिरत्नाकर, २।४३६।४३६)

महाप्रभु ने उसी समय अपने पार्षद काशीश्वर को वृन्दावन जाने की आज्ञा दी। काशीश्वर उनकी आज्ञा का उल्लंघन तो नहीं कर सकते थे। पर महाप्रभु को छोड़ने का दुःख भी सहन करना उनके लिए सम्भव न था। काशीश्वर को इस धर्म–संकट में पड़ा देख महाप्रभु ने उन्हें "गौर–गोविन्द" नामक अपना एक श्रीविग्रह देकर कहा–"लो, इसे साथ ले जाओ। इस विग्रह को मुझसे अभिन्न जानना। इसके रुप में मैं तुम्हारे साथ रहूंगा।" काशीश्वर को श्रीविग्रह में विश्वास दिलाने के लिये उन्होंने श्रीविग्रह के साथ एकत्र भोजन किया। यह देख काशीश्वर परमानन्दित हुए और श्रीविग्रह को साथ ले वृन्दावन चले गये। वहाँ गोविन्ददेव के श्रीविग्रह के सन्निकट उसकी स्थापना कर प्रेम से उसकी सेवा करने लगे–

काशीश्वर अन्तर बूझिया गौरहरि।
दिलेन निज-स्वरूप-विग्रह यत्न करि।।
प्रभु से विग्रह सह अन्नादि भुञ्जिल।
देखि काशीश्वरेर परमानन्द हैल।।
श्रीगौर गोविन्द-नाम प्रभु जानाइला।
ताँरे लैया काशीश्वर वृन्दावने आइला।।
गोविन्द दक्षिणे प्रभुरे बसाइया।
करये अद्भुत सेवा प्रेमाविष्ट हैया।।

(भक्तिरत्नाकर, २।४४०-४४३)

---

१ श्रीकृष्ण के प्रपौत्र महाराज वज्रनाभ ने व्रज में आठ मूर्तियों का आविष्कार किया था। वे हैं चार देव, अर्थात् हरदेव, बलदेव, केशवदेव और गोविन्ददेव, दोन नाथ- श्रीनाथ और गोपीनाथ, और दो गोपाल-साक्षी गोपाल और मदनगोपाल-

चारि देव, दुइ नाथ, दुइ गोपाल वाख्यान।
वज्रनाभ प्रकटित एइ आठ मूर्ति जान।।

रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृत सिन्धु में गोविन्ददेव के दर्शन के सम्बन्ध में यह चेतावनी दी है–

"स्मेरां भङ्गीत्रय परिचिता साचि विस्तीर्ण दृष्टिं
वंशीन्यस्ताधर किशलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशीतीर्थोपकण्ठे
मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे! बन्धुसंगेऽस्ति रंगः।।

(भ० र० सि. १।२।२३९)

–सखे! यदि तुम्हारी स्त्री–पुत्र, बन्धु–बान्धवों के साथ रंगरेलियां करने की इच्छा है, तो केशी–तीर्थ के समीप गोविन्द–नामक उस हरि के श्री–विग्रह के दर्शन न करना, जो मयूर–पुच्छ से अलंकृत, मंद–मंद मुस्काते, त्रिभंगी मुद्रा में वहाँ खड़ा है जिसका बंकिम विशाल नेत्र हैं और जिसके अधरों पर मधुर मुरली शोभायमान है, क्योंकि उसे एकबार देख लोगे तो बन्धु–वान्धवों को भूल बैठोगे।"

गोविन्ददेव के दर्शन के इस परिणाम का अनेकों ने अनुभव किया है और आज भी कर रहे हैं।

चैतन्य–चरितामृत में उल्लेख है कि रघुनाथ भट्ट गोस्वामी ने अपने किसी शिष्य द्वारा गोविन्दजी के लिए एक मन्दिर का निर्माण करवाया और अलंकार आदि से उन्हें भूषित किया–

निज शिष्य कहि, गोविन्द कराइल।
वंशी मकर कुण्डलादि, भूषण करि दिल।।

(चै० च० ३।१३।१३१)

गोविन्ददेव के पास राधा–मूर्ति की स्थापना

गोविन्ददेव बहुत दिन तक अकेले विराजते रहे। उनके साथ जो राधिकामूर्ति है उनकी स्थापना रूपगोस्वामी के अन्तर्धान के कुछ दिन पूर्व हुई। इनका इतिहास भक्तिरत्नाकर में साधन–दीपिका ग्रन्थ के अनुसार इस प्रकार वर्णित है :

उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र के पुत्र पुरुषोत्तम जाना अपने पिता के समान परम वैष्णव थे। उन्हें जब पता चला कि वृन्दावन में मदनगोपाल और गोविन्ददेव श्रीविहीन अवस्था में प्रतिष्ठित हैं, तो उन्होंने उनके वाम भाग में प्रतिष्ठित होने के लिए दो धातुमयी राधिका–मूर्तियां भेजीं। जब वे वृन्दावन के निकट पहुँची मदनगोपाल ने अपने मंदिर के सेवा–अधिकारी से स्वप्न में कहा–"यह जो दो मूर्तियां आ रही हैं इन्हें दोनों को लोग राधिका के रुप में जानते हैं। पर इनमें एक राधा है, दूसरी ललिता। तुम अग्रसर होकर शीघ्र दोनों को यहाँ ले आओ। उनमें से छोटी राधिका को

मेरी बांयी ओर और बड़ी ललिता को मेरी दाहिनी ओर स्थापित करो।" मदनगोपाल की आज्ञा के अनुरुप दोनों की स्थापना उनके दोनों ओर कर दी गयी।[1]

तब पुरुषोत्तम जाना गोविन्ददेव के लिए एक और राधिका–मूर्ति वृन्दावन भेजने का उपाय सोचने लगे। वे चिन्तित थे कि गोविन्ददेव के लिए कौन–सी राधा–मूर्ति कहाँ से प्राप्त की जाय। तभी राधारानी ने स्वप्न में प्रकट होकर उनसे कहा–"मैं पुरी के निकट चक्रवेड में बहुत दिनों से स्थापित हूँ। लोग मुझे "लक्ष्मी" कहते हैं। वे नहीं जानते कि मैं राधा हूँ। मुझे गोविन्ददेव के पास शीघ्र भेजने की व्यवस्था करो।"

तब राजा ने चक्रबेड़की राधा–मूर्ति को वृन्दावन भेज दिया। बड़े समारोह के साथ गोविन्ददेव के बाम भाग में उनकी स्थापना करदी गयी। **(भक्तिरत्नाकर, ६।७६-८४)** । इसी अवसर पर रूप गोस्वामी ने 'चाटुपुष्पाञजलि' नाम के प्रसिद्ध स्तोत्र की रचना की।

साधन–दीपिका के अनुसार यह राधामूर्ति कभी वृन्दावन से उत्कल देश गयी थी, उसी प्रकार जिस प्रकार साक्षी गोपाल भक्ताधीन हो पदयात्रा कर वहाँ गये थे। वहाँ राधानगर में वृहद्भानु नामक एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण के घर उसकी कन्या के रुप में उसकी स्नेहसिक्त सेवा अंगीकार कर रही थीं। स्वप्नादेश प्राप्तकर पुरी के राजा ने उन्हें पुरी के निकट चक्रबेड़ नामक स्थान में प्रतिष्ठित कर दिया था। **(भक्तिरत्नाकर, ६।८८-१०१)**[2]

राजा मानसिंह द्वारा गोविन्ददेव के मन्दिर का निर्माण

रघुनाथ भट्ट गोस्वामी के शिष्य द्वारा बनवाया गोविन्ददेव का मन्दिर बहुत दिन बाद जीर्ण–शीर्ण हो गया। तब सन् १५९० में राजा मानसिंह ने बहुत अर्थ व्यय कर वर्तमान लाल पत्थर के विशाल मन्दिर का निर्माण किया, जिसे उत्तर भारत का सबसे आकर्षक और हिन्दू स्थापत्य का अतुलनीय दृष्टांत माना जाता है।[3] इस मन्दिर का निर्माण करने का जब मानसिंह ने विचार किया, उस समय अकबर बादशाह पूर्वी राजस्थान के लाल पत्थर से आगरे के किले का निर्माण करवा रहे थे। इस लाल

---

१. भक्तिरत्नाकर में खड़दहसे जान्हवादेवी द्वारा गोपीनाथके श्रीविग्रह के लिए भी एक राधा-मूर्ति वृन्दावन भेजे जाने का उल्लेख है (१३/६६-८१)।

2. (It) is the most impressive religious edifice that Hindu art has ever produced, at least in upper India." Growse : District Memoirs of Mathura, p. 123.

३. सतीशचन्द्र मित्र : सप्त गोस्वामी, पृ. १८०

पत्थर को प्राप्त करने का और किसी को अधिकार नहीं था। पर मानसिंह उस समय अकबर के सेनापति थे, और उनके बड़े विश्वासपात्र थे। मानसिंह के अनुरोध पर उन्होंने गोविन्ददेव के मन्दिरके लिए बिना मूल्य इस पत्थर को देने की अनुमति दे दी।[1] एक सौ तीस बीघा जमीन भी मन्दिर की सेवाके लिए भेंट कर दी।

मानसिंह की मृत्यु (सन् १६१४) के बाद सौ वर्ष से भी अधिक यह मन्दिर अपने पूरे गौरव-गरिमा के साथ भक्तों और तीर्थ-यात्रियों के आकर्षण का प्रधान केन्द्र बना रहा। पर हिन्दू-विद्रोही बादशाह औरंगजेब के नेत्रों में इसका खटकना स्वाभाविक था। उसके द्वारा मन्दिर को नष्ट किये जाने के भय से गोविन्ददेवको पहले आमेर की घाटीमें एक मन्दिर बनवाकर उसमें विराजमान किया गया। जब महाराज जयसिंहने जयपुर बसाया, तब पहले जयनिवासमें मन्दिर बनवाकर उसमें गोविन्दजीको ले जाया गया। उसके सामने चन्द्रमहलका निर्माण इस प्रकार किया कि राज महलसे गोविन्ददेवके दर्शन कर सकें। राजा वैष्णव थे। वे गोविन्ददेव को ही रियासतका राजा मानते और स्वयं उनके दीवानकी हैसियतसे राजकार्य चलाते। रियासतकी मोहर पर लिखा होता "महाराजाधिराज श्रीश्रीगोविन्ददेवजी, दीवान महाराजा जयसिंह।" आज भी गोविन्ददेव उसी मन्दिरमें विराजमान हैं। महाप्रभुके गौरगोविन्द विग्रह भी उनके दाहिने पार्श्वमें उसी सिंहासनपर विराजमान हैं।

वृन्दावनके मन्दिर का प्रधान चूड़ा इतना ऊँचा था कि उसके आलोक मंचसे विच्छुरित आलोकराशि आगरासे देखी जा सकती थी। जब औरंगजेबको पता चला कि यह आलोकराशि हिन्दुओं के इस मन्दिरकी है, तो उसने एक फौजदार को भेजकर उसके मूल मन्दिर और उससे संलग्न पांच चूड़ा ध्वंस करवा दिये।[2]

फौजदारके वृन्दावन आने के पूर्व ही गोविन्ददेव के विग्रह और अन्य प्रधान-प्रधान विग्रहोंको जयपुर पहुँचा दिया गया था।

दिल्ली के बादशाह मोहम्मद शाहके राजत्वकाल (१७२९-४८) में किसी समय वृन्दावनवासी भक्तों ने गोविन्दजीकी एक प्रतिमूर्ति तैयार करवाकर पुराने गोविन्ददेस के मन्दिर के निकट एक और मन्दिरमें पधरा दी। सन् १८१९ में नन्दकुमार बसू नामक एक भक्तने मानसिंह के मन्दिरके उत्तर पश्चिम में एक नया मन्दिर बनवाकर उस मूर्तिको वहाँ स्थापित किया। आज भी गोविन्ददेव वहीं विराजमान हैं।

---

१. सतीशचन्द्र मित्र : सप्त गोस्वामी, पृ. १८०

२. सप्त गोस्वामी वही, पृ. १८३

ग्रन्थ-रचना

रूप गोस्वामीने शास्त्रों की सहायतासे व्रज की सीमा निर्धारित की और लुप्त तीर्थोंका उद्धार कर लीला-स्थलियोंको चिन्हित किया। श्रीविग्रह-सेवा प्रचार और लुप्त तीर्थ-उद्धारके साथ-साथ उनका वैष्णव-शास्त्र-रचना का कार्य चलता रहा। उनका कृष्ण-लीला और कृष्ण-रसपूर्ण काव्य-वैष्णव जगत्को उनका बहुत बड़ा अवदान है।

"वे आजन्म कवि थे और अल्पावस्थामें परमपंडित हो गये थे। उनकी लिपि जैसी मुक्ता-पंक्तिके समान सुन्दर थी, वैसी ही उनकी भाषा मार्जित, अलंकृत और निरुपम कवित्वपूर्ण थी। उनकी रचना सर्वत्र गंभीर चिंताशीलताका परिचय देती है, उनके श्लोक नव-नव भाव, सुन्दर शब्दावली, विषयानुरूप गाम्भीर्य और काव्यरसकलासे भरपूर हैं। गुरु-गम्भीर शब्द सम्भारसे भाराक्रान्त श्लोक को देखते ही समझमें आ जाता हैं कि यह रूप गोस्वामी की लेखनी-प्रसूत है और उसके अर्थ की उपलब्धि होते ही उसके कवित्व-कौशल से मुग्ध हुए बिना नहीं रहा जा सकता ।.......

राजकर्मचारी रहते हुए भी वे ज्येष्ठ भ्राता के साथ शास्त्रचर्चा से कभी विरत न हुए। उस समय भी उनकी काव्य-प्रतिभा किसी से छिपी नहीं थी । पर संसार त्यागकर वृन्दावन आ जाने के पश्चात् जब वे राशि-राशि शास्त्र-ग्रन्थों को एकत्र कर एकाग्रचित्त हो उनमें मनोनिवेश कर बैठते,तब उनका चिंतास्त्रोत स्वभावतः उच्छलित हो पड़ता । भाषा आकर दासी की तरह उसे लोकशिक्षा के लिये ग्रन्थित कर रख देती। जाने कितने काव्य, नाटक, स्तोत्र, सारार्थ-व्याख्या और संग्रह-ग्रन्थादि उनकी लेखनी से प्रकट होते।"[1]

वैष्णवीय साधना और सिद्धि के मूर्त-विग्रह श्रीरूप गोस्वामी ने जिन ग्रन्थों की रचना की, उनमें से प्रत्येक वैष्णव साहित्य का अनमोल रत्न है, प्रत्येक शुद्धा-भक्ति के पथके पथिक के लिए एक आलोक-स्तम्भ है, क्योकि उसकी आधार-शिला कोरा शास्त्र-ज्ञान ही नहीं, ऐसा शास्त्र-ज्ञान है, जो उनंकी दीर्घकालीन रागानुगा-भक्ति की साधना के अनुभवों से परिपुष्ट है।

उनके ग्रन्थों की तालिका और संक्षिप्त परिचय हम आगे देंगे। यहाँ उनके व्यक्तित्व पर कुछ और प्रकाश डालेंगे।

दैन्य

रूप गोस्वामी इतने बड़े पंडित, कृष्णरसवेत्ता और तत्कालीन वैष्णव समाज के महान नायक थे, तो भी उन्हें अभिमान छूकर नहीं गया

1. सप्त गोस्वामी, पृ. 186-187

था। वे वैष्णवीय दैन्य और विनय की साक्षात् मूर्ति थे। उनके पांडित्य और शास्त्र–ज्ञान के विषय में सुनकर दूर–दूर से दिग्विजयी पंडित और आचार्यगण आते उनसे शास्त्रार्थ करने। पर वे उनके साथ तर्क–वितर्क में कभी न जुटते। बिना तर्क किये ही उन्हें विजय–पत्र लिख देते, जिससे वे प्रसन्न हो चले जायें और उनके भजन–साधन और शास्त्र–रचना कार्य में अधिक विक्षेप न हो। पर इतना दीन होते हुए भी वैष्णवीय रीति–नीति और दैन्य की रक्षा करने में कठोर थे।

इस सम्बन्ध में एक विशेष घटना उल्लेखनीय है। कुछ समय बाद रूप गोस्वामी के भतीजे, चौबीस वर्षीय ब्रह्मचारी, महान प्रतिभाशील श्रीजीव काशीधाम में प्रसिद्ध वेदान्ती श्रीमधुसूदन वाचस्पति के निकट वेदान्त और न्याय की शिक्षा समाप्त कर रूप–सनातन का पथ अनुसरण करते हुए संसार त्यागकर वृन्दावन चले आये थे और उनसे दीक्षा लेकर ग्रन्थ–रचना में उनके साथ सहयोग करने लगे थे।

भक्तिरत्नाकर में उल्लेख है कि एक बार श्रीपाद बल्लभाचार्य आये रूप गोस्वामी से मिलने। उस समय वे, 'भक्तिरसामृतसिन्धु' लिख रहे थे। जीव पास बैठे उन्हें पंखा कर रहे थे। वल्लभाचार्य जी ने भक्तिरसामृतसिन्धु के एक श्लोक में कुछ संशोधन का प्रस्ताव रखा। रूप ने या तो उसे उचित जान, या अपने स्वाभाविक दैन्य और आचार्य पाद के प्रति आदर भाव के कारण उसे स्वीकार कर लिया। पर जीव को यह सहन न हुआ। जब वल्लभाचार्य जमुना–स्नान को गये, वे उनके पीछे उनके पात्र वस्त्रादि साथ लेकर गये। उस समय श्लोक का ठीक अर्थ समझाकर उन्होंने उन्हें अपना संशोधन वापिस लेने को राजी कर लिया।[1]

रुपगोस्वामी को जीव का आचरण वैष्णवीय दैन्य और रीति–नीति के प्रतिकूल लगा। उन्होंने उन्हें बुलाकर कहा–"तू वैराग्य वेश के योग्य नहीं। तेरे भीतर दम्भ और क्रोध भरा है जिसके कारण तूने आचार्य का अपमान किया। मैं तेरा मुँह नहीं देखना चाहता। चला जा यहाँ से। लौट कर तभी आना जब हृदय शुद्ध कर लेना और वैराग्यवेश के लिये योग्य

---

१. इसका यह अर्थ नहीं कि जीव गोस्वामी ने वल्लभाचार्य के पांडित्य को चुनौती देकर उन्हें परास्त किया। यहाँ पांडित्य का तो प्रश्न ही नहीं था। प्रश्न था उस श्लोक के यथार्थ भाव को ग्रहण करने का। श्लोक (भ.र.स. १।२।२२) में मुक्तिके प्रसंग में 'पिशाची' शब्द के प्रयोग को देख वल्लभाचार्य को मुक्ति की अमर्यादा करना जैसा लगा था, और भावोद्रेकके कारण उनका ध्यान श्लोक के सही अर्थ की ओर नहीं जा सका था, जिसमें मुक्ति को नहीं मुक्ति की स्पहा को पिशाची गया गया था। जीव गोस्वामी ने उनका ध्यान उस ओर आकर्षित कर उनको संतुष्ट किया था।
इस घटना का विस्तृत वर्णन हम जीव गोस्वामी के चरित्र में आगे करेंगे।

बन जाना।

साधारणतः दैन्य और विनय की मूर्ति, पर वैष्णवीय नीति और आचरण की रक्षा के लिये वज्र से भी कठोर, रूप गोस्वामी को अपने प्रिय शिष्य को विताड़ित करने में एक मुहूर्त भी न लगा–ऐसे शिष्य को जिसे उन्होंने सब तरह से योग्य जान अपने हाथ से तैयार किया था वृन्दावन के भक्ति–साम्राज्य के भविष्यत् अध्यक्ष पद के लिये।

गुरु–आज्ञा पालन कर रोदन करते–करते जीव वहाँ से चल दिये। वृन्दावन से दूर जंगल में एक पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। गुरुदेव की आज्ञानुसार हृदय शुद्ध करने के लिये और वैराग्य–वेश की योग्यता प्राप्त करने के लिये आरम्भ की कृच्छ्र साधना। बहुत दिन तक अल्पाहार, अनाहार, अनिद्रा आदि के कारण शरीर बहुत दुर्बल हो गया। प्राण शरीर को छोड़ जाने के लिये किसी शुभ क्षण की प्रतीक्षा करने लगे। तब दैवयोग से सनातन गोस्वामी वन–भ्रमण करते हुए उधर आ निकले। उनकी दशा देख उनका हृदय द्रवित हो गया। उनके इंगित से जीव का प्रायश्चित पूरा हुआ जान रूप गोस्वामी ने उन्हें फिर से अङ्गीकार किया।

राधारानी की कृपा

लुप्त तीर्थों के उद्धार और ग्रन्थ–रचना आदि कार्यों में संलग्न रहते हुए भी रूप गोस्वामी की आन्तरिक साधना चलती रही। उनके ग्रन्थों की समाप्ति में दिये विवरण से पता चलता है कि भजन की सुविधा की दृष्टि से वे अपने रहने का स्थान बदलते रहते। कभी भद्रवन में रहते, कभी नन्दीश्वर के निकट, कभी गोवर्धन की तरेटी में सनातन गोस्वामी के भजन–कुटी में और कभी राधाकुण्ड में रघुनाथदास गोस्वामी और कृष्णदास कविराज के सान्निध्य में। इस बीच उनके और उनके इष्ट राधा–कृष्ण के बीच जो घटनायें घटीं उन्हें कौन जाने? पर उनमें से कुछ बहुत प्रचलित हैं, जिनका हम यहाँ उल्लेख करेंगे।

बहुत दिन हो गये रूपगोस्वामी को धाम में रहते और धामेश्वरी का चिन्तन करते। पर उनकी साक्षात् कृपा का अनुभव उन्हें न हुआ। एक बार जब वे नन्दग्राम में रह रहे थे, उनकी कृपा न प्राप्त कर सकने के कारण उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ। क्षोभ बढ़ता गया। राधारानी का विरह असह्य हो गया। प्राण उनकी कृपा के बिना छटपट करने लगे। खाना–पीना छूट गया। मधुकरी को जाना बंद हो गया।

उसी समय संवाद मिला कि सनातन गोस्वामी आ रहे हैं उन्हें देखने। वे चिन्ता मे पड़ गये कि गुरु–तुल्य अपने अग्रज की कैसे, क्या सेवा करें। वासना जागी कि कहीं से आवश्यक सामग्री उपलब्ध होती तो खीर बनाकर उन्हें खिलाते। पर सामग्री आती कहाँ से? किसी से कुछ

मांगने का उनका नियम था नहीं। मधुकरी को जाते तो बिना मांगे रोटियों/ के टूक और मिलता ही क्या? वासना दबा देनी पड़ी।

उसी समय एक वृज-बालिका आयी दूध, चावल, शक्करादि बहुत सा सामान लेकर। बोली-"बाबा तू मधुकरी को नाय गयौ कई दिना ते। भूखौ होयगो। माँ ने तेरे तंई सामान भेज्यौ है। खीर बनाय के पाय लीजौं।"

रूपगोस्वामी अवाक्! सनातन गोस्वामी को खीर खिलाने की उनकी वासना जागते ही सामान प्रस्तुत! यह कैसी राधारानी की कृपा! उन्होंने तनिक भी विलम्ब न किया। तत्काल ही बालिका की माँ को प्रेरणा देकर सामान भिजवा दिया।

रूपगोस्वामी यह सोच रहे थे और उनकी आंखों से आंसूओं का निर्झर बह रहा था। राधारानी की कृपा देख उनका हृदय द्रवित हो रहा था। पर हृदय का क्षोभ फिर भी कम नहीं हो रहा था। वह तो और बढ़ ही रहा था। राधारानी कृपा करती हैं तो भी दूर रहकर लुक-छिपकर दूसरों के माध्यम से करती हैं, मुझे कुपात्र जान स्वयं सामने न आना ही ठीक समझती हैं-वे सोच रहे थे।

बालिका उनकी ओर विस्मय से देख रही थी। देखते-देखते बोली-"बाबा तू रोबे कायको है? दुर्बल है, खीर बनायवे की शक्ति नाँय जा मारे? तों ला खीर मैं बनाय दऊँ।"

"ना लाली, खीर तो मैं बना लूंगा। दुर्बल नहीं हूँ।"

"बाबा, तेरो मोंहड़ो तो सूख रह्यौ है। हाथ-पैरन में जान दीखे नाँय। खानो-पीनो बन्द कर राख्यौ है। मधुकरी को जाय नाँय, तो दुर्बल तो आपई होयगो। च्यौं नई जाय मधुकरी को?

"लाली, मधुकरी के लिये ही क्या वृज में पड़ा हूँ। पड़ा हूँ। व्रजेश्वरी की कृपा के लिए। जब वे कृपा करती ही नहीं, तो मधुकरी करके क्या करुँगा?"

"बाबा, तू जाने नाँय। कृपा तो तोपै हय रही है। तबई तो तोको हियाँ राख राख्यौ है राधारानी ने। माँ कह्यौ करै बाकी कृपा के बिना कोऊ व्रज में रह नाँय सके। जासों तू दुःख मति करे, अच्छो। मैं जाऊँ। खीर बनाय के पाय लीजों, नई राधारानी दुःख पामेंगी।" वह बालिका स्नेहभरी दृष्टि से बाबा की ओर देखती और मुस्कराती वहाँ से चली गयी।

मृदु-मधुर स्वर में भोली बालिका के अन्तिम शब्दों ने और उसकी स्नेहमयी मधुमयी दृष्टि ने बाबा के हृदय में एक नये आलोडन की सृष्टि की।

थोड़ी देर में सनातन गोस्वामी आ गये। खीर बनाकर रूपगोस्वामी ने उन्हें खिलायी। खीर की अप्राकृत सुगंध और स्वाद से वे चमत्कृत रह गये। उसे खाकर जो अप्राकृत नशा चढ़ा, उसे देख उनका कौतूहल और भी बढ़ गया। रूपगोस्वामी से उन्होंने कहा–"रूप, ऐसी खीर तो मैंने कभी नहीं खाई! तुमने कैसे बनायी?"

रूपगोस्वामी ने सब वृतांत कह सुनाया। सुनते ही सनातन गोस्वामी के शरीर में एक सिहरन दौड़ गयी। वे अश्रुसिक्त विस्फारित नेत्रों से रूपगोस्वामी की ओर देखते रह गये। कुछ देर बाद बोले–"रूप! तुम नहीं जानते कि वह बालिका जो खीर की सामग्री लाई थी कौन थी। वे स्वयं राधारानी थीं। तुमने उन्हें इतना कष्ट दिया। वे अपने भक्त को भूखा कब देख सकती हैं? अब फिर कभी जान–बूझकर भूखे रहने की बात न सोचना।"

"और देखो, अपने लिये या किसी और के लिये किसी वासना को भी हृदय में स्थान न देना। भक्त की वासना की पूर्ति के लिये ही राधारानी स्वयं चंचल हो उठती हैं। तुम्हारे हृदय में मुझे खीर खिलाने के लिए जो वासना हुई थी वह भी एक कारण है उनके स्वयं इतना कष्ट करने का।"

यह सुन रूप गोस्वामी के नेत्रों से भी अश्रुधार बह चली। बालिका के अन्तिम शब्द "खीर बनाय के पाय लीजो, नई राधारानी दुःख पामेगी" उनके कर्णद्वार में गूँजकर अश्रुधार को रोकने में वाधा डालने लगे। वे खीर खाते जाते और प्रेमाश्रु उमड़–उमड़ कर उन्हें अनिर्वचनीय भाव राज्य में बहाकर ले जाते जान पड़ते।

उन्हें सनातन गोस्वामी के वचनों की पुष्टि के लिये किसी बाह्य साक्ष्य की आवश्यकता तो थी नहीं। पर बाह्य साक्ष्य से भी उनकी पुष्टि अपने–आप हो गयी, जब वे दूसरे दिन उस बालिका के घर गये मधुकरी को। उसे वहाँ न देखकर घरवालों से पूछा, तो उन्होंने कहा–"वह तो बहुत दिनों से मासी के घर दूसरे गाँव गयी है। अभी आयी कहाँ है?"

अब और भी इस बात में संदेह करने का कोई अवकाश न रहा कि उस व्रज–बालिका के रुप में राधारानी ही आयी थीं खीर की सामग्री लेकर। आना तो था ही उन्हें। अपने दोनों प्रिय भक्तों की एक साथ सेवा करने का अवसर उन्हें फिर कब मिलता?

प्रियादास जी ने भक्तमाल की टीका में सूत्ररूप में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है–

रहे नंदगाँव रूप, आये श्रीसनातन जू,
महासुखरूप भोग खीर कौ लगाइयै।।

नेकु मन आई, सुखदाई प्रिया लाड़िली जू,
मानौ कोऊ बालकी सुसोज सब ल्याइयै।।
करिकै रसोई सोई, लै प्रसाद पायौ,
भायो, अमल सो आयो बढ़ि, पूछी, सो जताइयै।।
"फेरि जिन ऐसी करौ, यही दृढ़ हिये धरौ,
ढरौ निज चाल" कहि आँखें भरि आइयै।। ३५९।।

गोपालकी कृपा

रूप गोस्वामी के साथ इससे पूर्व घटी एक और घटना से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उनकी वासना की पूर्ति के लिए स्वयं उनके इष्ट को कष्ट करना पड़ता। चैतन्य–चरितामृत में उल्लेख है कि एक बार उनके मन में वासना जागी गोपाल (श्रीनाथजी) के दर्शन करने की। गोपाल का मन्दिर गोवर्द्धन पर्वत के ऊपर था। गोवर्द्धन पर्वत पर रूप गोस्वामी चढ़ते नहीं थे, क्योंकि वे उसे साक्षात् श्रीकृष्ण का विग्रह मानते थे। ऐसी स्थिति में उनकी वासना पूरी करने के लिए गोपाल को स्वयं उनके निकट आना पड़ा। उन्होंने कुछ ऐसी माया फैलायी, जिससे उनके भक्तों को उनके मन्दिर पर म्लेक्षों के आक्रमण का भय हो गया। वे उन्हें मथुरा ले गये। वहाँ विट्ठलेश्वर के घर गोपाल ने एक महीने उनकी सेवा स्वीकार की। उस बीच रूप गोस्वामी ने गोपालभट्ट, भूगर्भ गोस्वामी, जीव गोस्वामी आदि अपने निज जनों के साथ मथुरा में रहकर एक मास तक उनके दर्शन किये–

तबे रूप गोसाञी सब निजजन लञा।
एकमास दर्शन कैला मथुराय रहिया।।
(चै. च. २।१८।४८)

वैष्णव अपराध

कुछ दिन बाद राधाकृष्ण की कृपाकी वृष्टि रूपगोस्वामीपर निरन्तर होने लगी। उन्हें प्राय हर समय उनकी मधुर लीलाओं की स्फूर्ति होती रहती। पहले तो जो कोई भी उनके पांस आता अपनी कुछ शंकाए लेकर या भजन–साधन में अपनी कुछ समस्याएं लेकर, वे बड़े ध्यानसे उसकी बात सुनते, मृदु वचनों से उसकी शंकाओंका समाधान करते, आवश्यक निर्देश देकर साधन–संबंधी उसकी समस्याओं को हल करते। जो भी उनके पास आता म्लानमुख लेकर उनसे बिदा होता एक अकथनीय आनन्दलहरी से व्याप्त मन और प्राण लेकर। पर अब अकसर उन्हें किसी के आने–जाने का पता भी न चलता। लोग आते उनके पास, उनके वचनामृत से तृप्त होने। पर कुछ देर उनके पास बैठकर प्यासेही लौट

आते।

एक बार कृष्णदास नामके एक विशिष्ट वैष्णव-भक्त, जो पैरसे लंगड़े थे, उनके पास आये कुछ सत्संग के लिए। उस समय वे राधा-कृष्णकी एक दिव्य लीलाके दर्शन कर रहे थे। राधा एक वृक्षकी डालसे पुष्प तोड़ने की चेष्टाकर रही थी। डाल कुछ ऊंची थी। वे उचक-उचककर उसे पकड़ना चाह रही थीं, पर वह हाथमें नहीं आ रही थी। श्यामसुन्दर दूरसे देख रहे थे। वे आये चुप्के से और राधारानीके पीछेसे डालको पकड़कर धीरे-धीरे इतना नीचा कर दिया कि वह उनकी पकड़में आ जाय। उन्होंने जैसे ही डाल पकड़ी श्यामसुन्दरने उसे छोड़ दिया। राधारानी वृक्षसे लटककर रह गयीं। यह देख रूपगोस्वामी को हंसी आ गयी। कृष्णदास समझे कि वे उनका लंगड़ापन देखकर हंस दिये। क्रुद्ध हो वे तत्काल वहाँसे चले गये! रूपगोस्वामीको इसका कुछ भी पता नहीं।

अकस्मात् उनकी लीला-स्फूर्ति बन्द हो गयी। वे बहुत चेष्टा करते तो भी लीला-दर्शन बिना उनके प्राण छट-पट करने लगे। पर इसका कारण वे न समझ सके। सनातनगोस्वामीके पास जाकर उन्होंने अपनी व्यथाका वर्णन किया और इसका कारण जानना चाहा। उन्होंने कहा-"तुमसे जाने या अनजाने कोई वैष्णव-अपराध हुआ हैं, जिसके कारण लीला-स्फूर्ति बन्द हो गयी हैं। जिनके प्रति अपराध हुआ है, उनसे क्षमा मांगनेसे ही इसका निराकरण हो सकता है।"

जान-बूझकर तो मैंने कोई अपराध किया नहीं। यदि अनजाने किसी प्रति कोई अपराध होगया हैं, तो उसका अनुसन्धान कैसे हो?' रूपगोस्वामीने पूछा।

"तुम वैष्णव-सेवाका आयोजनकर स्थानीय सब वैष्णवोंको निमन्त्रण दो। यदि कोई वैष्णव निमन्त्रण स्वीकार न करे, तो जानना कि उसी के प्रति अपराध हुआ है" सनातनगोस्वामीने परामर्श दिया।

रूप गोस्वामीने ऐसा ही किया। खंज कृष्णदास बाबाने निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। जो व्यक्ति निमन्त्रण देने भेजा गया था, उससे उन्होंने रूप गोस्वामीके प्रति क्रोध व्यक्त करते हुए उस दिनकी घटनाका वर्णन किया।

रूपगोस्वामीने जाकर उनसे क्षमा माँगी और उस दिनकी अपनी हंसीका कारण बताया। तब बाबा संतुष्ट हुए और रूप गोस्वामीकी लीला-स्फूर्ति फिरसे होने लगी।

साधकों के लिए इस घटना का विशेष महत्व है। लगता है साधकोंको बैष्णव-अपराधसे भली प्रकार सावधान करनेके लिए ही श्रीमन

महाप्रभुकी इच्छासे यह घटना घटी। उन्होंने रूप गोस्वामीको शिक्षा देते समय वैष्णवापराधकी असाधारण बल जतलाते हुए कहा था कि भक्ति एक सुकोमल लताके समान है और वैष्णव-अपराध मत्त हाथी के समान। वैष्णव-अपराध भक्ति-लताको समूल उखाड़ फेंकनेकी सामर्थ्य रखता हैं। इसलिए साधकरूपी मालीको उसे यत्नसे ढककर और अपराधरूपी हाथी से बचाकर रखना चाहिए-

यदि वैष्णव-अपराध उठे हाथी माता।
उपाड़े वा छिंडे ता शुखि जाय पाता।
ताते मालि जत्न करि करे आवरण।
अपराध हस्तीर जैछे ना हय उद्गम।।

(चै. च. १६/१५६-५७)

खेदका विषय है कि आज के भक्त-साधक वैष्णव-अपराधके सांघातिक प्रभावको नहीं समझते। संकीर्ण साम्प्रदायिकताके नाते या द्वेषभाव रखने के कारण वे दूसरे वैष्णव-भक्तों, महात्माओं और आचार्योंकी निन्दा या उनका अनादर करनेमें नहीं चूकते। हरिभक्तिविलासका कथन हैं कि किसी वैष्णवके प्रति द्वेष रखने, क्रोध करने, उसका अनादर करने, उसकी निन्दा करने, उसपर प्रहार करने, या उसे देखकर हर्ष न प्रकाश करने से पतन होता है-

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति।
क्रुद्ध्यते याति नो हर्ष दर्शने पतनादि षट्।।

(हरिभक्तिविलास १०/२३९)

वैष्णव-अपराधसे भगवान्‌को दुःख होता है और अपराध करने वाला भक्त हो तो भी यमपुर जाता है, ऐसा सूरदासजीने कहा है-

भक्त अपराधे हरि दुःख पइ हैं।
सूरदास भगवन्त बदत यों मोहि भजत ते यमपुर जइहैं।।

वैष्णव-अपराधसे रक्षा करने की सामर्थ्य स्वयं भगवान् में भी नहीं है। जिसके प्रति वैष्णंव-अपराध हो वही जबतक क्षमा न करे तबतक भीषण परिणाम से रक्षा पानेका कोई उपाय नहीं। श्रीमद्भागवत के दुर्वासा-अम्बरीष उपाख्यान से यह स्पष्ट है।

गम्भीर आशय

रूप गोस्वामीका आशय इतना था और सात्विक-भावोंको भीतर समा लेनेकी उनमें ऐसी अद्भुत शक्ति थी कि बाहरसे देखकर उनके भावकी गम्भीरताका अनुमान करना कठिन होता। एक बार एक समाज में भगवान के रूप-गुणादिका सुन्दर कीर्तन हो रहा था। उसके अलौकिक प्रभाव से भक्तगण इतना अभिभावित हुए कि सात्विक-भावोंके वेगको न

रोक सकनेके कारण वे मूर्च्छित होने लगे।

पर रूप गोस्वामी धीर–गम्भीर ऐसे खड़े रहे, जैसे उन्हें भावने स्पर्श भी नहीं किया। उसी समय कविकर्णपूर उस समाजमें जा पहुँचे। उन्होंने रूप गोस्वामीको निकटसे देखा। उन्हें लगा जैसे उनकी श्वास मेंसे आगकी लपटें निकल रही हैं। प्रियादासजी ने भक्तमाल की भक्तिरस–बोधिनी टीका में इस घटनाका इस प्रकार वर्णन किया है–

रूप-गुणगान होत, कान सुनि सभा सब, अति अकुलाने
प्रान मूर्छा सी आई है।
बड़े आप धीरे रहे ठाढ़े, न शरीर सुधि, बुधि मैं
न आवै ऐसी बात लै दिखाई है।।
श्रीगुसाई कर्णपूर पाछे आये देखे आछे, नेकु ढिग गये।
स्वास लाग्यौ तब पाई है।
मानों आगि आंच लागी, ऐसो तन चिह्न भयौ
नयौ यह प्रेम रीति कापै जात गाई है।।

तिरोभाव

सन् १५५४ में ९० वर्षकी आयुमें सनातन गोस्वामीका अन्तर्धान हुआ। अभिन्नात्मा सनातन गोस्वामीके अप्राकट्यके साथ रूप गोस्वामीके प्राण भी मानो विदा हो गये। निष्प्राण देहको लेकर उन्होंने अग्रज की अन्त्योष्टि क्रिया समन्न की, चिता–भस्म लाकर मदनमोहनके मन्दिरके निकट समाधि स्थापित की, विराट् महोत्सव किया। तब शोकाष्छन्न अवस्थामें कुटीमें प्रवेश किया। निरन्तर कुटीके भीतर रहकर जप और ध्यानमें सलग्न रहे। एक ही मासके भीतर एक दिन अपने इष्टदेवकी ओर देखते–देखते सदा के लिए नेत्र मूँद लिए।

आषाढ़ी पूर्णिमाको सनातन गोस्वामीका अन्तर्धान हुआ, श्रावणी शुक्ला द्वादशीको रूप गोस्वामीका। जैसे एक साथ दोनों भ्राताओंने सब ऐश्वर्य त्यागकर एकात्म भावसे वृन्दावनवास किया था, वैसे ही एक साथ संसार त्यागकर नित्य वृन्दावनमें प्रवेश किया।

भारतके आध्यात्मिक–आकांशके दो अत्युज्ज्वल नक्षत्र शून्य में विलीन हो गये। पर वे अपना आदर्श और अवदान छोड़ गये, जिसका उल्लेख नाभाजी ने भक्तमालमें इस प्रकार किया है–

व्रज भूमि रहस्य राधाकृष्ण भक्त तोष उद्धार कियौ।
संसार स्वाद सुख बात ज्यों दुहू रूप-सनातन तजि दियौ।।

प्रियादासजीने अपनी टीकामें उसका खुलासा यों किया हैं–

वृन्दावन वृज भूमि जानत न कोऊ प्राय,
दई दरसाय जैसी सुख-मुख गाई है।

रीति हू उपासना की भागवत अनुसार,
लियो रस सार सो रसिक सुखदाई है।।

चैतन्य–चरितामृत में कृष्णदास कविराज ने दोनों गोस्वामियोंके अवदानके सम्बन्धमें लिखा है–

सनातन कृपाय पाइनु भक्तिर सिद्धान्त।
श्रीरूप कृपाय पाइनु रस भार प्रान्त।।

अर्थात् सनातन गोस्वामीकी कृपासे हमें भक्तिके सिद्धान्त की उपलब्धि हुई और रूप गोस्वामीकी कृपासे रसके साम्राज्य की।

रसिक शिरोमणि व्यासजी ने भक्ति–रसके भंडारी दोनों भाइयों के अन्तर्धान पर व्रजके साधु–समाजकी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि अब व्रज के लोग अनाथ हो गये, अब यहाँ रसिकजन रसकी अपनी प्यास बुझानेके लिए किसके पास जायेंगे? करुणासिन्धु श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की कृपा से रस के जो दो स्त्रोत फूटे थे उनका प्रवाह समाप्त हो गया। अब तो सुखे पत्ते चबाकर ही रह जाना है–

करूणासिन्धु कृष्ण–चैतन्न् की कृपा फली दुहुँ भ्रातन।
तिनु बिनु 'व्यास' अनाथ भये सब सेवत सूखे पातन।।

(व्यासवाणी, २२)

श्रीरूप गोस्वामी को श्रीचैतन्य महाप्रभुके रस–सिद्धान्त की साक्षात् मूर्ति माना गया है। श्रीपाद रामदास बाबाजी महाराजने अपने कीर्तन[1] में कहा है–

"गौरांग निगूढ़ मनोवृत्ति, श्रीरूप रूपे धरे छे मूरति।"[2]

अर्थात् श्रीगौरांग महाप्रभुकी निगूढ़ मनोवृत्ति ही मूर्ति धारण कर रूप गोस्वामी के रूपमें प्रकट हुई हैं।

इसी प्रकार श्रीनरोत्तम दास ठाकुरने 'प्रेमभक्ति–चन्द्रिका' के मंगला–चरण में "श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले" कहकर उनकी वन्दना की है।

कवि कर्णपूरने तो रूप गोस्वामीको श्रीचैतन्य महाप्रभुका 'एकरूप' ही कहा है–

प्रिय स्वरूपे दयित स्वरूपे प्रेम स्वरूपे सहजाभिरूपे।
निजानुरूपे प्रभुरेक रूपे ततान रूपे स्वविलास रूपे।।

---

१. श्रीरामदास बाबाजी महाराज के कीर्तन प्रसिद्ध हैं। उन्हें कीर्तन करते समय भावाविष्ट अवस्थामें छंदबद्ध कीर्तनोंकी स्वतः स्फूर्ति होती थी। दूसरे लोग लिख लिया करते थे। उनके स्वतः स्फूर्त कीर्तन 'श्रीगुरु-कृपार-दान' के नामसे कई खण्डोंमें पाठबाड़ी आश्रम, कलकत्तासे प्रकाशित हैं।

२. श्रीगुरुकृपारदार, पृ. ११८

माध्व–गौड़ीय सम्प्रदायमें रूप गोस्वामी व्रजकी रूप–मंजरी' भी हैं। रूप–मंजरीकी कृपाके बिना व्रजमें राधा–कृष्णकी प्रेम–सेवाका अधिकार नहीं मिलता–

श्रीरूप जारे देय हाते धरे किशोरी अंगीकार करेन तारे
एइ आमार नव दासी बले–
श्रीरूपेर कृपा बिने भाई–श्रीराधारमन पाबार आर उपाय नाइ।

रूपगोस्वामीके ग्रन्थों की तालिका

जीव गोस्वामीने 'लघुवैष्णवतोषणी' में अपने वंशका परिचय देते समय रूप गोस्वामीके ग्रन्थों की एक तालिका दी है, जिसमें इन ग्रन्थोंका उल्लेख है–

1. हंसदूत, उद्धव–संदेश और अष्टदश लीला–छन्द नामक 3 काव्य,

2. स्तवमाला, उत्कलिकावली, गोविन्द–विरुदावली और प्रेमेन्दु सागर नामक 4 स्तोत्र–ग्रन्थ,

3. विदग्ध–माधव और ललित–माधव नामक 2 नाटक,

4. दानकेलि नामक 1 भाणिका,

5. भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वल–नीलमणि नामक 2 रस–ग्रन्थ और

6. मथुरा–महिमा, नाटक–चन्द्रिका, पद्यावली और लघुभागवतामृत नामक 4 संग्रह–ग्रन्थ।

परन्तु जीव गोस्वामी ने इस तालिकामें रूप गोस्वामीके मुख्य–मुख्य ग्रन्थों का ही उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक प्रबन्धों, टीकाओं और प्रकीर्ण श्लोकोंकी रचना की है। उनमें बहुत–सों को जीव गोस्वामीने उनके 'स्तवमाला' और 'पद्यावली' के अन्तर्गत संग्रहीत कर दिया है। बहुतसों को आज भी प्रकाशित और समालोचित होने का अवसर नहीं मिला हैं।

रूप गोस्वामीके चार और ग्रन्थोंका उल्लेख जीव गोस्वामीके शिष्य श्रीकृष्णदास अधिकारी की तालिकामें पाया जाता है, जिसे नरहरि चक्रवर्ती ने भक्तिरत्नाकरमें उद्धृत किया है (भ. र. १/१९६-१९९)। वे हैं (1) कृष्णजन्म–तिथि विधि, (2) वृहत्गणोद्देश–दीपिका, (3) लघुगणोद्देश–दीपिका और (4) प्रयुक्ताख्यातचन्द्रिका।[1]

---

१. डा. विमानविहारी मजूमदारने इन ग्रन्थोंके रूप गोस्वामी द्वारा लिखे जाने पर संदेह व्यक्त किया है (चै. च. उ. पृ. १४८-१४९)। पर डा. जानाने इस सम्बन्ध में उनके सभी तर्कों को निराधार सिद्ध किया है। (वृ. छ. गो. ९४-९६)

नरहरि चक्रवर्तीने अपनी ओरसे रूपकृत अष्टकाललीला–सम्बन्धित ग्यारह श्लोकोंका उल्लेख और किया है, जो 'स्मरण मंगल–स्तोत्र' के नामसे जाने जाते है। उन्होंने लिखा है कि रूप गोस्वामी ने ग्यारह श्लोक लिखकर कविराज गोस्वामीको दिये और उनका विस्तार कर "गोविन्द–लीलामृत" लिखनेकी आज्ञा की। इसकी पुष्टि गोविन्द–लीलामृत के निम्न श्लोकसे होती जान पड़ती है, जिसमें कविराज गोस्वामीने कहा हैं कि उन्होंने गोविन्द–लीलामृतकी रचना रूप–दर्शित पथानुसारकी है–

श्रीरूप-दर्शिता-दिशा लिखिताष्टकेल्या,
श्रीराधिकेश-कृतकेलिततिर्मयेयम।

-२३-९४

पर साधन–दीपिकाकार राधाकृष्णदास ने इन श्लोकों का भाष्य करते समय लिखा है कि इनकी रचना कविराज गोस्वामी ने रूप गोस्वामीकी आज्ञा से की। साधन–दीपिकामें भी उन्होंने यही लिखा है[1]। इसलिए इन श्लोकोंके रूपाकृत होनेमें सन्देह रह जाता है।

हम कह चुके है कि जीव गोस्वमी ने लघु–वैष्णतोषणीमें रूप गोस्वामीके केवल मुख्य–मुख्य ग्रन्थोंकी तालिका दी हैं। कविराज गोस्वामी ने भी चैतन्य–चरितामृत में रूप गोस्वामीके भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वल–नीलमणि, ललित–माधव, विदग्ध–माधव आदि प्रधान–प्रधान ग्रन्थोंका वर्णनकर लिखा है–

प्रधान-प्रधान किछु करिये गणन।
लक्ष ग्रन्थे कैल व्रजविलास वर्णन।।

(चै. च. २/१/३७)

अर्थात् रूप गोस्वामी ने लक्ष ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से प्रधान–प्रधानका ही यहाँ उल्लेख किया गया है। 'लक्ष' ग्रन्थोंसे मतलब है 'अनेक' ग्रन्थ, जिनका सबका उल्लेख करना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

इससे स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थोंकी तालिका जीव गोस्वामी या कृष्णदास कविराजने दी हैं, उनके अतिरिक्त बहुतसे ग्रन्थोंकी उन्होंने रचना की। उनमें से कुछ, जो प्रकाश में आये हैं, उनका उल्लेख श्रीकृष्णदास बाबा द्वारा प्रकाशित उज्ज्वलनीलमणिकी भूमिकामें किया गया हैं। वे इस प्रकार हैं–

(1) निकुंज–रहस्य–स्तव–श्रीराधागोविन्दके निकुंज विलास के वर्णनमें 32 श्लोकोंका यह स्तोत्र सर्वोपरि है। श्रीकृष्णदास बाबाने लिखा

१. साधन-दीपिका, कक्षा १

हैं कि कुछ लोगोंने अब इसका अन्य सम्प्रदायों के आचार्योंके नामसे प्रचार करने की चेष्टाकी हैं।[1] पर श्रीरूप गोस्वामीके समय में ही उनके समसामयिक वंशीवदन ठाकुरने पयार–छन्द–बद्ध भाषामें अनुवादकर उनके नामसे इसका प्रचार किया है। श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारी द्वारा ताड़ाशवाले मन्दिर, वृन्दावनसे सम्वत् १९५९ में बंगाक्षरमें इसका प्रकाशन हुआ है। श्रीकृष्णदास बाबाने देवाक्षरमें इसका प्रकाशन किया है।

(2) श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभोः–सहस्रनाम–स्तोत्रं–बंगाब्द १२८० में इसका प्रथमबार श्रीनित्यानन्द दायिनी–नामक पत्रिकामें प्रकाशन हुआ। सम्वत् २०१९ में कृष्णदास बाबाने देवनागरीमें इसका प्रकाशन किया। श्रीरूप गास्वामीने श्रीरघुनादास गोस्वामीकी प्रार्थना पर महाप्रभु चैतन्य देवके सहस्रनामोंकी रचनाकी, ऐसा इसमें उल्लेख है।

(3) उज्ज्वल–चन्द्रिका–इसमें श्रीराधिका और ललिताके कथोपकथनके माध्यमसे श्रीकृष्ण–प्रेमका वर्णन है। पुष्पिकामें रूप गोस्वामी द्वारा रचित होनेका उल्लेख है।

(4) श्रीगंगाष्टक–यह श्रीनित्यानन्द प्रभुकी कन्या श्रीगंगादेवीका स्तव है। पुष्पिकामें रूप गोस्वामीकृत लिखा है।

(5) साधनपद्धति–इसमें १०० श्लोक हैं। गद्य एवं पद्यमें इसकी रचना हैं। पुष्पिकामें रूप गोस्वामीकृत होनेका उल्लेख है।

(6) प्रेमान्धस्तव–इसकी पुष्पिकामें भी "श्रीरूपगोस्वामिविरचितः" लिखा हैं।

(7) श्रीराधाष्टक–श्रीरूप गोस्वामीके नामकी पुष्पिका सहित इसका प्रकाशन श्रीनित्यानन्ददायिनी पत्रिकामें बंगाब्द १२८० में हुआ है। यह 'स्तवमाला' के राधाष्टकसे भिन्न है।

(8) श्रीमन्त्रवद्दीपाष्टक–इसका प्रकाशन भी नित्यानन्ददायिनी पत्रिकामें बंगाब्द १२८० में हुआ है।

(9) उपासना पद्धति–श्रीरूप गोस्वामीके नामसे इसकी एक हस्तलिखित प्रंति श्रीपाद गोपी वल्लभपुरके पुस्तकालय में पायी जांती है।

डा0 जानाने मदरासकी Govt. Oriental MSS. Library के Triennial Catalogue में चढ़ी कुछ पुस्तकों का उल्लेख किया है, जिनकी पुष्पिका के अनुसार वे रूप गोस्वामी के नाम आरोपित है।[2] वे हैं–

(1) वैष्णवपूजाभिधानम् (R. No. 3053 a-48)

(2) पंचश्लोकी (R. No. 3053 a-13)

१. उज्ज्वलनीलमणि, भूमिका पृ. ९९

२. डा. जाना वृन्दावनेर छय गोस्वामी पृ. १३५-३६

(3) गदाधराष्टक (R. No. 3053 a-68)

(4) एकान्त निकुंजविलास (R. No. 3177 b)

डा. जानाने ही विभिन्न पुस्तकालयोंमें या विद्वानों द्वारा तैयार की गयी हस्तलिखित पुस्तकों की सूचियों में पायी जाने वाली कुछ और पुस्तकों के नाम दिये हैं, जिनकी पुष्पिकामें रचयिता के रूपमें रूप गोस्वामीका नाम है। वे है–

(1) अद्वैत स्तवराज (पानिहाटी ग्रन्थ मन्दिर, पोथी न. 9)

(2) जुगल स्तवराज (कलकत्ता विश्वविद्यालय, संस्कृत विभाग, पोथी न. ४५६)

(3) अनंगमंजरी स्तोत्र (बराहनगर ग्रन्थ–मन्दिर, पोथी न. स्तोत्र 2 क)

(4) श्रीसनातन गोस्वाम्यष्टकं (कलकत्ता विश्वविद्यलय, बंगलापुथीशाला, पोथी न. ६६१६)। निताइसुन्दर पत्रिका (१३४३ श्रावण, पृ.११३) में यह प्रकाशित है।

(5) अष्टकाल स्मरणी (ढाकाविश्व विद्यालय, ११२५)।

(6) साधनामृत (A. V. Kathavate's Report on the Search of Sanskrit MSS. (1904) p. 22, No. 314)

(7) शिक्षादशक (Rudolf Roth's Tubingen Catalogue, p. 10)

(8) हरेकृष्ण महामन्त्र निरूपण (Rajendra Lal Mittra's Notices of Sanskrit Manuscript, LIX, p. 77 No. 2566)

(9) उपदेशामृत

रूपगोस्वामी के मुख्य–मुख्य ग्रन्थोंका परिचय

हंसदूत–हम लिख चुके हैं कि हंसदूत की रचना रूपगोस्वामीके श्रीचैतन्यसे साक्षात् के पूर्व की गयी। यह इस बात से भी सिद्ध है कि इसके मङ्गलाचरण में श्रीचैतन्य की नमष्क्रिया नहीं है और इसमें सनातन गोस्वामी के सम्बन्ध में 'साकरतया' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो श्रीचैतन्य से साक्षात् के पूर्व उनकी 'साकरमल्लिक' उपाधि को सूचित करता है।

यह एक श्रेष्ठ वैष्णव प्रेमकाव्य है। इसकी विषय वस्तु इस प्रकार है। श्रीकृष्ण के मथुरा जाने पर एक दिन राधा विरहाग्नि शांत करने के उद्देश्य से यमुना तट पर गयीं। तटवर्ती कुञ्जों को देख कृष्ण–स्मृति जाग पड़ी। विरह–वेदना और भी तीव्र हो गयी। शोकाकुलता के कारण वे

१. वही, पृ. १३४

मूर्च्छित हो गयीं। सखियों ने पद्मपत्र रचित शय्या पर उन्हें शयन करा दिया और नाना प्रकार से प्राण रक्षा के लिये चेष्टा करने लगी। ललिता ने उसी समय यमुना के घाट पर एक हंस देखा। उसे दूत बनाकर कृष्ण के पास भेज राधा का सब हाल कहलाने का संकल्प किया। राधा की अवस्था के बारे में जो–जो कहना था उसका विस्तार से हृदय–स्पर्शी वर्णन किया। साथ ही मथुरा जाते समय मार्ग में जो–जो लीला स्थलियाँ पड़ती हैं और मथुरा पहुँचकर वहाँ के ऐश्वर्य और सौंदर्य की जो झांकी देखने में आती है, उसका सुन्दर वर्णन किया। अन्त में राधा की विरह–दशा का वर्णन कर कृष्ण को वृन्दावन आने की प्रेरणा देने को कहा।

142 श्लोकों के इस प्रेम–काव्य में रूपगोस्वामी ने अपनी कवि–प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। इसकी गोपालचक्रवर्तीकृत एक प्राचीन टीका कृष्णदास बाबा ने प्रकाशित की है।

उद्धवसन्देश–हंसदूत में जिस प्रकार ललिता हंस को दूत बनाकर कृष्ण के पास सन्देश भेजती है कृष्ण के विरह में उनकी दशा का वर्णन करने, उसी प्रकार उद्धव सन्देश में श्रीकृष्ण उद्धव को दूत बनाकर भेजते हैं राधा और अन्य गोपियों के पास उनके विरह में अपनी दशा का वर्णन करने। वे उद्धव से कहते हैं उनसे यह कहने को कि मथुरा में सब प्रकार के सुख होते हुए भी वे वृन्दावन और वहाँ की गोपिकाओं को भूले नहीं हैं, उनके प्राण सदा वृन्दावन में ही पड़े रहते हैं। वे उद्धव को यह भी उपदेश करते हैं कि उन्हें किस प्रकार वृन्दावन जाकर उनके सखाओं को प्रेम से आलिंगन करना होगा, नन्द–यशोदा को प्रणाम करना होगा, गोपियों को सान्त्वना देनी होगी और राधिका को वैजयन्तीमाला का स्पर्श करा सचेत करना होगा।

विद्वानों का मत है कि "हंसदूत की अपेक्षा उद्धव–सन्देश की भाषा और अलंकार का अपूर्वत्व अधिक चित्तग्राहीं है। इसका प्रत्येक श्लोक सुमधुर रस और सुगंभीर भाव से परिपूर्ण है। आवेग की आन्तरिकता और कारुण्यप्रकाश की विस्मयकारिता की दृष्टि से इसका दूतकाव्य में उल्लेखनीय स्थान है"[1]

अष्टादशलीला छन्द–इसके अन्तर्गत निम्नलिखित 18 स्तव हैं :

(1) नन्दोत्सवादिचरित, (2) शकट तृणावर्तभञ्जादि, (3) यमलार्जुन भञ्जन, (4) वृन्दावन गोवत्सचारणादि लीला, (5) वत्सहरणादि चरित, (6) तालवन चरित, (7) कालीय–दमन, (8) भाण्डीर क्रीड़नादि, (9)

१. डा. जाना : वृन्दावनेर छय गोस्वामी, पृ० १०१

वर्षाशरद्विहार चरित, (10) वस्त्रहरण, (11) यज्ञपत्नी प्रसाद, (12) गो–वर्द्धनोद्धरण, (13) नन्दापहरण, (14) रासक्रीड़ा, (15) सुदर्शनादि मोचनं शङ्खचूड़निधनञ्च, (16) गोपिकागीत, (17) अरिष्टवधादि, (18) रङ्ग–स्थल क्रीड़ा।

स्तवमाला–रुपगोस्वामी के बहुत से फुटकर स्तवों को एकत्र कर जीवगोस्वामी ने उन्हें स्तवमाला नाम दिया है। इसमें उन्होंने क्रम से श्रीचैतन्यदेव, श्रीकृष्ण, श्रीराधा, राधाकृष्ण (युगल) के स्तव पहले दिये हैं। उसके पश्चात् विरुदावली, नाना प्रकार के छन्दों में नन्दोत्सव से लेकर कंसवध तक की लीलाएं, चक्रबन्धादिचित्रकाव्य, गीतावली[1] और अन्त में क्रम से ललिता, यमुना, मथुरापुरी, गोवर्धन, वृन्दावन और कृष्णनामकी स्तव–पद्धति का संग्रह किया है।

इन स्तव–स्तोत्रों में गोविन्दविरुदावली भक्तजनों को बहुत प्रिय है। इसके शब्द विन्यास, कलाकौशल और अनुप्रासझंकार सहजही मन–प्राण खींच लेते हैं। पर गीतावली भी कुछ कम आकर्षक नहीं है। इसकी ध्वनि–झंकार जयदेव के गीत गोविन्द के समान है। पर राधाकृष्ण के विविध लीला–विलास की परिकल्पना रूप की अपनी है।

विदग्धमाधव–विदग्ध–माधव नाटक की रचना रूपगोस्वामी ने भगवान् शंकर के स्वप्नादेश से की, ऐसा उन्होंने नाटक में सूत्रधार के मुख से कहलाया है। हम पहले कह चुके हैं कि रूपगोस्वामी का विचार विदग्ध–माधव और ललित–माधव की विषय–वस्तु को लेकर एक ही नाटक की रचना करने का था, पर सत्यभामा के स्वप्नादेश और महाप्रभु की आज्ञा से उन्हें इन दोनों नाटकों को पृथक् करना पड़ा।

'विदग्ध' शब्द का अर्थ रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में लिखा है–'कलाविलास विदग्धात्मा' (२।१)। इस नाटक में माधव के लीलाविलास कौशल का वर्णन है, इसीलिये इसका नाम रखा है विदग्ध–माधव। नाटक का मुख्य विषय है राधा–कृष्ण का सम्मिलन। पर विरहरस का भी इसमें मर्मस्पर्शी वर्णन है। ललिता और विशाखा राधा की दूतीरूप में श्रीकृष्ण से राधा का प्रेम निवेदन करती हैं। श्रीकृष्ण भीतर से प्रसन्न होते हुए भी बाहर से राधा के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करते हैं। राधा व्यथित हो कृष्ण–विरह में प्राण त्याग देने की इच्छा प्रकट करती हैं। राधा की दशा देख विशाखा रोने लगती है। तब राधा कहती हैं–

---

२. गीतावली को रसिकमोहन विद्याभूषण ने सनातन गोस्वामी की रचना कहा है (रूप-सनातन, शिक्षामृत, २य खण्ड, पृ. ४४८)। पर साधारण रूप से विद्वान इसे रूप की ही रचना मानते हैं। यह समझ में नहीं आता कि रूप गोस्वामी के पदों के संग्रह में जीव एक रचना सनातन गोस्वामी की क्यों जोड़ेंगे।

"अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
मुधा मा रोदीर्म्मे कुरु परमिमाभुत्तर कृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे विनिहित भुजवल्लरिरियं
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिंष्ठति तनुः।।

—हे सखि! कृष्ण ने यदि मेरे प्रति निर्दयता की, तो इसमें तुम्हारा क्या अपराध? वृथा रोदन न करो। (मैं जैसे कहूँ वैसे करो) मैं मर जाऊं तो तमाल वृक्ष की शाखा से मेरी भुजाओं को बांध दो, जिससे (कृष्ण के समान काले रंग वाले) तमाल के देह को आलिंगन कर मेरा देह चिरकाल वृन्दावन में अवस्थान करे।"

कृष्ण—विरह का मनोवैज्ञानिक स्वरूप वर्णन करते हुए देवी—पौर्णमासी नान्दीमुखी से कहती हैं—

"पीड़ाभिर्नवकालकूट-कटुता-गर्वस्य निर्वासनो
निः स्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कार-सङ्कोचनः।
प्रेमा सुन्दरि! नन्दनन्दन परो जागर्त्ति यस्यास्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः।।

—सुन्दरी! श्रीनन्दनन्दन का प्रेम जिसके हृदय में उदित होता है, वही इसके वक्र—मधुर विक्रम को ठीक—ठीक जान सकता है। यह एक साथ पीड़ा और परमानन्द की सृष्टि करता है। इसकी पीड़ा सर्पशावक के विष का गर्व खण्डित करती है और इससे जो आनन्दधारा झरती है वह अमृत की मधुरिमा के अहंकार को भी संकुचित करती है।"

नाटक में राधा—कृष्ण के पूर्वराग से लेकर उनके संक्षिप्त, संकीर्ण और संभोग तक का वर्णन वेणुवादन, वेणुहरण, तीर्थविहारादि घटनाओं के घात—प्रतिघात के साथ नाटकीय कौशल से किया गया है। सात अङ्कों में लिखा यह नाटक आदि से अन्त तक मधुररस से परिपूर्ण है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी टीका लिखी है। यदुनन्दनदास ठाकुर ने इसका पद्यानुवाद किया है, जिसका नाम है—"राधाकृष्णलीलारसकदम्ब"।

ग्रन्थ का रचना—काल सन् १५३२-३३ है, जैसा कि इसकी पुष्पिका से स्पष्ट है।

ललित—माधव—ललित—माधव नाटक में रूपगोस्वामी ने स्वर्ग, मर्त, पाताल और सूर्यलोक की घटनाओं को एक सूत्र में दस अङ्कों में ग्रथित किया है। इसमें वृन्दावन, मथुरा, और द्वारका—लीला अपना—अपना पार्थक्य छोड़ एक के भीतर एक अन्तर्भुक्त हुई हैं। राधा के अतिरिक्त इसमें चन्द्रावली आदि गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की प्रेम—लीला का भी वर्णन है। "ललित" शब्द का अर्थ भक्ति—रसामृतसिन्धु में किया है—वह नायक जो विदग्ध, नवयुवा और केलि—विषय में सुनिपुण और निश्चिन्त है। नाटक में

श्रीकृष्ण के इस स्वभाव का ही वर्णन है।

इसका रचनाकाल इसकी पुष्पिका के अनुसार सन् १५३७ है।

दानकेलिकौमुदी–यह नाटक एक ही अङ्क में समाप्त किया गया है, इसलिए इसे 'भाणिका' कहते हैं। इसके अन्त में रूपगोस्वामी ने लिखा है कि उन्होंने किसी सुहृद के अभिप्राय से इसकी रचना की है। कहते हैं कि श्रीरघुनाथदासगोस्वामी ललित–माधव पढ़कर उसमें वर्णित राधा की विरह–वेदना से इतना मर्माहत हुए थे कि उनके प्राणों पर आ बीती थी। उनका अन्तर्दाह प्रशमन करने के लिए ही रूपगोस्वामी ने हास–परिहासपूर्ण इस भाणिका की रचना की। इसे पढ़कर वे स्वस्थ हुए।

भाणिका की आख्यान–कल्पना इस प्रकार है। राधा गुरुजनों के आदेश से सखियों सहित गोविन्दकुण्ड के यज्ञस्थल पर घृत विक्रय करने जा रही हैं। कृष्ण सखाओं समेत मानसगंगा के तट पर उपस्थित होकर उनका पथ रोक लेते हैं और उनके दान व शुल्क का दावा व्यक्त करते हैं। राधा और उनकी सखियाँ उनका दावा स्वीकार नहीं करतीं। वाद–विवाद शुरू होता है। अनेक हास्य और मधुररसपूर्ण तर्क–वितर्क के पश्चात् पौर्णमासी की मध्यस्थता से वाद–विवाद समाप्त होता है। भाणिका की रचना सन् १५४९ में हुई।

भक्तिरसामृतसिन्धु–भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि रूपगोस्वामी के सर्वप्रधान रस–ग्रन्थ हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु की रचना रूपगोस्वामी ने कई वर्षों में की। इसकी रचना में बहुत बड़ा हाथ सनातन गोस्वामी का भी है। इससे सम्बन्धित तत्व और सिद्धान्त की रूपरेखा उनके परामर्श से ही तैयार की गयी।[1] इसमें भक्तिरस का जैसा गूढ़, सूक्ष्म, संयत, सर्वांगीण, विद्वतापूर्ण और प्रामाणिक विवेचन है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इसकी प्रामाणिकता और विद्वत्तापूर्ण शैली का पता इस बात से चलता है कि इसमें महाभारत, रामायण, गीता, हरिवंश, श्रीमद्भागवत, अन्य पुराण और उपपुराण, रसशास्त्र, काव्य–शास्त्रादि से ३७२ बार प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

इसमें भक्ति के स्वरूप, प्रकार, अन्तराय, सोपान, और प्रत्येक सोपान के लक्षणादि का वर्णनकर प्रथमबार उसका सर्वांगीण, वैज्ञानिक निरूपण किया गया है।

पुष्पिका के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना सन् १५४१ में हुई है।

उज्ज्वलनीलमणि–उज्ज्वलनीलमणि भक्तिरसामृतसिन्धु का परिशिष्ट है। परिशिष्ट होते हुए भी यह गौड़ीयवैष्णव साहित्य का मुकुटमणि है।

---

१. सप्त गोस्वामी : पृ. १९५

इसमें रूपगोस्वामी ने साधारण अलंकारशास्त्र की परिभाषा तो ग्रहण की है, पर यह साधारण अलंकार शास्त्र से बहुत भिन्न है। इसमें उन्होंने मधुराररतिका मौलिक विश्लेषण किया है। प्रेमवस्तु का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण और कहीं नहीं है। भक्तिरस के समुद्र का मन्थन कर रूपगोस्वामी ने उज्ज्वलनीलमणि–तुल्य मधुर या उज्ज्वलरस का आहरण किया है, इसीलिए इसका नाम उज्ज्वलनीलमणि रखा है।

उज्ज्वलरस अति गंभीर और रहस्यमय है। स्थूलबुद्धि के विषयानुरक्त व्यक्ति इसमें कामबुद्धि का आरोपण कर अपराध के भागी हो सकते हैं। इसलिए रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में इसका संक्षेप में वर्णन किया है और उज्ज्वलनीलमणि के रूप में पृथक् ग्रन्थ की रचना कर उसमें इसका विस्तार से वर्णन किया है।

उज्ज्वलनीलमणि के शेष में इसका रचनाकाल नहीं दिया है। पर इसमें भक्तिरसामृतसिन्धु उद्धत है और 1554 ई0 में रचित वृहद्–वैष्णव–तोषणी में उज्ज्वलनीलमणि उद्धत है। इसलिये यह निश्चित है कि इसकी रचना सन् 1541 और सन् 1554 के बीच किसी समय हुई। इसकी तीन टीकाएं हैं–श्रीजीवगोस्वामी की 'लोचनरोचनी', श्रीविश्तनाथ चक्रवर्ती की 'आनन्द–चन्द्रिका' और कविराज गोस्वामी के शिष्य श्रीविष्णुदास गोस्वामी की 'स्वात्मप्रबोधिनी'।

मथुरा–महिमा–मथुरामहिमा या मथुरा–माहात्म्य में रूपगोस्वामी ने प्राचीन शास्त्रों के आधार पर मथुरा–तीर्थ के माहात्म्य का वर्णन किया है।

नाटक–चन्द्रिका–नाटक–चन्द्रिका में नाटक–रचना सम्बन्धी नियमावली लिपीबद्ध की गयी है। पर भरतमुनी के मत से रूपगोस्वामी का मत भिन्न होने के कारण इसमें साहित्य–दर्पण का मत नहीं ग्रहण किया गया है।

पद्यावली–पद्यावली में रूपगोस्वामी ने 125 कवियों के 386 श्लोकों का संग्रह किया है। यह सभी श्लोक प्राय राधा–कृष्णलीला–विषयक है।

लघुभागवतामृत–यह रूपगोस्वामी के अनुसार सनातन के वृहद्भागवतामृत का संक्षिप्त सार है। पर वास्तव में यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसके दो भाग हैं–श्रीकृष्णामृत और भक्तामृत। श्रीकृष्णामृत में श्रीरूप ने बहुविध शास्त्र प्रमाणों से सिद्ध किया है कि कृष्ण स्वयं भगवान् हैं और अन्य सभी भगवद्स्वरूप श्रीकृष्ण के आंशिक अवतार हैं। वे श्रीकृष्ण के पुरुषावतार के प्रकाशमात्र हैं। कृष्णामृत में श्रीरूप ने नानाविध शास्त्र–वाक्यों से यह भी सिद्ध किया है कि श्रीकृष्ण की लीला नित्य है, मथुरामंडल में अब भी उनकी लीला हो रही है और कोई–कोई भाग्यवान जीव उसके

दर्शन कर धन्य होते हैं।

भक्तामृत में रूपगोस्वामी ने शास्त्र–प्रमाण के आधार पर भक्तों का श्रेणी–विभाग किया है। उन्होंने दिखाया है कि मार्कड्.डेयादि भक्तों से प्रह्लाद, प्रह्लाद से पाण्डवगण, पाण्डवगण से यादवगण, यादवगणों में उद्धव, उद्धव से व्रजगोपियाँ और व्रजगोपियों में राधा सबसे श्रेष्ठ हैं। इसमें उन्होंने महाभारत, पुराण, भागवत, तन्त्र, गीता, वेदान्त–सूत्र आदि के उद्धरणों को कौशलपूर्वक सन्निवेश कर अपने भक्ति–सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसे विद्वानों ने "भक्ति–सिद्धान्त–शास्त्र का द्वारस्वरूप" कहा है।[1]

उपदेशामृत-११ श्लोकों के इस ग्रन्थ में भजनशील व्यक्तियों के लिए रूपगोस्वामी के अमूल्य उपदेश हैं। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर महाशय ने इसे शुद्धा भक्ति के पथ के पथिकों के लिए एक आलोक–स्तम्भ के समान जान इस पर पीयूषवर्षिणी टीका लिखी है और इसका सुललित त्रिपदी छन्द में पद्यानुवाद कर इसे सर्वसाधारण के लिए और भी उपयोगी बनाया है।

गोविन्द विरुदावली–यह अति सुन्दर अनुप्रास–अलंकारयुक्त भाषा में अपनी झंकार से ही गोविन्द को प्रसन्न कर देने वाली गोविन्द की स्तुति है।

इसके पीछे एक मनोहर किवदंती है। एक बार एक अनपढ़ चारण ने किसी अन्य देवता की स्तुति का गोविन्दजी के सम्मुख बड़े भाव से गान किया। स्तुति अनुप्रासभरी डिंगल भाषा में थी। गोविन्द उसे सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। स्तुति के समाप्त होने पर उनकी माला गले से खसक पड़ी। इसे गोविन्द की प्रसन्नता का सूचक जान रूपगोस्वामी ने माला गोविन्द के प्रसाद रूप में चारण को दे दी। चारण के चले जाने पर उन्होंने गोविन्ददेव से कहा–"प्रभु, चारण तो किसी अन्य देवता की स्तुति सुना रहा था। आप कैसे उस पर रीझ गये?"

गोविन्द ने उत्तर दिया–"स्तुति अन्य देवता की थी तो क्या? सुना तो मुझे रहा था। इसी प्रकार मेरी स्तुति की रचना तुम करो।"

तब रूपगोस्वामी ने इस विरुदावली की रचना की।

उपासना

श्रीरूपगोस्वामी के अनुसार पुरुषार्थ प्रेम है, उपास्य राधा–कृष्ण हैं। पर साध्य राधा–कृष्ण न होकर उनकी सम्भोगमयी निकुञ्ज–विलासलीला में मञ्जरीरूप से प्रेममयी सेवा है और साध्य की चरम अवधि है सम्भोग

१. सप्त गोस्वामी : पृ. १९५

की अन्तिम परिणति प्रेम–विलास–विवर्त।

प्रेम साधन–भक्ति का फल है, पर साधन–भक्ति से उत्पन्न नहीं है। प्रेम जन्य पदार्थ नहीं है। यह नित्य सिद्ध है, श्रीकृष्ण में अनादिकाल से विराजमान उनकी ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति है। साधन–भक्ति के अनुष्ठान करते–करते जब साधक का चित्त निर्मल हो जाता है, तब कृष्ण–कृपा से उसमें इसका आविर्भाव होता है।

साधन–भक्ति साध्य–भक्ति या प्रेमा–भक्ति का अपरिपक्व स्वरूप है। साध्य–भक्ति साधन–भक्ति का परिपक्व स्वरूप है। साध्य है भगवान की प्रेम–सेवा, साधन है श्रवण–कीर्तनादि भक्ति के अनुष्ठानों के रूप में भगवान की सेवा।

रागानुगा भक्ति

साधन–भक्ति के दो प्रकार हैं–वैधीभक्ति और रागानुगा भक्ति। वैधीभक्ति के साधक भजन में प्रवृत्त होते हैं शात्रोक्त विधि–निषेध के भय से और सांसारिक दुःखों से परित्राण पाने के उद्देश्य से। रागमार्ग के साधक भजन में प्रवृत्त होते हैं। श्रीकृष्ण में राग, प्रीति या आसक्ति होने के कारण उनकी सेवा के लाभ से।

विधिमार्ग के भक्तों में भगवान् के ऐश्वर्यज्ञान की प्रधानता होती है। वे भगवान् को कर्मफलदाता और मुक्तिदाता के रूप में जानते हैं। इसलिए उन्हें ऐश्वर्यप्रधान वैकुण्ठ या परव्योम की प्राप्ति होती है और वे सालोक्यादि चार प्रकार की मुक्तियों में से किसी एक प्रकार की मुक्ति प्राप्त कर वैकुण्ठ में भगवत्–पार्षद के रूप में वास करते हैं। रागमार्ग के भक्तों में भगवान् के माधुर्य–ज्ञान की प्रधानता होती है। उन्हें पार्षद देह से व्रज में लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की प्रेम–सेवा की प्राप्ति होती है। विधिमार्ग के साधकों को व्रज में श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं होती।[1]

रागानुगा-भक्ति रागात्मिकाकी अनुगा है। रागात्मिका भक्ति के आश्रय है नन्द, यशोदा, राधा, ललितादि, जो श्रीकृष्ण की स्वरूप–शक्ति के मूर्त विग्रह, अनादि–सिद्ध, अन्यनिरपेक्ष व्रजपरिकर के रूप में श्रीकृष्ण के साथ उनके लीला–स्थान व्रजधाम में नित्य विराजमान हैं और जिनका व्रजधाम से सजातीय सम्बन्ध है।[2] व्रजधाम में जो साधन–सिद्ध जीव हैं, वे रागात्मिका भक्ति के मुख्य आश्रय नहीं हैं, क्योंकि वे स्वरूप–शक्ति का प्रकाश नहीं हैं, वे जीवन–शक्ति का प्रकाश हैं। उनकी भक्ति रागात्मिका–भक्ति के आश्रयों के आनुगत्य में की जाती है। इसीलिए उसे रागानुगा–भक्ति

१. चै. च. ३।८।१८२
२. भ.र.सि. १।२।१३१

कहते हैं।

रागात्मिका–भक्ति के समान रागानुगा–भक्ति भी दो प्रकार की है–**कामानुगा और सम्बन्धानुगा**। दास्य, सख्य और वात्सल्यभाव के श्रीकृष्ण के रागात्मिका परिकरों के आनुगत्य में की जाने वाली भक्ति सम्बन्धानुगा है और मधुरभाव के श्रीकृष्ण के रागात्मिका परिकरों के आनुगत्य में की जाने वाली भक्ति कामानुगा है। रागानुगाओं की कामानुगा भक्ति भी दो प्रकार की है–**सम्भोगेच्छामयी** और **तत्तद्भावेच्छामयी**। सम्भोगेच्छामयी भक्ति में श्रीकृष्ण के साथ सम्भोग की इच्छा रहती है। सम्भोग की इच्छा रखने वाले भक्तों को व्रज में ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की सेवा नहीं मिलती। कारण यह कि व्रज में स्वसुख–वासना है ही नहीं। व्रज में परिकर इच्छा रखते हैं केवल श्रीकृष्ण के सुख की। फिर सम्भोग की इच्छा रखनेवाले भक्त आनुगत्य करें तो किसका? वे द्वारिका की महर्षियों का ही आनुगत्य कर सकते हैं, जिनके हृदय में कभी–कभी स्वसुख वासनामयी सम्भोग की इच्छा जाग्रत होती है। इसलिए उन्हें व्रज की प्राप्ति न होकर द्वारका की ही प्राप्ति होती है। तत्तदभावेच्छामयी कामानुगा–भक्ति में सम्भोग की इच्छा नहीं होती। साधन में सिद्धि लाभ करने के पश्चात् मंजरी–देह से लीला में प्रवेश करने पर भी तत्तदभावेच्छामयी कामानुगा भक्ति के साधक सब प्रकार से स्वसुखवासना–रहित होकर रागात्मिकामयी कृष्ण–सेवा के आयोजनों में आनुकूल्य करते हैं। श्रीकृष्ण भी यदि उनके चित्त–विनोद के लिये उनके साथ रमण करना चाहें, तो वे पराङ.मुख रहते हैं।

वाह्य और अन्तर साधन

साधन दो प्रकार का है–अन्तर और बाह्य। अन्तर साधन का संबंध मन से है, बाह्य साधन का देह और बाह्य इन्द्रियों से। रागानुगा भजन अन्तर–साधन–प्रधान है। लीला–स्मरण ही इसका मुख्य अङ्ग है। परन्तु श्रवण–कीर्तनादि बाह्य–साधन इसमें उपेक्षनीय नहीं हैं। बाह्य साधन से अन्तर–साधन की पुष्टि होती है और अन्तर–साधन से बाह्य–साधन में रुचि उत्पन्न होती है। बाह्य और अन्तर–साधन साथ–साथ भी चल सकते हैं। वास्तव में बाह्य–साधन अन्तर–साधन का ही बाह्यरूप है। बाह्य–साधन की सार्थकता अन्तर–साधन से उसके योग में हैं। यन्त्र के समान बाह्य–साधन करना और मन के साथ उसका योग न रखना रागानुगा मार्ग का भजन नहीं
है। इस प्रकार के यान्त्रिक भजन से अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होती।[1]

---

१ चै च. १.८।१५

बाह्य–साधन होता है यथावस्थित पाञ्चभौतिक देह से। अन्तर–साधन होता है अन्तश्चिन्तित सिद्ध देह से। अन्तश्चिन्तित सिद्ध पार्षद–देह से अपनी भावना में श्रीकृष्ण के सान्निध्य में रहकर उनकी प्रीति के लिये श्रवण–कीर्तनादि भक्ति के अनुष्ठान करने में ही उनकी सार्थकता है।

हम कह चुके हैं कि भक्ति ह्लादिनी–प्रधाना स्वरूप–शक्ति की वृत्ति है। इसलिए भक्ति के सभी अंग स्वरूप–शक्ति की वृत्ति हैं। अन्तश्चिन्तित सिद्ध–देह की चिंता करना भी भक्ति का अंग है। इसकी चिंता में भी चित्त स्वरूप–शक्ति से तादात्म्य प्राप्त करता है। चिन्ता करते–करते स्वरूप–शक्ति के प्रभाव से जैसे–जैसे चित्त की विशुद्धता बढ़ती जाती है, स्वरूप–शक्ति से तादात्म्य बढ़ता जाता है। सम्पूर्णरूप से तादात्म्य प्राप्त करने पर प्रेम का उदय होता है, देह और इन्द्रियाँ पूर्णरूप से अप्राकृत या चिन्मय हो जाती हैं,[1] श्रीकृष्ण के परिकर सहित दर्शन होते हैं और अन्तश्चिन्तित सिद्ध देह पूर्णरूप से चिन्मय हो जाता है।

चिन्मय देह प्राप्त करने पर साधक का एक नया दिव्य जीवन प्रारम्भ होता है। योगमाया इस चिन्मय देह को श्रीकृष्ण के प्रकट–स्थल पर गोपी–गर्भ से आविर्भावित करा नित्य–लीला में प्रविष्ट करती हैं।

प्रेम-प्राप्ति के स्तर

किस प्रकार प्रेम का क्रमशः उदय होता है, इसकी भी रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में चमत्कारिक मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। प्रेम–प्राप्ति के पूर्व साधक को जिन आठ स्तरों को पार करना होता है, वे हैं श्रद्धा, साधु–संग, भजनक्रिया, अनर्थ–निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव या रति।[2]

श्रद्धा–श्रद्धा है भक्ति का बीज–स्वरूप। श्रद्धा का प्राण है उत्साह। रूपगोस्वामी ने ज्ञानविषय में निष्ठायुक्त व्याकुलतामय आसक्ति को उत्साह कहा है।[3] इसका अर्थ यह है कि श्रद्धा कार्यरूप में परिणत हो और साधक को परमार्थ विषय की जानकारी प्राप्त करने के लिये व्यग्र कर दे, तभी समझना चाहिये कि उसमें सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हुई है, अन्यथा नहीं। जीवगोस्वामी ने भक्ति–सन्दर्भ में लिखा है कि जिस प्रकार रासायनिक प्रक्रिया से सोना तैयार करने में लगे लोग अपनी चेष्टा को थोड़ा भी विराम नहीं देते, उसी प्रकार श्रद्धा उत्पन्न होने पर साधक अपने प्रयत्न में

---

१. बृ. भा. १।३।४५
२. भ. र. सि. १।४।८९
३. २।७।५७

निरन्तर लगा रहता है।

साधु-संग-हृदय में श्रद्धा जागने पर साधु-सङ्ग की इच्छा होती है। यथार्थ साधुसंग उसे कहते हैं, जिसमें साधक महापुरुषों के गुणों को अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करता है और उनके उपदेशानुसार आचरण करने की चेष्टा करता है। साधुसंग का अर्थ श्रवण और मनन है। गुरुपदाश्रय साधुसंग का मुख्य अङ्ग है।

भजनक्रिया-भजन क्रिया का अर्थ है श्रवण-कीर्तनादि भजन-क्रियाओं में दृढ़ता।

अनर्थ-निवृत्ति-भजन-क्रिया दृढ़तापूर्वक सम्पादित होने से अनर्थ निवृत्ति होती है, अर्थात् श्रीकृष्ण-सेवा की कामना छोड़ और सब प्रकार की कामनाओं का नाश हो जाता है।* इस स्तर पर प्रारब्ध कर्म का नाश हो जाता है।

निष्ठा-अनर्थ निवृत्ति के बाद भक्ति में नैश्चल्य और दृढ़ता उत्पन्न होती है। इसी को निष्ठा कहते हैं। निष्ठा जन्मने पर साधक काय, मन और वाक्य से प्रभु की सेवा करता है और लीलादि का स्मरण करता है। निष्ठायुक्त व्यक्ति मैत्री, दया, शम, दम, तितिक्षा, दैन्य आदि गुण सहज ही प्राप्त कर लेता है।

रुचि-निष्ठा से रुचि उत्पन्न होती है। रुचि की अवस्था में श्रवण-कीर्तनादि भक्ति के अङ्गों का बार-बार अनुशीलन करने से भी अरुचि या श्रम नहीं होता। उनका जितना अधिक अनुशीलन होता है, उतनी ही रुचि और बढ़ती है। जिस साधक में रुचि का उदय होता है वह कीर्तन के ताल, लय आदि की अपेक्षा नहीं रखता। भगवान के नाम या लीला का कीर्तन जैसा भी हो उसे सुनकर वह उल्लसित होता है।

आसक्ति-रुचि से आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति की अवस्था में चित्त भजन में उतना आसक्त नहीं रहता, जितना भजनीय

* श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने भागवत २/७/१३ श्लोक की टीका में लिखा है कि जब श्रीहरि के सौन्दर्य, सुस्वर, सुरभि, सुकुमारता, वैदग्ध्य प्रभृति में चक्षु, कर्ण, नासिका, त्वक, जिह्वा और मन सर्वतोभाव से निमग्न हो जाते हैं और प्राकृत रूप-रसादि आस्वादन करने के पूर्णरूप से अनिच्छुक हो जाते हैं, तब समझना चाहिये कि अनर्थ-निवृत्ति हुई है।

विषय श्रीभगवान् में आसक्त रहता है। आसक्ति की अवस्था में भगवान् भक्त के मन और बुद्धि पर ऐसे छाये रहते हैं कि उसका हाव–भाव, बोल–चाल, आहार–विहारादि सब कुछ असंलग्न जैसा प्रतीत होता है, यदि उसे भगवान् के चरणारविन्द प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा के सन्दर्भ में न देखा जाय।

भाव या रति–आसक्ति गाढ़तम होने पर भाव या रति में परिणत होती है। भाव की अवस्था में साधक स्फूर्ति में मानो श्रीकृष्ण को साक्षात् पाकर आनन्दित होता है। रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृत–सिन्धु में भाव को प्रेम कल्पतरुका अंकुर कहा है।[1] भाव की दशा में साधक क्षोभ का कारण उपस्थित होते हुए भी अक्षुब्ध रहता है। इन्द्रियों के विषयों के प्रति उसे विरक्ति रहती है। उसका एक क्षण भी यदि भगवान् के स्मरण–मनन के बगैर चला जाय तो उसे लगता है जैसे जन्म व्यर्थ चला गया। अपने उत्कर्ष में भी वह अभिमानहीन रहता है। श्रीकृष्ण की प्राप्ति होगी, इसकी उसे दृढ़ आश रहती है। साथ ही कृष्ण–प्राप्ति का उसे गुरुतर लोभ रहता है, जिसे समुत्कण्ठा कहा जाता है। भगवान् के नाम–गान में उसकी सदा रुचि, भगवान् के गुणगान में आसक्ति और भगवान् के धाम में प्रीति रहती है।

प्रेम–भाव गाढ़ता प्राप्तकर प्रेम में परिणत होता है। प्रेम की दशा में साधक को सचमुच भगवान् के साक्षात् दर्शन होते हैं। वह उनके सौन्दर्य और माधुर्य का दर्शन कर चमत्कृत हो जाता है। तब उसे जो अकथनीय आनन्द होता है, उसकी तुलना उस आनन्द से करना भी झक मारना है, जो चिरकाल से दावानल से पीड़ित वन में भ्रमण करने वाले हाथी को घनघोर बादलों की असंख्य जलधाराओं में स्नान करने से मिलता है।[2]

प्रेम के ऊपर के स्तर हैं स्नेह, मान; प्रणय, राग, अनुराग और महाभाव। यह साधक का देह रहते संभव नहीं है, क्योंकि इनके आस्वादन की उष्णता और शीतलता को सहन करने की उसकी देह में सामर्थ्य नहीं है।[3]

---

१. भक्ति-रसामृत-सिंधु १/३/२६
२. विस्तृत विवरण के लिए देखिये लेखक द्वारा प्रणीत 'भक्ति-विज्ञान' पृ० ४५-६३ अथवा 'श्रीचैतन्य-मत' पृ० ३२५ ४००।
३ देखिये भक्ति-विज्ञान, पृ० १८१-२०० श्रीचैतन्य-मत पृ० ५०५-५२९।

मधुर भक्ति-रस

मधुर-रस को रूप गोस्वामी ने उज्ज्वल-रस कहा है। उज्ज्वल-रस का नायक श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। साधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या, परशुराम, नृसिंहादि अवतार भी नहीं हो सकते। श्रीकृष्ण ही उज्ज्वल रस के एक मात्र नायक या विषयालम्बन हैं और कृष्ण-प्रेयसियाँ आश्रयालम्बन हैं।

मधुर-रस के भेद

मधुर रस के दो प्रकार हैं—विप्रलम्भ और सम्भोग।

विप्रलम्भ-विप्रलम्भ नायक और नायिका की वह अवस्था है, जिसमें वे एक-दूसरे के निकट नहीं होते, या निकट होते हुए भी अपना अभीष्ट आलिंगनादि प्राप्त नहीं कर सकते। विप्रलम्भ सम्भोग का पुष्टिकारक तो है ही, स्वयं रस भी है। विप्रलम्भ में नायक और नायिका के निबिड़तम पारस्परिक स्मरण-चिन्तन के फलस्वरूप स्फूर्ति में परस्पर के निकट परस्पर का आविर्भाव होता है। उस अवस्था में जो परस्पर का मानसिक, चाक्षुष और कायिक आलिंगन-चुम्बनादि होता है, वह सम्भोग की अवस्था के आलिंगन-चुम्बनादि की अपेक्षा अधिक चमत्कारमय होता है। इसलिए विप्रलम्भ को सम्भोग-पुञ्जमय कहा है। सम्भोग में एक ही कृष्ण का अनुभव होता है, विप्रलम्भ में विश्व कृष्णमय होता है। अनुभवी व्यक्तियों ने सम्भोग और विप्रलम्भ के बीच विप्रलम्भ को ही वरणीय कहा है।

विरह-दशा में साधक की अवस्था बाहर से देखने पर अत्यधिक दुःखमय प्रतीत होती है। पर उसके अन्तर में जिस रस का उत्स फूटता है, वह सम्भोग-रस से कितना उत्कृष्ट है, इस बात से जान पड़ता है कि विरह की अनुभूति प्रलयरूपी अन्तिम सात्विक भाव की गाढ अनुभूति से भी गाढ़तर होती है। विरह की मोह दशा में अन्तर्वृत्ति का जिस प्रकार लोप हो जाता है, उस प्रकार प्रलय में नहीं होता। मोह दशा को प्राप्त करने पर कृष्ण-भक्त आत्मपर्यन्त सब विषयों की स्मृति खो बैठता है, केवल उसकी कृष्ण-स्फूर्ति विशेष का लोप नहीं होता-

अस्यान्यात्रात्मपर्यन्ते स्यात् सर्वत्रैव मूढ़ता।
कृष्णस्फूर्ति विशेषस्तु न कदाप्यत्र लीयते।।

(भ. र. सि. २/४/९८)

प्रेम स्वरूप में ही आनन्द है। विरह भी मिलन के समान प्रेम की ही एक अवस्था है। इसे दुःख उसी प्रकार स्पर्श नहीं करता, जिस प्रकार प्रकाश को अन्धकार स्पर्श नहीं करता। सुख और दुःख प्राकृत गुणात्मक

चित्त की वृत्तियाँ हैं। प्रेम प्राप्त करने पर साधक के चित्त का प्राकृतत्व नष्ट हो जाता है। वह अप्राकृत देह और मन द्वारा कभी स्फूर्ति में मिलन–जनित, कभी अस्फूर्ति में विरह–जनित आनन्द का अनवरत आस्वादन करता है। विरह–जनित आनन्द एक अनिर्वचनीय वस्तु है। इसमें कृष्ण के अदर्शन के कारण दुःख तो होता ही है, पर यह दुःख एक विशेष प्रकार का सुख ही है, इसलिये इसे किसी ने 'विषामृत एकत्र मिलन', किसी ने 'आनन्द का धनीभूत परिपाक' कहा है। पर वास्तविकता यह है कि इसका यथार्थ वर्णन करने के लिये प्रकृत भाषा–कोष में शब्द ही नहीं है।

'विप्रलम्भ' शब्द का अर्थ है प्रकारान्तर से प्राप्ति। विप्रलम्भ में बाहर श्रीकृष्ण का दर्शन न होने पर भी अन्तःस्थल में उसकी सम्यक प्राप्ति हुई रहती है। बाहर बाह्य इन्द्रियों द्वारा ही मिलन संभव होता है, अन्तर में इन्द्रियों का इन्द्रियों से, मन का मन से, प्राण का प्राण से मिलन होता है।

विप्रलम्भ चार प्रकार का है–पूर्वराग, मान, प्रवास और प्रेमवैचित्य। प्रेमवैचित्य की परिभाषा रूप गोस्वामी ने इस प्रकार की है–प्रेम के उत्कर्ष के कारण नायिका प्रियके सन्निधान में रहते हुए भी विरह–बुद्धि के कारण जिस आर्तिका अनुभव करती है, उसे प्रेम वैचित्य कहते हैं।[1] इस दशा में नायिका नायक के गोद में रहते हुए भी उसके विरह का अनुभव करती है। नायक की गुण–माधुरी का चिन्तन करते–करते उसकी बुद्धि–वृत्ति उसमें इस प्रकार लीन हो जाती है कि उसे नायक की उपस्थिति का ध्यान ही नहीं रहता।

सम्भोग–नायक और नायिका के परस्पर दर्शन, आलिंगन, चुम्बनादि से परस्पर के सुख–वासनामय निषेवन द्वारा उल्लासप्राप्त भाव को सम्भोग कहते हैं।[2] यह सम्भोग स्वसुख–वासनामय, काममय सम्भोग से सर्वथा भिन्न है।

मधुरा रति के तीन प्रकार

मधुरा रति के तीन प्रकार हैं–साधरणी, समञ्जसा और समर्था। साधारणी रति में सम्भोग की इच्छा ही मूलरूप से वर्तमान रहती है, जैसे कुब्जा में। समञ्जसा–रति पति–पत्नी के सम्बन्धजनित अभिमान से उदित होती है। इसमें कर्तव्य–बुद्धि से पति को सुख पहुँचाने की इच्छा के साथ–साथ सम्भोग–इच्छा भी होती है, जैसे द्वारका की महिर्षियों में। समर्था रति में केवल श्रीकृष्ण के सुख की वासना रहती है। यह केवल

१. उज्ज्वल नीलमणि, प्रेम वैचित्य, ५७
२. उज्ज्वल नीलमणि सम्भोग ४।

व्रजगोपियों में ही होती है।

साधरणी रति श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन से और आत्मसुख–वासना से उत्पन्न होती हैं। समञ्जसा–रति स्वाभाविक है, तो भी इसका उन्मेष श्रीकृष्ण के गुणादि श्रवण से होता है। पर समर्था रति में रति के उन्मेष के लिए कुब्जा की रति के समान श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन की, या महिषियों के समान श्रीकृष्ण के गुणादि श्रवण करने की अपेक्षा नहीं होती। स्वरूप–धर्म के कारण यह स्वतः ही उन्मेषित होती है–

स्वरूपं ललनानिष्ठं स्वयमुद्बुद्धतां व्रजेत।
अदृष्टेऽप्यश्रुतेऽप्युच्चैः कृष्णे कुर्याद्भुतं रतिम्।।

(उ. नी., स्था. २६)

साधारणी रति में स्वसुखवासनामयी सम्भोगेच्छा की ही प्रधानता होती है; समञ्जसा–रति में कभी–कभी स्वसुखवासनामयी सम्भोगेच्छा होती है; पर समर्था–रति में किसी भी समय स्वसुखवासनामयी–सम्भोगेच्छा नहीं होती। पत्थर में जिस प्रकार सुई की नोंक भी प्रवेश नहीं कर सकती, उसी प्रकार समर्थारतिमती व्रज सुन्दरियों में कृष्ण सुखवासना के सिवा और कोई वासना प्रवेश नहीं कर सकती।

समञ्जसारतिमती रुक्मिणी आदि श्रीकृष्ण की सेवा के लिये लालसान्वित होते हुए भी कृष्ण के लिये धर्म को तिलाञ्जलि नहीं दे सकतीं। इसीलिये उन्होंने यज्ञादि सम्पादन पूर्वक विधिवत विवाह करके ही श्रीकृष्ण की सेवा करने की इच्छा की। पर समर्थारतिमती व्रज–सुन्दरियों की कृष्ण–सेवाकी लालसा इतनी प्रबल थी कि उन्होंने उसके लिये लोकध ार्म, वेदधर्म, आर्यपथादि को तिलाञ्जलि देने में भी संकोच नहीं किया। समर्थारति को समर्था कहते ही इसलिये हैं कि यह कुल, धर्म, धैर्य, लज्जा आदि का तृणवत् त्यागकर कृष्ण–सेवा के अपने लक्ष्य की ओर तीर की तरह छूट पड़ने की और कृष्ण को पूर्णरूप से वशीभूत करने की असाध ारण सामर्थ्य रखती है।

साधारणी रति प्रेम पर्यन्त वृद्धि को प्राप्त होती है (उ. नी. स्थायि. १६४); समञ्जसारति अनुराग की शेष सीमा तक वृद्धि को प्राप्त होती है (उ. नी. स्थायि., 35)ल समर्थारति महाभाव की शेष सीमा तक वर्द्धित होती है। इसलिए समर्थारतिमति व्रजगोपियों का प्रेम ही सबसे श्रेष्ठ है। व्रज–गोपियों में भी राधा का प्रेम सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि केवल राधा में ही समर्थारति की चरम–परिणति मादनाख्य महाभाव देखने में आता है।

व्रज–सुन्दरियाँ

उज्ज्वलनीलमणि में व्रजसुन्दरियों के चार पक्षों का वर्णन–स्वपक्ष

प्रतिपक्ष, सुहृत्पक्ष और तटस्थ।

व्रज में श्रीकृष्ण की नित्य प्रेयसियाँ हैं राधा, चन्द्रावलि, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या भद्रिका, तारा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा और पालिकादि। इनमें मुख्य हैं राधा और चन्द्रावली। इन दोनों में भी राधा श्रेष्ठ हैं।

नित्य प्रेयसियों में विशाखा, ललिता, पद्मा और शैव्या को छोड़ सभी यूथेश्वरी हैं। उनके एक–एक यूथ में लाख–लाख व्रजसुन्दरियाँ हैं। जो व्रज सुन्दरियाँ एक ही यूथेश्वरी के यूथ में अवस्थान करती हैं, उन्हें उस यूथेश्वरी की स्वपक्षा कहते हैं। स्वपक्षा का भाव यूथेश्वरी के भाव का समजातीय होता है। स्वपक्षा यूथेश्वरी का इष्ट–साधन और अनिष्ट निवारण करती है। ललितादि राधा की स्वपक्षा हैं।

जिस सुन्दरी के भाव में यूथेश्वरी के भाव से अधिकतर साजात्य होता है, पर किञ्चित वैजात्य होता है, उसे उस यूथेश्वरी की सुहृत्पक्षा कहते हैं, जैसे श्यामला राधा की सुहृत्पक्षा है।

। जो सुन्दरियाँ परस्पर विद्वेषभावापन्न होती है, उन्हें एक–दूसरे का विपक्ष कहते हैं। राधा और चन्द्रावली परस्पर विपक्षा हैं।

विपक्ष के सुहृत्पक्ष को तटस्था कहते हैं। श्यामला राधा की सुहृत है और चन्द्रावली की तटस्था।

यहाँ यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि व्रज की सखियाँ सब राधा की शाखा–प्रशाखा, पत्र–पुष्प तथा उनकी कायव्यूहरूपा हैं। उन सबका एकमात्र काम्य है श्रीकृष्णसुख। इसलिए उनमें ईर्ष्या–विद्वेषादि की कोई संभावना नहीं है। पर रसवैचित्री सम्पादन कर श्रीकृष्ण को सुखी करने के उद्देश्य से श्रृङ्गाररस मूर्ति परिग्रह कर अपने परिवार स्वरूप ईर्ष्या–विद्वेषादि को व्रजसुन्दरियों के हृदय में निक्षेप कर उनमें स्वपक्षा, विपक्षा और तटस्था आदि की सृष्टि करता है (उ. नी. म. २८)। ईर्ष्या आदि हैं श्रृंगार रस के संचारी भाव। संचारी भाव श्रृंगार–रति को परिपुष्टकर रस में परिणत करता है। पर ईर्ष्यादि व्रजसुन्दरियों की बाह्य वृत्ति में ही उदित होते हैं। उनकी अन्तर्वृत्ति को वे स्पर्श भी नहीं करते। यह बात व्रजसुन्दरियों के श्रीकृष्ण से वियोग के समय भली–भाँति जानी जाती है। उस समय उनमें परस्पर ईर्ष्या–द्वेषादि की जगह परस्पर स्नेह ही देखने में आता है।

सखी-मञ्जरियाँ

राधाकृष्ण की कुञ्ज–विलासलीला सखी–मञ्जरियों के सहयोग के बिना सम्पादित नहीं होती। सखी–मञ्जरियों का इस लीला में उतना

ही महत्व है, जितना राधा–कृष्ण का। चैतन्य–चरितामृत में महाप्रभु ने राय रामानन्द के इस वाक्य की पुष्टि की है कि सखियाँ ही इस लीला का विस्तार करती हैं और सखियाँ ही इसका आस्वादन करती हैं–

सखी बिना एइ लीला पुष्ट नाहि हय।
सखी लीला आस्वादिया सखी आस्वादय।।

(चै. च. २/८/२०२)

सखियाँ राधा–कृष्ण का मिलन कराकर निकुञ्ज–लीला में अपना योगदान करती हैं। रूप, रति, लवंगादि मञ्जरी भाव रखने वाली सखियाँ निकुञ्ज में विविध प्रकार से राधा–कृष्ण की सेवाकर लीला को पुष्ट करती हैं। किस प्रकार मञ्जरियाँ निकुञ्ज में राधा–कृष्ण की सेवा करती हैं, इसका वर्णन रूप गोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि में सांकेतिक रूप से सखीभेद प्रकरण में और अपने स्तोत्रों में विशद् रूप से किया है। स्तोत्रों में उन्होंने जिस प्रकार की राधा–कृष्ण की सेवाकी अभिलाषा व्यक्त की है उससे मञ्जरियों की विभिन्न प्रकार की सेवा का ज्ञान होता है!

रूपगोस्वामी ने 'कार्पण्य पञ्जिका' स्त्रोत में अभिलाषा व्यक्त की है कि जब राधा–कृष्ण विरह–व्यग्र हो वृन्दावन में परस्पर का अन्वेषण करते हों, उस समय वे मञ्जरी रूप से उनका मिलन करा उनसे हारपदकादि पारितोषिक रूप में प्राप्तकर धन्य हों **(श्लोक ३५)**, वे विलास के समय उनके निकट रहकर उनकी विभिन्न प्रकार से सेवा करें **(श्लोक ३३)**, ताम्बूल सजाकर अपने हाथ से उनके मुख में अर्पित करें **(श्लोक ४२)**, अनङ्ग–क्रीड़ा में उनके केश विखर जाने पर उन्हें संवार दे, उनकी वेश–भूषा फिर से कर दें और उनके तिलक शून्य ललाट पर फिर से तिलक–रचना कर दें **(श्लोक ३९-४०)**। 'उत्कलिकावल्लरी' में उन्होंने अभिलाषा व्यक्त की है कि वे अपने केशपाश खोलकर राधा के दोनों चरणों को पोंछ देने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें। **(श्लोक ४७)**, निकुञ्ज में विलास के उपयोगी पुष्पशय्या तैयार कर सकें **(श्लोक ४८)**, विलास के समय दोनों को मधुपान करा सकें **(श्लोक ५१)** और विलास के पश्चात् उनका श्रम दूर करने के लिये चामर से बीजन कर सकें **(श्लोक ५२)**। 'श्रीगान्धर्व्वासं प्रार्थनाष्टकं' नामक स्तव में उन्होंने अभिलाषा व्यक्त की है कि जब निकुञ्ज में नानाविध पुष्प रचित शय्या पर शयन करते हुए राधा–कृष्ण मधुर नर्म विलास करते हों, तो वे दोनों की चरण–सेवा करें **(श्लोक ५)**।

साधारण रूप से सखी और मञ्जरी दोनों को सखी कहा जाता है, क्योंकि दोनों ही लीला की सहायिका और विस्तारिका हैं। पर दोनों के

भाव और सेवा में भेद है, जैसा हम आगे व्यक्त करेंगे। सखियाँ सब नित्य–सिद्धा स्वरूप–शक्ति हैं। मञ्जरियों में श्रीरूप मञ्जरी, श्रीअनङ्ग मञ्जरी आदि स्वरूप–शक्ति हैं। पर जो साधन–सिद्धा मञ्जरी हैं, वे स्वरूप–शक्ति नहीं हैं। वे सखी नहीं हो सकतीं। सखियों की सेवा स्वातन्त्र्यमयी है, मञ्जरियों की सेवा आनुगत्यमयी है। मञ्जरियाँ सखियों की अपेक्षा न्यूनवयस्का भी हैं।

राधा-प्रधान मञ्जरी भाव की उपासना

मधुर भाव की उपासना का उल्लेख पद्म पुराण पातालखण्ड में मिलता है। श्रीनिम्बार्काचार्य, जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति आदि ने भी इसका उल्लेख किया है। पर मञ्जरी भाव की उपासना के वैशिष्ठ्य का श्रीरूप गोस्वामी ने ही प्रथम बार उज्ज्वल नीलमणि में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है।

राधा की सखियाँ दो प्रकार की हैं–समस्नेहा और असमस्नेहा। जिनका राधा और कृष्ण के प्रति समान स्नेह है, वे समस्नेहा हैं, जैसे ललिता–विशाखा। असमस्नेहा दो प्रकार की हैं–कृष्ण स्नेहाधिका, जिनका राधा की अपेक्षा कृष्ण के प्रति स्नेह अधिक है, जैसे धनिष्ठादि और राधा स्नेहाधिका, जिनका कृष्ण की अपेक्षा राधा के प्रति स्नेह अधिक है। राधा स्नेहाधिका 'मञ्जरी' कहलाती हैं। यह हैं रूप मञ्जरी आदि।* मञ्जरियों का राधास्नेहाधिक्यमय स्थायी भाव 'भावोल्लासारति' कहलाता है। कृष्ण के प्रति उनकी रति उसका संचारी भाव है।

मञ्जरियों की विशेषता है उनकी विलक्षण भावशुद्धि। सखियाँ राधा के अतिशय आग्रह से कभी–कभी श्रीकृष्ण का अङ्ग–सङ्ग स्वीकार भी कर लेती हैं। पर मञ्जरियाँ राधाकृष्ण–सेवानन्दरस–माधुर्य आस्वादन में इतना तल्लीन रहती हैं कि वे राधाकृष्ण के अनुरोध पर भी कभी स्वप्न में भी कृष्ण–अंग–संग की वाँछा नहीं रखतीं।

इस विलक्षण भाव शुद्धि के कारण मञ्जरीगण को राधाकृष्ण की जिस गोपनीय सेवा का अधिकार और सौभाग्य प्राप्त है, वह ललितादि सखियों को नहीं है। वे उनकी केलिभूमि में असंकुचित भाव से गमनागमनकर उनकी गोपनीय सेवा करके धन्य होती हैं। ललितादि सखियों का वहाँ प्रवेश भी नहीं है।

इसके अतिरिक्त कृष्ण के अङ्ग–संग का तिरस्कार करने के कारण मञ्जरियाँ रस की दृष्टि से किसी प्रकार घाटे में नहीं रहती।

* रूप गोस्वामी ही वृजतलीला की रूप मञ्जरी हैं

अपितु राधा के साथ अपने तादात्म्य के कारण वे राधा और कृष्ण के मिलनान्द का स्वतः उपभोग करती हैं, यहाँ तक कि वे रति–चिह्न, जो कृष्ण के अङ्ग–संग के कारण राधा में होते हैं, मञ्जरियों के अङ्ग में भी उभर आते हैं।

रूप गोस्वामी के अनुसार श्रीरूपमञ्जरी आदि प्रमुखा मंजरियों के आनुगत्य में अपने अन्तश्चिन्तित सिद्ध देह से राधाकृष्ण की सेवा करना ही गौड़ीय–वैष्णव साधकों का मुख्य भजन है–बाहर साधक देह से श्रवण–कीर्तनादि करना और अन्तर में सिद्ध देह (मंजरी–स्वरूप) की भावना कर उसके द्वारा लीला परिकर मञ्जरी के आनुगत्य में राधाकृष्ण की अष्टकालीन सेवा करना–

सेवासाधकरूपे सिद्धरूपेण चात्रहि।
तद्भावलिप्सुना कार्य्या व्रजलोकानुसारतः।।

(भ. र. सि १/२/२९५)

इस प्रकार भावना करते–करते साधक का नित्य–सिद्ध लीला–परिकर मंजरीगण के साथ 'साधारणीकरण' हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह राधारानी के विप्रलम्भ और सम्भोग–रस का आस्वादन करता है।

मंजरी भाव की उपासना के उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह राधा–कृष्ण की युगल–उपासना है, पर इसमें प्रधानता राधा की है। मंजरियाँ राधाकी दासी हैं। वे मुख्यरूप से उन्हीं की चरण–सेवा में अनुरक्त हैं। कृष्ण के साथ उनका सम्बन्ध है राधा की सेवा के निमित्त ही। स्वतन्त्र रूप से कृष्ण की सेवा तो दूर वे कृष्ण के प्रति भ्रुक्षेप भी नहीं करतीं। वे अपने राधा–प्रेम के कारण और राधा की अपने प्रति कृपा के कारण गर्ववती हैं। उन्हें कृष्ण से क्या लेना? कृष्ण उनकी अपेक्षा रखते हैं, वे कृष्ण की अपेक्षा नहीं रखतीं। कृष्ण राधा के प्रेम के वशीभूत हैं, और राधा से उनके मिलन में उनकी यह किंकरियाँ सहायक हैं। इसलिये उलटा वे ही इनके आगे हाथ जोड़े रहते हैं, इनकी चाटुकारी करते रहते हैं। रूप गोस्वामी की 'चाटु पुष्पाञ्जलि' के इस श्लोक से यह कितना स्पष्ट है–

"करूणां मुहुरर्थयेपरं तव वृन्दावन चक्रवर्त्तिनी।
अपिकेशिरिपोर्यया भवेत्स चाटु प्रार्थनभाजनं।।

(चाटु पुष्पाञ्जलि, २३)

–हे वृन्दावन चक्रवर्तिनि! मैं बार–बार तुम्हारी ऐसी कृपा की प्रार्थना करता हूँ, जिससे मैं तुम्हारी प्रिय सखी बनूं। तुम जब मानिनी हो तो कृष्ण तुमसे मिलने के लिए मेरी चाटुकारी करें और मैं उनका हाथ

पकड़कर उन्हें तुम्हारे पास ले आऊँ।"

किंकरी राधा की दासी है और कृष्ण राधा के प्राण हैं। इसीलिए वह कृष्ण से सम्बन्ध रखती है और राधा के साथ कृष्ण की सेवा करती है। पर यदि राधा की कृपा उसे न मिले तो अकेले कृष्ण से उसे क्या काम? वह उनकी उपेक्षा करती है।

रघुनाथदास गोस्वामी ने 'विलाप कुसुमाञ्जलि' में यह बात खोलकर कही है–

त्वं चेत् कृपां मयि विधास्यसि नैव किं मे।
प्राणैर्व्रजेन च वरोरू बकारिणापि।।

(विलाप कुसुमाञ्जलि, १०२)

निकुञ्ज-विलास

निकुञ्ज-विलास का अर्थ है प्रेम-विलास। प्रेम-विलास काम-क्रीड़ा नहीं है। प्रेम और काम में उतना ही अन्तर है जितना प्रकाश और अन्धकार में। प्रेम निर्मल भास्कर है, काम निबिड़तम अन्धकार। प्रेम-विलास है जड़-सम्पर्क रहित, माया मुक्त, चितधन शरीरधारी, स्वसुख वासना रहित नायक-नायिकाओं का मधुर चेष्टाओं द्वारा एक-दूसरे को सुखी करने के उद्देश्य से तन-मन को एक-दूसरे पर न्योछावर कर देने जैसा उन्नत, उज्ज्वल, रसमय व्यापार। काम-क्रीड़ा है रक्त-मांस-मल-मूत्रमय दो जड़ शरीरधारी व्यक्तियों का अपनी जड़ेन्द्रियों का दासत्व स्वीकार कर उनकी सेवा के हेतु, एक-दूसरे के शरीर का पशुओं के समान भोग करने जैसा कुत्सित व्यापार।

श्रीरूप गोस्वामी ने कृष्ण को धीर-ललित नायक कहा है। धीर-ललित नायक चातुर, नवतरुण, परिहास-विशारद, चिन्ताशून्य और प्रेयसीवश होता है–

विदग्धो नवतारुण्यः परिहास-विशारदः।
निश्चिन्तो धीर-ललितः स्यात् प्रायः प्रेयसीवशः।।

(भ. र. सि, द. वि., विभाव लहरी, १२३)

चैतन्य-चरितामृत में कहा है धीर-ललित नायक का स्वभाव ही है निरन्तर काम-क्रीड़ा में रत रहना। इसलिये श्रीकृष्ण राधा के साथ रात-दिन कुञ्ज-क्रीड़ा में रत रहकर कैशोर वयस सफल करते हैं–

राय कहे कृष्ण हय धीर-ललित। निरन्तर काम-क्रीड़ा-जाँहार चरित।।
रात्रि-दिन कुञ्जे क्रीड़ा करे राधा संगे। कैशोर वयस सफल कैल क्रीड़ा रंगे।।

(चै. च. २/८/१८६, १८८)

भक्तिरसामृतसिन्धु के २/१/२३१ श्लोक का भी यही भाव है।

रूप गोस्वामी ने उज्ज्वलनीलमणि में राय रामानन्द के इस सूत्र का विस्तार करते हुए निकुञ्ज–लीला के विधायक तत्वों का विशद वर्णन किया है। उज्ज्वल नीलमणि के सम्भोग प्रकरण में उन्होंने निकुञ्ज–विलास के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया है।

प्रेम-विलास-विवर्त

व्रजसुन्दरियों का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम असाधारण है, क्योंकि सभी महाभाववती हैं। पर महाभाव का चरमतम विकास है राधा के मादनाख्य महाभाव में, जो अन्य व्रजसुन्दरियों में नहीं है। इसलिये श्रीकृष्ण की प्रेमवश्यता का चरमतम विकास भी है राधा के प्रेम के सन्दर्भ में ही। दोनों परस्पर के प्रति अपने प्रेम की उद्दामता के कारण परस्पर को सुखी करने की उद्दाम प्रेरणा से केलि–विलास में अपूर्व, गाढ़तम तन्मयता को प्राप्त होते हैं। इस तन्मयता को गाढ़तम बनाती हैं राधा के मादनाख्य महाभाव की कुछ विशेषताएँ, जो इस प्रकार हैं–

(1) मादन है प्रेम का पूर्ण रूप या स्वयं रूप। रति, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव इसके अंश हैं। इसलिए मादनाख्य महाभाववती राधा हैं अनन्त कान्ताभाव वैचित्री का मूर्तरूप–कान्ताभाव का स्वयं रूप, अखिल–कान्ताभाव–विग्रह। जिस प्रकार स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के आविर्भाव के समय अनन्त रस–वैचित्री के प्रकाश–स्वरूप अनन्त भगवत्–स्वरूप उनके भीतर आविर्भूत होते हैं, उसी प्रकार स्वयं प्रेम रूप मादन के उदय होने पर समस्त प्रेम–वैचित्री और समस्त कान्ताभाव–वैचित्री एक साथ उल्लसिल और तरंगायित होती है। परिणाम–स्वरूप विलास–सुख में असाधारण तन्मयता जन्मती है।

(2) मादन का उदय होता है केवल सम्भोग में। सम्भोग की असंख्य वैचित्री हैं, जैसे आलिंगन, चुम्बन, संलापन, वेश रचना, चित्रांकनादि। मादन में किसी एक प्रकार के सम्भोग में समस्त सम्भोग वैचित्री का एक साथ सुखानुभव होता है और सम्भोग वैचित्री के सुखानुभव के साथ नानाविध वियोगजनित भाव का भी अनुभव होता है। सम्भोग में वियोग और वियोग में संयोग का अनुभव मादन की एक अद्‌भुत विशेषता है। मिलन की तीव्र उत्कण्ठा ही सम्भोग में वियोग का अनुभव कराती है और

वियोग का अनुभव ही उत्कण्ठा का वर्धनकर सम्भोग–सुख चमत्कारित्व की नवनवायमानता को अक्षुण्ण बनाये रखता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, जिससे विलास–सुख–चेष्टा में तन्मयता निबिड़से भी निबिड़तम होती जाती है।

(३) महाभाव की दो विशेषताएँ हैं–उसकी स्वसम्वेद्यदशा और यावदाश्रयवृत्ति। अनुराग के उत्कर्ष में जब बलवती उत्कण्ठा के साथ श्रीकृष्ण माधुर्य का अनुभव होता है, तब माधुर्य के आस्वादनाधिक्य के कारण आस्वादक इतना तन्मय हो जाता है कि उसे न अपनी स्मृति रहती है, न माधुर्यादिकी। स्मृति रहती है केवल आस्वादनकी। उसका अपना और आस्वाद्य वस्तु का ज्ञान लुप्त हो जाता है। आस्वादक के अभाव में आस्वादन स्वयं ही अनुभव करता है, क्योंकि अनुराग संवित संयुक्ता ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति है, जो स्वयंसंवेद्य है। 'ना सो रमण, ना हाम रमणी' भाव अनुराग की इस स्वसम्वेद्य दशा का ही इंगित करता है। मादनाख्य महाभाव की दशा में, जो महाभाव की चरम सीमा है, अनुराग की स्वसम्वेद्य दशा भी चरम सीमा पर पहुँच जाती है।

अनुराग जब अपनी सीमा पर पहुँचता है तो यावदाश्रय–वृत्तित्व लाभ करता है। अनुराग का आश्रय या भित्ति है प्रेम के विकास–क्रम में उसके पूर्व का स्तर–राग। राग की भित्ति है प्रणय। प्रणय की अवस्था में नायक और नायिका में विश्रम्भकी, अपने प्राण–देह–मनादि को एक मानने की प्रवृत्ति जन्मती है। अतः मादनाख्य महाभाव में, जो अनुराग की चरम पराकाष्ठा है, प्राण–देह–मनादि के ऐक्य–मनन की भी चरम पराकाष्ठा होती है,[1] जिसका रामानन्दराय के गीत में 'दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि' वाक्य द्वारा इंगित किया गया है।

परन्तु प्रेम–विलास–विवर्त का देह–मन–प्राणादि का ऐक्य–मनन, या अभेद–ज्ञान ज्ञान–मार्ग के साधक के अभेद–ज्ञान जैसा नहीं है। ज्ञान–मार्ग की मूल भित्ति ही है जीव और ब्रह्म का अभेद ज्ञान। ज्ञान–मार्ग का साधक यह मानकर चलता है कि जीव और ब्रह्म तत्वतः एक हैं पर अज्ञान के कारण ब्रह्म से अपने पृथक् अस्तित्व की प्रतीति होती है। अज्ञान के दूर हो जाने पर उसका भेद–ज्ञान उसी प्रकार मिट जाता है, जिस प्रकार घट के टूट जाने पर घटाकाश और महाकाश का भेद मिट जाता है। राधा और कृष्ण दोनों में कोई भी अज्ञानवृत ब्रह्मरूपजीव के समान अनित्य नहीं है। दोनों नित्य हैं, दोनों की लीला भी नित्य है। लीला–रस आस्वादन करने के

१. उज्ज्वलनीलमणि, स्थायि, ७८ श्लोक की आनन्दचन्द्रिका और लोचन-रोचनी टीकाएँ।

लिये ही दोनों स्वरूपतः एक होते हुए भी अनादिकाल से दो रूपों में विद्यमान हैं—

राधा–कृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप। लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप।।

(चै. च. १/४/८५)

प्रेम–विलास–विवर्त में जो प्राण–मन–देहादि का ऐक्य होता है, वह केवल भावगत है, वस्तुगत नहीं। देह, मन और प्राण का पृथक् अस्तित्व बना रहता है, पर विलास–सुखैक–तन्मयता के कारण उनके ऐक्य का मननमात्र होता है। राधा–कृष्ण के इस देह–मनादि के ऐक्य के मनन को कविकर्णपूर ने 'परैक्य' कहा है। 'परैक्य' शब्द का अर्थ है राधा–कृष्ण के मन का प्रेम के प्रभाव से गलकर सर्वतोभाव से एक हो जाना, वैसे ही जैसे लाख के दो टुकड़े अग्नि के प्रभाव से गलकर एक हो जाते हैं। इस प्रकार मन का भेद मिट जाने पर ज्ञान का भेद भी मिट जाता है। दोनों को अपने पृथक् अस्तित्व का ज्ञान नहीं रहता, यद्यपि पृथक् अस्तित्व बना रहता है। ज्ञान–मार्ग के साधक में सिद्धावस्था प्राप्त करने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों का लोप हो जाने के कारण न तो ज्ञाता का पृथक् अस्तित्व रहता है, न किसी प्रकार का अनुभव होता है और न किसी प्रकार की चेष्टा। पर प्रेम–विलास–विवर्त में राधा–कृष्ण का पृथक् अस्तित्व रहता है, विलास–सुखैकतात्पर्यमयी अनुभूति रहती है और विलास–सम्बन्धी चेष्टा रहती है।

प्रेम–विलास–विवर्त में राधा–कृष्ण की विलाससुखैक–तन्मयता ही है प्रेम–विलास की परिपक्वता या चरमोत्कर्षावस्था। पर इसके परिणामस्वरूप दोनों में उस अवस्था के दो बाह्य लक्षण भी प्रतिलक्षित होते हैं। वे हैं भ्रम और वैपरीत्य। तन्मयता के कारण भ्रम या आत्मविस्मृति घटती है और आत्मविस्मृति की अवस्था में परस्पर का सुख वधन करने की वर्धमान चरम उत्कण्ठा के कारण उनकी स्वाभाविक चेष्टाओं का अनजाने वैपरीत्य घटता है, अर्थात् कान्ता का भाव और आचरण कान्त में और कान्त का भाव और आचरण कान्ता में सञ्चारित होता है, जैसे साधारण रूप से कृष्ण वंसी बजाते हैं और राधा नृत्य करती हैं, पर विहार–वैपरीत्य में राधा बंशी बजाती हैं, कृष्ण नृत्य करते हैं। नायक और नायिका में विहार–वैपरीत्य बुद्धिपूर्वक भी हो सकता है। पर प्रेम–विवर्त–विलास में यह अबुद्धिपूर्वक होता है, क्योंकि उसमें रमण का रमणत्व रमणी में और रमणी का रमणीत्व रमण में आत्मविस्मृति की

अवस्था में अनजाने ही सञ्चारित होता है।

चैतन्य–चरितामृत में राय रामानन्द ने महाप्रभु से अपने वार्तालाप में प्रेम–विवर्त–विलास का इंगित एक गीत द्वारा किया है, जिसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

पहिलहि राग नयनभंग भेल। अनुदिन बाढ़ल अवधि न गेल़।।
ना सो रमण ना हम रमणी। दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि।।

–राधा कहती हैं "नयन–भंग, अर्थात् पलक पड़ने में जितनी देर लगती है, उतनी देर में (श्रीकृष्णसे) मेरा प्रथम राग हो गया। राग दिन–प्रति–दिन निरवच्छिन्न भाव से बढ़ता गया। उसे कोई सीमा न मिली। राग के निरन्तर वर्धनशील प्रवाह ने, एक–दूसरे के विलास–सुख को वर्धन करने की वर्धनशील वासना ने मानो दोनों के मन को पीसकर एक कर दिया। परिणामस्वरूप न रमण को अपने रमणत्व का ज्ञान रहा, न रमणी को अपने रमणीत्व का। दोनों विलास–सुख की अनुभूति में खो गये और वह अनुभूति अपना आस्वादन स्वयं करती रही।

श्रीरूप–गोस्वामी की मादनाख्य महाभाव और प्रेम–विलास–विवर्त की व्याख्या वैष्णव–समाज को उनकी महत्वपूर्ण देन है।





श्रीरघुनाथभट्ट गोस्वामी

भिखारी किसी दाता के पास जाना चाहता है, जिसके घरका रास्ता वह नहीं जानता, तो पूछता–पूछता वहाँ पहुँच जाता है! पहुँचकर अपनी झोली उसके सामने फैला देता है। दाता की इच्छा होती है तो कुछ देता है, नहीं होती तो मना कर देता है।

पर एक दाता ऐसा है, जिसके पास जानेकी भिखारीमें सच्ची चाह हो, तो रास्ता वह स्वयं बन जाता है, रास्ता बताने को भी किसी न किसी छलसे, किसी न किसी रूपमें स्वयं आ जाता है। यदि वह स्वयं रास्ता न बने तो दूसरा कोई रास्ता उस तक पहुँचनेका हो ही नहीं सकता। यदि वह अपना रास्ता आप न बताये, तो दूसरा कोई बता ही नहीं सकता। वह रास्ता भी है मंजिल भी, साधन भी साध्य भी। वह गुरु रूपसे अपना रास्ता बताता है, इष्ट रूपसे रास्तेके दूसरे छोरपर खड़ा भिखारीके आनेकी प्रतीक्षा करता है।

भिखारी जब वहाँ पहुँच जाता है, तो उसकी कृपा न पाने का सवाल ही नहीं रहता। उसका स्वभाव ही जो ऐसा है। दूसरे दाताओंके स्वभावमें उनकी इच्छा प्रधान है, उसके स्वभावमें उसकी कृपा प्रधान है। दूसरे दाताओंकी कृपा अनुसरण करती है उनकी इच्छाका, उसकी इच्छा अनुसरण करती है उसकी कृपाका। वह अपनी कृपाके अधीन है, कृपा उसके अधीन नहीं।

तपन मिश्र

बंगालके पद्मा–तीरवर्ती रामपुर ग्रामके निष्ठावान भक्त तपन मिश्रको प्रभुकी सच्ची चाह थी। पर उन तक पहुँचनेका रास्ता वे नहीं जानते थे। रास्तेकी खोज में बहुत इधर–उधर टक्कर मार चुके थे। रास्ता बतानेवाले बहुत मिलते थे, पर ऐसा कोई नहीं मिलता था, जो स्वयं उसपर चलकर मंजिल तक पहुँच चुका हो और हाथ पकड़कर उन्हें ले चल सके। रास्ता बतानेवाले सब अपनी–अपनी कहते थे। इसलिए उनकी समस्या सुलझने के बजाय और उलझती जाती थी। वे बहुत व्यथित थे। रात–रात भर रोकर प्रभुसे प्रार्थना करते रहते थे।

एक दिन रोते–रोते उनकी आँख लग गयी। स्वप्नमें उन्होंने देखा कि कोई देवता उनसे कह रहा है–

'शुन, शुन ओहे द्विज परम सुधीर। चिन्ता ना करिह आर मन कर स्थिर।।
निमाइ पंडित–पाश करह गमन। तेहों कहिवेन तोमा साध्य–साधन।।
मनुष्य नहेन तँहो नर–नारायण। नर रूपे लीला ताँर जगत्–कारण।।
वेद–गोप्य ए सकल ना कहिबे कारे। कहिले पाइबे दुःख जन्म–जन्मान्तरे।।

(चै० भा० १/४/१२१-१२४)

–हे द्विज श्रेष्ठ ! सुनो, तुम सुधीर हो, धैर्य धारण करो। निमाइ पण्डितके पास जाओ। वे तुम्हें साध्य–साधनका उपदेश करेंगे। वे मनुष्य नहीं, नर रूपमें

नारायण हैं। जगत्के कल्याणके लिए नर—लीला कर रहे हैं। इस वेद—गोप्य बातको किसीसे न कहना। कहोगे तो जन्म—जन्मान्तरमें दुःख पाओगे।'

तपन मिश्रकी निद्रा भंग हुई। स्वप्नकी यादकर उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु बहने लगे।

निमाइ पण्डित उस समय विद्यार्थी जीवनके बाद सर्व—शास्त्र विशारद, अद्वितीय पण्डित और अध्यापकके रूपमें ख्याति लाभकर पूर्व बंगकी यात्रापर निकले थे और लोकनाथको साथ ले रामपुर आये हुए थे।

तपन मिश्र उनके पास गये और हाथ जोड़कर बोले, 'प्रभु, मुझे संसार अच्छा नहीं लगता। पर मैं साध्य—साधन कुछ नहीं जानता। मुझ दीन—हीन व्यक्तिपर कृपाकर यह बतायें कि मैं क्या करूँ, कौन—सा साधन अपनाऊँ, जिससे शान्ति पाऊँ?'

निमाइ पण्डितने कहा—

'कलियुग-धर्म हय नाम-संकीर्तन।
चारि युग चारि धर्म जीवेर कारण।।
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेंत्रायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरि कीर्तनात्।।

(भा० ११/३/५२)

अतएव कलियुगे नाम-यज्ञ सार।
आर कोनो धर्म कैले नाहि हय पार।।

(चै० भा० १/४/१३७-१३९)

—चार युगोंके चार धर्म है। कलियुगका धर्म नाम—संकीर्तन है। जिस फलकी प्राप्ति सत्ययुगमें भगवान् विष्णुके ध्यानसे होती है, त्रेतामें यज्ञादिसे होती है, द्वापरमें विष्णुके अर्चनसे होती है, उसकी कलियुमें हरिकीर्तनसे होती है। इसलिए कलियुगमें नाम—यज्ञ ही सार है। इस युगमें भवसागरसे पार होनेका और कोई साधन नहीं है।'

इतना कह निमाइ पण्डितने कहा—'साधनकी बात मैंने बहुत संक्षेपमें कह दी। अब तुम शीघ्र काशी चले जाओ। वहाँ फिर तुमसे भेंट होगी। तब सब—कुछ विस्तारसे कहूँगा—

तथाइ आमार संगे हइबे मिलन।
कहिभू सकल तत्व साध्य-साधन।।'

(चै० भा० १/१४/१५०)

निमाइ पण्डितकी आज्ञा शिरोधार्यकर तपन मिश्रने काशी जानेका निश्चय किया। उनसे विदा होते समय उन्होंने उनके चरण पकड़कर सम्भ्रमपूर्वक कानमें स्वप्नकी बात कही। निमाइ पण्डितने उसका समर्थन किया और उसे गुप्त रखनेकी आज्ञा की—

शुनि प्रभु कहे-'सत्य जे हय उचित।
आर कारे ना कहिबा ए सब चरित।।'

(चै० भा० १/१४/१५४)

रघुनाथभट्टका आविर्भाव

महाप्रभु ने साधारण अवस्थामें, जब उन्हें भगवदावेष नहीं होता था, अपनी भगवत्ताको सदा दूसरों से छिपाकर रखा। पर तपन मिश्र उन भाग्यशाली भक्तोंमें–से थे, जिनसे उन्होंने इसे छिपाया नहीं। इन्हीं तपन मिश्रके घर, उनके सपरिवार काशी पहुँचनेके 2 वर्ष पश्चात् सन् 1505 में रघुनाथ भट्ट गोस्वामीका आविर्भाव हुआ। तपन मिश्र जैसे एकांतिक भगवद् भक्तके पुत्र रघुनाथभट्टका उन्हीं जैसा सर्वत्यागी, अनुरागी भक्त होना स्वाभाविक था।

महाप्रभु की कृपा

महाप्रभुकी जितनी कृपा तपन मिश्रपर थी, उतनी ही रघुनाथभट्ट पर। रघुनाथ जब 8–9 वर्षके थे, तभी गोपालभट्टकी तरह उन्हें महाप्रभुकी सेवाका सौभाग्य मिला।

एक दिन अकस्मात महाप्रभुका काशीमें शुभागमन हुआ। उन्होंने मणिकर्णिका घाटपर गंगा–स्नान किया। उसी समय तपन मिश्र भी मणिकर्णिका घाटपर स्नान कर रहे थे। स्नान करते समय एकाएक 'हरि बोल, हरि बोल' की मधुर ध्वनि सुन वे चकित रह गंये। मायावादियों के गढ़ काशी में 'हरि बोल' की ध्वनि ! मरुभूमिमें समुद्रकी उत्ताल तरंगकी गम्भीर गरजना। शीघ्र स्नान समापन कर वे ध्वनिकी ओर चल पड़े। थोड़ा अग्रसर होते ही जैसे आकाशका चाँद उनके हाथ लग गया। उन्होंने देखा एक वटवृक्ष[1] के नीचे सन्यासी रूपमें बैठे निमाइ पण्डितको अंपनी स्वर्णिम अंग कान्तिसे दिशाओंको आलोकित करते ! नदिया–नागर निमाइ पण्डितको सन्यासी रूप में देख वे आनन्द और विषाद की भाव–तरंगोंमें डगमगाते और अश्रु विसर्जन करते उनके चरणों में लोट गये। महाप्रभुने उन्हें उठाकर आलिंगन किया। उनका आलिंगन प्राप्तकर तपनने परम शान्तिका अनुभव किया।

तपन उन्हें विश्वेश्वर और विन्दुमाधवके दर्शन करा आग्रहपूर्वक अपने घर ले गये, सपरिवार उनका चरणोदक पान किया और अपने पुत्र रघुनाथको उनके चरणोंमें समर्पित किया। महाप्रभुने रघुनाथको गोद में लेकर प्यार किया। महाप्रभुका पूजनकर तपन मिश्रने उन्हें भोजन कराया। भोजनके उपरान्त महाप्रभुने विश्राम किया। रघुनाथने उनका पाद–संवाहन किया। तपन मिश्र, उनकी पत्नी और रघुनाथने महाप्रभु का उच्छिष्ट ग्रहण किया।

यह सुन कि महाप्रभु वृन्दावन जायेंगे तपनने उनसे कुछ दिन काशी में ही रहकर नित्य उनके घर भिक्षा ग्रहण करनेका अनुरोध किया। महाप्रभुकी काशीमें अधिक रहनेकी इच्छा न थी, तो भी उनका अनुरोध मानकर वे दस दिन वहाँ रह गये–

इच्छा नाइ, तबु तथा रहित दिन दशे।

(चै० च० २/१७/१००)

---

१. यह वृक्ष आज भी विद्यमान है और 'जतन-वट' (चैतन्य-वट) के नाम से प्रसिद्ध है।

दस दिन वहाँ रहकर महाप्रभुने तपन मिश्रको साध्य–साधनका उपदेश किया। रघुनाथको भी दस दिन उनका उपदेश सुननेका, उनका उच्छिष्ट ग्रहण करनेका और उनका पाद संवाहन करने का अवसर मिला।

महाप्रभु जब वृन्दावनसे लौटे, वे चन्द्रशेखर आचार्यके घर रहे। पर तपन मिश्रके आग्रहपर भिक्षा उनके घर करते रहे (चै० च० २-१९, २४-२५१)। रघुनाथको इस बार लगातार दो महीने उनकी सेवा करनेका सौभाग्य मिला।

दो महीने काशी में रहकर महाप्रभु ने प्रकाशानन्द सरस्वती का उद्धार किया और सनातन गोस्वामीको साध्य–साधन का उपदेश किया। जब वे नीलाचल जानेको हुए तपन और रघुनाथ दोनोंने उनके साथ चलनेका आग्रह किया। पर महाप्रभुने उन्हें समझा–बुझाकर काशीमें ही रहनेका आदेश किया।

कुछ ही दिन बाद रूप गोस्वामीका वृन्दावन से नीलाचल जाते समय काशी आगमन हुआ, तपन मिश्रके घर उन्होंने भिक्षा ग्रहण की और रघुनाथको उनके दर्शनका भी सौभाग्य मिला।

जगन्नाथपुरीमें

तपन मिश्रने रघुनाथकी शिक्षाके लिए सुयोग्य पण्डितोंको नियुक्त किया। उनकी शिक्षा सुचारू रूपसे चलने लगी। पर उनका मन भृंग श्री गौरांग महाप्रभुके चरण कमलों में आबद्ध हो चुका था। उन्हीं को हृदय मन्दिरमें स्थापित कर निरन्तर उन्हींका चिन्तन करता था। कब फिर गौरहरिके दर्शन होंगे और उनकी सेवाका सौभाग्य मिलेगा, यह सोच–सोचकर व्याकुल होता था। पर उन्होंने सुन रखा था–

जेइ नाम सेइ कृष्ण भज निष्ठा करि।
नामेर सहित आछेन आपनि श्रीहरि।।

वे जानते थे कि गौर–नाम और गौरमें कोई अन्तर नहीं, निष्ठापूर्वक गौर–नामका जप करनेसे गौरकी प्राप्ति अवश्य होगी, इसलिए वे निरन्तर गौर–नाम का जप करते और मन ही मन कहते–'प्रभु, वह दिन कब होगा, जब तुम्हारे चरणोंकी प्राप्ति होगी ?'–

नाम जपे आर बले मने।
कबे पाब चैतन्य चरणे, नाम जपे आर बले मने।
ठाँइ दिबेन श्रीचरणे कृपा हबे कत दिने।

(गुरु कृपार दान, खण्ड ३, पृ० २५०)

गौर–कृपासे वह दिन निकट आ गया। पढ़–लिखकर रघुनाथ सुपंडित हुए। तब एक दिन रथयात्राके लिए जगन्नाथपुरी जानेवाले यात्रियोंके साथ जगन्नाथपुरी जानेकी माता–पिता ने आज्ञा देदी। वे उनके साथ चल पड़े। साथमें ले चले महाप्रभुके भोगके लिए नाना प्रकार के द्रव्योंसे भरी एक टोकरी और टोकरी उठाकर ले चलनेके लिए एक सेवक।

पुरी पहुँचकर रघुनाथ महाप्रभुके निवास–स्थान गंभीरा गये। महाप्रभु

के दर्शन करते ही उनके चरणों में लोट गये और उन्हें अपने नेत्रों के जल से सिक्त करनें लगे।

उन्हें देख महाप्रभु का मुखकमल खिल गया। आनन्द भरे विस्मयके स्वरमें उन्होंने कहा—'रघुनाथ !'

रघुनाथने कहा—'हाँ प्रभु, आपका क्रीतदास।'

महाप्रभुने झट उठाकर उन्हें गोदमें लिया और अपने नेत्रोंके जल से उनके मुख और वक्षको सिक्त किया। आहा ! जैसे दास, वैसे प्रभु !

श्रीपाद रामदास बाबाजी महाराजने अपने कीर्तनमें इस प्रेम—मिलनको इस प्रकार व्यक्त किया है—

गौर दरशन पैये-पड़िलेन लोटाइये, पड़िल गौर पदतले
तोमार क्रीतदास एसेछे बले-पड़िल गौर पदतले, प्राण-गौर भासे नयन-जले
निज दासे करि कोले-प्राण गौर भासे नयन-जले।

(श्रीगुरु कृपारदान, खण्ड ३, पृ० २५१)

स्थिर हो महाप्रभुने तपन मिश्रका कुशल क्षेम पूछा। रघुनाथसे उस दिन अपने पास गंभीरामें ही रह जानेको कहा। दूसरे दिन अपने भृत्य गोविन्दसे कहकर उनके रहनेकी व्यवस्था अन्यत्र कर दी।

रघुनाथने आठ मास पुरीमें रहकर दिन प्रति दिन अपने प्रति महाप्रभु की बढ़ती हुई कृपा का सोल्लास उपभोग किया। बीच—बीच में उन्हें निमन्त्रिण कर अपने हाथसे बनाये विविध प्रकारके व्यञ्जनोंका भोग लगाया। महाप्रभु उनके बनाये भोजनसे बहुत प्रसन्न होते, क्योंकि वे पाक—विद्या में बहुत निपुण थे। जो पकाते वही अमृत होता—

रघुनाथ भट्ट-पाके अतिसुनिपुण।
जेइ रान्धे सेइ हय अमृतेर सम।।

(चै० च० ३-१३-१०७)

महाप्रभुको भोजन कराने के बाद रघुनाथ उनका अवशिष्ट स्वयं ग्रहण कर कृतार्थ होते।

आठ महीने बाद महाप्रभुने रघुनाथ को विदा किया। विदा करते समय कहा—'रघुनाथ, तुम विवाह न करना। वृद्ध माता—पिता की सेवा करना, किसी वैष्णवसे भागवतका अध्ययन करना। नीलाचल एक बार फिर आना।' (चै०च०३-१३-१११-११३)।

इतना कह उन्होंने अपनी कण्ठमाला रघुनाथको पहना दी और उन्हें आलिंगन कियां कण्ठमालाके रूपमें महाप्रभुका आशीर्वाद प्राप्तकर रघुनाथके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु बहने लगे। प्रेम—गद्गद् कण्ठसे उन्होंने स्वरूपादि भक्तोंसे विदा माँगी और रोते—रोते काशी के लिए चल दिए।

काशी पहुँचकर वे माता—पिताकी सेवा और भागवत—अध्ययनमें लग गये। चार वर्ष बाद माता—पिता का देहान्त होने पर एक बार फिर नीलाचल की यात्रा की। इस बार भी वे आठ मास नीलाचल रहे। आठ

मास बाद महाप्रभु ने उन्हें वृन्दावन जाने की आज्ञा देते हुए कहा–

'आमार आज्ञाय रघुनाथ ! जाह वृन्दावने।
ताहा जाञ रह रूप-सनातन स्थाने।।
भागवत पढ़ सदा लह कृष्ण नाम।
अचिरे करिबेन कृपा कृष्ण-भगवान्।।

(चै०च०३-१३-११९-१२०)

–रघुनाथ, अब तुम मेरी आज्ञासे वृन्दावन जाओ। वहाँ जा रूप–सनातनका संग करो, भागवत पढ़ो और कृष्ण नाम का सदा जप करो। ऐसा करनेसे तुम्हें शीघ्र कृष्ण–प्राप्ति होगी।'

इतना कह महाप्रभु ने चौदह हाथ लम्बी तुलसी–पत्र की माला और पानकी बीड़ी, जो उन्हें महोत्सवमें जगन्नाथजीकी प्रसादी के रूप में प्राप्त हुई थी, रघुनाथको प्रदान कीं, आलिंगन कर उनमें शक्ति–संचार किया और उन्हें वृन्दावनके लिए विदा किया।

वृन्दावनमें

महाप्रभुके आलिंगन और जगन्नाथजीकी प्रसादीके रूपमें सब कुछ पाकर और महाप्रभु के चरण कमलोंसे विच्छेदके रूपमें सब कुछ खोकर रघुनाथ चले जा रहे थे वृन्दावन के पथपर। पथ बहुत लम्बा था। पर महाप्रभुकी हृदयांकित छवि और उनके सत्संग की मधुर स्मृतियोंने उसे इतना छोटा कर दिया कि वे अविलम्ब 'हा गौर, हा गौर !' कहते वृन्दावन पहुँच गये।

उनके वृन्दावन पहुँचते ही वहाँके भाव–संमुद्रमें एक नयी तरंग आ गयी। रूप–सनातन उन्हें पाकर परमानन्दित हुए। वे उन्हें लेकर निर्जनमें बैठ जाते और महाप्रभुके रूप–गुण–लीलादिकी एक दूसरे से चरचाकर एक–दूसरे को भाव–समुद्रमें डुबो देते, एक–दूसरे से लिपटकर उनकी याद में रोते–रोते ब्रजरजको पंकिल कर देते।

भागवतकी अमृतमयी कथाकी सोतस्विनी भी रघुनाथभट्टके वृन्दावन पहुँचनेपर वहाँ बह चली। उन्होंने नित्य सन्ध्या समय गोविन्ददेवके मन्दिरमें भागवत कथा कहना प्रारम्भ किया। उन्हें वृन्दावन भेजनेका महाप्रभुका मुख्य उद्देश्य ही यह था। वे भागवत–पाठको उतना ही महत्व देते, जितना श्रीविग्रह सेवा और नाम–जपको, क्योंकि वे श्रीमद्भागवतको हरिनाम और श्रीविग्रह की तरह ही भगवान् का अभिन्न स्वरूप मानते। वे स्वयं नीलाचलमें गदाधर पण्डितसे भागवत् कथा सुना करते। वे चाहते थे कि वृन्दावनमें भी गदाधर पण्ड़ित जैसा कोई भागवत का पण्डित हो, जो नित्य वहाँके भक्तों को भागवत सुनाया करे। रघुनाथभट्ट को उन्होंने उपयुक्त जान इस कार्यके लिए तैयार किया था।

रघुनाथमें वे सभी गुण थे, जो भागवत के अच्छे वक्तामें होना चाहिए। वे सुपण्डित थे। महाप्रभु के आदेश से उन्होंने भागवत का अच्छा अभ्यास किया था। सम्पूर्ण भागवत उनके स्मृति–पटलपर स्वर्णाक्षरोंमें

अंकित थी। भागवतके किसी प्रसंग पर उसकी धारा–प्रवाह आवृत्तिका निर्झर उनकी स्मृतिसे सहज ही फूट पड़ता था। भागवतके मार्मिक अंशोंकी वे जैसी व्याख्या करते, उससे लगता कि वे भागवत समुद्र के ऊपर–ऊपर ही स्वच्छन्द तैरने के अभ्यासी नहीं, उसके अतल–तल में प्रवेश कर उसके बहुमूल्य रत्नोंको निकाल लाने के भी अभ्यासी थे।

उनका त्याग–भक्तिमय आदर्श चरित्र और उनकी अप्राकृत कान्तिमय मधुर मूर्तिका आकर्षण श्रोताओं में उनके प्रति श्रद्धा–भक्तिका संचार कर उन्हें उनके चरणों में नतमस्तक होने को विवश कर देता।

भक्तिरससे उनका हृदय सदा परिपूर्ण रहता। भागवत पाठ करते समय वह नयन–पथसे अश्रुधाराके रूपमें बहने लगता। उस समय उनके नेत्रों से दिखायी न देता, कण्ठ से बोला न जाता। उनका भागवत पढ़ना कठिन हो जाता–

अश्रु कम्प गद्‌गद् प्रभुर कृपाते।
नेत्र कण्ठ रोधे वाष्प, ना पारे पढ़िते।।

(चै०च०३-१३-१२७)

रघुनाथका कण्ठ कोकिलके कंठके समान सुरीला था। संगीत विद्या में भी वे पारदर्शी थें। भागवतके एक श्लोकको कई–कई रागोंमें गाकर सुनाने के अभ्यासी थे–

पिकस्वर कण्ठ ताले रागेर विभाग।
एक श्लोक पड़िते फिराय तिन-चारि राग।।

(चै०च०३-१३-१२८)

जब वे अपने भाव–गद्‌गद् कोकिल कण्ठसे श्रीमद्भागवतके श्लोक गाकर पढ़ते, तो उनकी रसमयी वाणी कर्णद्वारसे श्रोताओं के अन्तरमें प्रवेश कर उनकी हृदय तन्त्रीको झकझोर देती। मनुष्यकी कौन कहे पशु–पक्षी तक को उनकी वाणी पुलकित और पाषाण तकको पिघलाकर पानी कर देती। किसी महाजनने उनके सुनिर्मल कृष्ण–प्रेम और अमृतमयी वाणी के सम्बन्धमें लिखा है–

'परम वैराग्य सीमा, सुनिर्मल कृष्णप्रेमा, सुस्वर-अमृतमय वाणी।
पशु–पक्षी पुलकित, जार मुँखे कथामृत, सुनिते पाषाण हय पानी।।

जबसे रघुनाथ वृन्दावन आये उनकी भागवत–कथा वहाँके लोगोंके आध्यात्मिक जीवन का मुख्य आधार बन गयी। नित्य सन्ध्या समय गोविन्ददेवका मन्दिर श्रोताओं के समूह से ठसा–ठस भर जाया करता। कथाके समय से पूर्व ही रूप–सनातनादि गोस्वामीगण, और अन्यन्य भक्त, त्यागी और गृहस्थ, वृद्ध और युवक कृष्ण–भक्तिरसके सदावर्तके उस क्षेत्र में अपना–अपना पात्र लेकर बैठ जाते। रसिक पाठक की मधुमय वाणीके माध्यम से भक्तिरस का पान कर तृप्त होते। तृप्ति–सूचक उनके 'साधु–साधु' स्वरसे गोविन्ददेव के मन्दिर का प्रांगण झंकृत हो उठता। कितने पाषाण हृदय पिघल जाते, कितनोंके शुष्क हृदयमें कृष्ण–प्रेम की बाढ़ आ जाती थी, कितनो के हृदयसे

टकराकरं उनकी अमृतमय वाणी उन्हें मूर्च्छित कर देती। कथा की समाप्ति पर जब रघुनाथ पोथी बन्द करते, तो श्रोताओं को लगता जैसे किसी असीम आनन्दमय अप्राकृत राज्य से उनका अकस्मात स्खलन हो गया हो। उनकी साँसें लम्बी खिंचने लगतीं और वातावरणमें उदासी और निस्तब्धताकी लहर दौड़ जाती। वे जब आसन त्याग करते तो शत-शत लोग उनके चरण प्रान्तमें लुंठित होते।

रघुनाथभट्ट गोस्वामीकी कथासे प्रभावित हो अनेकों लोग उनके शरणागत हुए, अनेकोंने भवसागर से पार होने के लिए उनकी चरण-पादुका को अपनी जीवन-तरी बनाया। बहुत से धनी-मानी व्यक्ति भी उनके शिष्य हुए। अपने एक धनी शिष्य से कहकर उन्होंने गोविन्दजीके पुराने छोटे मन्दिर की जगह एक बड़े मन्दिर * का निर्माण करवाया, जिसके मण्डपमें वे भागवत कथा कहा करते-

निज शिष्ये कहि गोविन्द-मन्दिर कराइल।
वंशी-मकर कुण्डलादि भूषण करि दिल।।

(चै०च०३-१३-१३१)

रघुनाथभट्ट गोस्वामी ने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की। उनका सारा समय कृष्ण-लीला-चिन्तन और कृष्ण-कथा-कीर्तन में व्यतीत होता। श्रीकृष्णदास कविराजने उन्हें निकट से देखा था। उन्होंने उनके सम्बन्धमें लिखा है कि वे ग्राम्य-कथा वार्ता न कहते, न सुनते, कृष्ण-कथा-पूजादि में ही अष्टप्रहर व्यतीत करते-

ग्राम्य वार्ता ना शुने, ना कहे जिह्वाय।
कृष्ण-कथा-पूजादि ते अष्ट प्रहर जाय।।

(चै०च०३-१३-१३२)

पूजा या स्मरण-मननकालमें वे महाप्रभु द्वारा दत्त तुलसीमाला (या कण्ठमाला) गलेसे बाँध लेते और महाप्रभु की कृपा से अनर्गल कृष्ण प्रेम समुद्रमें संतरण करते-

महाप्रभुर दत्त माला मननेर काले। प्रसाद-कड़ार-सहबान्धि लन गले।।
महाप्रभुर कृपाय कृष्ण-प्रेम अनर्गल। एइत कहिलूँ ताते चैतन्य कृपा फल।।

(चै०च०३-१३-१३४-१३५)

कृष्ण के सौन्दर्य माधुर्यकी बात पढ़ने सुनने मात्र से वे कृष्ण प्रेम में विह्वल हो जाते-

कृष्णेर सौन्दर्य माधुर्य जबे पढ़े शुने। प्रेम ते विह्वल तबे, किछुइ न जाने।।

(चै०च०३-१३-१२९)

वे केवल कृष्ण-कथा कहते और कृष्ण-कथा सुनते। वैष्णव-निन्दा सुनने का तो उनके लिए प्रश्न ही न था, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि सभी वैष्णव कृष्ण-भजन करते हैं-

---

*आशय उस मन्दिर से है जो मानसिंह द्वारा बनवाए गये मन्दिर से पहले बना था।

वैष्णवेर निन्दा-कर्म नाहि पाड़े काने। सबे कृष्ण भजन करे एइ मात्र जाने।।
(चै०च०३-१३-१३३)

अन्तर्धान

रूप–सनातन और रघुनाथभट्टका पारस्परिक स्नेह अपूर्व था। तीनों के प्राण एक थे, केवल देह भिन्न थे। तीनों एक दूसरे का विछोह सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए तीनों का एक ही वर्ष, लगभग एक साथ अन्तर्धान हुआ। सनातन गोस्वामीने सन् 1554 में आषाढ़ी पूर्णिमाको, रूप गोस्वामीने उसी वर्ष श्रावणी शुक्ला द्वादशी को और रघुनाथभट्ट गोस्वामीने भी उसी वर्ष आश्विनी शुक्ला द्वादशी को नित्य धाम में प्रवेश किया।*

जीवनके अन्तिम मुहूर्तमें रघुनाथभट्टके गलें में महाप्रभु द्वारा प्रदत्त जगन्नाथदेव की चौदह हाथ लम्बी प्रसादी तुलसी–माला थी और जिह्वापर 'गौर' नाम।

वृन्दावनमें गोविन्ददेवके मन्दिरके सामने 'चौंसठ–महन्तोंकी समाधि' नामसे प्रसिद्ध स्थानपर उनकी समाधि है। गौरगणोद्देश–दीपिकामें उन्हें व्रज–लीला की राग मञ्जरी कहा गया है।

भक्ति रत्नाकर, ४।१९४-१९६ में दिये गये विवरण के अनुसार रघुनाथभट्ट का तिरोभाव सनातन गोस्वामी के तिरोभाव से कुछ पूर्व हुआ। अनुरागवल्ली के अनुसार उनका तिरोभाव सनातन गोस्वामी के बाद हुआ। पर यदि उनका तिरोभाव उसी वर्ष हुआ, जिस वर्ष सनातन गोस्वामी का, जैसा सतीशचन्द्र मित्र (सप्त गोस्वामी, पृ. ३०१) आदि कुछ विद्वानों ने माना है, जो सनातन गोस्वामी, रूप गोस्वामी और रघुनाथभट्ट का तिरोभाव उसी क्रम से हुआ, जिससे ऊपर लिखा गया है।

श्री प्रबोधानन्द सरस्वती

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीका व्यक्तित्व आज भी बड़ा रहस्यमय बना हुआ है। उनके चरित्रसे सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध बहुत कम है। जो उपलब्ध है उसकी कड़ियाँ इधर–उधर इतनी बिखरी हुई हैं कि उन्हें जोड़नेमें कई प्रकार की कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है, कई प्रकार के प्रश्न उठ खड़े होते है। हम उन कड़ियोंको सावधानी से जोड़कर उन प्रश्नों का यथासंभव हल निकालने की चेष्टा करेंगे।

सर्वप्रथम 'हरि–भक्ति–विलास' और 'साधन–दीपिका' में किये गये उनके सम्बन्ध में कुछ उल्लेखों को लें। हरि–भक्ति–विलासके मंगलाचरणके दूसरे श्लोकमें गोपालभट्ट गोस्वामी ने प्रबोधानन्दको 'भगतत्प्रिय' कहा है। सनातन गोस्वामी ने इस श्लोक की टीकामें 'भगवत्प्रिय' का अर्थ 'भगवान् श्री चैतन्यदेवके प्रिय' अथवा 'भगवान् श्रीचैतन्यदेव जिनके प्रिय हैं' किया है।

'साधन–दीपिका' के लेखक श्रीराधाकृष्ण गोस्वामी गोपालभट्टके समसामयिक, गोविन्ददेवके मन्दिरके अधिकारी श्रीहरिदास पण्डित गोस्वामी के शिष्य थे। उन्होंने इस ग्रन्थमें गोपालभट्टको प्रबोधानन्दका 'भ्रातुष्पुत्र' कहा है–

श्रीमत् प्रबोधानन्दस्य भ्रातुष्पुत्र-कृपालयम्।
श्रीमद्गोपाल भट्ट तं नौमी श्रीव्रजवासिनम्।।*

इससे स्पष्ट है कि प्रबोधानन्द श्रीचैतन्य महाप्रभु के कृपापात्र और गोपालभट्ट के पितृव्य थे। गोपालभट्ट के पिता वेंकट भट्ट तीन भाई थे। त्रिमल भट्ट उनके बड़े भाई थे, प्रबोधानन्द छोटे। तीनों भाई बड़े विद्वान थे और श्रीरंगनाथके मन्दिरके प्रधान अर्चक थे।

प्रबोधानन्दकी विद्वत्ता का पता गौरगणोद्देश–दीपिकामें कविकर्णपूरके एक श्लोकसे चलता है, जिसमें उन्होंने उन्हें व्रजलीलाकी सर्वशास्त्र–विशारदा तुंगविद्या और गौरांग महाप्रभुका उच्च कीर्तन करनेवाली सरस्वती कहा है–

तुङ्गविद्या व्रजे यासीत सर्वशास्त्र विशारदा।
सा प्रबोधानन्द यतिर्गौरोद्गान सरस्वती।।

प्रबोधानन्दके दोनों भाई लक्ष्मी–नारायणके उपासक थे। पर प्रबोधानन्दका मन, रंगजीके अर्चक होते हुए भी, उनकी सेवामें नहीं लगता था। वे एक मस्तिष्क–प्रधान व्यक्ति थे और श्रीशंकराचार्यके अद्वैतवादसे विशेष रूप से प्रभावित थे। उन्होंने उन्हींकी तरह संसार त्यागकर ज्ञान–मार्ग का पथिक बननेका संकल्प कर रखा था। वे कब संसार त्यागकर काशी चले गये ओर संन्यासी होकर 'प्रकाशानन्द सरस्वती' नाम धारण किया, इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। चैतन्य–चरितामृतमें जो प्रकाशानन्दका विवरण है, उससे यह स्पष्ट है कि सन् 1514 में, जब महाप्रभु काशी गये, उससे पूर्व उनकी भेंट उनसे नहीं हुई थी और जब

*साधन-दीपिका, ८म कक्षा, पृ० २१४, हरिदास संपादित, नवद्वीप।

अपनी दक्षिण–यात्रा के समय महाप्रभु वेंकटभट्टके घर चार महीने रहे, उस समय वे वहाँ नहीं थे।

काशी में

काशीमें प्रकाशानन्द बिन्दुमाधवके मन्दिरके निकट अपने मठमें रहा करते। वे कौपीन धारण करते, मृत्तिकामें शयन करते, जीवन–धारणके निमित्त नाम मात्रका आहार करते और वेदादि–शास्त्र–चर्चा करते। उनके त्याग–वैराग्य और बहुमुखी पाण्डित्यसे लोग आकृष्ट होने लगे। उनके ग्रन्थ 'चैतन्य–चन्द्रामृत' के टीकाकार आनन्दीने टीकाके उपक्रममें उनके पाण्डित्यके बारेंमें लिखा है कि वे 'वेदान्त, तर्क, सांख्य, वैशेषिक, ज्ञान, मीमांसा, आगम, निगम, महापुराण, इतिहास, प०चरात्र; अलंकार, काव्य, नाटकादिके सिद्धान्तोंके वक्ता थे।' उनके पाण्डित्यसे मुग्ध हो सहत्रों काशीवासी सन्यासी उनके शिष्य हो गये और मायावादी सन्यासियों के सर्वप्रधान नेताके रूपमें उनकी ख्याति भारतमे चारों और फैल गयी।

यद्यपि उनके पाण्डित्यकी सीमा नहीं थी और वे सांसारिक वासनाओंका त्यागकर संन्यासी हुए थे, वे मोह, मात्सर्य और दम्भका पूरी तरह त्याग नहीं कर पाये थे। उन्हें अपने भ्रातुष्पुत्र गोपालका मोह था और अपने पाण्डित्यका दम्भ। पाण्डित्यमें किसी प्रतिद्वन्दीका उत्कर्ष वे सहन नहीं कर सकते थे।

गोपालको उन्होंने पढ़ा–लिखाकर महापण्डित किया था। वे उसे ज्ञान–पथपर अग्रसर होते देखना चाहते थे। रंगक्षेत्रमें रहते उन्होंने इसके लिए चेष्टा भी की थी। शायद कुछ सफलता भी मिली थी।

कुछ दिन बाद काशीमे उन्हें संवाद मिला कि गोपाल किसी सन्यासीके बहाकावे में आकर पागल जैसा हो गया है। ज्ञान मार्ग छोड़कर भावुकोंकी तरह नाचता–गाता और रोता है। यह जानकर उन्हें बड़ा दुख हुआ। उनके अभिमानको भी बड़ा धक्का लगा। वे सोचने लगे–भारतमें मुझसे बड़ा सन्यासी कौन है? किसका इतना साहस जो मेरे भ्रातुष्पुत्रको विपथपर ले चला?

प्रकाशानन्दके लिए भक्ति–पथ विपथ ही था। यह भावुकों और स्त्रियोंका पथ था। पुरूष भगवान्‌के लिए रोवे क्यों? क्यों उसकी भक्ति और पूजा करे? वह स्वयं ही तो भगवान् है। अविद्याके कारण अपने स्वरूप को भूला हुआ है। वेदान्त पढ़कर और ज्ञानियोंका संगकर अपने स्वरूपको जान लेना ही उसका धर्म है।

पर उन्होंने सोचा–गोपाल तो इतना मुर्ख नहीं, जो किसी के बहकावे में आ जाय। वह बड़ा मेघावी है। मैंने उसे ज्ञान–मार्ग की शिक्षा देकर पक्का भी कर दिया है। कोई बहुत ही चमत्कारी सन्यासी होगा, जिसके प्रभावमें आकर वह इतना बदल गया है। वह कौन हो सकता है?

अनुसन्धान करनेपर पता चला कि वह पच्चीस वर्ष का एक युवक

है, बड़ा रूपवान है। तपे हुए सोनेके समान उसका रंग है। अठारह वर्षकी उम्र में ही नवद्वीप जैसे विद्या के केन्द्र में प्रधान अध्यापकके रूपमें प्रतिष्ठित हो चुका है। काश्मीर के दिग्विजयी पण्डित तकको खेल–खेलमें परास्त कर चुका है। लोग उसे ईश्वर मानते हैं। अब वह सन्यास लेकर नीलाचलमें रहता है। भारतके सुप्रसिद्ध नैयायिक पण्डित और वेदान्ती सार्वभौम भट्टाचार्य तककी उसने मति फेर दी है। वह भी उसे ईश्वर मानने लगे है। वही दक्षिण भ्रमण करते समय रंगक्षेत्र जाकर वहाँ अपने प्रभावसे सबको अपने वशमें कर आया है। वह बड़ा प्रतापी हैं। श्रीकृष्ण चैतन्य उसका नाम है। केशव भारतीका शिष्य है।

यह जानकर प्रकाशानन्दको लगाकि वह युवक उनका प्रतिद्वन्दी है। ईर्षासे उनके प्राण अकुला उठे। पर उन्होंने अपने मनको यह कहकर समझा लिया कि वह इन्द्रजाली है, यदि वह उनके सामने आ जाय तो उसके इन्द्रजालका भण्डाफोड़ करनेमें उन्हें देर न लगे।

महाप्रभुसे पत्र–व्यवहार

इधर महाप्रभु नवद्वीप में रहते ही प्रकाशानन्दके भक्ति–विरोधी प्रचारके बारेमें बहुत कुछ सुन चुके थे। एक दिन ईश्वर आवेशमें उन्होंने उनके प्रति अपना रोष प्रकट किया था। चैतन्य–भागवत में उसका उल्लेख है–

बलिते प्रभुर हइल ईश्वर आवेग। दन्त कड़मड़ करि बलये विशेष।
सन्यासी प्रकाशानन्द बसये काशी ते। मोर खण्ड–खण्ड बेटा करे भालो मते।

(चै०भा०२-२०-३२)

–दाँत किटकिटाते हुए ईश्वर–आवेश में महाप्रभु ने मुरारीगुप्तसे कहा–'काशी में सन्यासी प्रकाशानन्द रहता है। वह बेटा मेरे देहको खण्ड–खण्ड करता है अर्थात् मुझे निराकार मानता है, मेरे श्रीविग्रह को नहीं मानता।

सन् १५१० में २४ वर्षकी उम्रमें महाप्रभु सन्यास ग्रहण कर नीलाचल गये। सार्वभौम भट्टाचार्यपर कृपा करने के पश्चात् दक्षिण की यात्रा की और बेंकट भट्ट को सपरिवार चरणाश्रय प्रदान किया। दो वर्ष बाद जब वे दक्षिण से लौटे एक दिन एक यात्रीने उन्हें एक परचा दिया, जिसमें निम्न श्लोक लिखा था–

'यत्रास्ते मणिकर्णिका, मलहरा स्वद्दीर्धिका दीर्धिका
रत्नन्तारक मोक्षदं तनुमृते शम्भूः स्वयं यच्छति।
एतत्वद्भुतधामतः सुरपुरो निर्वाणमार्गस्थितं
मूढ़ोऽन्यत्र मरीचिकासु पशुवत् प्रत्याशया धावति।।

–जिस निर्वाण मार्गस्थित स्थानमें मणिकर्णिका और पाप–नाशिनी मन्दाकिनी दीर्घिका है, और जहाँ स्वयं महादेव मोक्षप्रद तारक मन्त्ररत्न प्रदान करते हैं, मूढ़व्यक्ति उस प्रकृत रत्नको त्यागकर पशुओंके समान मृगतृष्णाके कारण प्रत्याशासे अन्यत्र धावित होते हैं।'

यह प्रकाशानन्दका भेजा श्लोक था। वे काशीमें बैठे महाप्रभुकी निन्दा किया करते। उनके शब्द उनतक पहुँचते हैं या नहीं, यह जाननेका कोई उपाय न था। उन्हें इस बात का भी क्षोभ था कि भारतके सभी

सन्यासी उनका आदर करते हैं, उनके निकट जाकर उनके चरणों में सिर नवाते हैं, पर यह नवीन सन्यासी उनकी उपेक्षा कर इधर–उधर डोलता फिरता है। इसीलिए उन्होंने यात्रीके हाथ यह श्लोक भेजा था। इसके माध्यम से उन्होंने कहा था–

'हे मूढ़ ! इस काशी नगरी में स्वयं महादेव मुक्ति प्रदान करते हैं। तू इसकी उपेक्षाकर नीलाचलमें क्यों व्यर्थ समय नष्ट कर रहा है?'

इसमें निन्दाके साथ–साथ प्रच्छन्न रूपसे काशीके लिए आह्वान भी था।

पत्र पढ़कर महाप्रभु हँसे। प्रकाशानन्दका सम्मान रखने के लिए निम्न श्लोक उत्तर में भेज दिया–

धर्माम्भोमणिकर्णिका, भगवतः पदाम्बू भागीरथी
काशीनाम्पतिरर्द्धमेव भजते श्रीविश्वनाथः स्वयं।
एतस्यैवहि नाम शम्भूनगरे निस्तारकं-तारकं
तस्मात् कृष्णपदाम्बुजं भज सखे श्रीपाद निर्वाणदं।।

–मणिकर्णिका जिन भगवान्का पसीना है, भागीरथी जिनके चरणका धोबन है, स्वयं विश्वनाथ जिनका भजन करते है और जिनका नाम काशीमें तारकों का भी तारक है, हे सखे, उन श्रीकृष्णके निर्वाण देनेवाले चरण कमल का भजन करो।'

श्लोक पढ़ प्रकाशानन्दने सोचा यह तो कुछ बात बनी नहीं। अब क्या करें? वे जातने थे कि महाप्रभु जगन्नाथजीके महाप्रसादका सम्मान करते हैं और कभी कभी महाभोग में जो उन्हें दूध–घीमें पकाया हुआ अन्न अर्पण किया जाता है और जो साधारण रूप से सन्यासियोंके लिए निषिद्ध है, उसे भी अपराधके भयसे पा लेते है। उन्होंने इस बातको लेकर विशुद्ध गाली भरा यह श्लोक लिख भेजा–

'विश्वामित्र पराशर प्रभृतयोवाताम्बुपर्णाशिनः
एते स्त्रीमुख पंकजं सुललितं दृष्टैव मोहं गताः।
शाल्यान्नः सघृतं पयोर्दधियुतं ये भुञ्जते मानवा
स्तेषामिन्द्रियनिग्रही यदि भवेद्विन्दुस्तरेत् सागरः।।

–विश्वामित्र पराशरादिं मुनिगण वायु, जल और पत्र मात्र भक्षण करके भी स्त्रीका सुन्दर मुख दर्शन कर मोहको प्राप्त होते हैं, तो वे लोग जो धृत–दधि–दुग्धयुक्त अन्न भक्षण करते हैं, उनके बारेमें क्या कहा जा सकता है? वे यदि इन्द्रियोंको वशमें रख सकें तो चटक पक्षी भी समुद्र लांघ सकता है।'

यह श्लोक प्रकाशानन्द जैसे महान व्यक्तिको शोभा नहीं देता था। पर वे जगत–पूज्य थे। किसीका आजतक साहस नहीं हुआ था जो उनकी बातको काटता या बराबरी से उसका उत्तर देता। इसलिए महाप्रभुके उत्तरसे वे क्रोधमें भर गये थे। क्या शोभनीय है, क्या अशोभनीय, इसका ज्ञान खो बैठे थे।

महाप्रभुने यह समझकर कि श्लोक उत्तर देने योग्य नहीं, उसकी

उपेक्षा की। परन्तु महाप्रभुके भक्तोंसे न रहा गया। उन्होंने महाप्रभुसे छिपाकर श्लोकका यह उत्तर भेज दिया—

'सिंहोबली द्विरवशूकर मांसभोगी संवत्सरेण कुरूते रतिमेकबारं।
पारावतस्त्रृण शिखाकणा मात्र भोगी कामी भवेत्वदिनं वद कोऽत्रहेतु।।'[1]

—बलवानसिंह हाथी—शूकरादिका मांस भक्षण करके भी वर्षमें एक बार क्रीड़ा करता है, पर कपोत सामान्य भोजनका कण मात्र खाकर नित्य क्रीड़ा करता है, इसका क्या कारण है, बताओ।

एक दिन सार्वभौम भट्टाचार्यने प्रकाशानन्द और उनके शिष्योंके लिए चिंतित हो महाप्रभुसे कहा—'प्रभु काशी के सन्यासी भक्ति—विमुख हो रहे है, यदि आप आज्ञा दें तो मैं काशी जाकर उन्हें सुखजनक भक्तिपथपर लानेकी चेष्टा करूँ।'

महाप्रभु हँसकर बोले—'भट्टाचार्य, तुम काशीके सन्यासियोंके लौह सदृश मनको न पिघला सकोगे। मनस्तापके सिवा तुम्हें और कुछ हाथ न लगेगा। पर तुम्हारे समान भक्तने जब उनके मंगलके लिए चिंता की है, तो कृष्ण अवश्य उनपर शीघ्र कृपा करेंगे।'

महाप्रभुका वृन्दावन आगमन

कुछ ही दिन बाद महाप्रभुने वृन्दावनकी यात्रा की (**यात्रा १५१४**)। मार्गमें काशी में रूके। उसी समय एक दिन एक महाराष्ट्री ब्राह्मणने प्रकाशानन्दसे जाकर कहा—'आपने सुना है? शुद्ध का०चनवर्णनका एक सन्यासी आया है। उसका प्रकाण्ड शरीर, आजानुलम्बित भुजाएँ, कमलनेत्र और ईश्वरके समान अन्य सभी लक्षण देख लगता है जैसे नरदेह में नारायण आये हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि उसे जो देखता है वही कृष्ण—कीर्तन करने लगता है।'

प्रकाशानन्द उस समय शिष्योंको वेदान्त पढ़ा रहे थे। वे अवज्ञापूर्वक हँस दिये।

ब्राह्मणने आगे कहा—'उसके मुखपर सदा कृष्ण—नाम रहता है, नेत्रोंसे अश्रु बहते रहते है। वह कभी हँसता है, कभी नृत्य करता है, कभी सिंह के समान हुंकार कर उठता है। उसका नाम सुना है? नाम है श्रीकृष्ण चैतन्य।'

'सुना है। गौड़देशमें चैतन्य—नामका एक सन्यासी हुआ है। केशव भारतीका शिष्य है। देश—विदेशमें नाचता—गाता फिरता है। वह सन्यासी नहीं, प्रतारक है। सम्मोहन—विद्या जानता है। उसी के प्रभावसे उसे जो देखता है मुग्ध हो जाता है, उसे ईश्वर कहने लगता है, प्रकाशानन्दने उपहासके स्वर में कहा।

महाराष्ट्री ब्राह्मणको यह अच्छा नहीं लगा। बोला—'क्या कह रहे हैं? अद्वैत वेदान्तके महापण्डित सार्वभौम भट्टाचार्यतक उसे ईश्वर मानते हैं। उसके शरणागत हो गये हैं।'

---

१. कोई-कोई कहते हैं कि यह श्लोक श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने लिखकर भेजा था।

'सार्वभौम !' प्रकाशानन्दने त्योरी चढ़ाते हुए कहा 'सार्वभौमपर उसका जादू चल गया, तो क्या वह ईश्वर हो गया? सार्वभौम चाहे कितना उसके पीछे पागल हो जायँ, यहाँ उसका जादू नहीं चलेगा। काशीमें उसकी 'भाव–काली' नहीं बिकेगी।'

ब्राह्मण दुखी हो वहाँसे चला गया। महाप्रभुके पास जाकर उसने सब बात कही। फिर बोला–'मुझे एक बातका बड़ा आश्चर्य है। आपकी निन्दा करते समय तीन बार प्रकाशानन्दने 'चैतन्य' कहा, पर 'कृष्ण–चैतन्य' एक बार भी नहीं कहा। कृष्ण–नाम आपके दर्शन करते ही हमारे मुखपर स्वतः आ जाता है। उन्होंने तीन बार 'चैतन्य' कहा तो भी कृष्ण–नाम उनके मुखपर नहीं आया। इसका क्या कारण है?'

महाप्रभु ने कहा–'मायावादी कृष्ण–अपराधी हैं। उनके मुखपर कृष्ण–नाम आये कैसे? कृष्ण–नाम अप्राकृत है। कृष्ण और कृष्ण–नाम एक हैं। जिसका कृष्णके प्रति अपराध होता है, उसके मुखपर कृष्ण–नाम नहीं आता।'

यह सुन ब्राह्मण चिन्तामें डूब गया–यदि प्रकाशानन्दका उद्धार न हुआ, तब वे और उनके शिष्य महाप्रभुकी बराबर निन्दा करते रहेंगे, जिसे सुन मेरा काशी में रहना असम्भव हो जायगा।

उसे उदास देख महाप्रभु ने कहा–'चिन्ता न करो। भाव–काली यहाँ न बिकी तो क्या बोझा लेकर वापस जाऊँगा? अल्प–स्वल्प मूल्यमें ही बेच जाऊँगा।'

महाप्रभुको इस प्रकार संन्यासियोंके प्रति सदय देख ब्राह्मण कुछ आशान्वित हुआ। सोचने लगा यदि किसी प्रकार उन्हें संन्यासियोंके समक्ष ले जा सकता तो काम बन जाता। पर यह हो कैसे? वे तो सन्यासियोंके संगसे सदा दूर ही रहते हैं।

प्रकाशानन्दको महाप्रभुके वृन्दावन आगमनका संवाद उनके वहाँ पहुँचते ही मिल गया था। वे प्रसन्न थे कि अब उन्हें उस भावुक संन्यासीको सबक सिखाने और उसपर शासन करने का अवसर मिलेगा। पर अब महाप्रभुको काशी आये कई दिन हो गये थे। वे अभीतक उनसे मिलने नहीं गये थे। प्रकाशानन्द तो संन्यासियोंके राजा थे। सभी संन्यासी इस रूपमें उनका आदर करते थे। महाप्रभु क्या उनके स्वरूपको नहीं जानते थे? फिर भी जो उन्होंने उनकी उपेक्षा की थी, उसके कारण उनके अभिमानको बड़ी ठेस पहुँची थी। उनका क्रोध और बढ़ गया था और वे उस उच्छृङ्खल संन्यासीपर शासन करने के लिए बहुत अधिक उद्विग्न हो उठे थे। पर शासन करें तो कैसे? महाप्रभु उनके पास जा नहीं रहे थे। वे स्वयं भी उनके पास नहीं जा सकते थे; क्योंकि यह उनकी मर्यादाके विरुद्ध था। इसलिए उनका मनस्ताप बढ़ता जा रहा था। इसी बीच उन्होंने सुना कि श्रीचैतन्य वृन्दावन चले गये। तब यह सोचकर वे कुछ शान्त हुए कि वे उनके भयके कारण काशी छोड़ गये।

महाप्रभुके प्रिय पार्षद चन्द्रशेखर, तपनमिश्र और परमानन्द* काशी में ही रहते थे। वे जब दो महीने बाद वृन्दावनसे लौटकर आये तो चन्द्रशेखरके घर ठहरे। कुछ दिन बाद सनातन गोस्वामी भी मन्त्री पद त्यागकर काशीमें महाप्रभुसे आ मिले। महाप्रभु गंगा–स्नानकर बिन्दुमाधवके दर्शन करते। दर्शन कर घरके भीतर चले जाते और सनातन गोस्वामीको धर्म शिक्षा देते। वे जब गंगा–स्नान और बिन्दुमाधवके दर्शनको जाते, उसी समय लोगोंको उनके दर्शन करने का अवकाश मिलता। लक्ष–लक्ष लोग उनके जानेके रास्तेके दोनों तरफ खड़े हो जाते और हरिध्वनि करते। फिर भी प्रकाशानन्द महाप्रभु की निन्दा करते रहते और लोगोंको उनके पास जाने से मना करते रहते।

एक दिन चन्द्रशेखर और तपनमिश्रने महाप्रभु के चरण पकड़कर उनसे निवेदन किया–'प्रभु, प्रकाशानन्द और उनके शिष्योंके मुखसे आपकी निन्दा नहीं सुनी जाती। प्रकाशानन्द कहते हैं–यह कैसा संन्यासी है, जो वेदान्त तो पढ़ता नहीं, नाचता–गाता फिरता है? संन्यासीको नाचते–गाते कभी किसी ने देखा है? वह बड़ा इन्द्रजाली है। दुर्बल प्रकृतिके भावुक लोगों को अपने जालमें फँसा लेता है। पर मुझसे भय खाता है। तभी मुझसे दूर रहता है।'

प्रभु हँसे। निन्दा–प्रवादकी कोई चिन्ता नहीं। पर भक्तोंके दुख की उन्हें चिन्ता हो गयी।

जब उनके नीलाचल जाने के दिन निकट आ गये, तब एक दिन उस महाराष्ट्री ब्राह्मणने आकर आकुल कण्ठ से निवेदन किया–प्रभु, आज मेरे घर निमन्त्रण स्वीकार करना होगा। मैंने आपकी कृपापर निर्भर कर बिना आपकी अनुमति लिये सब संन्यासियों को भी आमन्त्रित किया है। आप यदि कृपा न करेंगे तो मैं बड़ी विपदमें पड़ जाऊँगा।'

प्रभु समझ गये कि उनके भक्तोंने ब्राह्मणके साथ मिलकर यह योजना बनायी है। उनका भक्तवात्सल्य उमड पड़ा। उन्होंने हँसते हुए ब्राह्मणका आग्रह स्वीकार किया।

प्रकाशानन्दकी महाप्रभुसे भेंट

आजमहाराष्ट्री ब्राह्मणके घर विराट सभा है। एक विशाल चन्द्रातपके नीचे अनेकों संन्यासी गर्वके पर्वत की एक एक चोटी के समान बैठे है। बीचमें संन्यासियोंके राजा प्रकाशानन्द पर्वतके सर्वोच्च शिखरके समान विराजमान है। वे आज तक किसी के निमन्त्रणपर कहीं नहीं गये। पर आज वे अपनी समस्त शिष्य–मण्डली के साथ यहाँ आये हुए हैं उस अल्पवयस्क नवीन संन्यासीसे मिलने, जिसका उन्होंने एक श्लोक लिखकर आवाह्न किया था, पर जिसने इतने दिनसे काशीमें रहते हुए भी उनसे न मिलकर उनका अपमान किया था। इसे वे एक प्रकारसे अपने ऊपर

---

* परमानन्द कीर्तनिया-शेखरेर सङ्गी। प्रभु के कीर्तन सुनाय-अति बड़ी रङ्गी॥ (चै०च० २-२५-४)

उसकी दूसरी विजय मान रहे हैं। उसकी पहली विजय तो उस श्लोक से हुई थी, जो उसने उनके श्लोकके उत्तर में लिख भेजा था। पर आज उन्हें अपनी दोनों हारका बदला भली प्रकार चुका लेने का अवसर मिलेगा, इसलिए अपने मान—मर्यादाको भी तिलाञ्जलि दे, वे यहाँ आये हैं। वे यह निश्चय कर बैठे हैं कि यदि चैतन्यने कुछ तर्क किया तो एक ही दो बात में उसे निरस्त कर देंगे, यदि उसने स्वतन्त्र रूपसे व्यवहार किया तो उसपर कड़ा शासन करेंगे और यदि वह भयके मारे कुछ न बोला तो उसकी ओर भ्रूक्षेप भी न कर उसका अनादर करेंगे। पर उनका और उनके साथियोंका का मन श्रीचैतन्यके प्रति रोष के साथ इस कौतुहलसे भरा है कि चैतन्य क्या वस्तु है आज देखेंगे। उनकी दृष्टि उस ओर लगी है, जिस ओर से वे आयेंगे।

उसी समय महाप्रभु ने प्रसन्न मुखसे 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण' कहते सनातन आदि अपने चार भक्तों के साथ सभामें प्रवेश किया। भक्तगण चिन्ताकुल थे। वे उन्हें कौशलपूर्वक सभामें ले तो आये थे, पर सोच रहे थे—क्या संन्यासी उनका आदर करेंगे? क्या वे उनके भावको समझ सकेंगे? उन्हें कुछ वैसी ही चिन्ता हो रही थी, जैसी श्रीनन्द महाराजको हुई थी, जब वे श्रीकृष्ण को कंसकी सभामें लेकर गये थे।

महाप्रभु को देखते ही चैतन्य आया, चैतन्य आया!' की ध्वनि संन्यासियों में गूँज गयी। सब उचक—उचककर उधर देखने लगे। देखा कि साढ़े चार हाथ लम्बे स्वर्ण वर्णके एक युवा पुरुष अति मन्थर गतिसे मुख अवनत किये चले आ रहे हैं। उन्होंने प्रवेश करते ही मुख उठाकर हाथ जोड़कर सबको प्रणाम किया, पाद प्रच्छालनके स्थानपर पाद प्रच्छालन किया और वही बैठ गये।

प्रकाशानन्दने जैसे उन्हें देखकर भी नहीं देखा। वे अपने स्थानपर पूर्ववत् बैठे रहे। पर उनकी एक ही झलकसे उनके हृदय का कल्मष छटनेकी प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। उनका तेजोमय वपु और मुखारविन्दकी दिव्य कान्ति देख उन्हें लगने लगा कि वे कोई अलौकिक वस्तु हैं। उनका दीन—हीन और बालकवत् शुद्ध सरल भाव देख लगा कि वे शत्रुताके नहीं स्नेहके पात्र हैं। उनके प्राण जैसे उनकी ओर बरबस खिंचने लगे। वे पुकार उठे 'श्रीपाद, आप उस अपवित्र स्थानपर क्यों बैठ गये? सभाके बीचमें आइये न।'

महाप्रभु ने हाथ जोड़कर कहा—'मैं बहुत नीच सम्प्रदायका संन्यासी हूँ। आपकी सभाके बीच में बैठने योग्य नहीं।'*

महाप्रभुके दैन्यसे मुग्ध हो प्रकाशानन्द स्वयं उठकर आये, और हाथ पकड़ कर उन्हें सभाके बीच ले गये। उन्हें वहाँ बिठाकर स्नेहके स्वर

* सन्यासियों में सरस्वती, तीर्थ, पुरी आदि सम्प्रदाय ऊँचने माने जाते हैं। भारती सम्प्रदाय नीचा माना जाता है। महाप्रभु भारती सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त थे।

में बोले–'श्रीपाद, मैंने सुना है आपका नाम श्रीकृष्ण चैतन्य हैं, आप केशव भारती के शिष्य हैं। पर हमारे मनमें एक दुख है आप यहाँ रहते हैं। भारती सम्प्रदायके हैं, तो भी हमारा आपका आश्रम एक है। आप हमसे दूर रहते है, इसका क्या कारण है?

महाप्रभु ने कुछ उत्तर नही दिया। अपराधीकी तरह मुख अवनत किये बैठे रहे।

तब प्रकाशानन्द सरस्वती सरल भावसे अपने मनकी सब बात कहने लगे। बोले–'श्रीपाद, आपका तेज देखकर लगता है कि आप साक्षात् नारायण है। आपसे विनम्र भावसे पूछना चाहता हूँ–आप हमारा संग क्यों नहीं करते? सुना है कि वेद–पाठ, जो संन्यासियों का प्रधान धर्म है, उसे न कर आप नृत्य कीर्तनादि, जो संन्यासियों के लिए नितान्त दूषनीय कर्म हैं, उनमें लीन रहते है। परम सुबोध और संन्यासियोंमें शीर्षस्थानीय होते हुए भी आप ऐसा धर्मविरूद्ध और निन्दनीय कार्य क्यों करते हैं? यह बतानेकी कृपा करें।'

सरस्वती का द्वेषभाव अब वात्सल्यमें परिणित हो गया था। उन्होंने अपने कौतुहल की तृप्ति के लिए आत्मीयता के भावसे प्रणय–विरक्ति सहित यह प्रश्न पूछा था।

प्रभु क्या उत्तर देंगे? सुननेके लिए सभाके सभी लोग स्तब्ध और उत्कर्ण थे।

सरस्वतीने जिस प्रकार वात्सल्यभावसे प्रश्न किया उसी प्रकार महाप्रभुने नतमस्तक हो गुरुबुद्धिसे उत्तर दिया–'श्रीपाद, मैं खुलकर अपनी सारी बात आपसे कहता हूँ। मैने गुरु–मन्त्र लिया तो मुझे मूर्ख देख गुरुने कहा–'बेटा, तुम मूर्ख हो। वेदान्त पढ़ने योग्य नहीं। पर यह चिंताकी कोई बात नहीं। वेदान्त के बदले मैं तुम्हें एक अति उत्तम वस्तु दे रहा हूँ। तुम इस श्लोक को कण्ठ कर लो–

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलं।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।

देखो, इसमें कहा है कि कलिकालमें नाम छोड़कर गति नहीं है। इसलिए तुम कृष्ण–नाम–जप किया करो। तुम्हें और कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं। इसीसे तुम्हारा कर्म–बन्ध क्षय हो जायगा और तुम्हें ब्रह्मा तकको दुर्लभ कृष्ण–प्रेम–धनकी प्राप्ति होगी।

महाप्रभु का कण्ठ–स्वर संगीतसे भी मधुर था। उनकी भावभंगी अति लोभनीय थी। वे नीचा मुख किये धीरे–धीरे अपनी कहानी कह रहे थे। सब नीरव और स्तब्ध हो सुन रहे थे।

महाप्रभुने आगे कहा–'मैं गुरुदेवकी आज्ञा पा दृढ़तासे नाम–जप करने लगा। पर नाम लेते–लेते मेरा मन भ्रान्त हो गया। धीरे–धीरे मेरी सारी प्रकृति बदल गयी। मैं कभी रोता, कभी हँसता, कभी गाता, कभी नृत्य करता। मेरी अवस्था पागलों जैसी हो गयी। सोचने लगा कि क्या

सचमुच मैं पागल हो गया? भयभीत हो गुरुके पास गया। निवेदन किया—गुरुदेव, आपने मुझे कैसा मन्त्र दिया? इसे जपते—जपते मेरी न जाने क्या दशा हो गयी है। मैं हर समय हँसता—रोता, नाचता—गाता रहता हूँ, एक प्रकारसे पागल हो गया हूँ। इस विपद से मेरा उद्धार करने की कृपा करें।

गुरुदेव हँसकर बोले—'विपद नहीं, यह तुम्हारी संपद हैं। तुम्हारा मन्त्र सिद्ध हो गया है। तुम्हें कृष्ण—प्रेमकी प्राप्ति हो गयी है। कृष्ण—नामका जो फल है वह तुम्हें मिल गया है। इससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यही परम—पुरुषार्थ है। हरिनामके आनन्द—सिन्धुकी तुलनामें ब्रह्मानन्द भी एक बिन्दुके समान हैं। अब तुम ऐसे ही भक्तोंके साथ—नृत्य—कीर्तन कर संसारका उद्धार करो। देखो, श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'एव व्रतः स्वप्रियनाम कीर्त्त्या जातानुरागोद्रुतचित्तउच्चैः।
हसत्यभो रोदिति रौति गायत्यून्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।।

(भा० ११—२—४०)

—इसी प्रकार अनुराग—विचलित चित हो जो उच्च स्वर से अपना प्रिय कृष्ण—नाम लेकर हास्य, रोदन हूंकार गीत और नृत्य करते हैं, वे संसारसे स्वतन्त्र रहकर जीवों की रक्षा करते हैं।

'गुरु के वाक्य सुन मेरी शंका दूर हुई और भय जाता रहा। हरिनाम में मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो गया। तब से मैं हर समय दृढ़तापूर्वक नाम—जप करता रहता हूँ। मैं जो नांचता—गाता हूँ, सो अपनी इच्छासे नहीं। नाम ही मुझे नचाता, रूलाता और हँसाता है।'

महाप्रभुके मुखसे जैसे मधुकी वर्षा हो रही थी और संन्यासियोंके हृदयको सिक्तकर कोमल कर रही थी। प्रकाशानन्दका हृदय भी उत्तरोत्तर द्रवित होता जा रहा था। पर अभी उनका अभिमान पूरी तरह नहीं गया था। वे सोच रहे थे कि श्रीचैतन्य है तो एक अपूर्व वस्तु। पर उनमें एक यही है कि वेदान्त नहीं पढ़ते। यदि कुछ दिन मुझसे वेदान्त पढ़ लेते तो कितना अच्छा होता।

उन्होंने कहा—'आपने जो कहा सो तो सब ठीक है। कृष्ण—प्रेम बड़े भाग्यसे होता है। कृष्ण—नाम—जप करने में भी कोई दोष नहीं। पर आज जो वेदान्त नहीं पढ़ते, इसका क्या कारण है? वेदान्त पढ़नेमें कोई दोष है?'

महाप्रभुकुछ देर चुप रहे। फिर मुख अवनत किये कुछ मन्द स्वरमें बोले—'श्रीपाद, आपने जो प्रश्न किया, उससे मैं बड़े धर्म संकट में पड़ गया हूँ। उत्तर न दूँ तो अपराध, उत्तर दूँ और वह आपको असंगत या अप्रिय लगे तो अपराध।'

'नहीं, नहीं, आप कहिये, 'प्रकाशानन्दने कहा, 'आपके मुखसे मधु बरसता है। आप जो कहेंगे उसमें कुछ अप्रिय हो सकता है? निःसंकोच

कहिये।'

महाप्रभुने कहना आरम्भ किया। बोले–'देखिये, वेदान्त–सूत्र ईश्वर वाक्य है। वह हमें सभी प्रकारसे मान्य है। पर श्रीशंकराचार्यने जो उसका भाष्य किया है, वह ईश्वर–वाक्य नहीं, शंकर वाक्य है। वेदका प्रकृत अर्थ क्या है, वह वेदव्यासने अपने वेदान्त सूत्रमें स्पष्ट कर दिया है। वेदान्त–सूत्र सरल है। वेदव्यासने श्रीमद्भागवत में उसके मुख्य अर्थका विस्तार कर उसे और भी सरल कर दिया है। श्रीमद्भागवत वेदान्त–सूत्रका वेद–व्यासका अपना ही भाष्य है। उसके रहते वेदान्त–सूत्रके और किसी भाष्यकी आवश्यकता नहीं। पर श्रीशंकराचार्यने उसका भाष्य किया है। उन्होंने उसका मुख्य अर्थ आच्छादित कर गौण अर्थ द्वारा अपना कल्पित मत स्थापित करने के उद्देश्य से ऐसा किया है। पर इसमें उनका दोष नहीं। ईश्वर आज्ञासे ही उन्होंने ऐसा किया है।'*

यह सुनते ही संन्यासियोंके कान खड़े हो गये। कुछ विरक्तिके भावसे सब एक साथ बोल पड़े–'श्रीपाद ! यह आप क्या कह रहे हैं? श्रीशंकराचार्य जगत् के पूज्य हैं, जगत्–गुरु हैं। आप उनके भाष्यमें दोषारोपण कर रहे हैं !'

महाप्रभुने कहा–'श्रीशंकराचार्य जगत्के गुरु हैं, इसमें सन्देह नहीं। पर ईश्वरसे बड़ा कोई नहीं। वेद ईश्वर–वाक्य है। पर उसका सीधा, सरल अर्थ ही ईश्वर वाक्य है। श्रीशंकराचार्य ने उसका जो अर्थ किया है वह सरल नहीं। है। यदि आज्ञा हो तो मैं समझाऊँ किस प्रकार उन्होंने ईश्वर–वाक्यका कल्पित अर्थ कर अपने स्वतन्त्र मतकी स्थापना की हैं।'

पद्मपुराण, उत्तरकाण्ड, ६२/३१ श्लोक में श्रीभगवान् की महादेव के प्रति आज्ञा है–

'स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु।
माञ्च गोपय येन स्यात् श्रृष्ठिरेषोत्तरोत्तरा।।

–स्वकल्पित आगम–शास्त्र द्वारा तुम जनसमूह को मुझसे विमुख करो, मुझे गोपन करो, जिससे श्रृष्ठि–कार्य उत्तरोत्तर वृद्धि करें।'

महादेव ने श्रीपाद शंकराचार्य के रूप में अवतरित हो उनकी आज्ञा का पालन किया।

शंका की जा सकती है कि करुणामय भगवान्, जिन्होंने जीवों को अपने प्रति उन्मुख करने के लिए वेद–पुराणादि की रचना की, उन्होंने ही वेदान्त–सूत्र का मुख्य अर्थ अच्छादित करने की महादेव को आज्ञा क्यों दी?

मर्मज्ञ लोगों ने इसका उत्तर यह लिया है कि जब तक जीव में प्रेमा–भक्ति का उदय नहीं होता वह भगवान् को पाकर भी उन्हें नहीं पाता, उन्हें देखकर भी नहीं देखता, जैसे कंस, जरासन्धादि। भगवान् उसी को प्राप्त होना चाहते हैं, जिसमें प्रेमा–भक्ति के रूप में उन्हें प्राप्त करने की योग्यता उत्पन्न हो गयी है. जीवों की परीक्षा के लिए उन्होंने दो तरह के शास्त्रों की रचना की है, भक्ति–परक और भक्ति–विरोधी। जो उनके भक्त हैं, वे भक्ति–विरोधी शास्त्रों में दिये प्रलोभन से मुग्ध नहीं होते; जो उनके भक्त नहीं हैं, जिनमें सांसारिक वासनाएँ स्थूल या सूक्ष्म रूप में विराजमान हैं और जिनका सूक्ष्म अहं उन्हें 'अहं ब्रह्मास्मि' के सिद्धान्त की ओर प्रेरित करता है, वे उससे आकृष्ठ हो जाते हैं। इसीलिए चैतन्य-चरितामृत १–८–१६ में भा. ५–६–१८ श्लोक का अनुसरण करते हुए कहा है कि श्रीकृष्ण साधन को भुक्ति–मुक्ति देकर छूट जाएँ तो प्रेम नहीं देते। उसे छिपाकर रखते हैं। द्रष्टव्य, चैतन्य–चरितामृत १–७–१०५ की राधा गोविन्दनाथ की टीका।

'समझाइये तो' प्रकाशानन्दने महाप्रभुक साहसपर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा।

महाप्रभु ने कहा–'देखिये 'ब्रह्म' शब्दका सरल अर्थ है वृहत्तम, सबसे बड़ा या अनन्त–गुण में अनन्त, शक्तिमें अनन्त, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्यमें अनन्त, अर्थात् अनन्त चिद्विभूति–सम्पन्न श्रीभगवान्। श्रीशंकराचार्यने भगवान्‌की चिद्‌विभूतियोंको आच्छादित कर ब्रह्मका अर्थ किया है एक अद्वय ज्ञान–तत्व, जो निराकार और निर्गुण है। भगवान्‌के अनन्त रूप हैं। निराकार, निर्गुण रूप भी उनका एक रूप है। श्रीशंकराचार्यने वेदान्त–सूत्रोंके गौण अर्थ से उनके और सभी रूपों को आच्छादित कर केवल निर्गुण निराकार रूपको स्वीकार किया है। भगवान् के श्रीविग्रह, धाम, परिकरादिको उन्होंने प्राकृत सत्वका विकार अथवा मायिक कहा है। भगवान्‌के श्रीअंगको मायिक कहनेसे बढ़कर विष्णु–निन्दा और क्या हो सकती है? भगवान् जब स्वयं मायाबद्ध हैं, तो दूसरोंको मायामुक्त कैसे कर सकते हैं?

'वेदका महावाक्य 'ॐ' है। ॐ ब्रह्म ही है, ब्रह्मकी तरह सर्वाश्रय और सर्व व्यापक है। श्रीशंकराचार्यने एकदेशीय 'तत्वमसि' वाक्य को महावाक्य कहा है और इसका अर्थ किया है–तुम वही हो, अर्थात् तुम ब्रह्म हो, जबकि इसका अंर्थ है–तुम उसके हो, अर्थात् तुम भगवान्‌के दास हो। गीता, भागवतादि शास्त्रोने जीवको भगवान्‌का अंश कहा है। जीव यदि ब्रह्म ही है, तो अपने को मायाबद्ध क्यों मानता है? यदि कहो कि अविद्या माया के कारण, तो अविद्या कहाँसे आ गयी? ब्रह्म तो अद्वय है, उसके सिवा और कुछ है ही नहीं। फिर ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है। प्रकाशमें अविद्या का अन्धकार कैसे?'

'व्यासदेवने ब्रह्मसूत्रमें परिणामवादकी स्थापना की है। शंकराचार्यने 'आत्मकृते परिणामात्' सूत्र की व्याख्यामें स्वयं परिणामवाद स्वीकार किया है, अर्थात् जगत्‌को ब्रह्मका परिणाम माना है। 'उपसंहार दर्शनान्नेति चेन्न क्षीरब्धि' सूत्रके भाष्यसे श्वेताश्वतर श्रुतिके प्रमाणका उल्लेखकर उन्होंने कहा है कि ब्रह्म अपनी अचिंत्य शक्तिसे परिणाम या विकारको प्राप्त होता है। परन्तु ब्रह्म कूटस्थ (निर्विकार) है, इसलिए परिणामको उन्होंने भ्रम माना है, ब्रह्म जब अपनी अचिन्त्य शक्ति से परिणामको प्राप्त होता है, तो क्या परिणामको प्राप्त होकर भी निर्विकार नहीं रह सकता?'

'ब्रह्म परिणामी होकर भी निर्विकार है, यही तो उसकी अचिंत्य शक्तिका अचिंत्यत्व है। परस्पर विरोधी गुणोंको अपनी अचिंत्य शक्तिसे अपने में आश्रय देने में ही तो उसका ब्रह्मत्व है, उसकी पूर्णता और अनन्तशक्ति–मयता है। तभी न श्वेताश्वतर में उसे 'अणोरणीयान्महतोमहीयान् अणुसे भी छोटा और बड़ेसे भी बड़ा' कहा है और काठक श्रुतिमें कहा है कि 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत्र–वह बैठे–बैठे दूर चला जाता है और सोते–सोते सर्वत्रा विचरण करता है।' ब्रह्मको केवल निर्गुण,

निर्विकार मान लेने में क्या उसकी पूर्णता और सर्वशक्तिमयता की हानि नहीं होती?'

ब्रह्म जब निराकार, निर्गुण होते हुए भी साकार, सगुण है, मायिक जगत्का कारण होते हुए भी मायातीत है, मायापति है, तो भक्ति पूर्वक मायापतिकी शरण ग्रहणकर, उनकी सेवा–परिचर्या और उपासना कर, उनका चिन्तन और उनके नामका जप करके ही जीव मायाके बन्धनसे मुक्त हो सकता है। गीतामे भगवान्‌ने स्वयं कहा है–

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।"
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

(गीता, ७/१४)

संन्यासी सब अवाक् ! मन्त्र–मुग्ध की तरह वे महाप्रभुको सुनते रहे। अन्त में बोले–'श्रीपाद, आपने जो सूत्रों के गौण अर्थका खण्डन किया, उसका प्रतिवाद करने के लिए हमारे पास कुछ नहीं। हम तो केवल साम्प्रदायिकता के नाते श्रीशंकराचार्यकी व्याख्याका आदर करते रहे हैं।'

मन्त्र–मुग्ध तो प्रकाशानन्द भी थे। पर वे सहज ही दूसरे संन्यासियोंकी बात का समर्थन करनेवाले नहीं थे। उनके पास भी महाप्रभु ने जो कहा उसका खण्डन करने के लिए कुछ नहीं था, पर वे निर्गुण निराकार की बात कहते रहे और अपने पक्षका शास्त्रों से समर्थन करते रहे।

महाप्रभुने बहुत दूरतक उनके सिद्धान्तका समर्थन करते हुए कहा–'निर्गुण भी श्रुति–स्मृति सम्मत है, सगुर भी। प्रश्न यह है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म सगुण–साकार ब्रह्मका आश्रय है, या सगुण–साकार ब्रह्म–निर्गुण–निराकारका। निर्गुण तो आश्रय हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह निर्गुण है, उसमें आश्रय होने का गुण या शक्ति ही नहीं। सगुण निर्गुणका आश्रय हो सकता है और है भी। भगवान्‌ने स्वयं कहा है–'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्–मैं सगुण साकार ब्रह्म निर्गुण–निराकारकी प्रतिष्ठा हूँ, उसका आश्रय हूँ।' जिस प्रकार साकार सूर्य अपने निराकार प्रकाशका आधार है, उसी प्रकार साकार ब्रह्म निराकार ब्रह्मका आधार है। निराकार ब्रह्म साकार ब्रह्म, द्विभुज–मुरलीधारी श्रीकृष्णकी अंगकान्ति है।'

'प्रश्न यह भी है कि निर्गुण की उपासनाका क्या फल है और सगुण की उपासनाका क्या फल है और दोनों में कौन–सा श्रेष्ठ है, कौन सा काम्य है? निर्गुणकी उपासनासे ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है, सगुण–ब्रह्म श्रीकृष्ण की उपासनासे कृष्ण–प्रेम की प्राप्ति होती है। जिस प्रेमानन्द–सिन्धु में कृष्ण भक्त अवगाहन करता है, ब्रह्मानन्द उसकी एक बूंदके बराबर भी नहीं है।'

अन्तमें महाप्रभुकी वाणीके प्रभावसे हो, या उनके दर्शन और सान्निध्य के प्रभावसे, प्रकाशानन्दके हृदयका कल्मष धुल गया। उनके

अभिमानका पर्वत चूर–चूर हो गया। उनके भीतर एक नया प्रकाश छा गया। उन्होंने जो पहले महाप्रभुकी निन्दा की थी, उसके लिए वे अनुतप्त होने लगे। कातर स्वरसे बोले–'श्रीपाद, इतने दिन मैं आपकी निन्दा करता आया। अब मैंने जान लिया कि आप स्वयं वेद हैं, नारायण हैं। आपकी कृपासे वेदका प्रकृत अर्थ आज मेरी समझमें आया भक्ति क्या पदार्थ है यह भी समझ में आया। आप मेरे गुरु हैं।'

अन्य सभी संन्यासियों का प्रकाशानन्दसे भाव–तादात्म्य हो रहा था। वे भी भक्तिसे गद्गद हो रहे थे। प्रकाशानन्दका महाप्रभु के शरणागत होते देख वे हरि–ध्वनि कर उठे। उनकी हरि–ध्वनि से आकाश गूँज गया।

महाराष्ट्री ब्राह्मणका हृदय भी आनन्दसे भर गया। उसने संन्यासियों के साथ महाप्रभुको भोजन कराया। तत्पश्चात् दैन्य भाव से सबके प्रति आभार प्रकट करते हुए सबको विदा किया।

काशी में कोलाहल मच गया कि प्रकाशानन्दका मत परिवर्तन हो गया। उन्होंने श्रीचैतन्यके आगे आत्मसमर्पण कर दिया ! साथ ही काशीवासियोंका भी मत परिवर्तन हो गया। ज्ञानकी उस नगरी में भक्तिकी दुंदुभी बजने लगी। लोगोंकी भीड़ महाप्रभुके दर्शनको उमड़ने लगी।

संन्यासियोंकी सभामें अब श्रीकृष्ण चैतन्यकी ही चर्चा, उन्हींका गुणगान। संन्यासी कहते–'श्रीकृष्ण चैतन्यके मुखसे उस दिन अमृतकी वृष्टि हुई। वेदान्त–सूत्रका उन्होंने जो अर्थ किया वह कितना सरल, कितना मधुर था। कलिकाल में माया–बन्धनसे मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय हरिनाम है। अभी तक हम जो परिश्रम करते रहे सब व्यर्थ है।'

तब प्रकाशानन्द कहते–'श्रीशंकराचार्य अद्वैतावाद की स्थापना करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने वेदका विकृत अर्थ किया है। उनका भाष्य पढ़ता, तो मुखसे चाहे कितनी प्रशंसा करता, हृदय उसे स्वीकार करता न जान पड़ता। श्रीचैतन्य के मुखसे सार तत्व निर्गत हुआ है। हृदय उसे स्वीकार करता है। उनकी कृपा से हमें नया जीवन प्राप्त हुआ है। हमें सही पथ मिल गया है। भक्ति क्या वस्तु है हमने जान लिया है।'

कहते–कहते प्रकाशानन्द गद्गद हो जाते। उनके नेत्र सजल हो जाते और एक अनिर्वचनीय आनन्द की लहर उनके हृदय में दौड़ जाती। उन्होंने भक्तिको जान ही नहीं लिया था, अनुभव भी कर लिया था। उनमें जो परिवर्तन हुआ था, उसका स्रोत उनके मस्तिष्कमें नहीं, हृदय में फूटा था। महाप्रभुके थोड़ी देरके संग से भक्ति उनमें संक्रमित हुई थी। उसके साथ ही एक नये भावका उनमें उद्रेक हुआ था। उससे उनका शुष्क हृदय रस–सिक्त होकर एक अपूर्व आनन्दसे भर गया था। उस आनन्दका अनुभव तो दूर, उसकी कल्पना तक उन्होंने पहले कभी नहीं की थी।

प्रकाशानन्दका महाप्रभुके प्रति आत्मसमर्पण

पर सरस्वतीपादके सामने अब एक नयी समस्या आ खड़ी हुई थी। जिस नवीन संन्यासीने अकस्मात उनमें इतना परिवर्तन कर दिया था, उसे वह भूल नहीं पा रहे थे। प्रेमपूर्ण नेत्रोंसे उनकी ओर देखते हुए उनकी भुवनमोहन मूर्ति सदा उनके नेत्रोंके सामने नाचती रहती थी। उनका मन उनके नियन्त्रणमें नहीं रह गया था। वह बार–बार भागकर उनके चरणोंमें चला जाता था और उनका प्रहरी बनकर रहना चाहता था। वे सोचते थे–आखिर यह नवीन संन्यासी हैं कौन, जिन्होंने मेरे सयत और चिरकालसे नियन्त्रणमें रहनेके अभ्यासी मनको चुरा लिया है? वे मनुष्य हैं, या कोई अनिर्वचनीय देवता। उन्होंने अपनी मनःस्थितिका एक श्लोकमें इस प्रकार वर्णन किया–

"साद्रानन्दोज्ज्वल रसमय प्रेम पीयूषसिन्धोः
कोटिं वर्षेत् किमपि करुणास्निग्ध नेत्रा०जनेन।
कोऽयंदेवः कनक कदली गर्भ गौरांगषष्टिः
चेतः कस्माष्मम निजपदे गाढ़युक्तश्चकार।।

–जिनका अंग कनक–कदलीके गर्भके समान गौर वर्णका है, जो करूणरस–स्निग्ध अञ्जनपूर्ण नेत्र द्वारा कोटि–कोटि निबिड़ उज्ज्वल रसमय प्रेमरूप सुधा–सिन्धुकी वर्षा करते हैं और जिन्होंने अकस्मात मेरे चित्त को अपने चरणारविन्द में दृढ़तापूर्वक नियुक्त कर दिया है, वे न जाने कौन अनिर्वचनीय देव हैं !"

सरस्वतीपाद का चित्त उनका शासन न मानकर उनके ऊपर शासन करना चाहता। उन्हें श्रीचैतन्यके चरणों में बार–बार खींचकर ले जाना चाहता। वे बड़े संकटमें पड़ गये। जाऊँ या न जाऊँ। न जाऊँ तो मन नहीं मानता। जाऊँ तो लज्जा आती है, लोग क्या कहेंगे? संन्यासियोंके राजा, भारतके सर्वप्रधान वेदान्ती, परम ज्ञानी और गंभीर प्रकाशानन्द सरस्वती बालकके समान चंचल एक नवीन संन्यासीके हाथ बिक गये !

एक दिन जब सरस्वतीपादके मन में इसी प्रकारका द्वन्द चल रहा था, महाप्रभु गंगा–स्नान कर बिन्दुमाधवके दर्शन करने जा रहे थे। सहस्त्रों लोगोंकी भीड़, जो मार्ग के दोनों ओर उनके दर्शनके लिए प्रतीक्षा कर रही थी, उनके साथ चल पड़ी थी।

बिन्दुमाधवके मन्दिरमें पहुँचते ही माधव के दर्शन कर महाप्रभु भावाविष्ट हो नृत्य करने लगे। चन्द्रशेखर, तपन, परमानन्द और सनातन उनके साथ थे। प्रेमोन्मत्त हो उन्होंने कीर्तन आरम्भ किया–

'हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः। गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन।।'

हजार, हजार कण्ठों से कीर्तन प्रतिध्वनित हुआ। प्रतिध्वनि प्रकाशानन्दके आश्रमसे जा टकरायी। उन्हें और उनके शिष्योंको अस्थिर कर मन्दिर तक खींच लायी।

प्रकाशानन्दने महाप्रभुके दर्शन किये थे, उनके अमृतमय वचन

सुने थे, पर उनके भुवनमोहन नृत्यके दर्शन नहीं किये थे, जिसे देख सार्वभौम भट्टाचार्य जैसे महामहोपाध्याय पागल हो गये थे। आज उन्हें उस नृत्यके दर्शन करनेका सौभाग्य मिला।

उन्हें और उनके साथी संन्यासियोंको देख भीड़ने उनके जानेके लिए रास्ता छोड़ दिया। वे महाप्रभुके निकट जाकर उनका नृत्य दर्शन करने लगे।

महाप्रभुको उनके आगमनका पता नही। वे भाव–विभोर अवस्थामें नृत्य कर रहे हैं। प्रकाशानन्द एक ओर खड़े नृत्य देख रहे हैं। वे देख रहे हैं कि एक स्वर्ण–पुत्तलिकाके समान चैतन्यदेव नृत्य कर रहे है। उनका अंग अंग प्रेमसे विगलित हो तरंगायित हो रहा है। हस्त–पद और कटि एक अपूर्व भावमय मुद्रामें संचालित हो रहे है। चन्द्रमुख आनन्दसे प्रफुल्लित हो रहा है। कमल नेत्रोंसे पिचकारीकी तरह अश्रुधारा निकलकर चारों ओर भक्तोंको भिगो रही है।

इस अपूर्व, अनिर्वचनीय नृत्यमाधुरीके दर्शन करते–करते सरस्वती पादके अपने नेत्रों से भी अश्रुधारा बह चली। यह एक नयी विपद उनके सामने आ गयी। संन्यासी होकर रोदन! लोग क्या कहेंगे? यह सोच उन्होंने बहुत चेष्टा की अश्रुधार रोकने की, पर वे न रोक सके। वे जितना उसे रोकने की चेष्टा करते, उतना ही उसका वेग और बढ़ता जाता। उस अश्रुधारा के साथ एक आनन्द–धारा भी बहती जान पड़ती। उसमें अवगाहन करते–करते वे आत्महारा हो गये। उनका बाह्य ज्ञान जाता रहा। हृदय में भक्तिका प्रकाश छा गया। उस प्रकाश में उन्होंने देखा कि जो उनके सामने नृत्य कर रहे हैं, वे संन्यासी नहीं, संन्यासीरूपमें स्वयं श्रीहरि हैं, जो कपट संन्यासीका रूप धारणकर नृत्य–कीर्तन के माध्यमसे काशी के लोगोंमें प्रेमधन लुटा रहे हैं। उन्होंने जो देखा उसे उन्होंने इस श्लोक में व्यक्त किया है–

प्रवाहैरश्रूणां नवजलदकोटो इव दृशी।
दधानां प्रेमर्द्धा परमपद कोटीः प्रहसनः।
चमन्तं माधुर्य्यैमृत निधि कोटीरिवतनु-
च्छटाभिस्तं वन्दे हरिं महह संन्यास कपटं।।

–जो कोटि नवमेघ सदृश अश्रुधारापूर्ण नयनयुगल धारण किये हैं, जो प्रेम–सम्पत्ति द्वारा कोटि–कोटि वैकुण्ठादिकी अवज्ञा करते है और जो अपने अंगलावण्य और माधुर्य द्वारा कोटि–कोटि अमृतसिंधुका उद्गार करते हैं, उन्हीं कपट–संन्यास वेशधारी श्रीहरिकी मैं वन्दना करता हूँ।'

सरस्वतीपाद निर्निमेष उस रूपमाधुरीका नयन–अँजुलि भर–भर पान कर रहे थे। उनके अन्तरमें आनन्द समा नहीं रहा था। वैकुण्ठाका भी आनन्द उस आनन्द के आगे तुच्छ लग रहा था। देखते–देखते वे वाह्य–ज्ञान–शून्य होने लगे। उनकी पञ्चेन्द्रियाँ जैसे प्रभुकी पञ्चेन्द्रियोंके साथ एकीभूत होने लगीं। उनके अंग–प्रत्यंग प्रभुके अंग–प्रत्यंग के साथ

तरंगायित होने लगे। वे उन्हीं की तरह नृत्य करने लगे।

काशीके लोगों ने देखा एक अपूर्व दृश्य–जगत्मान्य, परमविज्ञ, परमगम्भीर, कौपीनधारी, संन्यासी–शिरोमणि प्रकाशानन्द सरस्वती को लोगलाज और मान–मर्यादाको तिला०जलि दे, उस नवीन संन्यासीके साथ दोनों भुजाएँ उठाकर नृत्य करते, जिसके नृत्य गीतकी वे पहले निन्दा किया करते, उस 'इन्द्रजाली' का स्व्यं सबसे बड़ा शिकार बन भावुकोंकी तरह व्यवहार करते, जिसके इन्द्रजाल से बचे रहनेका वे लोगों को उपदेश दिया करते।

लोगोंकी भीड़ देख महाप्रभुकी बाह्यज्ञान हो आया। उन्होंने भाव संवरणकर प्रकाशानन्द को प्रणाम किया। प्रकाशानन्दने अपना सिर उनके चरणों मे रख दिया।

'यह क्या श्रीपाद? आप जगद्गुरु हैं और मैं आपके शिष्यों के शिष्यके समान एक तुच्छ व्यक्ति। मुझे प्रणाम !' महाप्रभुने दोनों हाथों से उन्हें उठाते हुए कहा 'मैंने आपके चरणों में बहुत अपराध किया है। आप साक्षात् भगवान् हैं। आपके चरण–स्पर्श करके ही मैं अपने पाप और अपराधों से मुक्ति पा सकूँगा,' प्रकाशानन्द ने उत्तर दिया।

'नहीं, नहीं, श्रीपाद। मैं एक क्षुद्र जीव हूँ। जीवको भगवान् कहना अपराध है।'

'प्रभु और अधिक वंचना न करें। मैं जानता हूँ आप साक्षात् भगवान् हैं, जीव शिक्षाके लिए अपने को कृष्ण–दास कहते हैं। मुझे अपने चरणोंमें स्थान दें। इसके बिना मेरी गति नहीं। आप मेरे पथ–प्रदर्शक हैं, मेरे गुरु हैं।'

आश्चर्य ! अभीतक जो अभिमान के पर्वतके समान था, उसका इतना दन्य ! जिस संन्यासीका संग न करनेका वह दूसरों को उपदेश करता था, उसीको आत्म–समर्पण।

प्रकाशानन्दसे प्रबोधानन्द

आश्चर्यजनक होते हुए भी यह महाप्रभुकी कृपाका सहज परिणाम था। महाप्रभुकी कृपा से प्रकाशानन्दको अब प्रबोध हो गया था। इसीलिए प्रकाशानन्दसे अब उनका नाम प्रबोधानन्द हो गया।

प्रकाशानन्दके भक्त हो जानेके पश्चात् काशीमें अब कोई बाकी न रहा। भाव–भक्ति की ऐसी लहर आयी कि सभी उसमें वह चले।

चन्द्रशेखर और तपनमिश्रके आनन्दकी सीमा न रही। उन्हें देख महाप्रभु ने परिहासमें कहा–काशी आया था भावकालि बेचने। देखा कि यहाँ ग्राहक ही नहीं। माल वापस ले जाना पड़ता। बोझा लेकर फिरते देख तुम्हें कष्ट होता। इसलिए बिना मूल्य लुटा दिया।'

महाप्रभु दो–चार दिन काशी में और रहे। प्रबोधानन्दके साथ भागवत–चरचा हुई। जब जाने लगे प्रबोधानन्दने उनके साथ चलनेका आग्रह किया। पर उन्होंने वृन्दावन जाकर रहनेकी आज्ञा दी। वे वृन्दावन

चले गये और कालीयदहमें रहकर भजन करने लगे, जहाँ उनकी समाधि है।

वृन्दावन में

हम पहले कह चुके है कि सन् १५०९ में लोकनाथ और मूगर्भ गोस्वामी वृन्दावन आये थे। उसके बाद सुबुद्धिराय और प्रबोधानन्द आये। उनके बाद, रूप, सनातन और गोपालभट्ट आदिका क्रमशः आगमन हुआ। वृन्दावन आकर प्रबोधानन्द अपने भ्रातुष्पुत्र गोपालके वृन्दावन आनेकी उत्सुकतासे वाट जोहने लगे। गोपालके प्रति जो उन्हें महाप्रभुके प्रभावमें आकर भक्ति–पथका अवलम्बन करने के कारण विरक्ति हो गयी थी, वह अब जाती रही। उसके विपरीत अब वे उसे अपने से भी कहीं अधिक भाग्यशाली मान रहे थे। उसके वृन्दावन आनेपर उन्होंने उसे लेजाकर रूप सनातनको सुपुर्द कर दिया।

चैतन्य–चन्द्रामृतके कुछ श्लोकों (**श्लोक १६, १९, २७, ६६, १२९, १३१, १३५, १३६**) से लगता है कि प्रबोधानन्दने नीलाचलमें अद्वैताचार्य और वक्रेश्वर पण्डित आदि प्रमुख पार्षदोंके साथ नृत्य–कीर्तन करते महाप्रभुके साक्षात् दर्शन किये थे। इससे अनुमान होता है कि वृन्दावन आने के पश्चात् उन्होंने कभी नीलाचलकी यात्रा की थी।

एक शंका : क्या प्रकाशानन्द ही प्रबोधानन्द थे?

'अनुरागवल्ली' के लेखक मनोहरदासने लिखा है कि गोपालभट्ट अपने पिता और पितृव्य तीनों भाइयों और उनकी पत्नियों के देहान्तके पश्चात् सबका समाधान कर वृन्दावन गये।* भक्ति रत्नाकर में नरहरि चक्रवर्तीने भी श्रनुरागवल्लीका अनुसरण कर मान लिया है कि श्रीचैतन्य महाप्रभुकी दक्षिण–यात्रा के समय प्रबोधानन्द भी वहाँ थे और उन्हें उनकी पूर्ण कृपा प्राप्त हुई थी–

केह कहे प्रबोधानन्दरे गुन अति। सर्वत्र हइल जार ख्याति सरस्वती।।
पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण चैतन्य भगवान्। तार प्रियता बिना स्वपने नाहि आन।।
(भ०र०१/१४९-१५०)

यदि अनुरागवल्लीका यह विवरण सत्य है, तो मानना होगा कि काशीवासी प्रकाशानन्द सरस्वती और गोपालभट्ट गोस्वामीके पितृव्य प्रबोधानन्द सरस्वती दो भिन्न–भिन्न व्यक्ति थे। तब प्रबोधानन्द सरस्वतीका चरित्र भी श्रीरंगममे महाप्रभुसे उनकी भेंट के साथ समाप्त कर देना होगा, क्योंकि इसके बाद प्रबोधानन्दका क्या हुआ, इस सम्बन्ध में मनोहरदास और नरहरि चक्रवर्ती ने कुछ नहीं लिखा। यदि किसी प्रकार उनका सम्बन्ध प्रकाशानन्द सरस्वतीसे जोड़ने की चेष्टा की जायगी, तो यह बहुत कठिन होगा। महाप्रभुकी कृपा लाभ करने के पश्चात् उनका मायावादी

---

* चारि मासि परे प्रभु हइला विदाय। तिन भाई क्रन्दन करये उभराय।।
(भ.र. १।१३३)

संन्यासी हो जाने और फिरसे उनकी कृपा प्राप्त कर चैतन्य–चन्द्रोदयादि ग्रन्थों की रचना करने की कल्पना करना नितांत असंगत होगा।

पर यह सिद्ध करने के लिए कि अनुरागवल्ली का विवरण भ्रांतिपूर्ण है, गोपालभट्ट के पितृव्य प्रबोधानन्द और काशीवासी प्रकाशानन्द एक ही व्यक्ति है, प्रबोधानन्द महाप्रभुकी दक्षिण यात्राके पूर्व ही काशी चले गये थे और संन्यासी मुकुटमणि प्रकाशानन्द सरस्वतीके रूपमें विख्यात हो चुके थे, निम्नलिखित तर्क पर्याप्त हैं–

(1) 'चैतन्यचन्द्रामृत' गोपालभट्टके गुरु प्रबोधानन्दकी रचना है, इसमें किसीको सन्देह नहीं। श्रीजीव गोस्वामी द्वारा लिखी गयी वैष्णववन्दना में गोपालभट्ट के गुरु प्रबोधानन्दको ही 'चैतन्य–चन्द्रामृत' का रचयिता कहा गया है–

प्रबोधानन्द सरस्वतीं वन्दे विमला ययामुदा।
चन्द्रामृतं रचितं यत्शिष्यो गोपालभट्टः।।

'चैतन्यचन्द्रामृत' के 47 संख्यक श्लोकमें प्रबोधानन्दने श्रीचैतन्य महाप्रभुके शरणागत होने के पूर्व के अपने जीवन, पाण्डित्य और सन्यास आश्रम को वेदनाभरे स्वर में धिक्कार कर अपने को प्रकाशानन्द होने का स्पष्ट इंगित किया है। चैतन्यचन्द्रामृत के १९,३२,४२ और ५२ संख्यक श्लोकों से भी यही धारणा पुष्ट होती है कि गोपालभट्ट के गुरु प्रबोधानन्द सरस्वती महाप्रभु का आश्रय ग्रहण करने के पूर्व मायावादी संन्यासी प्रकाशानन्द थे।

(2) जो लोग 'राधारस–सुधानिधि' ग्रन्थको प्रबोधानन्द सरस्वती की कृति मानते हैं, उनके लिए तो 'राधाररससुंधानिधि' का उपसंहार श्लोक ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि प्रबोधानन्द पहले मायावादी संन्यासी थे और महाप्रभु की कृपा से 'राधारससुधानिधि' का पान कर मायावादरूपी सूर्यसे शुष्क और उत्तम हुए अपने हृदय को शीतल कर पाये थे। श्लोक इस प्रकार है–

स जयति गार पयोधिर्मायावादार्कतापसन्तप्तम्।
हृत्नभ उदशीतलयद्यो राधारससुधानिधिना।।

(3) नाभाजी ने भक्तमाल में 181 संखयक छप्पयमें प्रबोधानन्दको संन्यासियों का मुकुटमणि कहा है। प्रियादासजी ने उसी छप्पयकी टीकामें उन्हीं प्रबोधानन्दको श्री चैतन्य महाप्रभुके 'प्यारे पार्षद', राधा–कृष्ण–कु०ज–केलिको नये रूपसे वर्णन करने वाले और वृन्दावन बासका आनन्द लेनेवाले कहा है–

श्री प्रबोधानन्द बड़े रसिक आनन्द-कन्द
श्री चैतन्य (चन्द्र) जूके पारषद प्यारे हैं।
राधाकृष्ण-कु०ज-केलि निपट नवेलि कही,
झेलि रस-रूप दोऊ किये दृग तारे हैं।।
वृन्दावनवासकी हुलास लै प्रकाश कियौ,

दियौ सुख-सिन्धु कर्म-धर्म सब टारे हैं।
ताही सुनि-सुनि कोटि-कोटि जन रंग पायौ,
विपिन सुहायौ, बसे तन-मन वारे हैं।।

(3) श्री चैतन्य महाप्रभु के समसामयिक ईशान नागरके नाम से प्रचारित 'अद्वैत प्रकाश' नामक ग्रन्थ मे तो प्रकाशानन्दका परिचय ही प्रबोधानन्द नाम से दिया है–

तथि श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ख्याति। संन्यासीर मध्ये जिह बुद्धे वृहस्पति।
श्रीप्रबोधानन्दे गोरा बड़ दया कैला। शक्ति संचारिया तारे प्रेमभक्ति दिला।।
श्रीगौरांग स्तव करे पद्मम विरचिला।[1]

(4) लालदास के बंगला भक्तमालमे उल्लेख है कि प्रकाशानन्दपर कृपा करने के पश्चात् श्रीचैतन्य महाप्रभुने ही उनका नाम प्रबोधानन्द रखा–

प्रकाशानन्द सरस्वती नाम तार छिल। प्रभुइ प्रबोधानन्द बलिया राखिल।।
(बंगला भक्तमाल, २२वीं माला, पृ० ३५८)

कुछ लोग लालदास के इस कथन को इसलिए मानने को तैयार नहीं कि चैतन्य चरितामृत में महाप्रभु द्वारा प्रकाशानन्दको प्रबोधानन्द नाम दिये जाने का उल्लेख नहीं है।[2] पर चैतन्य चरितामृत का प्रतिपाद्य विषय प्रबोधानन्द या प्रकाशानन्द का चरित्र तो है नहीं। आनुषंगिक रूप से उसमें प्रकाशानन्द से महाप्रभुके मिलन का वर्णन है। इसलिए चैतन्य–चरितामृत के लेखकसे यह आशा करना कि वे उनके आगे–पीछे के जीवन से सम्बन्धित सभी बातों का उल्लेख करते, युक्तिसंगत नहीं है। यह बिलकुल सम्भव है कि महाप्रभुने ही प्रकाशानन्दका नाम बदलकर प्रबोधानन्द❁ रखा हो, जिस प्रकार अमर और सन्तोष के नाम उन्होंने बदलकर सनातन और रूप रखे।

(5) प्रकाशानन्द और चैतन्य चन्द्रामृतादि ग्रन्थों के लेखक प्रबोधानन्द जब एक ही व्यक्ति है, तो उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में जो जानकारी हमें चैतन्य भागवत और चैतन्य चरितामृत से प्राप्त होती है, उसके विपरीत यदि श्री चैतन्य महाप्रभु के अन्तर्धान के १६३वर्ष वाद लिखी गयी अनुरागवल्ली में कुछ है, तो उसका कोई मूल्य नहीं। उसे अनुरागवल्ली के लेखक की भूल ही मानना होगा।

चैतन्य–चरितामृत और चैतन्य–भागवतके विवरणसे स्पष्ट है कि प्रकाशानन्द महाप्रभु से काफी बड़े थे, उनके सन्यास लेने से पूर्व ही वे काशी में रहने लगे थे और भारतके सर्वप्रधान संन्यासी के रूप में उनकी ख्याति हो गयी थी। इसलिए जब महाप्रभु संन्यास लेने के बाद दक्षिण

१. श्रीअद्वैतप्रकाश. १७ अध्याय. पृ. ७७. मृणालकान्ति घोष सम्पादित, कलकत्ता।

२. डा० विमान बिहारी मजूमदार, श्रीचैतन्य चरितेर उपादान, पृ. १६९

❁ हम प्रारम्भ से ही प्रबोधानन्द को प्रबोधानन्द कहते आये हैं। पर उनका संन्यास लेने के पूर्व नाम था 'प्रबुद्ध'। प्रबोधानन्द के नाम से वे परिचित हुए थे महाप्रभु की कृपा लाभ करने के बाद ही।

यात्रा को गये तब श्रीरंगम में उनसे भेंट होने का कोई प्रश्न न था।

(6) एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि प्रकाशानन्द प्रबोधानन्द नहीं थे, तो महाप्रभु के शरणागत होने के पश्चात् प्रकाशानन्दका क्या हुआ? तब उसके पश्चात् उनका कहीं भीकिसी प्रकार का चिन्ह नहीं मिलता। क्या यह संभव है कि उनका जैसा प्रभाकरके समान तेजस्वी महापुरूष भारत के आध्यात्मिक आकशसे सहसा लुप्त हो जाय? क्या यह स्वाभाविक नहीं कि उनका जैसा महापण्डित सार्वभौम भट्टाचार्यकी तरह महाप्रभु की स्तुति के रूपमें कुछ लिखकर अपनी लेखनी सार्थक करे? चैतन्य–चन्द्रामृत महाप्रभुकी स्तुतिका वह ग्रन्थ है, जो निर्णायक रूपसे सिद्ध करता है कि प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्द एक ही व्यक्ति थे।

एक और प्रश्न

प्राचीन गौड़ीय आचार्योने प्रबोधानन्द सरस्वतीके ग्रन्थों से कोई प्रमाणादि उद्धृत नहीं किया। इससे लगता है कि उन्होंने किसी कारण से उनकी उपेक्षा की। कारण क्या हो सकता है? सुन्दरानन्द विद्याविनोदने दो संभावित कारणों का उल्लेख किया है:–

(1) बहुत दिनों से किंवदन्ती चली आ रही है कि गोपालभट्ट गोस्वामी द्वारा श्रीहित हरिवंशको गौड़ीय–वैष्णव सम्प्रदाय से पृथक किये जानेपर भी प्रबोधानन्द ने उन्हें आश्रय प्रदान किया।[1]

(2) 'प्रबोधानन्द ने महाप्रभुके गौरनागरवर–रूप[2] की वन्दनाकी', जो उन गोस्वामियों को मान्य नहीं था।

पहले कारणका आधार एक किंवदन्ती है, जिसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। श्रीहित हरिवंशजीके चरित्रमें हम इसपर विशेष रूपसे प्रकाश डालेंगे। दूसरा कारण ठीक हो सकता है। वास्तविकता यह है कि प्रबोधानन्दजी एक स्वतन्त्र प्रकृतिके अनुरागी भक्त थे। 'वे श्रीगौरांग महाप्रभुको हृत्पद्मासनपर बिठाकर अनुराग पुष्पसे उनकी पूजा करते थे। वैष्णव–स्मृति के वे पक्षपाती नहीं थे। अपनी स्वाधीन प्रकृतिके कारण वे गोस्वामीगणके साथ नहीं रहते थे, अलग रहकर भजन किया करते थे।[3] गोस्वामीगण अनुरागी और महाप्रभु द्वारा प्रचारित रामानुगा भक्ति के अनुयायी होते हुए भी महाप्रभुकी आज्ञा से बाह्य साधनमें शास्त्रीय विधि–निषेधकर बल देते थे, क्योंकि इसके बिना साधारण लोगों के स्वेच्छाचारी और उच्छृंखल हो जानेका भय था।

ग्रन्थावली

श्री चैतन्य चन्द्रामृत–इस ग्रन्थ में प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने श्रीचैतन्य महाप्रभुके असमोर्ध माधुर्य तथा अपनी चैतन्य–निष्ठा और

---

१. 'प्रवासी' पत्रिका, बंगाब्द १३६२, अग्रहायन-अङ्क, पृ. १६६

२. श्री चैतन्य चन्द्रामृतम्, १३२ श्लोक।

३. गोपालभट्टओ प्रबोधानन्द, पृ० ८२

राधा–निष्ठाका वर्णन किया है। चैतन्य महाप्रभुको राधा–माधव के एकीभूत वपु (श्लोक १३) के रूपमें 'भगवतः परम' (श्लोक ७) और 'देवचूडामणि' (श्लोक १०) कहा है। चैतन्य–चरणमें रतिको राधापद–नख–ज्योतिके हृदय में प्रकाश होने का साधन माना है (श्लोक ६८, १२३)। श्री चैतन्यपद–कमलमें जैसे जैसे भक्तिका उदय होता है, वैसे वैसे ही राधपाद पद्मका प्रेम–सुधा–समुद्र साधक के हृदय में उच्छलित होता है (श्लोक ८८)। श्रीचैतन्य महाप्रभुके आविर्भाव के पूर्व 'परमरस–चमत्कार–माधुर्य सीमा' के रूपमें श्रीराधाको कौन जानता था? व्रज–प्रेम नामक परम–पुरूषार्थको कौन जानता था? राधा–नामकी महिमा भी कौन जानता था? चैतन्यचन्द्रामृत के अनुसार श्रीचैतन्यचन्द्रने ही इन सबका आविष्कार किया है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु के आविर्भावके पूर्व प्रेम सागर के तटदेश तक पहुँच पाना भी जीवके लिए दुष्कर था। चैतन्यचन्द्रके उदय होते ही आज वही प्रेम सागर उद्वेलित, उच्छलित होकर सब जीवोंके निकट स्वयं आ गया है और सारे विश्वको प्लावित करने में उद्यमशील है (श्लोक १००)। वह दुर्लभ व्रज प्रेमरस, जिसके लिए ब्रह्मादि देवगण तरसते हैं, जिसे लक्ष्मी अनन्तकाल से तपस्यारत होते हुए भी नहीं पा सकी है, उसे आज श्री चैतन्यचन्द्र पात्रापात्र, देयादेय, कालाकालका विचार किये बिना दर्शन, स्पर्शन, कीर्तन, स्मरणादि साधन द्वारा तत्क्षण प्रदान करने को उतावले हो रहे हैं (श्लोक ४, ७७, १००)। यह एक अद्भुत व्यापार है, इसीलिए ग्रन्थके प्रथम श्लोक में प्रबोधानन्दने महाप्रभुकी वन्दना अपरिसीम, अत्यद्भुत–कारुण्यमय सर्वावतार–श्रेष्ठ विग्रहके रूप में की है।

चैतन्य–चन्द्रामृत की दो टीकाएँ प्रसिद्ध है–'आनन्दि' नामक किसी महत् पुरूष की लिखी 'रसिकास्वादिनी' टीका और 'तरंगिनी' टीका, आनन्दिटीकाका वैष्णव समाजमे विशेष रूपसे आदर हुआ है। भक्तप्रवर श्रीमणीन्द्रनाथ गुह महाशयने इस टीका को इसके वंगला अनुवाद, तात्पर्य और बहुत से ज्ञातव्य विषयके अपूर्व समावेश के साथ इसे सुसम्पादित किया है। गुह महाशय ने प्रबोधानन्द सरस्वती के समसामयिक महापुरूषेंकी वैष्णव वन्दनासे निम्नलिखित उद्धरणोंसे प्रमाणित किया है कि वे इस ग्रन्थके कारण अपने समयमें ही वैष्णव समाज में अतिउच्च आसनपर प्रतिष्ठित हुए थे–

श्री देवकीनन्दनकी वैष्णव बंदना–

प्रबोधानन्द गोसाञी बन्दों करिया जतन। जे करिल महाप्रभुर गुणेर वर्णन।

श्रीवृन्दावनदास की वैष्णव बंदना–

बन्दों करियाभक्ति प्रबोधानन्द सरस्वती परम महत्व गुणधाम।
श्रीचैतन्य-चन्द्रामृत पुस्तक जाँहार कृत। एइ पुथि भक्तधन प्राण।।

श्रीजीव गोस्वामीकी वैष्णव वंदना–

प्रबोधानन्द सरस्वतीं वन्दे विमलां यदामुदा।
चन्द्रामृतं रचितं यत् शिष्यो गोपालभट्टः।।

श्रीसंगीतमाधव-गीतिकाव्य-पंद्रह सर्गो में लिखे इस ग्रन्थमें प्रबोधानन्द सरस्वतीने जयदेव की कोमलकान्त पदावली गीतगोविन्दका अनुसरण कर रासलीलाके समय श्रीकृष्ण के वेणु–माधुर्यसे आकृष्ट हो स्थावर जंगमकी आनन्दोन्मादना और व्रजसुन्दरियों के अभिसारका वर्णन किया है।

श्रीआश्चर्यरास प्रबन्ध-इस ग्रन्थमें श्रीमद्भागवतमें वर्णित रासलीलाका अनुसरण कर श्रीकृष्णके अपूर्व रासनृत्यका वर्णन किया है।

श्रीश्रुति-स्तुति-व्याख्या-इसमें श्रुति स्तुतिकी व्याख्याके प्रसंगमें सरस्वतीपादने नित्यसिद्धा महाभाववती गोपियों और अन्यान्य गोपियोंके बीच भेदका वर्णन किया है।

श्रीकामबीज-कामगायत्री-व्याख्या-इसमें कामबीज–रहस्य और कामगायत्रीके प्रति अक्षर की व्याख्या की गयी है।

श्रीनवद्वीप शतकम्-इसमें नवद्वीप महिमाका वर्णन है। भाव और भाषामें यह वृन्दावन महिमामृत के समान है।

श्रीगीतगोविन्द-व्याख्या-यह गीतगोविन्दकी सर्वश्रेष्ठ व्याख्या है। इसका व्याख्यान कौशल, भाषामाधुर्य और रस–निष्कासन विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है।

गोपालतापनी-टीका-श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोदने इसकी कई हस्तलिखित और मुद्रित प्रतियोंको जीवगोस्वामीको गोपालतापनी टीकासे मिला कर देखने के बाद लिखा है कि जिस किसी कारणसे भी हो, यह उसके साथ एकाकार हो गयी है।[1]

३. **विवेक-शतक**-प्रबोधानन्द सरस्वतीके इस नामके एक ग्रन्थका भी पता चला है (राजेन्द्रपाल मित्र, Notices vii, p. 261, No. 2510)।

वृन्दावन-महिमामृत या वृन्दावन-शतक

इसके सौ शतकों का प्रचार है। पर केवल बाइस[2] अब तक प्राप्त हो सके है और सत्रह मुद्रित हुए है। इसमें श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीने अपनी राधादास्य–निष्ठा सहित वृन्दावन निष्ठा व्यक्त की है और तीव्र अनुरागके साथ तीव्र वैराग्य और भजनावेशका परिचय दिया है।

इस ग्रन्थ को प्रायः सभी विद्वानोंने निर्विवाद रूपसे श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद की कृति माना है। प्रबोधानन्दजी के समसामयिक श्रीगदाधरभट्ट के पुत्र रसिकोत्तंसजीने 'प्रेम पत्तन' में इसका उल्लेख

१. प्रवासी, बंगाब्द १३६२, अग्रहायण अङ्क, पृ० १६८।

२. सुन्दरानन्द विद्याविनोद : प्रवासी, बंगाब्द १३६२, अग्रहायण अङ्कमें प्रकाशित प्रबोधानन्द सरस्वती, शीर्षक लेख, पृ० १६७

प्रबोधानन्द सरस्वती पाद की कृतिके रूप में किया है। भगवत् मुदित जीने इसके एक शतककी टीका सं० १७०७ में की है, जिसमें चैतन्य–स्मरण के चार श्लोक हैं।[3] राधावल्लभ सम्प्रदायके श्रीचन्द्रलाल गोस्वामीने पाँच शतकों का व्रजभाषा पद्य में अनुवाद किया है, जिनमें–से तीन में चैतन्य स्मरण के श्लोक हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि भगवत मुदित जी और श्रीचन्द्रलाल गोस्वामी ने भी इसे श्रीचैतन्य महाप्रभुके कृपापात्र श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती की कृति माना है। पेटरसन, आर० एल० मित्रा और वंगीय साहित्य परिषद् आदिकी जो संस्कृतके हस्तलिखित ग्रन्थों की रिपोर्ट और कैटेलाग छपे हैं, उनमें प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद के नाम से ही इस ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है।[2] यहाँ तक कि आधुनिक कालमें राधावल्लभीय सम्प्रदाय के बंसीदास बाबाने भी इसे प्रबोधानन्दकी रचना माना है।[3]

'राधारससुधानिधि' या **'राधासुधानिधि'** सम्बन्धमें गौड़ीयसम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदायमें बहुत दिनोंसे विवाद चला आ रहा है। यह एक स्तोत्र काव्य है, जिसमें राधापादपद्म–भजन–निष्ठा और राधाउपासना के उत्कर्षका वर्णन है। गौड़ीय सम्प्रदायके लोग इसे प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद की कृति मानते है, राधावल्लभ सम्प्रदाय के श्रीहित हरिवंशजी की। राधावल्लभ सम्प्रदाय के लोगों का कहना है कि हित हरिवंशजी जब छः महीनेके शिशु थे तभी पालने में लेटे–लेटे उन्होंने इसका गान किया था और उनके संन्यासी ताऊ श्रीनृसिंहाश्रमजीने इसे लिपिबद्ध कर लिया था।[4]

जो लोग राधावल्लभ सम्प्रदायके पक्षका समर्थन करते हैं, उनका कहना है कि इसमें 270 श्लोक हैं और इसका नाम 'राधासुधानिधि' है, पर गौड़ीय सम्प्रदाय के लोगों ने इसके आदि और अन्तमें श्रीचैतन्य महाप्रभुकी वन्दनाके दो श्लोक जोड़कर और इसका नाम 'राधारससुधानिधि' रखकर प्रबोधानन्द सरस्वतीकी रचनाके रूपमें इसका प्रचार किया है।[5] जो गौड़ीय सम्प्रदायके पक्ष का समर्थन करते हैं, उनका कहना है कि इसमें २७२ श्लोक हैं, इसका नाम 'राधरससुधानिधि' है और उस समय की प्रथाके अनुकूल इसके आरम्भ में वन्दनाका एक श्लोक है, अन्तमें भी वन्दनात्मक एक श्लोक है, पर राधावल्लभ–सम्प्रदायके लोगोंने आदि और अन्तके दोनों श्लोक, जिनमें श्रीचैतन्य महाप्रभुकी वन्दना हैं, निकालकर और इसका नाम 'राधासुधानिधि' रखकर इसका श्रीहित हरिवंशकी रचनाके रूप में प्रचार किया है।[6]

१. श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य पृ० ५६९
२. वही
३. एस.के.दे : वैष्णव फेथ ऐण्ड मूवमेन्ट, पृ० ९८ पाद टिप्पणी
४. बाबा हितदा द्वारा सम्पादित 'राधासुधानिधि' की भूमिका, पृ०८
५. बाबा हितदास : राधासुधानिधि, पृ० ३०
६. वही, भूमिका, पृ० ६–७

दोनों पक्ष ग्रन्थकी प्रतिपाद वस्तु अपने सम्प्रदाय के अनुकूल बताते हैं। राधावल्लभ–सम्प्रदायके पक्षकी पुष्टि करनेवाले विद्वानों का कहना है–

'राधासुधानिधि' ग्रन्थ अपनी इष्ट अनन्यता के लिए विख्यात हैं। राधा हीं इस ग्रन्थमें इष्टाराध्याके रूपमें वर्णित हुई है। श्रीहित हरिवंशजीकी आराध्या राधा ही है। अतः उन्हीं की पूजा–उपासना, बन्दना–प्रशस्तिके लिए उन्होंने अपनी भावनाके अनुरूप इसकी रचना की हैं।............राधाके बिना कृष्ण की आराधनाका निषेध राधावल्लभ सम्प्रदायमें ही किया गया है। यहाँ राधाके बिना कृष्णोपसानाकी कल्पना भी नही है। इसी भावको व्यक्त करते हुए 'राधासुधानिधि' में कहा है कि जो लोग राधाके चरणों का सेवन छोड़कर गोविन्दके संग लाभ की चेष्टा करते हैं, वे मानों पूर्णिमा तिथिके बिना ही पूर्व सुधाकर का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं।..... निकुञ्जमें राधा और कृष्णकी प्रणय–लीलाका वर्णन करते हुए 'राधासुधानिधि' और 'हित चौरासी' मे प्रणय कोप के भाव समान रूपसे वर्णन किया गया है। यह भावसाम्य आकस्मिक न होकर एक ही प्रणेताकी भावधाराकी सहज गतिका परिचायक है।[1]

गौड़ीय–सम्प्रदायके पक्षकी पुष्टि करनेवाले विद्वानोंका कहना है–

'राधाररससुधानिधि में किसी श्लोकमें, कहीं भी श्रीहित हरिवंशजीके आराध्यदेव 'श्रीराधावल्लभ' का उल्लेख नहीं हुआ है। चैतन्य सम्प्रदायकी आख्या 'राधामाधव' का ही सर्वत्र प्रयोग हुआ है। इस कारण भी राधाररससुधानिधि श्रीहित हरिवंशजी की रचना नहीं कही जा सकती।'

'विषय वस्तुके आधारपर भी राधाररससुधानिधि श्रीहित हरिवंशजी की रचना नहीं हो सकती। स्वकीया–परकीया, विरह–मिलन एवं स्व–पर भेद रहित नित्य–विहाररस ही हित महाप्रभुजी का इष्ट तत्व है। परन्तु राधासुधा निधि में तो स्वकीया, परकीया, विरह, मिलन भावों का ही वाहुल्य है। तब इस रचनाके रचयिता श्रीहित हरिवंशजी कैसे हो सकते है? श्रीहित हरिवंश नित्य निकुञ्ज में नित्य बिहार के उपासक हैं। राधासुधानिधि में व्रजपरक लीलाओं का भी वर्णन है। यह वर्णन श्रीहित हरिवंश के नित्य विहार के अनुरूप नहीं है।

'राधाररससुधानिधि' के मत्कण्ठे किं नखरशिखया दैत्यराजोऽस्मिनाहं' श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीललितचरण गोस्वामीने स्पष्ट लिखा है कि इस श्लोक का भाव श्रीहिताचार्यजी के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं।[2] राधावल्लभ सम्प्रदाय के लोगों का तर्क है कि प्रबोधानन्द धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे, इसलिए वे इष्ट–अनन्यता–प्रधान राधाररससुधानिधि ग्रन्थके रचयिता नहीं हो सकते। बाबा हित वंशीदास ने लिखा है–

१. श्रीअनन्तदास बाबाजी : राधाररससुधानिधि, भूमिका पृ०६
२. डा० विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य पृ० २८१

'श्रीराधासुधानिधि ग्रन्थ अपनी इष्ट अनन्यताके लिए प्रसिद्ध है और श्रीप्रबोधानन्दजी अपनी धाम अनन्यता के लिए विख्यात हैं। फिर कैसे हो सकता है कि एक ही व्यक्ति दो प्रकार की निष्ठाओंसे पूर्ण हो सके और धाम–अनन्यताके साथ साथ इष्ट अनन्यताको लिये रह सके।'[1]

डा० स्नातक ने भी लिखा है, 'श्रीप्रबोधानन्दजीकी धामनिष्ठा प्रसिद्ध हैं, वे अपनी अनन्य धामनिष्ठाके समक्ष विभिन प्रकार की एकान्तनिष्ठा का दूसरा रूप कैसे प्रस्तुत कर सकते थे।'[2]

गौड़ीय सम्प्रदायमें धाम और धामी को अभिन्न माना गया है, श्रीराधा और श्रीचैतन्य महाप्रभुको भी अभिन माना गया है, एक ही निष्ठा के साथ दूसरे की निष्ठा को स्वाभाविक माना गया है। इसलिए डा० शकुन्तला अग्रवाल ने लिखा है कि प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने 'गौर–निष्ठा से उद्‌वेलित होकर 'श्रीचैतन्य चन्द्रामृतम्' की रचना की, वृन्दावन निष्ठा को 'श्रीवृन्दावनमहिमा–मृत' मृतम् में मुखरित किया, 'आश्चर्यरास–प्रबन्ध' में युगल–निष्ठाको, तथा राधारससुधानिधि' में राधा–निष्ठा को व्यक्त किया।[3]

राधारससुधानिधि के प्रबोधानन्द द्वारा रचित होने के विरोध में कहा गया है कि श्रीचैतन्य महाप्रभुके समसामयिक किसी इतिहासकार ने, यहाँ तक श्रीकृष्णदास कविराजने भी चैतन्य चरितामृतमें कोई सूचना नहीं दी,[4] न ही उस समयके गौड़ीय गोस्वामियं ने राधारससुधानिधि से कोई उद्धरण दिया। इससे यह तो सिद्ध करने की चेष्टा की ही गयी है कि राधारासससुधानिधि गौड़ीय सम्प्रदायके किसी महानुभावकी रचना नहीं है, यह भी दिखाने का प्रयास किया गया है कि राधारससुधानिधि या वृन्दावन–महिमामृतके रचयिता प्रबोधानन्द सरस्वती गौड़ीय सम्प्रदाय के कोई व्यक्ति ही नहीं थे।

दूसरी ओरसे राधारससुधानिधि के श्रीहितहरिवंशकृत होनेके विरोध में कहा गया है–

'सेवकजी ने राधावल्लभ–सिद्धान्त निरूपणमें 'हित चौरासी' से उद्धरण दिये, किन्तु 'राधारससुधानिधि' से एक भी उद्धरण नहीं दिया। इसी प्रकार हितध्रुवदासने भी 'सिद्धान्त–विचार' के प्रसंग में राधारससुधानिधि से एक भी उद्धरण स्वमत पोषण के लिये नहीं दिया। इसका तात्पर्य यही है कि उनके कालतक राधारससुधानिधि को राधावल्लभ–सम्प्रदाय में मान्यता नहीं मिली थी। अन्यथा यह कभी संभव नहीं कि सम्प्रदाय–प्रवर्तक और गुरु श्रीहितहरिवंशजीकी कृति से उद्धरण

१. डा० शकुन्तला अग्रवाल : श्रीहरिनाम पत्रिका, वर्ष १२, अंक ११, 'श्रीराधारससुधानिधि या राधासुधानिधि' शीर्षक लेख, पृ० ३२
२. राधासुधानिधि, भूमिका, पृ० ७
३. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २८२
४. श्री हरिनाम, वर्ष १२, अंक १०, पृ० १९।

न देकर वे अन्योंके उद्धरणसे ही स्वमत को पुष्ट करते।'[1]

मुख्य रूपसे राधारससुधानिधिको श्रीहितहरिवंशकी कृति सिद्ध करने के लिए राधावल्लभ सम्प्रदायकी ओर से इस बातपर विशेष बल दिया गया है कि इस ग्रन्थकी प्राचीन हस्तलिखित सभी प्रतियोंमें इस श्रीहित हरिवंशकृत लिखा मिलता है, इसकी जितनी टीकाएँ राधावल्लभ सम्प्रदायके लोगोंने लिखी हैं, उतनी गौड़ीय सम्प्रदायमें नहीं लिखी गयी, और इसका जितना पठन-पाठन, प्रचारादि राधावल्लभ-सम्प्रदायमें है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं है। इस सम्बन्ध में श्रीललिताचरण गोस्वामी ने लिखा है-

'इस ग्रन्थकी जितनी प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध है, वे सब इसको श्रीहित हरिवंशकृत बतलाती हैं। इस ग्रन्थका एक प्रकाशित संस्करण बंगाक्षरोंमें प्राप्त हैं। उसमें आदि-अन्तमें श्री चैतन्य वन्दनाका एक एक श्लोक लग रहा है एवं रचयिता के स्थानपर प्रबोधानन्द सरस्वतीका नाम है। एगलिंग क इण्डिया आफिस कटलागमें, औफैटके बोडेलियन कैटेलाग में एवं हरप्रसाद शास्त्री के डेस्क्रिप्टिव कैटलाग में इस ग्रन्थ की जितनी प्रतियों का परिचयात्मक उल्लेख है, उनमें से किसी मेंआदि अन्त के ये श्लोक नहीं मिलते एवं सबमें इसका रचयिता श्रीहितहरिवंशको लिखा गया है।'[2]

श्रीललिताचरण गोस्वामी ने इस प्राचीन हस्तलिखित प्रतिका उल्लेख किया है, जो सं० १७१२ की है।[3] डॉ० स्नातकने दो और प्रतियोंका उल्लेख किया है, जो इससे कुछ बादकी हैं।[4] इसके अतिरिक्त उन्होंने इस ग्रन्थकी राधावल्लभ सम्प्रदायके अनुयायियों द्वारा की गयी सोलह टीकाओं का उल्लेख किया है।

इसके विपरीत डॉ० सुशीला अग्रवाल ने इस ग्रन्थकी तीन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका उल्लेख किया है, जिनमें-से एक गोविन्दग्रन्थागार, जयपुर में और दो वृन्दावन शोध संस्थानमें हैं। जयपुरवालीप्रतिमें महाप्रभु की वन्दना सहित २७२ श्लोक है और उसमें 'प्रबोधानन्द सरस्वतीकृत' लिखा है। वृन्दावन-शोध-संस्थान की एक प्रति भी इसी प्रकार की है, दूसरी खण्डित है, पर उसमें प्रथम वन्दनात्मक श्लोक है।[5]

राधावल्लभ सम्प्रदायकी ओर से इस बातपर भी विशेष बल दिया गया है कि ग्राउस, फर्कुहर, विलसन तथा एफ० ई० के आदि अंग्रेज विद्वानों और डॉ० सुशीलकुमार देने, जो राधावल्लभ सम्प्रदायके नहीं है,

---

१. श्री ललिताचरण गोस्वामी, श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० ५५३

२. श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० ४०-४१

३. वही

४. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २८४

५. हरिनाम वर्ष १२, अंक १०, पृ० १७

सुधारससुधानिधि को श्रीहितहरिवंशकी कृति बताया है। डा0 स्नातकने आठरहवीं शताब्दीके गौड़ीय सम्प्रदायके श्रीरसिकोत्तसजीके ग्रन्थ 'प्रेम–पत्तन' का एक अंश उद्धृत कर यह दिखाया है कि उन्होंने भीराधारससुधा–निधि को श्रीहित हरिवंश की कृति माना है। यह राधावल्लभ सम्प्रदायके मतके पक्षमें बाह्य साक्ष्य का ऐसा तर्क है, जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

गौड़ीय–सम्प्रदायके पक्षका समर्थन करनेवाले विद्वान्त अन्तःसाक्ष्यपर बल देते हुए निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं–

(१) 'राधारससुधानिधिकारने इस ग्रन्थमें बहुत जगह वृन्दावनकी विचित्र शोभाका वर्णन किया है और ग्रन्थके रचनाकालमें वृन्दावनवासियों के दर्शनसे उनके प्रति आराध्या बुद्धि होने और ग्रन्थ रचनामें प्रेरणा लाभ करनेका भी वर्णन किया है। इससे प्रमाणित है कि राधारससुधानिधि बाद ग्राम में पालनेमें शायित छः मासके शिशु का गान नहीं है।'*

(२) राधारससुधानिधि भाव, भाषा, शैली और छन्दादिमें प्रबोधानन्द सरस्वतीके दूसरे ग्रन्थों के अनुरूप है और उसके कुछ श्लोक और पंक्तियाँ उनके दूसरे ग्रन्थों के श्लोक और पंक्तियों से बिलकुल मिलते हैं। राधारससुधानिधि का 'गता दूरे गावो....... प्राणिनिषवः' श्लोक (२२९) संगीत माधव के 'गता दूरे गावो......... प्राणिनिषवः' श्लोक (४/८) से लगभग पूरा का पूरा मिलता है। राधारससुधानिधि का 'अनंग यज़मंगल' श्लोक (२२५) 'संगीत माधव' (२/६) में थोड़े से परिवर्तन केसाथ उद्धृत है। यदि यह श्लोक किसी दूसरे ग्रन्थसे उद्धृत किया गया होता तो उसमें परिवर्तन बिलकुल न होता।

इस प्रकार राधारससुधानिधि अनेकों पंक्तियां 'चैतन्य–चन्द्रामृत', 'वृन्दावन महिमामृत' और 'आश्चर्य रास–प्रबन्धादि' ग्रन्थोंमें दोहरायी गयी मिलती हैं, जिनका विस्तृत विवरण श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोदने प्रवासी पत्रिका (बंगाब्द १३६२, अग्रहायण अंक, पृ० १६७-१६८) में और श्रीअनन्तदास बाबा जी महाराजने राधारससुधानिधिकी नवप्रकाशित अपनी विशाल टीकाकी भूमिका (पृ० ८-९) में दिया है।

भावकी दृष्टिसे राधारससुधानिधियोंमें वैसी ही राधा–निष्ठा व्यक्तकी गयी है, जैसी चैतन्यचन्द्रामृत आदि प्रबोधानन्द सरस्वती के अन्य ग्रन्थोंमें की गयी है। रास–प्रबन्ध (97) में जिस प्रकार कृष्ण द्वारा राधा–नामका जप किये जाने का वर्णन है, वैसे ही राधारससुधानिधि (95) में श्रीकृष्ण द्वारा राधा–नामका जप किये जानेका वर्णन है।

यह तर्क भी इतना महत्वपूर्ण है कि इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। कुल मिलाकर स्थिति बहुत उलझी हुई है। उलझनेका मुख्य कारण है ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतियोंमें परिवर्तन, जो श्रीललिताचरण

* श्रीअनन्तदास बाबा : राधासुधानिधि, भूमिका, पृ. ७

गोस्वामीके अनुसार अठारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें किसी एक सम्प्रदाय द्वारा ग्रन्थको अपना सिद्ध करनेके लिए किये गये थे, जब इस प्रश्न को लेकर दोनों सम्प्रदायोंके बीच फैली कटुता ने एक उग्ररूप धारण कर लिया था।*

हम इस ऐतिहासिक प्रश्नको कि इस ग्रन्थकी रचना किसने की यहीं छोड़ दें और इसे आध्यात्मिक पक्षपर दृष्टि डालें, जो इससे कहीं अधिक महत्वका है। आध्यात्मिक दृष्टिसे यह प्रश्न कि ग्रन्थका रचयिता किस सम्प्रदायका है इतने महत्वका नहीं, जितना यह कि इसे किस सम्प्रदाय ने कितना अपनाया है, किसने इसे अपनी उपासनामें कितना स्थान दिया है। उत्तरमें कहना होगा कि दोनों सम्प्रदायोंकी इसमें अटूट श्रद्धा है, दोनोंने इसे अपनी उपासनामें ऊँचा स्थान दिया है। फिर भी राधावल्लभ सम्प्रदायमें इसका जितना आदर है, उतना गौड़ीय सम्प्रदायमें नहीं है। पर ग्रन्थमें सम्बन्धित उपरोक्त विवादसे स्पष्ट हो जाता है कि दोनों सम्प्रदायोंमें इसके प्रति कितना ममत्व है, कितना इसे अपना सिद्ध करनेके लिए आवेश और आवेग है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसके वास्तविक रचयिताके सम्बन्ध में कोई निर्णय लेने पर भी इस स्थितिमें कोई अंतर नहीं पड़नेका। यह रेखांकित करनेके लिए ही हमने इस विवादका सजीव चित्र अंकित करनेकी चेष्टा की है।

दुर्भाग्यकी बात है कि मधुर–रस के इस मधुरतम ग्रन्थको लेकर ही दोनों सम्प्रदायमें खेंचतानके साथ कुछ मनमुटाव होता आया है, जब कि इसके कारणं दोनोंके सम्बन्ध मधुरतम होने चाहिए थे। हमारा मत है कि यह ग्रन्थ दोनों सम्प्रदायके सिद्धान्त और उपासना में कुछ भेद होते हुए भी उनके मौलिक सिद्धान्तोंमें समानताका संकेत कर उन्हें एक दूसरे से जोड़नेवाली और एक दूसरेके प्रति सजातीयता भाव उत्पन्न करनेवाली एक महत्वपूर्ण कड़ी है। हमें आशा है कि दोनों सम्प्रदायोंके वे व्यक्ति, जो इस ग्रन्थसे प्रभावित है, जिन्होंने इसे रससुधानिधि में अवगाहन किया है और जिनका हृदय इससे तनिक भी द्रवित हुआ है, इस ग्रन्थको इसी दृष्टिसे देखेंगे और इसके कर्ताके सम्बन्धमें अपनी अपनी भावनाओं को सुरक्षित रखते हुए, दूसरों की भावनाका आदर करेंगे।

इसी दृष्टिसे अनुप्राणित हो पिछले दिनोंमें गौड़ीय सम्प्रदायके प्रसिद्ध सन्त और कथावाचक श्रीप्राणगोपाल गोस्वामी और निम्बार्क सम्प्रदायके संत शिरोमणि श्रीप्रियाशरण बाबाजी महाराजने राधारससुधानिधिकी कथा कहते समय या कथा में उसका उद्धरण देते समय ग्रन्थकारका नाम न लेकर केवल 'ग्रन्थकारए कहनेकी परिपाटी डाली थी, जो सर्वथा अनुकरणीय है। उनकी कथाओंको सभी सम्प्रदायोंके लोग साम्प्रदायिक भेदभाव भूलकर बड़े चाव से सुनते थे और आत्मविभोर हो उनका रसास्वादन करते थे।

* श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० ४५

श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी

छय गोस्वामियों में अन्यतम व्रजलीलाकी अनंग मञ्जरी के अवतार❀ श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी श्रीमन्महाप्रभुके विशेष कृपापात्र थे। महाप्रभुने वाल्याकालमें ही उन्हें अपना चरणोदक पान कराया, चार मास लगातार उन्हें अपने दिव्य संग और सेवाका अवसर दिया, अपने उपदेशोंसे उनके भक्तिभावको पुष्ट किया, और उनके भावी जीवनकी योजना स्वयं बनाकर पूर्ण रूपसे उन्हें आत्मसात किया। इतना ही नहीं, समय आनेपर डोर–कोपीन और अपना आसन प्रदान कर उन्हें गुरु–स्थानपर भी स्वयं प्रतिष्ठित किया।

फिरभी आश्चर्य यह है कि उनका जीवन–वृत्त लिखनेके लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं है। श्रीकृष्णदास कविराजने चैतन्य–चरितामृतमें अपने छय शिक्षा–गुरुओंमें गोपालभट्ट के नामका उल्लेख किया है–

श्रीरूपसनातन भट्ट रघुनाथ। श्रीजीव गोपाल भट्ट दास रघुनाथ।
एइ छय गुरु शिक्षा गुरु जे आभार। ता सबार पाद पद्मे करि नमस्कार।।
(चै०च० १/१/१८-१९)

उन्होंने श्रीकृष्ण–चैतन्यरूप प्रेम–कल्पवृक्षकी शाखाओं का वर्णन करते समय गोपालभट्टकी शाखाको सर्वोत्तम कहा है–

श्रीगोपालभट्ट एक शाखा सर्वोत्तम। रूप सनातन संगे यौंर प्रेम आलापन।।
(१-१०-१०५)

पर उनके चरित्रके सम्बन्धमें कुछ नहीं लिखा है। इसका कारण नरहरि चक्रवर्तीने यह बताया है कि कविराज गोस्वामीने चैतन्य–चरितामृत लिखनेके लिए गोपालभट्टसे अनुमति मांगी थी। अनुमति देते समय उन्होंने अपने सम्बन्धमें कुछ भी लिखनेको निषेध कर दिया था–

श्रीगोपालभट्ट हृष्ट हैया आज्ञा दिल।
ग्रन्थे निजेर प्रसंग वर्णिते निषेधिल।।

पर उनके सम्बन्धमें महाप्रभुके अन्य चरित्राख्यायकोंने भी कुछ नहीं लिखा है। वृन्दावनदास, लोचनदास, और जयानन्द इस सम्बन्धमें नीरव हैं। कवि कर्णपूरने भी 'श्रीचैतन्य–चन्द्रोदय नाटक' और 'श्रीचैतन्य–चरितामृत महाकाव्य' में उनके सम्बन्धमें कुछ नहीं लिखा है।[1] केवल मुरारी गुप्तने अपने कड़चामें उनके सम्बन्धमें कुछ लिखा है। परवर्तीकालमें नरहरि चक्रवर्तीने 'भक्तिरत्नाकर' में, मनोहरदास ने 'अनुरागवल्ली' में, यदुनन्दनदासने 'कर्णानन्द' में और नरोत्तमदासने 'प्रेमविलास' में उनका कुछ विवरण दिया है।

❀ किसी-किसी ने उन्हें गुन-मंजरी का अवतार माना है-

अनंग मंजरी यासीत् साद्य गोपालभट्टकः।
भट्ट गोस्वामिनं केचिदाहुः श्रीगुण मंजरी।।
(श्री गौर गणोद्देश-दीपिका-१८४)

१. कविकर्णपूर ने श्रीगोपालभट्ट की बन्दना का एक अष्टक अवश्य लिखा है, जिसका एक श्लोक हमने आगे उद्धृत किया है।

गोपालभट्टका जन्म महापुण्या काबेरी[1] तीरस्थ–श्रीरंगम् के निकट बेलां गुडि ग्राम में सन् १५०० में[2] माघ कृष्णा तृतीया को रामानुज सम्प्रदायके एक दाक्षिणात्य द्रविण ब्राह्मण परिवारमें हुआ। इस परिवारके त्रिमल्लभट्ट, वेंकटभट्ट और प्रबुद्धभट्ट दक्षिण देशके सुप्रसिद्ध विद्वान और श्रीरंगनाथके प्रधान अर्चक थे। त्रिमल्ल सबसे बड़े थे, वेंकट उनसे छोटे और प्रबुद्ध सबसे छोटे। वेंकटभट्टकी पत्नी सदम्बाके गर्भ से गोपालभट्टका जन्म हुआ।

चम्पक–पुष्पके समान शिशु गोपालके शरीरकी कनक–कान्ति, पद्मके समान दीर्घ नेत्र–जुगल, उन्नत नासिका, आजानुलम्बित बाहु, विशाल वक्ष, क्षीण कटिदेश, और सुललित अरुण चरणोंकी शोभा देखते ही बनती।

बालक ज्यों–ज्यों बढ़ता गया उसके अद्भुत तेज और मेघाशक्तिका भी विकास होता गया। वेंकटभट्टने उसकी शिक्षाका भार अपने अनुज प्रबुद्धपर छोड़ दिया। प्रबुद्ध महापण्डित थे। देशभरमें उनके पाण्डित्यकी ख्याति थी। वे अपने भतीजे गोपालके प्रति विशेष स्नेहासक्त थे और बड़े मनोयोगसे उसे पढ़ाते थे।

प्रबुद्धकी देख–रेखमें गोपालका विद्याध्ययन सुचारू रूपसे चलने लगा। थोड़े ही समयमें व्याकरण, न्याय, दर्शन, अलंकारादिमें व्युत्पन्नता लाभकर उसने सबको चमत्कृत कर दिया।

प्रबुद्धका अद्वैतवादकी ओर प्रबल झुकाव था। वे गोपालको भी अद्वैतवादी बनाना चाहते थे। पर गोपालका जैसा विद्यानुराग था, वैसा ही भगवदनुराग भी। भगवद्भक्ति उनकी नैसर्गिक सम्पत्ति थी। वह प्रकाश में आती थी जब वाल्यावस्थामें ही अपने गृह–देवता श्रीलक्ष्मी नारायणके मन्दिर में उनके दर्शन करते करते उनके नेत्र छलछला आते थे। नौ वर्ष की अवस्थामें उपनयन संस्कारके पश्चात् एक बार वे अपने पिता श्री वेंकटभट्ट के साथ जगन्नाथपुरी गये थे। तब तक श्रीचैतन्य महाप्रभुका नीलाचल आगमन नहीं हुआ था। उस समय जगन्नाथजीके श्रीविग्रहके दर्शन कर उनकी जैसी भावविह्वल अवस्था हो गयी थी उसे देख वेंकटभट्टको उनके भक्तिभावसे परिप्लूत भावी जीवनका पूर्वाभास मिल गया था।❀

२. श्रीमद्भागवत (११/५/३९-४०) में उल्लेख है कि जो कावेरी का जल पान करते हैं, वे प्रायः वासुदेव के शुद्ध भक्त होते हैं।

३. श्रीमधुसूदन तत्ववाचस्पति ने 'गौड़ीय वैष्णव इतिहास' (पृ. १६९) में और अमूल्यधन रायभट्ट ने 'बृहत् वैष्णव चरित अभिधान' (पृ० १२०) में सन् १५०३ में गोपालभट्ट का आविर्भाव लिखा है। पर मुरारीगुप्त के कड़चा के अनुसार महाप्रभु के दक्षिणत्य भ्रमण के समय गोपालभट्ट बालक थे। यदि अनुमान किया जाय कि उस समय गोपालभट्ट की आयु १०-१२ वर्ष की थी तो उनका आविर्भाव १५०० ई० के लगभग ही मानना होगा, क्योंकि महाप्रभु दाक्षिण में १५१०-१५१२ के बीच थे।

❀ शुनिया व्येंप्रटभट्ट उल्लास हृदय। बाल्यावस्था हैते गोपालेर चेष्टा कय॥
जैछे नीलाचले जगन्नाथेर दर्शने। जैछे स्फूर्ति व्याकरणादि अध्ययने॥
(भ.र. १-१५९-१६०)

महाप्रभुका शुभागमन और गोपालका उनके द्वारा लालन

गोपालके भाग्यसूर्यका पूर्णोदय हुआ दो वर्ष वाद सन् १५११ में, जब महाप्रभुका उनके घर शुभागमन हुआ। महाप्रभुने सन् १५१० के माघ मास में संन्यास ग्रहणकर नीलाचल पदार्पण किया। नीलाचलमें सुप्रसिद्ध नैयायिक और वेदान्ती श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यको तत्वविचारमें पराजितकर उनका मत परिवर्तन किया। उसी वर्ष वैसाख मासमें उन्होंने दक्षिणकी यात्रा प्रारम्भ की। आषाढ़ मासमें श्रीरंगम् पहुँचे।

श्रीरंगममें पवित्र कावेरी नदीमें स्नानकर श्रीरंगनाथके मन्दिर गये। रंगनाथके दर्शनकर भाव–विह्वल हो उनके सम्मुख नृत्य कीर्तन करने लगे। अश्रु–कम्पादि सात्विक भावोंसे विभूषित उनकी रूपमाधुरी और स्थावरजंगमको विकम्पित करनेवाली उनकी कीर्तन ध्वनिसे आकर्षित हो दर्शकोंकी भीड़ उमड़ने लगी। मन्दिरका विशाल प्रांगण जन–समूह से खचाखच भर गया। वेंकटभट्ट भी एक कोनेमें खड़े उनकी रूप–माधुरी और भाव माधुरी के दर्शनकर सौ सौ बार उनपर न्यौछावर हो रहे थे। भाव कुछ प्रशमित होनेपर उन्होंने उनसे अपने घर भिक्षा ग्रहण करनेकी प्रार्थना की। उन्होंने सहर्ष उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

महाप्रभुको अपने बीच पाकर भट्ट परिवारके आनन्दकी सीमा न रही। सबने उनके चरणों में श्रद्धापूर्वक नमन किया। गोपालभट्ट उस समय बालक ही थे। ग्यारहवें वर्षमें उन्होंने प्रवेश किया था। वे भी महाप्रभुके दर्शनकर भावविभोर हो उनके चरणों में लोट गये। महाप्रभुने अपने चरण कमल उनके सिरपर स्थापित कर उनके ऊपर अपनी विशेष कृपाका प्रथम परिचय दिया। तत्पश्चात् उन्हें गोदमें ले कितना कुछ दुलारा, प्यार किया, और प्रेमाश्रुओं से अभिषिक्त किया, जैसे वे अनादिकालसे उनके माता पितासे भी कितना अधिक उनके अपने थे। वे महाप्रभुके दिव्य स्पर्श और उनके शक्ति–संचारको सहन न कर सके और मूर्छित हो गये।[1]

वेंकटभट्ट ने कावेरी के जलसे उनके चरण धोकर चरणोदक स्वयं पान किया और परिवारके लोगोंको पिलाया।[2] चरणोदक पान करते ही गोपाल प्रेमाविष्ट हो नृत्य करने लगे। अश्रु, कम्प, पुलकादि सात्विक भाव भूषणोंसे विभूषित हो उनका सुन्दर शरीर और भी सुन्दर लगने लगा। उस समय की उनकी रूप माधुरी देखते ही बनती, जैसे अपने चरणोदकके माध्यम से गौरांगसुन्दरने अपनी ही रूपमाधुरी उनमें उड़ेल दी हो। श्रीपाद रामादास बाबाजी महाराज के कीर्तनमें इसी भाव की स्फूर्ति हुई है। उन्होंने गोपालभट्टके अपने सूचक कीर्तन में कहा है–

'सोन्दर्येर सार माधुर्येर सार गौर आभार आपन वरण धराल।
गोपाल हइल अति सुन्दर, पिये गौर पादोदक गोपाल हइल अति सुन्दर।'

---

१. सप्त गोस्वामी, पृ० २६९
२. चै. च. २-९-८३

अर्थात् सौन्दर्य और माधुर्यके सारस्वतरूप श्रीगौर सुन्दरका चरणोदक पानकर बालक गोपालके शरीरका सुन्दर वर्ण उनके ही जैसा तप्त स्वर्णके वर्णमें परिवर्तित हो और भी सुन्दर हो गया। महाप्रभुका चरणोदक पानकर गोपाल बहुत देर तक भावाविष्ट अवस्थामें नृत्य करते रहे। लोगोंके बहुत चेष्टा करनेपर भी उन्हें संयत करना मुश्किल हो गया। महाप्रभु इस दृश्य को देख मन ही मन प्रसन्न होते रहे। कुछ देर बाद वे महाप्रभुके चरणों मे लौट गये और अपने प्रेमाश्रुओंसे उनके चरणों को अभिषिक्त करने लगे। महाप्रभुने उनके सिरपर बार बार हाथ फेरकर उन्हें प्रकृतिस्थ किया।

वेंकटभट्टके घर महाप्रभुका चातुर्मास

महाप्रभुको भोजन कराने के पश्चात् वेंकटभट्ट ने हाथ जोड़कर उनसे निवेदन किया–'प्रभु, चातुर्मास्यका समय आ गया है। चातुर्मास्यमें आप इस सेवकके घर ही अवस्थान करें और कृष्ण–कथा कह सेवकका उद्धार करनेकी कृपा करें।'

महाप्रभुने सहर्ष वेंकटभट्टकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उनके घर रहकर चार मास–कृष्ण कथारसमें सुखसे व्यतीत किये–

ताँर घरे रहिला प्रभु कृष्ण-कथा-रसे।
भट्ट संगे गोङाइल सुखे चार मासे॥

(चै०च० २/९/८६)

वे नित्य प्रातः कावेरीमें स्नान करते और रंगनाथके दर्शनकर उनके सामने प्रेमसे नृत्य कीर्तन करते। दूर दूरसे लोग आकर उनके दर्शन करते। दर्शन मात्रसे उनमें कृष्णनामकी स्फूर्ति होती और वे कृष्ण–कीर्तनकर धन्य होते–

लक्ष–लक्ष लोक आइल नाना देश हैते।
सबे कृष्णनाम कहे प्रभुके देखिते॥

(चै०च० २/९/८९)

श्रीरंगक्षेत्रमें जितने वैष्णव थे सबने एक एक दिन महाप्रभुको निमन्त्रण दिया। इस प्रकार एक एक दिन कर चातुर्मास्य पूर्ण हुआ। फिर भी सबको महाप्रभुको भिक्षा करानेका सौभाग्य न मिला, जिसका उन्हें आजन्म दुख रहा।

इस बीच गोपाल महाप्रभुके प्रेमसे पाले पक्षीके समान निरन्तर उनके साथ रहते और उनकी भाँति–भाँतिसे सेवा करते।* गोपालकी महाप्रभुमें स्वाभाविक प्रीति देख वेंकटभट्ट ने उन्हें महाप्रभुके चरणों में सदाके लिए समर्पित कर दिया (भ०र० १/१२५-१२६)। पलभरके

---

*नरहरि चक्रवर्ती ने भक्तिरत्नाकर में इस सम्बन्ध में किसी प्राचीन महाजन का यह श्लोक उद्धृत किया है-

वन्दे श्रीभट्टगोपाल द्विजेन्द्रं व्येप्रटात्मजम्।
श्रीचैतन्य प्रभोः सेवानियुक्तञ्च निजालये॥

(भ.र. १-९८)

साधुसंगसे जीव क्या से क्या हो जाता है। साधुशिरोमणि श्रीमन्महाप्रभुके संगसे गोपालका जो होना था सो हुआ। अल्पावस्थामें ही उन्हें जीवके चरम लक्ष्य श्रीकृष्ण–प्रेमकी प्राप्ति हो गयी।

महाप्रभुके मुखसे नदियाके भक्तोंके साथ उनकी लीला कथा सुन एक दिन गोपालके मनमें क्षोभ जागा कि उनका नदियामें जन्म क्यों न हुआ, जिससे वे प्राणभर उस लीलाके दर्शन कर सकते। विधाताके प्रति आक्षेप करते हुए वे कहने लगे–'हे निदारूण विधि। तूने मुझे नदियासे इतनी दूर जन्म देकर उनके नदिया–विहारके दर्शन सुखसे वंचित क्यों किया? उनके चम्पाके फूलोंसे गुंथे घुघराले केश और नर्तक वेशके दर्शनका सौभाग्य क्यों नही दिया? क्यों उनका मुंडिल मस्तक संन्यासवेश दिखाकर मेरे हृदय में शैल भेदनेका उपक्रम किया? राधिकाके प्राणनाथ श्रीव्रजेन्द्रनन्दनको संन्यासी बनाकर तूने यह क्या किया?'

इतना कह उनके दोनो नेत्रोंसे अविरल अश्रुधार बहने लगी, नासिका से अग्निशिक्षाके समान दीर्घ निश्वास निकलने लगी। इस अवस्थामें दीर्घ कालतक वे निर्जनमें बैठे सिसकियाँ भरते रहे।

गोपालको महाप्रभुका नदिया–नागर और कृष्ण–रूपका दर्शन

अन्तर्यामी महाप्रभुने उनके अन्तरकी बात जान ली। थोड़ी देर में उन्हें निद्रा आ गयी और महाप्रभुने उन्हें स्वप्नछलसे अपनी नदिया–लीलाके दर्शन कराये। उन्होंने देखा नदियामें गौरांगसुन्दरको परिकरोंके साथ स्वछन्द विहार करते और नित्यानन्द और अद्वैतप्रभुकी उन्हें गोदमें लेकर प्यार करते और उनके कानमें कुछ कहते। वे जैसे ही कुछ कहने को हुए, उनकी निद्रा भंग हो गयी और वे भौचक्केसे चारों ओर देखने लगे–

गोपालेर अन्तर जानिला गौर हरि।।
अकस्मात गोपालेर निद्रा आकर्षिल।
स्वप्नच्छले नवद्वीप प्रत्यक्ष हइल।।
देखये प्रभुर तथा अद्‌भुत विहार।।
प्रभु संगे विलसे सुखेर नाहिं पार।।
नित्यानन्दाद्वैत प्रेमावेशे कोले कैल।
ना जानि कि कहितेइ निद्रा भंग हैल।।

(भ०र० १/१०७-११०)

अत्यन्त व्याकुल हो वे उसी समय महाप्रभुके पास गये। वे उन्हें श्यामल–सुन्दर– गोपालवेशमें देखकर चकित रह गये। फिर दूसरे ही क्षण उन्होंने साक्षात् देखा उन्हें उस नदिया विहारी स्वर्णागी रूपमें, जिसके उन्होंने अभी स्वप्नमें दर्शन किये थे–

गोपाल आइल जानि उल्लास अशेष। प्रभु हैला श्यामल सुन्दर गोपवेश।।
देखये गोपाल शोभा रहिया निर्जने। सुवर्णवर्ण अंग हैल सेइ क्षणे।।

(भ०र० १/११२-११३)

नदिया नागर वेश में उनके त्रिकक्ष वसनकी अनुपम शोभा, उनकी भूषण–भूषिण अंग भंगी, उनके घुंघराले केशोंकी कटिदेश तक लटकती मनोहर चोटी, उनके मुखकी अपूर्व लावनि, पद्म की पंखड़ियों के समान दीर्घ नेत्रोंकी मनोहारी चितवन, सुन्दर भ्रूजुगल, उन्नत नासिका, उसपर उज्ज्वल तिलककी अपरूप शोभा, और सहस्त्रों शरत्‌के चन्द्रमाओंके गर्वको चूर्ण करनेवाली उनकी मृदु–मन्द हँसी देख गोपालके आश्चर्य और आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने जैसे ही उनके चरणोंमें नमनकर उनके मुखकी ओर फिर देखा, उन्हें दीखा महाप्रभुका वही मस्तक–मुण्डित, अरूण वसनधारी संन्यास वेश–

चरणे पड़िया पुनः चाहे प्रभु पाने। संन्यासीर शिरोमणि देखे सेई क्षणे।।

(भ०र० २/११९)

तब वे धैर्य खोकर फिर महाप्रभुके चरणोंमे लोट गये। महाप्रभुने उन्हें उपदेश करते हुए कहा–'गोपाल, चिन्ता न करो। तुम्हें भव–बन्धनसे शीघ्र मुक्ति मिलेगी। वृन्दावनमें रूप–सनातन जैसे दुर्लभ रत्नोंकी प्राप्ति होगी। वे तुम्हें मेरे रहस्य और मनोभावके बारेमें सब–कुछ बतायेंगे। तुम मेरे मनोभीष्ट की पूर्ति में उनके साथ सहयोग करोगे। तुम्हारे शिष्यों के द्वारा जग्त्‌में मेरे प्रेम–धर्मका व्यापक प्रचार होगा।

इतना कह महाप्रभुने गोपालको गोदमें लेकर अपने नेत्रोंके जलसे सिक्त किया और उन्होंने जो कुछ देखा उसे गोपन रखने का आदेश किया। गोपालका मन तब कुछ स्थिर हुआ–

एत कहि गोपालेरे करि प्रभु कोले। गोपालेर अंग सिक्त कैल नेत्र जले।।
कहिल ए सब कथा राखिह गोपने। हइल परमानन्द गोपालेर मने।।

(भ०र० १/१२३-१२४)

वेंकटभट्‌टसे महाप्रभुने कहा–'तुम्हारे कुमार गोपालभट्‌टपर मेरी विशेष कृपा है। इसे पढ़ाकर सुपण्डित करना। पर इसका विवाह न करना–

गोपालभट्‌ट नाम एइ तोमार कुमार। मोर प्रति कृपा हय, इहार उपर।।
पड़ाइया सुपण्डित करिबे इहारे। बिहा नाहि दिबे इहा कहिल तोमारे।।

(प्रेम विलास, पृ० २७४)

वेंकटभट्‌टको महाप्रभुका तत्वोपदेश

महाप्रभु जितने दिन वेंकटभट्‌टके घर रहे उनके साथ कृष्ण–कथा–रंग का सुख लेते रहे। उनके साथ उनका सख्य भाव हो गया था, इसलिएं कभी गंभीर मुद्रामें, कभी हास–परिहासमें, वे उनके साथ कृष्ण–कथाका कोई न कोई प्रसंग छेड़ते रहे।

भट्‌ट लक्ष्मी नारायणके उपासक थे। एक दिन पहिरास में महाप्रभुने उनसे पूछा–

'भट्‌ट, तोमार लक्ष्मी ठाकुरानी। कान्त-वक्षः स्थिता, पतिव्रता-शिरोमणि।।
आमार ठाकुर कृष्ण गोप, गो चारक। साध्वी हञा केने चाहे ताँहार संगम।।

(चै०च० २/९/१११-११२)

—भट्ट, तुम्हारी लक्ष्मी ठाकुरानी वैंकुण्ठपति नारायणवक्ष विलासिनी पतिव्रता—शिरोमणि हैं। हमारे ठाकुर कृष्ण गायें चराने वाले गोप हैं। तो भी साध्वी लक्ष्मी कृष्णकें संगकी कामना करती हैं। इसका क्या कारण है?'

भट्ट ने कहा—'कृष्ण और नारायण तो एक ही है। कृष्णमें नारायण की अपेक्षा लीला—चातुरी और रास विलासादिकी अधिकता है। इसलिए यदि कौतुकवश लक्ष्मी कृष्ण— संगम—सुखकी कामना करें तो उने पातिव्रत्य धर्मके नाश होने की सम्भावना कहाँ है?'

'यह तो ठीक है', महाप्रभुने कहा, 'पर कृष्णको पानेके लिए लक्ष्मी कितना कुछ जप तप और व्रतादि करती हैं, तो भी उनका संग प्राप्त करनेकी उनकी अभिलाषा पूर्ण नहीं होती। शास्त्र कहते हैं कि श्रुतियोंने भी तप कर कृष्णको पा लिया। पर लक्ष्मी आजतक न पा सकीं। इसका क्या कारण है?'

भट्टने कहा—'प्रभु, यहाँ मेरी बुद्धि काम नहीं करती। मेरी क्षुद्र बुद्धि कृष्ण की 'कोटि—समुद्र—गम्भीर' लीलाको कैसे समझ सकती हैं? आप स्वयं श्रीकृष्ण है। अपनी लीलाके मर्मको जिसे जताएं वही जान सकता है।'

महाप्रभु कुछ हँसकर बोले—'अच्छा, तो सुनो—

कृष्णेर एक सजीव लक्षण। स्वमाधुर्य सर्व चित्त करे आकर्षण।।
व्रजलोकेर भावे पाइये ताँहार चरण। ताँरे ईश्वर करि नाहि जाने व्रजजन।।
केह ताँरे पुत्र-ज्ञाने उदूखले बन्धे। केह सखा ज्ञाने जिनि चड़े ताँर कान्धे।।
व्रजेन्द्रनन्दन बलि ताँरे जाने व्रजजन। ऐश्वर्य ज्ञाने नाहि कोन सम्बंध मानन।।
व्रजलोकेर भावे जेइ करये भजन। सेइ व्रजे पाय शुद्ध व्रजेन्द्रनन्दन।।

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्ति मतामिह।।

(भा० १०/९/१६)

श्रुतिगण गोपीगणेर अनुगत हञा। व्रजेश्वरी सुत भजे गोपीभाव लञा।।
बाह्यान्तरे गोपीदेह व्रजे जबे पाइल। सेइ देहे कृष्णसंगे रास क्रीड़ा कैल।।
गोपजाति कृष्ण, गोपी-प्रेयसी ताँहार। देवी व अन्य स्त्री कृष्ण न करे अंगीकार।।
लक्ष्मी चाहे सेई देहे कृष्णेर संगम। गोपी-रागानुगा हञा ना कैल भजन।।
अन्य देहे ना पाइये रास विलास। अतएव 'नायं' श्लोके कहे वेदव्यास।।

(चै० च० २/९/१२७-१३७)

—कृष्ण अपने माधुर्यसे आकर्षित तो सभीको करते हैं। पर उन्हें पाता वही है, जो व्रज—भावसे उनकी आराधना करता है। व्रजके लोग उन्हें ईश्वर नहीं जानते। इसलिए व्रजमें कोई उन्हें उदूखलसे बाँधता है, कोई उनके कन्धे चढ़ता है। व्रजमें सब कृष्णको व्रजेन्द्रनन्दनके रूपमें ही जानते है, अनादि, अजन्मा भगवान् के रूपमें नहीं। तभी वे उनसे पति—पुत्र—सखादिका सम्वन्ध रखते है। यदि वे उन्हें ईश्वर रूपमें जानते

तो यह कदापि सम्भव न होता। ऐश्वर्य– ज्ञान इस प्रकारके मधुर सम्बन्धमें बाधक होता है। इसलिए व्रजेन्द्रनन्दनको प्राप्त करनेके लिए व्रजके लोगों के ऐश्वर्य–ज्ञान शून्य भावसे उनका भजन करना आवश्यक है। इसीलिए भागवतके 'नायं सुखापो' श्लोकमें कहा है कि गोपिकासुत भगवान् कृष्ण भक्तिमान् व्यक्तियोंको जैसे सुलभ है और अनायास प्राप्त होते है, वैसे देहाभिमानी व्यक्तियोंको या देहाभिमान शून्य ज्ञानीजनोंको, यहाँ तक कि भगवान्के अपने ही आत्मभूत ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मी आदि तकको प्राप्त नहीं होते। श्रुतियोंने गोपियोंके आनुगत्यमें गोपी भाव से व्रजेश्वरीसुत श्रीकृष्णका भजन किया तो उन्हें व्रजमें गोपीदेहकी प्राप्ति हुई और उस देहसे उन्होंने श्रीकृष्णका भजन किया तो उन्हें व्रजमें गोपीदेह की प्राप्ति हुई और उस देहसे उन्होंने श्रीकृष्णके साथ रास विलास किया। कृष्णकी गोप–जाति है, गोपियाँ ही उनकी प्रेयसी है। गोप–जाति होने के कारण वे किसी देवी या अन्य किसी स्त्री को अंगीकार नहीं करते। लक्ष्मीने अपने उसी देहसे कृष्णके संगकी कामना की। गोपियोंका आनुगत्य स्वीकार कर रागानुगा भावसे उनका भजन नहीं किया। इसलिए उन्हें श्रीकृष्णकी प्राप्ति नहीं हुई। गोपी–देह छोड़ और किसी देहसे कृष्णको प्राप्त कर उनके साथ रास–विलास संभव नहीं है। यही भागवतमें व्यासदेव 'नायं' श्लोकका आशय है।'

वेंकटभट्टका विश्वास था कि नारायण स्वयं भगवान् है और उनका भजन ही सर्वश्रेष्ठ भजन है। उनके इस भ्रमको दूर करना ही महाप्रभुके परिहासका उद्देश्य था। इसलिए उन्होंने श्रीकृष्ण और नारायणके तत्वको समझाते हुए उनसे आगे कहा–'भट्ट, तुम इससे तनिक भी संशय न करना कि स्वयं भगवान् नारायण नहीं, श्रीकृष्ण हैं। नारायण श्रीकृष्णकी विलास मूर्ति हैं। इसलिए श्रीकृष्ण लक्ष्मीका मन हर लेते है, पर नारायण गोपियोंके मनको आकर्षित नहीं कर सकते। नारायणकी कौन कहे स्वयं श्रीकृष्ण गोपियोंसे परिहास करने के उद्देश्य से जब चतुर्भुज मूर्ति धारण करते हैं, तो गोपियाँ उनके प्रति आसक्त नहीं होती।'[1]

'पर कृष्ण और नारायण में तत्वतः कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार गोपी और लक्ष्मी में तत्वतः कोई भेद नहीं है। गोपीके माध्यमसे लक्ष्मी ही कृष्ण संग सुखका आस्वादन करती हैं। एक ही ईश्वर भक्तके ध्यान और भावके अनुरूप नाना रूप धारण करता है। ईश्वर तत्व में भेद मानना अपराध है।'[2]

इस प्रकार हास–परिहास के माध्यमसे महाप्रभु भक्तिके गूढ़ से गूढ़ रहस्योंका उद्घाटन करते। उनकी तत्वालोचनाको गोपालभट्ट, जो परछाईकी तरह सदा उनके साथ रहते, बड़े ध्यानसे सुनते। बाल्यावस्थामें

१. चैतन्य-चरितामृत २/९/१४१-१५०
२. चैतन्य-चरितामृत २/९/१५३-१५७

ही उन्हें स्वयं महाप्रभुके मुखसे उनके उपदेशामृत सुनने का जो अवकाश मिला, उससे उनके भक्तिके संस्कार, जो पहले ही प्रबल थे, और भी दृढ़ हो गये।

भट्टपरिवारके घर श्रीचैतन्य महाप्रभुका अवस्थान काल उनके जीवनका स्वर्णिम काल था। उस समय गोपालभट्ट सहित उस परिवारके सभी लोग संसारकी सुध भूले हुए थे। महाप्रभुके चरण कमल मकरंदका पान कर उन्मत्त हो वे एक अपार्थिव आनन्दके अगाध समुद्रमें संतरण कर रहे थे। जब उनके मनमें विचार आता कि चातुर्मास्य समाप्त होते ही महाप्रभु उनसे विदा हो जायेंगे तब उनकी अन्तर्वेदना का छोर न रहता। वे यह सोच सोचकर अधीर होते कि वे महाप्रभुके बिना कैसे जीवन यापन करेंगे, उनके चले जानेपर कौन उनसे हास–परिहास करेगा, कौन उन्हें कावेरी स्नानको ले जाया करेगा, रंगनाथमें कीर्तन कर कौन जन–जन को आकर्षित करेगा, किसके दर्शनके लिए उनके घर असंख्य लोगोंकी भीड़ लगी रहा करेगी, कौन उन्हें कृष्ण–कथा सुनाकर कृष्ण–भक्ति का उनके हृदयमें संचार किया करेगा? और यह सोचते सोचते उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते।

आखिर वह दिन आ पहुँचा। महाप्रभुने उनसे विनयपूर्वक विदा माँगी। वेंकटभट्ट से कुछ कहा न गया। उनका कण्ठ भर आया, नेत्रोंसे अश्रुधार वह चली। महाप्रभुको भी भक्त का संग छोड़नेमें आन्तरिक कष्ट होने लगा। पर वे उन्हें अन्तिम बार आलिंगन कर वहाँ से चल दिये। वेंकटभट्ट भी उनके साथ चल पड़े। बहुत समझा बुझाकर महाप्रभुने उन्हें विदा किया। पर वे अचेतन हो भूमिपर गिर पड़े।

महाप्रभुके वियोगमें गोपालभट्टकी जो दशा हुई, किसकी सामर्थ्य जो उसका वर्णन कर सकें?

गोपाल हइला जैछे प्राणनाथ बिने। के वर्णिते पारे, जे देखिल सेइ जाने।।

विदा होते समय महाप्रभुने गोपालभट्टको आलिंगन कर कहा–'चिंता न करना। तुम्हारी मनोवाञ्छा शीघ्र पूर्ण होगी।'*

इसे अपने वृन्दावनवासका महाप्रभुका आशीर्वाद जान वे सदा यही सोचा करते कि कब उनका आशीर्वाद फलीभूत होगा और उन्हें वृन्दावनमें रूप–सनातनादिका संग मिलेगा।

गोपालका शस्त्राध्ययन और नाट्य-संगीत-कला-विलास

महाप्रभुने गोपालको माता–पिताके जीवित रहते गृह त्यागनेका निषेध किया था और तबतक घरपर रहकर शास्त्र पढनेका आदेश दिया था। इसलिए वे माता पिता की सेवा और शास्त्राध्ययन बड़े मनोयोगसे करने लगे।

थोड़े ही समयमें गोपालभट्ट सभी शास्त्रोंमें इतना व्युत्पन्न हो गये

---

* भ.र. १/१४२

कि उस प्रदेशमें सर्वश्रेष्ठ पण्डित माने जाने लगे। वे सदा गौरांग–प्रेममें मत्त रहते, गौरांग महाप्रभुकी महिमा का सर्वत्र प्रकाश करते और भक्ति तत्वकी व्याख्या और मायावादके खण्डनमें अनायास जय लाभ करते। लोग उनके पाण्डित्यको देख दाँतों तले उँगली दवा जाते, सोचने लगते कि उन्होंने इतने अल्पसमयमें इतनी विद्या कहाँसे, कैसे प्राप्त करली–

गोपाल गौरांग प्रेमे मत्त अनिवार। भक्तितत्व व्याख्याते सर्वत्र जय जार।
गौर गुण–महिमा जे सर्वत्र प्रकाशे। मायावाद खंडन करये अनायासे।।
गोपालभट्टेर श्लाघा करे शिष्टजन। किरूपे करिल ऐछे विद्या–उपार्जन।।

(भ०र० १/१४४-१४६)

गोपालभट्ट केवल पण्डित ही नहीं थे। वे महाकवि थे, गीत, वाद्य, नृत्यादिमें परम निपुण थे और प्रेम और वैराग्यकी मूर्ति तो थे ही–

परम वैराग्य स्नेहमूर्ति मनोरम। महाकवि गीतवाध्य नृत्ये अनुपम।।

(भ० र० १/१५२)

मुरारीगुप्त ने अपने कड़चामें इस बातका संकेत देते हुए कि गायन और नर्तनमें गोपालभट्ट वाल्यावस्थासे ही रूचि रखते थे लिखा है कि वे वाल्यावस्थामें वाल्यक्रीड़ाओंका परित्यागकर गायन और नर्तनके साथ कृष्णकीर्तन किया करते–

वाल्यक्रीड़ा परित्यज्य कृष्णं गायन ननत्त च।

(३-१५-१६)

डॉ0 विमानबिहारी मजूमदारने बराहनगर–ग्रन्थ–मन्दिरकी पोथी संख्या 638 से कविकर्णपूर–कृत गोपालभट्ट की अबतक अप्रकाशित वन्दनाका निम्न श्लोक उद्घृत किया है,* जिससे जान पड़ता है कि गोपालभट्ट संगीतके साथ साथ नाट्य कलामें भी निपुण थे–

जितवर–गति भंगिर्नाट्य संगीत–रङ्गी
तनुभत्–जनु–चित्तानन्द–वर्द्धि–सुधीशः।
चरित–सुखविलासश्चित्रचातुर्य–भाषः
परम–पतितमीशः पातु गोपालभट्टः।।

महाप्रभुके वेंकटभट्टसे विदा होनेके लगभग 20 वर्ष पश्चात् वेंकटभट्ट और उनकी पत्नीका देहावसान हुआ। उसके साथ ही गोपालभट्टके लिए वृन्दावनका पथ प्रशस्त हुआ।

वृन्दावनमें

माता–पिताका वियोग होने तक गोपालभट्ट उनकी सेवाकर पुत्रके कर्तव्यका पालन करते रहे। विवाह उन्होंने नहीं किया। माता–पिताका शरीर छूटते ही वे संसार बन्धनसे मुक्त हो गये। खूँटेसे बँधा बछड़ा जैसे खूँटे से छूटते ही माँकी ओर भाग पड़ता है, वैसे ही गोपालभट्ट संसार

---

*श्रीचैतन्य चरितेर उपादान, पृ० १६०

बन्धन से मुक्त होते ही वृन्दावनकी ओर भाग पड़े।* उन्हें आकर्षण तो महाप्रभुका अधिक था। यदि वे स्वतन्त्र होते तो नीलाचलमें अपने प्राण–सरवस्व महाप्रभुके चरणों में जा पहुँचते। पर महाप्रभुकी आज्ञा थी माता–पिताके देह त्यागनेके पश्चात् वृन्दावन जाने की। उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए उन्हें उनका संग सुख त्यागना पड़ा।

गोपालभट्टके पितृव्य श्रीप्रबुद्धभट्ट महाप्रभुकी दक्षिण–यात्राके पूर्व ही काशी चले गये थे। वहाँ सन्यास लेकर प्रकाशानन्द सरस्वती नामसे उत्तर भारतमें अद्वैतावादका नेतृत्व कर रहे थे। सहस्त्रों संन्यासी उनके शिष्य थे। वे भक्ति–मार्गको बुद्धिहीन भावुकोंका मार्ग समझ उसका विरोध करते थे। गोपालभट्टको ज्ञान–मार्गपर ले चलनेके लिए कृतसंकल्प थे। उन्हें जब संवाद मिला महाप्रभुसे प्रभावित होकर नके परम भक्त हो जानेका तो वे मन ही मन महाप्रभुसे द्वेष रखने लगे। इधर महाप्रभुको भी नीलाचलमें संवाद मिला था कि वे भक्ति विरोधी प्रचार कर और भगवान्‌के श्रीविग्रहको मिथ्या बतलाकर लोगोंको गुमराह कर रहे हैं। इसलिए वे भी उनसे असंतुष्ट थे। एक बार ईश्वर आवेशमें उनके प्रति अपना रोष प्रकट करते हुए मुरारी गुप्तसे उन्होंने कहा था–

'संन्यासी प्रकाशानन्द बसये काशी ते।
मोरे खण्ड–खण्ड बेटा करे भाल मते।।
पड़ाय वेदान्त, मोर विग्रह ना माने।
कुष्ठ कराइलूँ* अंगे तबु नाहि जाने।।
अनन्त ब्रह्माण्ड मोर जे अंगेते बैसे।
ताहा मिथ्या बले बेटा केमन साहसे।।
सत्यस कहों मुरारि आमार तुमि दास।
जे न माने मोर अंग, सेइ जाय नाश।।
अज भवानन्द प्रभुर विग्रह से सेवे।
जे विग्रह प्राण करि पूजे सर्व देवे।।
पुण्य पवित्रता पाय जे अंग स्पर्शे।
ताहा मिध्या बले बेटा केमन साहसे।।
सत्य सत्य करों तोरे एइ परकाश।
सत्य मुइ, सत्य मोर दास, तार दास।।

(चै०भा० २/२०/३३-३९)

–संन्यासी प्रकाशानन्दजो काशीमें रहता है, वह बेटा मेरा श्रीविग्रह खण्ड खण्ड करता है। वेदान्त पढ़ाता है, पर मेरे विग्रह को नहीं मानता।

---

*सम्वत पन्द्रेसे सत्तावन भट्टगोपाल प्रगट आए।
कियौ वास तेईस बरस घर पुनि वृन्दावन धाए।।
- गोपाल कविकृत श्रीगोपालभट्ट चरित्र (सन् १८९२) पृ० ७

* प्रकाशानन्द को कुष्ठरोग हो गया था, इसका और कँही उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः महाप्रभु की कृपा लाभ करने पर यह जाता रहा।

दण्ड–स्वरूप, मैने उसके देहमे कुष्ट कर दिया, तो भी उसे ज्ञान नहीं हुआ। मेरे जिस विग्रहमें अनन्त ब्रह्माण्डोंकी स्थिति है, उसी को वह मिथ्या कहता है। उसका इतना साहस !

ब्रह्मा, शिव और अनन्तदेव सहित सब देवता जिस अंगकी पूजा सेवा करते है और जिसके स्पर्श से पुण्य भी पवित्र होता है, उसे मिथ्या कहने का साहस !

तुम मेरे दास हो, मुरारी। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि जो मेरे विग्रह को नहीं मानता (और अपने आपको मेरे निर्विशेष रूपसे अभिन्न मानता है) उसके अस्तित्वका नाश होता है। मैं इस तथ्यका तुमसे बार बांर प्रकाश करता हूँ कि मैं, मेरे दास और मेरे दासके दास सब सत्य हैं।'

प्रकाशानन्द भी महाप्रभुके प्रति अपना द्वेष प्रकट करनेमें कोई संकोच नही करते थे। काशी के लोगों से वे कहते थे–

'शुनियाछि गौड़देशे संन्यासी भावक । केशवभारती-शिष्य लोक-प्रचारक।।
'चैतन्य' नाम तार भावकगण लैया । देशे-देशे ग्रामे ग्रामे बुले नचाइया।।
जेइ तारे देखे, सेइ ईश्वर करि कहे । ऐछे मोहन-विद्या जे-देखे से मोहे।।
सार्वभौम भट्टाचार्य पंडित प्रबल । शुनि-चैतन्येर संगे हइल पागल।।
संन्यासी नाममात्र-महा इन्द्रजाली । काशीपुरे ना विकावे तार भाव-काली।।

(चै०च० २/१७/११६-१२०)

–सुना है गौड़देशमें केशवभारती का एक भावुक शिष्य है, जो लोगों को ठगा करता है। चैतन्य उसका नाम है। भावुक लोगोंको लेकर जगह जगह उन्हें नचाता फिरता है। उसमें ऐसी मोहन विद्या है कि जो भी उसे देखता है, वह उसे ईश्वर कहने लगता है। सार्वभौम भट्टाचार्य जैसे महान पण्डित भी उसके संगमें पड़कर पगला गये हैं। संन्यासी तो वह नामका ही है, है बड़ा इन्द्राजाली। है तो क्या, यहाँ काशी में संन्यासीयोंके बीच उसकी भावुकता की बाजीगरी नहीं चलने की।'

पर महाप्रभु जब काशी गये सन् १५१४ में तो उनके इन्द्रजालका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा प्रकाशानन्दपर ही। नृत्य कीर्तनमें उनकी भाव माधुरी देख उन्हें न जाने क्या हो गया। वे उनके चरणों में लोट गये और सदाके लिए उनके शरणागत हो गये।* प्रकाशानन्द अब संन्यासी प्रकाशानन्द न रहे। वे महान वैष्णव श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती हो गये। काशी छोड़कर वृन्दावन चले गये **(सन् १५१५)**। वहाँ नन्दकूपपर रहने लगे।

गोपालभट्टके महाप्रभुसे प्रभावित हो भावुक–भक्त बन जानेका जो उन्हें दुख था, वह भी अब जाता रहा। वे उनके भाग्यकी मन ही मन सराहना करने लगे और उनके वृन्दावन आगमनकी उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे।

*** श्रीसतीशचन्द्र मित्र के मत से प्रकाशानन्द को महाप्रभु ने ही दीक्षा लेकर उनका नाम प्रबोधानन्द रखा बंगला भक्तमाल में महाप्रभु द्वारा प्रकाशानन्द का नाम प्रबोधानन्द रखे जाने की बात लिखी है–**
प्रकाशानन्द सरस्वती नाम ताँर छिला। प्रभुइ प्रबोधानन्द बलिया राखिल।।
(भक्तमाल, २२)

गोपालभट्ट जब वृन्दावन पहुँचे वे सर्वप्रथम प्रबोधानन्दसे मिले। उन्हें प्राप्तकर प्रबोधानन्दके आनन्दकी सीमा न रही। आनन्दोत्फुल्ल हो वे उसी समय उन्हें रूप सनातन के पास ले गये। रूप सनातनने गोपालभट्ट की प्रशंसा महाप्रभु के मुखसे बहुत बार सुनी थी। वे भी उनके वृन्दावन आनेकी बहुत दिनोंसे प्रतीक्षा कर रहे थे। ग्रन्थोंके निर्माण में उनके महत्वपूर्ण सहयोगकी आशासे उनकी उत्सुकता और भी बढ़ गयी थी। उनका वृन्दावन आगमन उनके और समस्त वैष्णव समाजके लिए कितना महत्व रखता था, इसका इस बातसे पता चलता है कि उन्होंने उसी समय एक विशेष दूत द्वारा यह संवाद श्रीचैतन्य महाप्रभुके पास नीलाचल भेजा। उस समय डाककी तो कोई व्यवस्था थी नहीं। किसी महत्वपूर्ण कार्य या घटनाको लेकर ही इतनी दूर से पत्र भेजा जाया करता था।

संवाद प्राप्तकर महाप्रभु भी बहुत प्रसन्न हुए। हर्षोल्लासके साथ उन्होंने नीलाचलके भक्तोंको यह शुभ समाचार सुनाया और गोपालभट्टकी भूरि भूरि प्रशंसा की। रूप सनातनको पत्र लिखकर छोटे भाई की तरह उनकी देख भाल करते रहने और उनका संवाद बीच बीच में भेजते रहनेका आदेश दिया–

लिखये पत्री ते प्रिय रूपसनातने। पाइल आनन्द गोपालेर आगमने।।
निज भ्रातासम भट्ट गोपाले जानिबे। मध्ये मध्ये शुभ समाचार पठाइबे।।
(भ०र० १/१८९-१९०)

पत्र के साथ महाप्रभु ने अपना डोर–कौपीन, बहिर्वास, और आसन* (पट्टा) भी गोपाल भट्टके लिए भेजा–

ऐछे पत्री परिधेय वस्त्रादिक दिया। शीघ्र से मनुष्य पाठाइला हृष्ट हइया।।
तिहँ वृन्दावने गोस्वामीर पास गेला। श्रीडोर-कौपीन बहिर्वास पत्री दिला।।
(भ०र० १/१९३-१९४)

गोपालभट्टको जब पता चला कि महाप्रभुने उनके सम्बन्धमें अपने हाथसे पत्र लिखकर भेजा है और अपने कृपा–आशीर्वाद–स्वरूप अपना डोर–कौपीनादि भेजा है, तो वे आनन्द मूर्छामें डूब गये। स्वस्थ होनेपर उन्होंने डोर–कौपीन और आसनादिको बारम्बार प्रणाम किया। रूप सनातनादिके कहनेपर भी उन्होंने आसनपर बैठना स्वीकार नहीं किया। पर रूप सनातनने उन्हें समझाया कि आसन भेजकर महाप्रभुने उन्हें गुरु–स्थानपर उपविष्ट किया है और उस पर बैठकर लोगोंको दीक्षा

---

* भक्तिरत्नाकर में आसन का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। पर 'वस्त्रादिक' में आसन का इंगित है। महाप्रभु द्वारा अपना आसन भेजे जाने की बात राधारमण मन्दिर के गोस्वामियों में परम्परा से चली आ रही है। यह आसन एक कृष्णवर्ण के काष्ठ का पीढ़ा है, जो श्रीराधारमर के मन्दिर में आज विराजमान है, और जिसकी श्रद्धापूर्वक पूजा की जाती है।

देनेका अधिकार और आज्ञा दी है। तब उन्हें उनकी बात मान लेनी पड़ी।[1] गोपाल कविके अनुसार महाप्रभुने अपने पत्रमें गोपालभट्टको अपने अंशसे प्रकट श्रीनिवासाचार्यके वृन्दावन आनेपर उन्हें उस आसनपर बैठकर दीक्षा देनेका आदेश दिया था।[2]

श्रीराधारमण-श्रीविग्रह प्राकट्य

महाप्रभुने गोपालभट्ट गोस्वामीको शालग्रामकी सेवा करनेका आदेश दिया था और कहा था कि तुम्हें शालग्राममें राधारमणके दर्शन होंगे–

श्रीगौरांगदेव आज्ञा दिल गोस्वामी रे। शालग्राम हैते तुमि देखिवे हरि रे।।

(भ०र० ४/३१६)

गोपाल कविके अनुसार महाप्रभुने स्वप्नमें गोपालभट्टको गण्डकी नदीसे शालग्राम, जो सबसे पहले मिलें, लाकर और उन्हें उन्हीं का रूप जानकर उनकी सेवा करनेका आदेश दिया था। गोपालकविका यह भी कहना है कि विरहावस्थामें कूर्माकृतिको प्राप्त महाप्रभु ही गण्डकी नदीमें उस शालग्राम शिलाके रूपमें प्रकट हुए थे, जिसकी उन्होंने गोपालभट्टसे सेवा करनेको कहा था–

एक समें महाप्रभु कृष्ण चैतन्य विरह में छाके।
प्रया विरह में अंग सुकरि भए पिंड समान अन्दा के
सालिगराम कुरमाकरहीं जनम नदी मधि लीना।
तिन गोपालभट्टको सपनो एक दिन निसमें दीना
सालिगाम नदीमें पहलै मिले जाय तुम लाओ।
मेरो रूप जानके ताको पूजा करि पधराओ।

(गोपालभट्ट-चरित्र, पृ०३)

महाप्रभुकी इच्छा जान गोपालभट्टने गण्डकी नदीसे शालग्राम लानेके उद्देश्यसे सहारनपुर होते हुए पश्चिमोत्तर भारतकी यात्रा की। सहारनपुर ज..दके देवबन (देवबन्द्य) में उनकी उस ग्रामके जागीरदार भक्तप्रवर पण्डिल श्रीमाधवप्रसाद शर्मासे भेंट हुई। माधव उनके तेजोपुञ्ज कलेवर और भक्तिभावसे बहुत प्रभावित हुए। उन्हें अपने घर ले जाकर

१. डा० नाथ ने महाप्रभु द्वारा गोपालभट्ट को डोर-कौपीनादि भेजे जाने पर सन्देह व्यक्त किया है। उनके सन्देह का कारण है अनुरागवल्ली की निम्न पंक्तियाँ-

आसिया पाइला रूप सनातन संग। दुइ रघुनाथ संग प्रेमेर तरंग।।

इनमें कहा गया है कि वृन्दावन आने के बाद गोपालभट्ट को रूप, सनातन और दोनों रघुनाथ (रघुनाथभट्ट और रघुनाथदास गोस्वामी) का संग प्राप्त हुआ। रघुनाथदास गोस्वामी का वृन्दावन आगमन हुआ महप्रभु के अन्तर्धान के ठीक बाद सन् १५३३ में। इससे डा० नाथ का अनुमान है कि गोपालभट्ट का भी वृन्दावन जाना हुआ महाप्रभु के अन्तर्धान के पश्चात् ही। पर अनुरागवल्ली की उक्त पंक्तियों में यह नहीं कहा गया है कि गोपालभट्ट को वृन्दावन में रघुनाथदास गोस्वामी का संग मिला रूप, सनातन और रघुनाथभट्ट की तरह उनके वृन्दावन पहुंचते ही।

२. मेरो अंस निवासाचारि आवेगो हिय भीज्यो।
पटा बैठि कौपीन माला धरि तिहि दिक्षा तुम दीजौ।।

(गोपालभट्ट-चरित्र, पृ०८)

उनका आदर सत्कार किया और प्रिय पुत्र श्रीगोपीनाथ सहित अपने समस्त परिवारको उनके अनुगत कराया।

देवबनसे नेपालके कण्टकाकीर्ण और हिंसक जन्तुओंसे परिपूर्ण पथको पार करते हुए गण्डकी नदीके उद्गम स्थान् पहुँचे। स्नानोपरान्त सूर्योपासनाके लिए जल में अञ्जली प्रसारित करते ही एक दामोदर शिला उनके हाथमें आयी। उसीको महाप्रभुका स्वरूप जान उन्होंने भावमग्न हो हृदयसे लगा लिया। ग्यारह और छोटी बड़ी शालग्राम शिलाएँ लेकर वे वृन्दावन लौट आये। निधुवन के निकट रासस्थलीमें एक वटवृक्षके नीचे पर्णकुटीका निर्माण कर भजन करने लगे।

उनका अधिकांश समय शालग्राम की प्रेम सेवा में व्यतीत होता, वे शालग्रामको एक पिटारीमें रखते। पिटारी वटवृक्षसे लटकाकर शालग्रामको झुलाया करते।

उन्हें विश्वास था कि महाप्रभुके वचन सत्य होंगे और एक दिन शालग्राम राधारमण रूपमें अवश्य प्रकट होंगे। वे शालग्राममें राधारमणके ऐसे रूपकी भावना किया करते, जिसमें उनका मुख रूपगोस्वामीके श्रीविग्रह गोविन्दजी जैसा हो, वक्ष मधुपण्डितके श्रीविग्रह गोपीनाथ जैसा हो और चरण सनातन गोस्वामीके श्रीविग्रह मदनमोहन जैसे हों। वे बारी–बारी से इन तीनों श्रीविग्रहोंकी अपने हाथसे सेवा किया करते और तीनों का अपनी भावनाके राधारमण विग्रहमें दर्शन किया करते–

गोविन्द, गोपीनाथ, मदनमोहन। क्रमे तिनेर सुख, वक्ष, श्रीचरण।।
तिन प्रभु एकत्र दर्शन एक ठाञि। ऐछे परिपाटी पूर्वे चिंतिल गोसाञी।।

(भ०र० ४/३२१-३२२)

प्रवाद है कि गोपालभट्टकी अपने शालग्रामका राधारमण मूर्तिके रूपमें साक्षात् दर्शन करनेकी लालसा तीव्र हो गयी, जब एक बार किसी धनी यात्रीने वृन्दावनके सभी ठाकुरोंके लिए कीमती आभूषण और वस्त्र प्रदान किये। वे मन ही मन सोचने लगे कि यदि उनके ठाकुरके हाथ पैर होते तो वे भी अन्य देवालयोंके ठाकुरों जैसा उनका श्रृंगार कर सुखी होते। तभी वैशाखकी पूर्णिमा **सन् १५४२** के दिन प्रातः, जब वे पिटारी खोलकर शालग्रामकी सेवा करने जा रहे थे, उन्होंने देखा कि वही शालग्राम, जिन्हें उन्होंने सबसे पहले गण्डकीसे प्राप्त किया था, राधारमण के रूप में प्रकट हो गये हैं–

तबे कत दिनपर शालग्राम हैते। आपनि प्रकट हैला लोकेर विदिते।।

(भ०र० ४/३१९)

राधारमणकी आकृति ठीक वैसी ही थी, जैसी वे भावनामें देखा करते थे। उनका मुखारविन्द गोविन्ददेव जैसा था, वक्ष गोपीनाथजी जैसा और चरण मदनमोहन जैसे।

गोपालभट्ट तन मन से प्राणप्रिय राधारमणकी सेवा करने लगे। वे नाना प्रकारसे उनका पुष्पोंसे श्रृंगार करते और उनकी शोभा देख–देख

आत्म–विस्मृत हो जाते। राधारमरको वे श्रीगौरांग ही जानते। इसलिए उनकी सेवा करते करते उन्हें याद आ जाती उस समय की जब उन्हें अपने घर गौरांग महाप्रभुकी सेवा करते करते उनकी नदिया नागर रूपके दर्शन हुए थे। वे उनके उस भुवनमोहन रूपको यादकर धैर्य खो बैठते और प्रेमाश्रुओंसे अपने मुख और वक्षको सिक्त करते हुए राधारमणकी ओर निहारने लगते। एक दिन इसी अवस्थामें गोपालभट्टके प्रेमाधीन राधारमणने उनकी इच्छा जान गौरांग रूपमें उन्हें दर्शन दिये–

हइया विह्वल भासे नेत्रेर धाराय। धन धन श्रीराधारमण पाने चाय।।
गोपालेर प्रेमाधीन श्रीराधारमण। श्रीगौर सुन्दर मूर्ति हैला सेइ क्षण।।

(भ०र० ४/३४४–३४५)

कुछ लोगों का मत है कि रूपगोस्वामी को श्रीचैतन्य महाप्रभुने लुप्त तीर्थोद्धार और रस भक्तिका व्रज में प्रचार करने का जो कार्य सौंपा था और उसके देखने एक बार वृन्दावन जाने का जो वचन दिया था[1], उसकी सार्थकता राधारमण रूपमें उनके वृन्दावन में प्रकट होने में ही है। इसकी पुष्टी सिद्ध श्रीरामदास बाबाके 'गौर हलो राधारमण' वाक्य[2] से होती है, जिसका वे अपने कीर्तनोंमें प्रयोग किया करते थे।

राधारमणके श्रीविग्रहके साथ राधा मूर्ति नहीं है।[3] इससे भी श्रीगौरांग महाप्रभुके राधारमर रूपमें प्रकट होने की पुष्टि होती है, क्योंकि श्रीगौरांग राधाकृष्ण के मिलित विग्रह माने जाते हैं (चै०च० १/४–५५–५७)

राधारमणकी प्राकट्य स्थली सुन्दर कलात्मक हिंडौला सहित एक चबूतरेके रूप में गोपालभट्ट गोस्वामीकी समाधिके राधारमण घेरेमें आज भी सुरक्षित है।

राधारमणका प्रथम मन्दिर दिल्लीके एक वैश्यने बनवाया था। उसका कई बार संस्कार हुआ। नये वर्तमान मन्दिर का निर्माण लखनऊ के श्रीशाह कुन्दनलाल (ललितकिशोरीजी) द्वारा आज़ से लगभग ११० वर्ष पूर्व किया गया।

वृन्दावनमें रहकर श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने जिस प्रकार वृन्दावनकी दिव्य माधुरीका आस्वादन किया, उसका उल्लेख नाभाजी ने 'भक्तमाल' क छप्पय संक्या ९४ में किया हैह। उन्होंने इस छप्पय में वृन्दावन माधुरीके आस्वादक जिन १३ महापुरुषोंके नाम गिनाये हैं, उनमें गोपालभट्ट गोस्वामीका नाम सर्वप्रथम है। प्रियादासजी ने उस छप्पयकी टीकामें गोपालभट्ट गोस्वामीके सम्बन्धमें कहा है–

१. चै.च. ३/१/२१८–२१९
२. कीर्तन में श्रीरामदास बाबाजी के मुख से निसृत इस वाक्य का विशेष महत्व इसलिये है कि उनके कीर्तन स्वतः स्फूर्त होते थे। भावादिष्ट अवस्था में उन्हें किसी दिव्य स्रोत से जो प्राप्त होता था, वही वे कहते जाते थे। श्रोतागण उन्हें नोट कर लिया करते थे। उनके स्वतः स्फूर्त कीर्तनों का संग्रह 'गुरु कृपारदान' के नाम से दो खण्डों में प्रकाशित है।
३. श्रीराधामण–विग्रह की बांई ओर एक चांदी का मुकुट स्थापित कर राधा की पूजा की जाती है।

श्रीगोपालभट्टके हिये वे रसाल बसे, लसे यों प्रगट राधारवन स्वरूप हैं।
नाना भोग राग करे, अति अनुराग पगे, जगे जग माहि हित कौतुक अनूप हैं।।
वृन्दावन माधुरी अगाधकौ सवाद लियौ,
जियौ जिन प्रायौ सीथ, भये रसरूप हैं।।
गुन ही को लेत, जीव औगुनको त्याग देत,
करूनानिकेत, धर्म सेत भक्तभूप हैं।।

(कवित्त संख्या ३७५)

अर्थात् श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीके हृदयमें श्रीराधारमणजी की वह रसमयी मूर्ति सदा बसी रहती, जो (शालग्रामजीसे) स्वयं प्रकट हुई थी। बड़े अनुरागके साथ राधारमणजी के श्रृंगार और भोग–रागकी सेवामें वे तंल्लीन रहते। उनकी प्रेममयी सेवाकी संसार में ख्याति थी। वृन्दावनकी अगाध माधुरीका आस्वादन उन्होंने जी भरकर किया। जिसे भी उनकी 'सीथ' प्रसादी मिल गयी वह रसरूप हो गया। वे हर किसी के गुणोंको देखते, अवगुणोंकी ओर ध्यान न देते। वे दयाके समुद्र, धर्मके संस्थापक और भक्तोंके भूप थे।

गोपालभट्ट गोस्वामीके शिष्य

गौड़ीय गोस्वामियोंमें सभी दैन्य की मूर्ति थे, सभी अपने को अयोग्य और अनाधिकारी मानते थे। गुरु दीक्षा देने की प्रवृत्ति किसी में नहीं थी रूप–सनातन और रघुनाथदास गोस्वामीने किसी को दीक्षा नहीं दी। लोकनाथ गोस्वामीने भी किसी को दीक्षा न देने का संकल्प कर रखा था। केवल नरोत्तम ठाकुर के लिए उन्हें अपना व्रत तोड़ना पड़ा था। शिष्य परम्पराकी रक्षा कैसे की जाय यह रूप सनातन के सामने एक समस्या थी। महाप्रभु ने किसी हदतक समस्या हल कर दी थी गोपालभट्ट गोस्वामीको दीक्षा देने का अधिकार और आदेश देकर। रूप–सनातनने किसी एक को और इस गुरुतर कार्य के लिए तैयार करना चाहा। जीव गोस्वामीकी वयस अभी कम थी। इसलिए रघुनाथभट्ट गोस्वामीको उन्होंने यह भार सौपा। उन्होंने जो व्यवस्था की उसके अनुसार गोपालभट्ट गोस्वामी पश्चिमके लोगों को दीक्षा दिया करते और रघुनाथभट्ट गोस्वामी गौड़देशसे आये हुए लोगोंको–

गोपालभट्टेर सेवक पश्चिमा मात्र। गौड़िया आसिले रघुनाथ कृपापात्र।।
ए नियम करियाछे दुइ महाशय। परमार्थ व्यवहारे जेन विरोध ना हय।।

(अ०व० २/पृ०१४)

गोपालभट्ट गोस्वामीने पश्चिम के बहुत से लोगों को दीक्षा दी, जिनमें प्रधान थे श्री दामोदर गोस्वामी और श्रीगोपीनाथ गोस्वामी। गोपीनाथ गोस्वामीको वे उत्तर पश्चिमकी तीर्थयात्रासे लौटते समय अपने साथ ले आये थे। उन्होंने विवाह नहीं किया था। वे बड़े त्यागी, अनुरागी और सेवा परायण थे। वे गोपालभट्ट की सेवा तो करते ही, राधारमण की सेवा में

उनकी सहायता भी किया करते। उन्हीं को गोपालभट्टजीने श्रीराध ारमणकी सेवाका अधिकार देना चाहा। तदर्थ उनसे विवाह कर लेने को कहा, जिससे परम्परागत रूपसे अधिकार व्यक्तियों द्वारा राधारमणकी सेवा चलती रहे। पर उनकी विवाह करने की अनिच्छा देख उन्होंने उनके बड़े भाई श्रीदामोदर गोस्वामीको सेवा का अधिकार दे दिया। तबसे उनके परिवारके राधारमणके सेवाइत गोस्वामियों की धारा अक्षुण्ण रूपसे चली आ रही है।

गोपालभट्टके दूसरे प्रधान शिष्य थे श्रीश्रीनिवासाचार्य। रूप सनातन की पूर्व निर्धारित व्यवस्थाके अनुसार की दीक्षा रघुनाथभट्ट गोस्वामीसे होनी चाहिए थी। पर उन्हें दीक्षा दी गोपालभट्ट ने। इससे गोपालकविके पूर्वोल्लिखित मतकी पुष्टि होती है, जिसके अनुसार महाप्रभुने अपने पत्रमें गोपालभट्टको अपने भेजे आसनपर बैठकर अपने अंशसे प्रकट श्रीनिवासाचार्यको दीक्षा देने की आज्ञा दी थी। महाप्रभु की इस आज्ञा का रहस्य जाननेके लिए शायद उनकी संन्यास–लीला पर दृष्टि डालना उपयोगी हो। उन्होंने केशवभारतीसे संन्यास दीक्षा लेते समय पहले अपने स्वप्नका वृत्तान्त कहने के छलसे उनके कानमें एक मन्त्र कहा था। पीछे वही मन्त्र उनसे ग्रहण किया था। इस प्रकार उन्होंने केशवभारतसे मन्त्र लेकर भी अपने आदि–गुरू स्वरूपकी रक्षा की थी। सम्भवतः इसी प्रकार उन्होंने गोपालभट्टको स्वयं दीक्षा देने का अधिकार देकर श्रीनिवासाचार्य रूपमे उनसे दीक्षा लीं थी। श्रीजीव गोस्वामीके चरित्रमें हमने कहा है कि श्रीश्रीनिवासाचार्य, श्री नरोत्तम ठाकुर और श्रीश्यामानन्द थोड़ा–सा ही आगे पीछे वृन्दावन आये थे। ये तीनों बडे संगीतज्ञ, और नृत्य नाट्य कलादिमें प्रवीण थे, व्रजमें घूम–फिरकर लीला–गान और लीला–अभिनय आदि किया करते थे। इसी समय नारायणभट्ट गोस्वामी व्रजमें रास लीला अभिनयकी रसमय परिपाटी डालनेमें लगे थे। हो सकता है कि इस सबकी प्रेरणाका मूल स्त्रोत गोपालभट्ट गोस्वामी ही रहे हों, जिनकी बाल्यकालसे ही संगीत, नृत्य और नाट्य–कलामें दक्षताका उल्लेख मुरारी गुप्त और कविकर्णपूरने किया है।

तिरोभाव

सन् १५८६, श्रावण कृष्णा पञ्चमीको श्रीचैतन्य महाप्रभुके आविर्भाव के ठीक १०० वर्ष वाद ८५ वर्षकी आयुमें श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीका तिरोभाव हुआ। राधारमण–घेरेमें श्रीराधारमण–प्राकट्स स्थलीसे संलग्न उनकी समाधि है।

कविकर्णपूरने श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीको व्रज लीला की अंग मंजरी कहा है। किसी किसी ने गुणमञ्जरी भी कहा है–

अनङ्ग मञ्जरी यासीत् साद्त गोपालभट्टकः।
भट्ट गोस्वामिनं केचिदाहुः श्रीगुणमञ्जरीम्।।

(श्रीगौर गणोद्देश दीपिका, १८४)

ग्रन्थावली

हरि भक्तिविलास–गोपालभट्ट गोस्वामीकी सबसे महत्वपूर्ण रचना है–'हरि भक्तिविलास'। यह एक वैष्णव स्मृति ग्रन्थ है। इसमें वैष्णवोंके नित्य नैमित्तिक कर्म, धर्माधर्म, विधि–निषेघ, मूर्ति प्रतिष्ठा, मन्दिर संस्कारादिका बहुत से स्मृति, पुराण और तन्त्रशास्त्रोंसे उद्घृत प्रमाण सहित वर्णन है। इसका रचना काल **सन् १५४१** से पूर्व है, क्योंकि भक्तिरसामृतसिंधु (पू०वि० २/७०) में यह उद्घृत है और भक्तिरसामृतसिंधुका रचनाकाल **सन् १५४१** है। इसके सम्बन्धमें विवाद है कि यह गोपालभट्ट गोस्वामीकी रचना है या सनातन गोस्वामी की। सनातन गोस्वामीके चरित्रमें हमने इसपर विचार कर निर्णय किया है कि सनातन गोस्वामीने एक संक्षिप्त वैष्णव स्मृतिकी रचना की और गोपालभट्ट गोस्वामीने उसका विस्तार किया।

कुछ विद्वानोंने आक्षेप किया है कि हरिभक्तिविलास गौड़ीय–वैष्णवों के प्रसिद्ध छय गोस्वामीयोंमें अन्यतम गोपालभट्ट गोस्वामीका स्मृति ग्रन्थ है तो भी गौड़ीय–वैष्णवोंमें जो आचार–विचार प्रचलित है, उससे बहुत सी बातोंमें इससे निर्दिष्ट आचार विचारका मेल नहीं खाता।* उनके इस आक्षेप का आधार उनकी यह मान्यता है कि गोपालभट्ट गोस्वामी द्वारा लिखे जानेके कारण हरिभक्तिविलास एकमात्र गौड़ीय वैष्णवों का ही स्मृतिग्रन्थ है और उनके लिए निदशमूलक है। पर बात ऐसी नहीं है। हरिभक्ति विलास वैष्णव मात्रका स्मृति ग्रन्थ है। यह वैष्णवोंके नित्य–नैमित्तिक क्रियाकलापसे सम्बन्धित अनेकों प्राचीन स्मृति ग्रन्थोंमें उल्लिखित निषेधात्मक वाक्योंका संग्रह मात्र है। यदि इसका कुछ बातोंमें गौड़ीय वैष्णवोंमें प्रचलित्त आचार विचारसे मेल नहीं बैठता, तो इससे यही सिद्ध होता है कि यह केवल गौड़ीय वैष्णव समाजके लिए नहीं लिखा गया और अप्रत्यक्ष रूपसे इस मतकी पुष्टि होती है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके परिकरोंने अपने किसी स्वतन्त्र सम्प्रदायकी सृष्टि करनेकी चेष्टा नहीं की।

षट्सन्दर्भ–कारिका–षट्सन्दर्भकी कारिकाके प्रणेताके रूपमें षट्संदर्भ के मूल लेखक गोपालभट्ट ही हैं, यह ग्रन्थके मंगलाचरणमें स्वयं जीव गोस्वमीकी इस उक्तिसे स्पष्ट है–

'तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रीलरूपसनातनौ।
दाक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद्विविच्यते।।
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्तव्युत्क्रान्त खण्डितम्।
पर्यालोच्यार्थ पर्यायं कृत्वां लिखति जीवकः।।'

अर्थात् रूप सनातनने मुझे इस ग्रन्थकी रचनामें प्रवृत्त किया है। वृद्ध वैष्णवादि द्वारा रचित ग्रन्थोंका रूप–सनातनके किसी दाक्षिणात्यभट्ट

* डा० जाना : छय गोस्वामी, पृ० २९९
डा० विमानविहारी मजूमदार : श्रीचैतन्यचरितेर उपादान, पृ० १६२

बन्धुने सार–संकलनकर एक ग्रन्थ प्रणयन किया है, जो कहीं खण्डित है, कहीं क्रमानुसार और कहीं बिना किसी क्रमके। उसी ग्रन्थको पर्यालोचना कर क्षुद्र जीवने उसे क्रमानुसार लिखा है।

बलदेव विद्याभूषणने तत्व सन्दर्भकी टीकामें लिखा है कि वृद्ध वैष्णवों से जीव गोस्वामीका तात्पर्य श्रीमन्मध्वाचार्य, श्रीधर स्वामी आदि प्राचीन वैष्णवाचार्योसे है और दाक्षिणात्यभट्ट बन्धुसे उनका अभिप्राय श्रीपाद गोपालभट्ट गोस्वामीसे है।

सत्क्रियासार-दीपिका–इसमें 59 प्राचीन ग्रन्थोंके आधारपर लिखा गया विवाहादि चतुर्दश संस्कारोंका विवरण है, जो हरिभक्तिविलासमें नहीं है।

संस्कार-दीपिका–इसमें वेशाश्रयविधि और गृही, संन्यासी, अवधूत, परमहंसादिके कृत्योंका वर्णन है।

कृष्णकर्णामृतकी टीका–कृष्णवल्लभा नामकी गोपालभट्ट गोस्वामी कृत कृष्णकर्णामृतकी चमत्कारिक टीका है। मनोहरदासने अनुरागवल्लीमें इसका इन शब्दों में उल्लेख किया है–

श्री भट्ट गोसाञि कर्णामृतेर टीका कैल।
अशेष विशेष व्याख्या ताहाते लिखिल।।
जाहार दर्शने भक्त पंडिते चमत्कार।
रस परिपाटि जाते सिद्धान्तेर सार।।

भक्तिरत्नाकरमें भी इसका उल्लेख है–

करिलेन कृष्णकर्णामृतेर टिप्पनी।
वैष्णवेर परमानन्द जाहा शुनि।।

(भ०र० १/२२८)

ग्रन्थ के द्वितीय श्लोकमें गोपालभट्टने अपना परिचय इस प्रकार दिया है–

कृष्णकर्णामृतस्यैतां टीकां श्रीकृष्णवल्लभम्।
गोपालभट्ट कुरुते द्राविड़ाव निनिर्जरः।।

पर ग्रन्थमें दिये आत्मपरिचय और पुष्पिका इस प्रकार है–

आत्मपरिचय :

श्रीमद्‌द्राविड़नीवृदम्बुधिविधुः श्रीमान्नृसिंहोऽभवद्
भट्टः श्रीहरिवंश उत्तम गुणग्रामैक भुस्तत्सुतः।
तत्पुत्रस्य कृतिस्त्वयं वितनुतां गोपालनाम्नोमुदं
गोपीनाथपदारविन्दमकरन्दानन्दिचेतोऽलिनः ।।

पुष्पिकाः इति श्रीद्राविड़ हरिवंश भट्टैकचरण–शरण–गोपाल–भट्ट–विरचिता श्रीकृष्णकर्णामृत टीका श्रीकृष्णवल्लभा समाप्ता।

उपरोक्त आत्मपरिचय और पुष्पिका के आधारपर कुछ लोगोंने गोपालभट्ट गोस्वामी द्वारा इस टीकाके लिखे जाने में शंका की है। पर यह विश्वास करना मुश्किल है कि इस प्रकार के आत्मपरिचय और पुष्पिकाका टीकामें स्पष्ट उल्लेख होते हुए नरहरि चक्रवर्तीने भक्तिरत्नाकरमें

और मनोहरदासने अनुरागवल्लीमें इसे गोपालभट्ट गोस्वामीकी रचना बताकर लोगोंकी आँख में धूल झोंकने का प्रयास किया हो। लगता है कि अनुरागवल्ली और भक्तिरत्नाकरकी रचनाके बाद ग्रन्थके दूसरे श्लोकमें द्रविड़ गोपालभट्टका नाम होने के कारण किसी ने हरिवंशके पुत्र द्रविड़ गोपालभट्टकी रचना मान इसमें यह आत्मपचिय और पुष्पिका जोड़ दिये है।

भक्तिरत्नाकर और अनुरागवल्लीके प्रमाणके अतिरिक्त इस टीकाके गौड़ीय गोस्वामी श्रीगोपालभट्टके द्वारा लिखे जाने का एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि इसमें भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, पद्मावली, जगन्नाथवल्लभ नाटक आदि गौड़ीय वैष्णवोंके ग्रन्थोंसे नामोल्लेखपूर्वक प्रमाणवचन उद्धृत किये गये हैं।



श्री जीव गोस्वामी

पूर्व बंगालके बरिशाल जिलेका एक अंश कभी चन्द्रद्वीप नामसे प्रसिद्ध था। चन्द्रद्वीप के एक अंश बाकलामें रूप–सनातनके पिता कुमारदेवकी अट्टालिका थी। रूप–सनातन और उनके छोटे भाई वल्लभ जब हुसेनशाहके दरवार में सर्वोच्च पदोंपर नियुक्त थे, तब इस अट्टालिकाका गौरव किसी राजप्रासादसे कम न था। धन–धान्य, राजैश्वर्य, बन्धु–बान्धवों, दास–दासियोंसे परिपूर्ण और तरू–लताओं, बाग–बगीचोंसे परिवेष्टित इस अट्टालिकाकी शोभा देखते ही बनती थी।

पर जबसे तीनों भाई संसार छोड़कर चले गये मानो इसने भी वैराग्य ले लिया। इसकी चमक–दमक और चहल–पहल अतीतके गर्भमें विलीन हो गयी। पुर–परिजनों और दास–दासियों का कलगुंजन भी अब इसमें सुनाई नहीं पड़ता। सुनाई पड़ता है नितान्त नीरवता के वातावरणमें एक वर्षीय–सी विधवाका मन्द स्वर, जो रात्रि के अन्धकार में दीपशिखाके निकट बैठी पुराणका पाठ करती है और उसके शिशु का कलकंठ, जो उससे सटकर बैठा बड़े ध्यानसे पुराणकी कहानियाँ सुनता है और बीच–बीच में उचक–उचककर विस्फारित नेत्रोंसे उसकी ओर देखते हुए रहस्यमय प्रश्न करता है।

विधवा माँके नयनमणि यह बालक है वल्लभका एकमात्र पुत्र जीव। इसकी बुद्धि की तीक्षणता और परमार्थ विषयोंमें असाधारण रूचि इसके प्रश्नोंसे साफ झलकती है। इसने अपने परिवारसे उत्तराधिकारमें पाया ही और क्या है? न तो इसने पाया है अपेन पिता और पितृव्योंका राजवैभव, न उनके किसी सिंहासनका उत्तराधिकार। पायी है केवल उनकी विवेक बुद्धि और उनकी भक्तिकी अदम्य स्पृहा। इसके बल–बूतेपर

ही इसे उत्तरकाल में करतलगत हुआ भक्तिका विराट साम्राज्य। इसके बलपर ही यह उदित हुआ वृन्दावन धाम में भक्ति–आन्दोलन के केन्द्रमें भक्ति–सिद्धान्त और साधनाके आलोक–स्तम्भके रूपमें और परिचित हुआ गौड़ीय–वैष्णव समाजके महान् शक्तिधर अधिनायक श्रीजीव गोस्वामी के रूपमें।

जन्म

जीव के जन्मकालका अनुमान भक्तिरत्नाकर की निम्न पंक्तियोंके आधारपर लगाया जाता है–

श्री जीवादि संगोपने प्रभुरे देखिल।
अति प्राचीनेर मुखे ए सब शुनिल।।

(भ०र० १/६३८)

श्रीनरहरि चक्रवर्ती के इस उल्लेखका आशय जान पड़ता है कि जीव बहुत छोटी अवस्थाके शिशु थे और अधिकतर माँके साथ या उनकी गोदमें रहते थे जब उन्होंने महाप्रभुके दर्शन किये। महाप्रभु जब १५१३ ई० या १५१४ ई० में रामकेलि गये तो उनके साथ उनकी माँ और अन्य महिलाओंने छिपकर कहींसे उनके दर्शन किये। नरहरि चक्रवर्ती ने यह भी लिखा है कि उन्होंने किसी बहुत प्राचीन या वृद्ध व्यक्तिके मुखसे ऐसा सुना, जिसने स्वयं उस समय महाप्रभुके दर्शन किये थे। श्रीसतीशचन्द्र मिश्रका कहना है कि उस समय जीवकी उम्र यदि दो वर्ष मानी जाय तो मानना होगा कि उनका जन्म सन् १५११ ई० में रामकेलिमें हुआ।[1]

बाल्यकाल

तीन वर्ष बाद सन् १५१४ में रूपगोस्वामीने संसार त्यागा। वल्लभ और परिवारके अन्य लोगोंको साथ ले वे पहले फतेयाबादवाले अपने घर गये। कुछ दिनोंके लिये वहाँ रह गये। वल्लभ परिवारके अन्य लोगोंको लेकर वाकला चल गये। जीव के साथ उन्हें सबको वहाँ छोड़ वे फतेयाबादमें रूपगोस्वामीसे फिर जा मिले। जब नीलाचलसे महाप्रभुके वृन्दावन गमन का सम्वाद मिला, तब दोनों भाई वृन्दावन की ओर चल दिये।

प्रयागमें उनकी महाप्रभुसे भेंट हुई, जब वे वृन्दावनसे लौटकर नीलाचल जा रहे थे। एक मास वृन्दावनमें रहकर दोनों भाई गौड़ लौटे। गौड़ में गंगातीरपर बल्लभको अभीष्ट धामकी प्राप्ति हुई। उस समय जीवकी उम्र ४ या ५ वर्षकी थी।

पिता और पितृव्योंके समान जीव भी बहुत सुन्दर थे–

जैछे सनातन, रूप, वल्लभ सुन्दर।
तैछे श्रीजीवेर कि सौन्दर्य मनोहर।।

(भ०र० १/६४४)

---

१. सप्त गोस्वामी, पृ० २०४।

उनके दीर्घ नेत्र, उच्च नासिका, उच्च ललाट, प्रशस्त वक्ष और कंचनके समान मुखकी दीप्ति उनके महापुरूष होनेकी सूचना देते थे।

भक्तिरत्नाकरमें जीवके वाल्य–चरित्रका सुन्दर वर्णन है। वे ऐसा कोई खेल ही न खेलते, जिसका श्रीकृष्ण से सम्बन्ध न होता। कृष्ण–बलरामकी दो मूर्तियाँ वे सदा अपने पास रखते। पुष्प–चन्दनादिसे उनकी पूजा करते, वस्त्र–भूषणादिसे उन्हें सजाते, फिर अनिमिष नेत्रोंसे उनकी ओर देखते रहते, कनकपुतलीकी तरह भूमिपर लोटकर सिक्त नेत्रोंसे उन्हें प्रणाम करते और भक्तिपूर्वक विविध प्रकारके मिष्ठानका उन्हें भोग लगा बालकोंके साथ प्रसाद ग्रहण करते। अकेले भी निर्जनमें उन्हें लेकर तरह–तरह के खेल खेलते। सोते समय उन्हें अपने वक्षसे लगाकर रखते। उस समय भी घरके लोग दोनों मूर्तियोंको उनके वक्ष से हटाना चाहते तो न हटा सकते–

कृष्ण–बलराम बिना किछुइ न भाय।
एकाकिओ दोंहे लइया निर्जने खेलाय।।
शयन समये दोहे राखये बक्षेते।
मात कौतुकेओ ना पारे लइते।।

(भ०र० १/७२४–७२५)

कभी कभी कृष्ण–बलराम उन्हें स्वप्नमें दर्शन देते।

विद्यार्थी जीवन और वैराग्य

जीव पाठशाला जाने लगे। अल्पकालमें ही उन्होंने व्याकरण, अलंकार, काव्यादिपर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया–

अल्पकाले श्रीवेर बुद्धि चमत्कार।
व्याकरण आदि शास्त्रे अति अधिकार।।

(भ०र० १/६३९)

मेघा और बुद्धिका ऐसा चमत्कार देख अध्यापक और सहपाठीगणोंके आश्चर्यकी सीमा न रही। सभी कहने लगे–"जीव कोई साधारण बालक नहीं है। लगता है इसका जन्म किसी देव–अंशसे है–

सबे कहे–देव अंशे जनम इहार। बहिले कि अल्पकाले एत अधिकार।।

(भ०र० 1/६४३)

जीव पढ़ते लिखते तो बड़े मनोयोग से, पर कृष्ण बलरामकी याद कर कभी कभी रो पड़ते।

उनका जैसा भाव कृष्ण बलरामके प्रति था, वैसा ही और निताई के प्रति भी। कभी कभी वे एकान्तमें भाव विह्वल अवस्थामें उनसे न जाने क्या क्या कहते। परिवारके लोग उनपर दृष्टि रखते और अलक्षित रूपसे एकान्तमें उनकी भाव मुद्रा देख परस्पर कहते–"जीवकी जो दशा है उसे देख लगता है कि वह थोड़े ही दिनों में गृह त्याग देगा–

केह कहे–'अहे भाई ! बिचारिनु मने। जीव छाड़िबे घर अति अल्प दिने।।

(भ०र० 1/१०२)

एक बार वे रो रोकर श्रीकृष्ण चैतन्य को पुकारते हुए धैर्य खो बैठे। आन्तरिक वेदना इतनी असह्य हो गयी कि पृथ्वीपर लोट पोट होने लगे। उनका मुख और वक्ष नेत्रोंके जलसे भीग गया और अन्तमें मूर्च्छा आ गयी। भक्तरत्नाकरमें वर्णन है कि परिवारके किसी व्यक्तिने अलक्षित रूपसे उनकी यह दशा देखी–

एक दिन देखिल अलक्षित। श्रीकृष्ण चैतन्य बलि हइला मूर्च्छित।।
धरनी लोटाय, धैर्य धरन न जाय। मुख, वक्ष भासे दुइ नेत्रेर धाराय।।
(भ०र० ४/६९९–७००)

उस दिन रातको उन्हें निद्रा न आयी। थोड़ी देरको आँख लगी तो स्वप्नमें कृष्ण–बलरामके दर्शन हुए। दूसरे ही क्षण कृष्ण–बलराममें गौर–निताईके दर्शन हुए। उनके गौर कान्तिमय स्वरूपकी अपूर्व छठाको अनिमेष देखते–देखते वे उनके चरणों में लोट गये और नेत्रोंके जलसे उन्हें अभिषिक्त कर दिया। तब उन्होंने अपने चरणकमल उनके मस्तकपर रखे और प्यारसे बार–बार उन्हें आलिंगन कर अमृतमय प्रबोध–बचन कहे–

करूणा समुद्र गौर नित्यानन्द राय। पादपद्म दिलेन जीवरे माथाय।।
परम वात्सल्ये पुनः करे आलिंगन। कहिल अमृतमय प्रबोध वचन।।
(भ०र० १/७३४–७३५)

गौर सुन्दरने प्रेमाविष्ट हो नित्यानन्द प्रभुके चरणों में उन्हें डाल दिया। नित्यानन्दने आशीर्वाद देते हुए कहा–"मेरे प्रभु गौरसुन्दर में तुम्हारी रति हो। वे तुम्हारे जीवन सर्वस्व हों।"

श्री गौर सुन्दर महाप्रेमाविष्ट हैया। प्रभु नित्यानन्द पदे दिल समर्पिया।।
नित्यानन्द श्रीजीवे कहये बार–बार। एइ मोर प्रभु होक सर्वस्व तोमार।।
(भ०र० १/७३६–७३७)

तबसे गौर–निताइकी स्वप्नदृष्ट मूर्तियाँ छायाकी तरह उनके आगे–पीछे बनी रहती। संसारके प्रति उदासीनताका भाव उनपर सदा छाया रहता। परिवारके प्राचीन ऐश्वर्यका लोप हो जानेपर भी, उनके पास अपने और परिवारके भरण–पोषणके लिए पर्याप्त धन था। पर उन्होंने अपने धन–सम्पत्तिकी ओर कभी मुड़कर नहीं देखा। वे अपनी माँ और अन्य लोगोंके मुखसे सुनते अपने दोनों पितृव्योंके त्याग और वैराग्यकी कहानी और उनका हृदय एक अपार्थिव पुलकसे बार–बार सिहर उठता। उनका दिव्य आकर्षण उन्हें अपनी ओर खीचता जाना पड़ता। वे उनके दर्शनके लिये उद्विग्न हो उठते। पर दर्शन तो दूर उनके सम्वादके लिए भी उन्हें निराश होना पड़ता, फिर भी उनकी छाप उनके ऊपर स्पष्ट दीखती। ऐसा जान पड़ता कि जैसे उन्होंने उस अल्पावस्थामें ही उनका अनुसरण करनेका संकल्प कर दिया हो।

'प्रेम–विलास में' वर्णन है कि माँसे अपने पितृव्योंके दैन्य और

डोर–कौपीन धारण कर वृन्दावनमें घर घर मधुकरी भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करने की बात सुन वे उनका पथानुसरण करने के लिए इतना बेचैन हो उठे कि बाक्‌लामें रहते हुए कैशोरावस्थामें ही उनके समान वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे। माँको यह देखकर चिन्ता हुई कि वे भी कहीं संसार त्यागकर वृन्दावनमें उनसे न जा मिलें। पर स्वयं धर्मपरायणा और भक्तिभाव सम्पन्न होनेके कारण उन्होंने इसमें कोई बादा न दी।

जीवके त्याग–वैराग्य, अखण्ड ब्रह्मचर्य और पवित्र भक्तिमय जीवनने उनकी सूक्ष्म बुद्धिपर धार रख उसे सूक्ष्मतर कर दिया। इसलिए 16/17 वर्षकी अवस्थामें ही स्थानीय चतुष्पाठीमें काव्य, व्याकरण, स्मृति प्रभृतिकी शिक्षा समाप्तकर वे वेदान्त आदि दर्शनशास्त्र पढ़ने के लिए व्यग्र हो उठे। साथ ही वृन्दावन जानेकी उनकी इच्छा भी प्रबल हो गयी।

गृह–त्याग

नवद्वीपसे बहुत से लोग पहले वृन्दावन जा चुके थे। उनके लिए भी कोई सुयोग मिलनेपर नवद्वीपसे वृन्दावन जाना आसान था। नवद्वीप उस समय विद्याका प्रधान केन्द्र भी था। इसलिए उन्होंने वेदान्त आदिके अध्ययनके छलसे नवद्वीप जाने का विचार किया। वे पहले कुछ आत्मीय स्वजनोंके साथ नौका द्वारा फतेयाबादके अन्तर्गत प्रेमभागवाले अपने घर गये। कुछ दिन वहाँ रुककर केवल एक नौकरको साथ ले चल पड़े नवद्वीपकी पदयात्रापर। स्वजनोंको उन्होंने पहले ही नौकासे वाक्‌ला वापस भेज दिया था। नवद्वीप जाते समय उनका नैष्टिक ब्रह्मचारीका वेष था। उनके हाथमें जपकी माला थी और कन्धेपर लटक रहा था भिक्षाका झोला। वे गृह छोड़कर जा रहे थे, उत्तर जीवनमें फिर कभी संसारमें लौटकर न आनेका दृढ़ संकल्प लिये।

नवद्वीपमें नित्यानन्द प्रभुके चरणों में

नवद्वीप पहुँचते ही सहसा उनका भाग्यसूर्य उदय हुआ। खड़दहसे नित्यानन्द प्रभु कई दिन पूर्व सदल–बल वहाँ आये थे और श्रीवास पण्डितके घर ठहरे हुए थे। मानो श्रीजीवपर कृपा करनेके उद्‌देश्यसे ही उन्होंने नवद्वीप की यात्रा की थी और उनके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। जीवको नवद्वीपमें पैर रख्तो ही यह शुभ संवाद मिला। वे भावविभोर अवस्थामें उलटे सीधे पैर रखते झट जा पहुँचे श्रीवास पण्डितके घर और लोट गये नित्यानन्द प्रभुके चरणोंमें।

रूप–सनातनके भ्रातुष्पुत्रको अपने चरणोंमें पड़ा देख नित्यानन्दका आनन्द समुद्र उमड़ पड़ा। उद्दण्ड नृत्य कीर्तन करते हुए उन्होंने अपना चरण उनके मस्तकपर रखा और आशीर्वाद दिया। उन्हें अपने साथ ले जाकर गौर–लीलाके चिन्हित स्थानों का दर्शन कराया।

महाप्रभुकी स्मृति से परिपूर्ण उनकी एक–एक लीलास्थलीके दर्शनकर जीव भाव–समुद्रमें खो गये। दूसरे दिन नित्यानन्द प्रभुसे हाथ जोड़कर

बोले—"प्रभु ! आपकी कृपा से महाप्रभुकी आदि लीलाके सभी स्थानोंके दर्शन कर लिये। अब आज्ञा दे, नीलाचल जाकर उनकी अन्त्य–लीला–स्थलियोंके दर्शन कर आने की। वहाँसे लौटकर मेरी इच्छा है आपके दासरूपमें आपकी चरण–छायामें रहकर साधन–भजन करनेकी। आप मुझे अंगीकार करनेकी कृपा करें।"

पर नित्यानन्द प्रभुको तरुण जीवके मुखारविन्दकी दिव्य कान्ति, तीक्ष्ण नासिका, प्रशस्त ललाटकी तेजस्विता और नेत्रोंकी भावमय उद्दीपना देख भूल न हुई उन्हें भविष्यके वैष्णव समाजके नायक के रूपमें पहचाननेमें। उन्होंने उन्हें प्रेमसे आलिंगन करते हुए कहा—

"शीघ्र ब्रजे करह प्रयान तोमार वंशे प्रभु दियाछेन सेई स्थान।"

(भ०र० १/७७२)

अर्थात् तुम्हारे वंशको प्रभुने वृन्दावनकी सेवाका अधिकार सौपा है। इसलिए तुम वृन्दावन जाओ। वही तुम्हारा प्रकृत कार्यक्षेत्र है। तुम्हारे पितृव्य रूप–सनातन महाप्रभुके आदेशसे वहाँ रहकर भक्ति धर्म का प्रचार कर रहे है। तुम जाकर उनकी सहायता करो। उनके पश्चात् तुम्हें ही महाप्रभु द्वारा प्रचारित वैष्णव धर्म के प्रचारका गुरुतर भार सम्हालना है, और तैयार करनी है उसकी दार्शनिक भित्ति। पर इस कार्यके लिए वेद वेदान्तका अध्ययन करना आवश्यक है। इसलिए वृन्दावन जानेसे पूर्व कुछ दिन काशीमें रहकर मधुसूदन वाचस्पतिसे वेदान्तकी शिक्षा ग्रहण करो।

काशीमें मधुसूदन वाचस्पतिसे वेदान्त अध्ययन

जीव काशी चले गये। मधुसूदन वाचस्पतिसे वेदान्त पढ़ने लगे। मधुसूदन वाचस्पति का उस समय काशी में प्रबल प्रताप था। वे सार्वभौम भट्टाचार्यके प्रियतम शिष्य थे। न्याय और वेदान्तके भारत विख्यात पण्डित सार्वभौम भट्टाचार्यका महाप्रभुसे साक्षात होने के पश्चात् मत–परिवर्तन हो गया था। वे भक्ति–सिद्धान्तके अनुसार वेदान्तका प्रचार करने लगे थे। उन्हींसे वेदान्त की शिक्षा ग्रहण कर मधुसूदन वाचस्पति काशी धाममें श्रेष्ठतम प्राचार्यके रूपमें प्रतिष्ठित हुए थे।

जीवकी अद्भुत मेधासे वाचस्पति प्रभावित हुए। प्रेमसे उन्हें वेदान्तका पाठ पढ़ाया। उन्नीस वर्ष की आयुमें उनके न्याय–वेदान्त शास्त्रमें अद्वितीय होनेकी ख्याति काशीमें चारों ओर फैल गयी—

"काशीते श्री जीवेर प्रशंसा सर्व ठाई।
न्याय वेदान्तादि शास्त्रे ऐछे केह नाइ।।"

(भ०र० १/११९)

वृन्दावन आगमन और दीक्षा

काशीमें वेदान्तका पाठ समाप्त करने के पश्चात् वे वृन्दावन चले गये। अनुमान किया जाता है कि वेदान्त पढ़नेके लिए वे काशीमें कम से कम दो वर्ष रहे होंगे। वृन्दावनमें उस समय स्वर्णिम युग था। भक्तिकी

गंगा अवाधगतिसे उमड़–घुमड़कर वह रही थी। उनके पितृव्य नव–स्थापित कृष्ण–भक्तिके साम्राज्यपर शासन कर रहे थे। कृष्ण के श्रीविग्रहोंकी स्थापना, कृष्ण–भक्ति–शास्त्रोंके निर्माण और कृष्ण–लीला सम्बन्धी स्थलियोंके आविष्कारका कार्य तीव्र गतिसे चल रहा था। रघुनाथभट्ट गोस्वामी, प्रबोधानन्द सरस्वती, गोपालभट्ट गोस्वामी, रधुनाथदास गोस्वामी, काशीश्वर और कृष्णदास कविराज आदि प्रधान–प्रधान चैतन्य महाप्रभुके परिकर वृन्दावन पहुँच चुके थे और विभिन्न प्रकारसे रूप सनातनके प्रचार–कार्यमें उनका हाथ बटा रहे थे।

जीवको भी इस कार्यमें सहयोग करनेके लिए नित्यानन्द प्रभुने वृन्दावन भेजा था। उन्हें प्राप्तकर रूप और सनातन अति प्रसन्न हुए। उन्हें ले जाकर सब महात्माओंसे उनका परिचय कराया, सबका आशीर्वाद दिलवाया। उनकी अवस्था इस समय केवल 19 वर्ष की थी। वे सबसे छोटे और रूप–सनातनके भ्रातुष्पुत्र होने के कारण तो सबके स्नेहभाजन थे ही, उन्हें अपने रूप, गुण, चरित्र, असाधारण पांडित्य, कृष्ण–भजन और वैष्णव सेवामें अदम्य–उत्साहके कारण सबको विशेषरूपसे प्रभावित करनेमें देर न लगी। शास्त्र–चर्चा हो या उत्सव अनुष्ठान सबमें वे सबसे आगे रहने लगे।

सनातन गोस्वामीके आदेशसे रूपगोस्वामीसे दीक्षा ले वे उनके पास रहकर उनकी सेवा करने लगे। वे उनके लिए विग्रह–सेवा की सामग्री जुटाते, सेवा–पूजामें उनकी सहायता करते, उनके भोजन कर लेनेपर उनका प्रसाद ग्रहण करते, उनके शयन करनेपर उनका पाद–सम्वाहन करते, उनके ग्रन्थ–रचनाके समय पोथी पत्र जुटाकर देते, आवश्यकता होनेपर विभिन्न ग्रन्थोंसे आवश्यक श्लोकोंको खोजकर देते और जब जिस प्रकार से आवश्यक होता ग्रन्थ रचनामें उनकी सहायता करते।

जीवगोस्वामी और वल्लभ भट्ट[1]

'भक्तिरत्नाकर' और 'प्रेमविलास' में उल्लेख है कि जब रूपगोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धुकी रचनामें लगे थे, दिग्विजयी श्रीवल्लभ भट्ट आये उनसे मिलने। उस समय जीव गोस्वामी उनके निकट बैठे पंखा कर रहे थे। रूप गोस्वामीने उन्हें आदर पूर्वक आसन दिया। कुछ वार्तालापके पश्चात् वल्लभ भट्ट भक्तिरसामृतसिन्धुके पन्ने उलटकर देखने लगे। उन्हें निम्नलिखित श्लोकमें 'पिशाची' शब्दका प्रयोग खटका–

---

१. श्रीसतीशचन्द्र मित्र और शंकरराय आदि कुछ लोगों का मत है कि यह वल्लभ भट्ट विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के श्रीपाद वल्लभाचार्य थे (दे. सप्त–गोस्वामी पृ. २१४; भारतेर–साधक, खण्ड ५, पृ. १६५)। ऐतिहासिक दृष्टि से श्रीपाद वल्लभाचर्य का जीव गोस्वामी से मिलन सम्भव जान पड़ता है। पर इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। श्रीपादवल्लभाचार्य का अन्तर्धान हुआ सेन् १५३१ (सम्वत् १५८७) में, मतान्तर से सन् १५३३ में (Dasgupta ; History of Indian Philosophy, Vol. IV, Cambridge, 1949, p-372) जीवन गोस्वामी संसार त्यागकर नवद्वीप होते हुए काशी पहुँचे सन् १५२८ में। दो वर्ष श्री मधुसूदन वाचस्पति से वेदान्त अध्ययन कर वृन्दावन आगमन का समय बिल्कुल निश्चित नहीं है। यदि उन्होंने गृह–त्याग एक–दो वर्ष बाद किया, या काशी में वेदान्त–अध्ययन के लिए दो वर्ष से अधिक रहे, तो उनका वृन्दावन–आगमन श्रीपादवल्लभचार्य के अन्तर्धान के पश्चात् ही हो सकता है।

'भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत?
(भ०र०सि० १/२/२२)

—जबतक भुक्ति—मुक्ति स्पृहारूपी पिशाची हृदयमें वर्तमान रहती है, तबतक भक्ति सुखका उदय होना सम्भव नहीं।'

उन्होंने 'पिशाची' शब्द श्लोकसे निकालकर इस प्रकार उसका संशोधन करने की बात कही—

"व्याप्नोति हृदयं यावद्भुक्ति—मुक्ति स्पृहाग्रह"

रूप गोस्वामीने उनके प्रति श्रद्धा और अपने दैन्यके कारण संशोधन सहर्ष स्वीकार कर लिया। जीवको उनका संशोधन नहीं जंचा। उन्हें एक नवागत व्यक्तिका गुरुदेव जैसे महापण्डित और शास्त्रज्ञकी रचनाका संशोधन करनेका साहस भी पण्डितोंके शिष्टाचारके प्रतिकूल लगा। क्रोधाग्नि उनके भीतर सुलगने लगी। पर गुरुदेव उस संशोधनको स्वीकार कर चुके थे, इसलिए वे उनके सामने कुछ न कह सके। उनके परोक्षमें उनसे तर्क द्वारा निपट लेने का निश्चय कर चुपचाप बैठे रहे। वे क्या जानते थे कि जिन्होंने संशोधन सुझाया है वे कोई साधारण व्यक्ति नहीं, एक दिग्विजयी पण्डित हैं।

थोड़ी देर बाद जब वल्लभ भट्ट जमुना स्नानको गये, तो वे भी उनके वस्त्रादि लेकर उनके पीछे पीछे गये। कुछ दूर जाकर क्रुद्ध और कठोर स्वरमें बोले—"श्रीमान्, आपने भक्तिरसामृतसिन्धुमें जो संशोधन सुझाया वह ठीक नहीं। गुरुदेवने केवल दैन्यवश उसे स्वीकार कर लिया है।"

पण्डित हक्का—वक्का से तरूणकी ओर देखते रह गये। कुछ अपने आपको सम्हालते हुए बोले—"क्यों भाई मुक्तिको पिशाची कहना तुम्हें अच्छा लगता है? मुक्ति बहुत से साधकोंकी काम्य—वस्तु और सिद्धोंकी चिरसंगिनी है, शोक—नाशिनी और आनन्ददायिनी है। उसकी पिशाची से तुलना करना अनुचित नहीं है?"

जीवने विनम्रतापूर्वक कहा—"आचार्य ! मुक्ति को पिशाची कहना अनुचित हो सकता है। पर उस श्लोकमें मुक्तिको पिशाची कहा ही कब गया है? पिशाची कहा गया है मुक्तिकी स्पृहाको, जो यथार्थ है। स्पृहा या वासना चाहे जैसी हो, उसका भक्तके हृदयमें कोई स्थान नहीं। यदि वह भक्तके हृदयमें प्रवेश कर जाती है, तो उसके भक्तिरसका शोषण कर लेती है और उसे उसी प्रकार अशान्त बनाये रहती है, जिस प्रकार पिशाची किसी मनुष्यके भीतर प्रवेश कर उसे अशान्त बनाये रखती है। शान्त तो केवल कृष्ण भक्त है, जो कृष्ण सेवाके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। भुंक्ति—मुक्तिकामी जितने भी हैं सब पिशाची—ग्रस्त व्यक्तिकी तरह ही अशान्त हैं। श्लोकमें पिशाची शब्दका प्रयोग किये बिना भी काम तो चल सकता था, पर उसके बगैर श्लोक का भाव इतने प्रभावशाली ढंगसे स्पष्ट

न होता। इसलिए 'पिशाची' शब्दका उसमें रहना ही ठीक है। आप........"।

जीव आवेशमें यह सब कहे जा रहे थे। पर आचार्यपादका ध्यान जमा हुआ था उनके पहले वाक्यपर ही। वे उसके परिपेक्षमें श्लोकको फिरसे परखते हुए मन ही मन कह रहे थे— "नवयुवक ठीक ही तो कह रहा है। श्लोकमें पिशाची मुक्तिकी स्पृहाको कहा गयाहै, न कि मुक्तिको। मेरा मन मुक्तिके प्रसंग मात्रमें 'पिशाची' शब्दके प्रयोगसे इतना उद्विग्न हो गया था कि 'स्पृहा' की ओर ध्यान ही नहीं गया। जीवकी बात काटते हुए वे बोले—"तुम ठीक कहते हो। श्लोकमें 'पिशाची' मुक्तिकी वासनाको ही कहा गया है। भक्तोंके लिए मुक्तिकी वासना पिशाची के ही समान है।"

प्रतिभाधर तरूण पण्डितकी सूक्ष्म दृष्टिकी मन ही मन सराहना करते हुए उन्होंने जमुना स्नान किया। स्नान के पश्चात् फिर गये रूप गोस्वामीकी कुटीपर। उल्लसित हो उनसे पूछा—"वह जो अल्पवयस्क पण्डित आपके पास बैठे थे, वे कौन थे? उनका परिचय प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही आपके पास लौटकर आया हूँ—

"अलप-वयस जे छिलेन तोमा-पाशे। ताँर परिचय हेतु आइनू उल्लासे।।"

(भ०र० ५/१६३७)

रूप गोस्वामीने कहा—"वह मेरा शिष्य और भतीजा है। अभी कुछ ही दिन हुए देशसे आया है।"

"बड़ा प्रतिभाशाली और होनहार है वह" उन्होंने श्लोकके संशोधनके कारण उसके रोष का सब वृतान्त कह सुनाया। अन्तमें कहा—"उसका दोष बिल्कुल नहीं था। भूल मेरी ही थी। मेरा ध्यान 'पिशाची' शब्दमें इतना उलझ गया था कि 'स्पृहा' का ध्यान ही न आया। अब मेरा अनुरोध है कि आप श्लोकको उसी प्रकार रहने दें। उसमें कोई परिवर्तन न करें।"

रूप गोस्वामीकी ताड़ना

बल्लभ भट्ट चले गये। रूपगोस्वामीके मन में एक अभूतपूर्व आलोड़न छोड़ गये। जैसे ही जीव जमुना—स्नानसे लौटकर आये, उन्होंने उनकी कड़ी भर्त्सना करते हुए कहा—

"मोरे कृपा करि भट्ट आइला मोर पाशे।
मोर हित लागि ग्रन्थ शुधिव कहिला।।
ए अति अलप वाक्य सहिते नारिला।
ताहे पूर्व देशे शीघ्र करह गमन।
मन स्थिर हइले आसिबा वृन्दावन।।

(भ०र० ५/१६४१-१६४३)

—भट्टजीने बड़ी कृपा की जो मेरे पास आये और मेरे हितके लिए मेरे ग्रन्थमें संशोधन करने को कहा। तुमसे उनकी इतनी बात भी सहन न हुई। इसलिए तुम यहाँ रहने योग्य नहीं। शीघ्र चले जाओ यहाँसे। यहाँ आना जब तुम्हारा मन स्थिर हो जाय।"

'प्रेम विलास' में इस विस्फोटक स्थितिका इस प्रकार वर्णन है–

**"श्री रूप डाकिया कहे श्रीजीवेर प्रति। अकाले वैराग्य वेश धरिले मूढ़मति।।
क्रोधेर उपरे क्रोध ना हइल तोमार। ते कारणे तोर मुख ना देखिब आर।।"[1]**

–रूप गोस्वामीने जीवको बुलाकर कहा–"अरे मूढ़ ! तू वैराग्यवेश के योग्य नहीं। तूने अपरिपक्व अवस्थामें ही वैराग्य धारण कर लिया। तुझे क्रोध आया। क्रोधके ऊपर क्रोध न आया? जा, यहाँ से वापस चला जा। मैं तेरा मुख भी नहीं देखना चाहता।"

जीव नवमस्तक हो चुपचाप सुनते रहे। अपने अपराधके गुरुत्वका बोध उन्हें होने लगा–"सचमुच क्रोधका त्याग किये बिना सर्वत्यागी वैरागी होना और श्रीकृष्णके चरणोंमें पूर्ण आत्मसमर्पण होना सम्भव नहीं।"

शोक और अनुतापकी अग्नि उनके अन्तरमें धूं–धूंकर जलने लगी। गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर क्रन्दन करते करते उन्हें प्रणाम कर वे वहाँ से चल दिये।

निर्जनमें कृच्छ्र साधना

जीव वृन्दावनसे बहुत दूर निर्जन वन प्रान्तमें एक पर्णकुटी निर्माण कर उसमें रहने लगे। आरम्भ किया कठोर वैराग्यपूर्ण कृच्छ् साधनाका जप–ध्यानमय जीवन। संकल्प किया कि जबतक गुरुदेव के मनोभावके अनुकूल अपने जीवनमें आमूल परिवर्तन न कर लेंगे, तबतक उस निर्जन कुटी को छोड़ लोकालयमें प्रवेश न करेंगे।

वे भिक्षा के लिए भी न जाते। दूर ग्रामसे आकर यदि कोई कुछ भिक्षा दे जाता तो उसे ले लेते। नहीं तो कई कई दिनतक उपवासी रहते या जमुना जल पीकर ही रह जाते। कभी भिक्षामें प्राप्त गेहूँका चूर्णकर उसे पानी में मिलाकर पी जाते–

बहु यत्ने किंचित् गोधूमचूर्ण लैया। करये भक्षण ताहा जले भिजाइया।।
(भ०र० ५/१६५२)

इस प्रकार जीवन निर्वाह करते बहुत दिन हो गये। शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया। एक दिन अकस्मात् सनातन गोस्वामी उन्हें खोजते हुए उधर आ निकले। उनकी दशा देख उनका हृदय द्रवित हो गया। वृन्दावन जाकर रूप गोस्वामीसे उन्हें बुला लेने का अनुरोध करना चाहा। पर सहसा इस सम्बन्धमें कुछ न कहकर उनसे पूछा–

"तुम्हारे भक्तिरसामृतसिन्धुका काम कहाँतक हो पाया है?"

"काम तो बहुत कुछ हो गया है। पर अबतक कभी का समाप्त हो लेता यदि जीव होता। उसे मैंने किसी अपराधके कारण अपने पास से हटा दिया है", रूप गोस्वामीने उत्तर दिया।

सनातन गोस्वामीने अवसर पाकर तुरन्त कहा–"मैं सब जानता हूँ। उसे मैं देखकर आया हूँ। अनाहार, अनिद्रा, उपवास और कठोर

---

१. 'सप्त गोस्वामी' ग्रन्थ में पृष्ठ २१५ पर 'प्रेम-विलास' पृष्ठ २२६ से उद्धृत।

तपस्याके कारण उसका शरीर इतना जर्जर हो गया है कि उसकी ओर देखा भी नही जाता। बस प्राण किसी प्रकार जाने से रूक रहे हैं। तुमने आजन्म महाप्रभुके 'जीवे दया नामे रूचि' के सिद्धान्तका पालन किया है। क्या अपने ही जीवको अपनी दया से वंचित रखोगे?"

—रूप गोस्वामीने गुरुवत् ज्येष्ठ भ्राताका इंगित प्राप्त कर जीवको क्षमा करने का निश्चय किया। उसी समय किसीके हाथ पत्र भेज़कर उन्हें अपने पास बुला लिया।

जीव का प्रायश्चित तो हो ही चुका था। उनके स्वभावमें मनोवाञ्छित परिवर्तन भी हो गया था। गुरुदेवकी करुणा प्राप्तकर उन्होंने नया जीवन लाभ किया।

वास्तवमें देखा जाय तो यह सारी घटना प्रभुकी प्रेरणासे ही हुई थी। इसमें दोष किसीका नहीं था। इसके द्वारा प्रभुको भक्त–साधकोंको हर प्रकारकी कामना वासना यहाँ तक कि मुक्तितककी वासनासे सावधान करना था। साथ ही वल्लभभट्टके संशोधन, जीव गोस्वामीके क्रोध और रूप गोस्वामीके शासन द्वारा भक्तोंके कल्याणके लिए आदर्श स्थापित करना था वल्लेभभट्टसे भूल करबाकर और उसे स्वीकार करवाकर उनके औदार्यका, जीवसे संशोधनका प्रतिवाद करवाकर गुरु–मर्यादाकी रक्षा करनेका, रूप-गोस्वामीसे संशोधन स्वीकार करवा और जीवको दण्ड दिलवाकर उनके दैन्यका।

इस सम्बन्धमें यह विशेषरूपसे उल्लेखनीय है कि जीव गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धु की अपनी टीकामें उक्त श्लोकी व्याख्या करते समय वल्लभाभट्ट के संशोधित पाठकी भी सराहना की है। उन्होंने लिखा है–"व्याप्नोति हृदयं यावद्भुक्ति–मुक्ति स्पृहाग्रह" इति पाठान्तरन्तु सुश्लिष्टम्।

राधादामोदरकी सेवा

सन् १५४१ में भक्तिरसामृतसिन्धुकी रचना समाप्त हुई। श्रीसतीशचन्द्र मित्रने लिखा है कि इसके एक वर्ष बाद **सन् १५४२** में रूप गोस्वामीने जीवको पृथकरूपसे सेवा करनेके लिए राधादामोदरकी जुगलमूर्ति प्रदानकी। भक्तिरत्नाकरमें उद्घृत साधन दीपिकाके एक श्लोकमें इसका उल्लेख इस प्रकार है–

राधादामोदरो देवः श्रीरूपेण प्रतिष्ठितः।
जीवगोस्वामिने दत्तः श्रीरूपेण कृपाब्धिना।।

(भ०र० ४/२९०)

अर्थात् कृपाके सागर श्रीरूप गोस्वामीने श्रीराधादामोदरदेवको प्रकट कर सेवार्थ जीव गोस्वामीको प्रदान किया।

भक्तिरत्नाकरमें यह भी उल्लेख है कि राधादामोदरने स्वप्नमें रूप गोस्वामीको उन्हें जीव गोस्वामीको समर्पण करनेकी आज्ञा दी थी। रूप गोस्वामीने स्वप्नमें देखी मूर्तिके समान ही मूर्ति तैयार करवाकर जीवको दी थी। इससे स्पष्ट है कि राधादामोदर स्वयं ही जीव गोस्वामीकी प्रेम–सेवा

के लोभसे उनके पास आये थे। तभी वे उनसे तरह–तरह के खाद्य माँगते थे और जीव उन्हें खाते देखते थे–

मध्ये मध्ये भक्ष्य द्रव्य मागे श्रीजीवेरे। श्रीजीव देखये प्रभु भुञ्जे जे प्रकारे।।

(भ०र० ४/२९३)

एक बार उन्होंने उन्हें बुलाकर हंस–हंसकर वंशी बजाते हुए अपने भुवन मोहनरूपके दर्शन दिये। उसे देख जीव मूर्च्छित हो गये। चेतना आने पर उनके हृदय में आनन्द समा नहीं रहा था और दोनों नेत्रोंसे बहती अश्रुधार उनके वक्षको सिक्त कर रही थी–

एक दिन बाजाय वांशी हाँसिया हाँसिया।

श्रीजीवे कहये–"मोरे देखह आसिया।।"

कैशोर बयस, वेश भुवन मोहन। देखितेइ श्रीजीव हइल अचेतन।।

चेतन पाइया हिया आनन्दे उथले। भासये दीघल टूटी नयनेर जले।।

(भ०र० ४/२९४-२९६)

सनातन गोस्वामीको श्रीकृष्णने जो गोवर्द्धनशिला प्रदान की थी, वह भी उनके अप्राकटयके पश्चात् जीव गोस्वामी राधादामोदरके मन्दिरमें ले आये थे। वह शिला आज भी वहाँ वर्तमान है।

कुछ दिन बाद राधादामोदरके मूल विग्रहको औरंगजेब के भयसे जयपुर ले जाया गया, जहाँ वे अब है। राधादामोदरके मन्दिरमें उनकी जगह एक प्रतिभू विग्रहकी स्थापना हुई, जिनकी सेवा श्रृंगारवटके दक्षिण पूर्व रूप गोस्वामीकी भजन कुटी के निकट राधादामोदर के वर्तमान मन्दिरमें अब होती है।

इस मन्दिरका निर्माण हुआ सन् १५५८ के बाद जब रूप गोस्वामी अप्रकट हो चुके थे। यह सूचना वृन्दावन शोध संस्थानमें सुरक्षित एक दस्तावेजकी नकलसे मिलती है, जिसके अनुसार जीव गोस्वामीने इस मन्दिरके लिए जमीन १५५८ में आलिषा चौधरी नामके एक व्यक्तिसे खरीदी थी।

मन्दिरके एक प्रकोष्ठमें जीव गोस्वामीने बड़े कष्ट से संग्रह किये हुए बहुमूल्य प्राचीन ग्रन्थोंका एक भण्डार रख छोड़ा था, जिसका दुर्भाग्यसे चिह्न भी अब वहाँ नहीं है। इस ग्रन्थ भण्डारका प्रमाण स्वयं जीव गोस्वामीका संकल्प पत्र (Will) है, जो शोध संस्थान वृन्दावनमें सुरक्षित है। उसमें इसका विशेष रूपसे वर्णन है। यह संकल्प पत्र भी उस भण्डारसे ही प्राप्त हुआ था।

व्रजमण्डलका अधिनायकत्व

12/13 वर्ष बाद वृन्दावनके आकाशपर छा गयी दुर्दैवकी कालिमा। सनातन गोस्वामी नित्यलीलामें प्रवेश कर गये। रघुनाथभट्ट और रूप गोस्वामीने शीघ्र उनका अनुगमन किया। काशीके भारतविख्यात संन्यासी प्रकाशानन्द सरस्वती, जो महाप्रभु की कृपालाभ करनेके पश्चात्

प्रबोधानन्द सरस्वती के नाम से वृन्दावनमें वास कर रहे थे, पहले ही अन्तर्धान हो चुके थे। महाप्रभुके प्रधान परिकरोंमें जो बच रहे उनमें जीवको छोड़ और सब—लोकनाथ गोस्वामी, गोपालभट्ट गोस्वामी, रघुनाथदास गोस्वामी और चैतन्यचरितामृत के रचयिता कृष्णदास कविराज आदि बहुत वृद्ध हो जानेके कारण लोकान्तरयात्राकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

ऐसे में महाप्रभु द्वारा प्रचारित भक्ति—धर्मकी जिस विजय पताकाको रूप सनातनने फहराया था, उसे ऊँचा बनाये रखनेका भार आ पड़ा जीव गोस्वामीपर। उन्होंने सब प्रकार से इसके योग्य अपने को सिद्ध किया। उनके पाण्डित्यकी ख्याति पहले ही चारों ओर फैल चुकी थी। जो दिग्विजयी पण्डित आते वृन्दावन शास्त्रविद् वैष्णवोंके साथ तर्क—वितर्क करने उन्हें वैष्णव—समाजके मुखपात्र श्रीजीव गोस्वामीके सम्मुख जाना पड़ता। उन्हें उनके साधनबल और असाधारण पाण्डित्यके कारण निस्प्रभ होना पड़ता।

बहुत से भक्त और जिज्ञासु आते भक्ति—धर्ममे दीक्षा ग्रहण करने या भक्ति—शास्त्रकी शिक्षा ग्रहण करने। सबकी जीव गोस्वामीके चरणों में आत्म समर्पण करना होता। सबको वहाँ आश्रय मिलता।

बहुत से लेखकों और टीकाकारों की जीव गोस्वामीका मुखापेक्षी होना पड़ता। साधनतत्वकी मीमांसा हो या किसी शास्त्रकी व्याख्या, जीव गोस्वामीके अनुमोदन बिना उसे वैष्णव—समाजमें मान्यता प्राप्त करना असम्भव होता।

इसलिए रूप सनातनके अन्तर्धानके पश्चात् जीव गोस्वामीका व्रज मण्डलके अधिनायकके रूपमें उभर आना स्वाभाविक था।

जीव और अकबर बादशाह

ग्राउसने लिखा है कि अकबर बादशाहने गौड़ीय गोस्वामियोंसे आकृष्ट हो सन् १५७३ में वृन्दावन में उनसे भेंट की।[1] सनातन गोस्वामीके चरित्र (पृ०१०३) में हमने ग्राउसके लेखको उद्धृत किया है।

कुछ लोगोंका मत है कि अकबर बादशाहकी भेंट सनातन गोस्वामीसे हुई,[2] कुछ का मत है कि उनकी भेंट जीव गोस्वामीसे हुई।[3] हम कह चुके है कि सनातन गोस्वामीसे अकबर बादशाहकी भेंटका होना सम्भव नहीं था, क्योंकि उनका अन्तर्धान हो चुका था १५७३ से बहुत पहले ही।

१५७३ से पूर्व रूप और रघुनाथ भट्ट का भी अन्तर्धान हो चुका था। उस समय गौड़ीय गोस्वामियोमें वृन्दावनमें वर्तमान थे—लोकनाथ, भूगर्भ, जीव और कृष्णदास कविराज आदि। अकबरको इन्हीं का आकर्षण हो सकता था। पर जीव गोस्वामीकी उस समय व्रजमण्डलके अधिनायक के रूपमें ख्याति फैल चुकी थी। इसलिए गोस्वामियोके प्रतिनिधि— स्वरूप

१. District Memoirs of Mathura, 3rd Ed.)p.241)

२. हरिदास : गौड़ीय वैष्णव साहित्य, परिशिष्ट, पृ.९०

३. सप्तगोस्वामी, पृ० १७९

श्रीजीवसे ही उनकी भेंटकी बात यथार्थ जान पड़ती है।

जीव गोस्वामीके प्रति अकबर की श्रद्धाका प्रमाण वृन्दावन शोध संस्थानमें सुरक्षित वह फरमान भी है, जिसके द्वारा उन्होंने जीव गोस्वामीके नाम गोविन्ददेव की सेवाके लिए १३० बीघा जमीन भेंट की थी। अकबर बादशाह के जीव गोस्वामीके प्रति आदरभाव और औदार्यपूर्ण व्यवहारके कारण ही आज भी वृन्दावनमें जितनी भू सम्पत्ति गोविन्देदेवकी है उतनी और किसी ठाकुरकी नहीं है। गोविन्ददेव वृन्दावनके राजा कहलाते हैं।

जीव और मीराबाई

जीव गोस्वामीके साथ मीराबाई के साक्षात्की कथा प्रसिद्ध है। प्रियादासने भक्तमाल की टीकामें इसका उल्लेख इस प्रकार किया है–

वृन्दावन आई, जीव गुसाईजीसे मिली झिली,
तिया मुख देखिवे पन लै छुटायौ है।

मीराबाई आई जीव गोस्वामीके दर्शन करने। जीव गोस्वामीके किसी शिष्य ने उनसे कहा–"वे स्त्रीका मुख नहीं देखते।" मीराबाईने उत्तर दिया–"मैं तो जानती थी कि वृन्दावनमें गिरिधरलाल ही एकमात्र पुरूष है, और सब स्त्री हैं। मैं नहीं जानती थी कि यहाँ जीव गोस्वामी भी एक पुरूष है, जो स्त्रियोंका मुख नही देखते।" जीव गोस्वामीने जब कुटियाके भीतरसे ही यह सुना तो प्रसन्न हो बाहर निकल आये और मीराबाईसे मिले।

जीव और माँ जाह्नवा

भक्तिरत्नाकरमें जीवके साथ श्रीनित्यानन्दप्रभु की पत्नी माँ जाह्नवाके साक्षात्कारका भी उल्लेख है। जह्नवाका वृन्दावन गमन खेतरी उत्सवके पश्चात् सन् १५७६-७७ के आस पास माना जाता है। वे जब वृन्दावन गयी तो जीव गोस्वामीने उन्हें घूम–घूमकर व्रजमण्डलके दर्शन कराये। उनकी आज्ञासे वृहद्भागवतामृतादि रूप–सनातनके कुछ ग्रन्थ भी पढ़कर सुनाये, जिन्हें सुन वे इतना भावविह्वल हो गयीं कि उन्हें अपने आपको सम्हालना दुष्कर हो गया–

सुनिते गोसाईर ग्रन्थ उत्कन्ठित मन। श्रीजीव गोस्वामी कराइलेन श्रवण।।
वृह्द्भागवतामृतादिक श्रवणेते। हइला विह्वल प्रेमे नारे स्थिर हैते।।
(भ०र० ११/२०१-२०२)

ग्रन्थ रचना

जीव गोस्वामीजैसे तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न और मेधावी थे, वैसे ही सुयोग्य और भारत विख्यात पण्डितोंसे शास्त्राध्ययन करनेका उन्हें सुअवसर प्राप्त हुआ था। सनातन और रूपका पाण्डित्य, कवित्व और भक्ति–शास्त्रोंका सम्यक् ज्ञान उन्हें पैतृक सम्पत्तिके समान उनसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। ग्रन्थ रचना–काल में उनकी सहायता करते समय भक्तिके क्षेत्रमें उनके शीर्ष स्थानीय ग्रन्थोंका हार्द उन्हें हस्तामलकवत् उपलब्ध हुआ था। उनका जो कार्य बाकी रह गया था उसे पूरा करने के लिए वे सब प्रकार

से उपयुक्त थे। उनका सारा जीवन बीत गया था कृष्ण–लीला, रसतत्व वैष्णव–आचार और भक्तिपथमें विधि–निषेध सम्बन्धी ग्रन्थोंकी रचना द्वारा वैष्णवमतकी प्रतिष्ठा करनेमें। पर वैष्णवमतकी प्रतिष्ठा दृढ़ रूपसे उसकी दार्शनिक भित्ति सुदृढ़ किये बिना नहीं हो सकती थी। इस कार्य के लिए उनके पास अवकाश न रहा। इसलिए उन्होंने यह कार्य सौंपा जीव गोस्वामीको। उन्होंने षट्संदर्भकी रचना कर जिस दक्षता से इसे सम्पन्न किया, उससे वैष्णव धर्म जितना सम्पन्न और सुदृढ़ हुआ, उतना पहले कभी नहीं हुआ था।

सन्दर्भोंके अतिरिक्त उन्होंने और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की, अनेकोंका संकलन किया, अनेकों की व्याख्या की। उन सबका न तो मुद्रण हुआ है, न सब उपलब्ध है। कुछके प्राचीन ग्रन्थों में नाम मात्र देखने को मिलते है।

जीव गोस्वामीके शिष्य कृष्णदास अधिकारी उनके ग्रन्थों की एक तालिका छोड़ गये है।, जिसके आधारपर नरहरि चक्रवर्तीने भक्तिरत्नाकर (१/८३३-८४२) में एक तालिका प्रस्तुत की है। कृष्णदासने अपनी तालिकाके अन्तमें 'इत्यादि' शब्द जोड़ दिया है, जिससे स्पष्ट है कि उस तालिकाके अतिरिक्त और भी ग्रन्थ है, जिनका उसमें नाम नहीं है। दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ, जिन्हें हम जानते है, उसमें छोड़ दिये गये है। वे हैं 'लघुतोषणी' और 'सर्वसम्वादिनी'।

सतीशचन्द्र मित्रने उपरोक्त तालिकाके आधारपर जीव गोस्वामीके ग्रन्थोंको इस प्रकार श्रेणी–विभक्त किया है–

व्याकरण ग्रन्थ-(1) हरिनामामृत व्याकरण, (2) सूत्र–मालिका, (3) धातुसंग्रह।

संग्रह और स्तव-ग्रन्थ-(1) कृष्णार्च्चादीपिका, (2) गोपाल विरूदावली, (3) श्रीमाधव–महोत्सव, (4) श्रीसंकल्प–कल्पवृक्ष, (5) भावार्थचम्पू, (6) रसामृत शेष, (7) पद्मपुराणोक्त श्रीकृष्ण पद चिह्न और (8) श्रीराधिका कर–पद्म–चिह्न।

लीला ग्रन्थ-श्रीगोपालचम्पू (पूर्व और उत्तर भाग)।

टीका ग्रन्थ-(1) ब्रह्मसंहिताकी टीका, (2) गोपालतापनी उपनिषद्की टीका, (3) भक्तिरसामृतसिन्धुकी ('दुर्गम संगमनी') टीका, (4) उज्ज्वल नीलमणिकी (लोचन–रोचनी) टीका, (5) योगसारस्तबकी टीका एवं (6) अग्निपुराणोक्त श्रीगायत्री–विवृत्ति व भाष्य।

सन्दर्भ व विचार ग्रन्थ-(1) तत्व–सन्दर्भ, (2) भगवत–सन्दर्भ, (3) परमात्म–सन्दर्भ, (4) श्रीकृष्ण–सन्दर्भ, (5) भक्ति–सन्दर्भ और (6) प्रीति–सन्दर्भ।

सर्वसम्वादिनीको पृथक ग्रन्थ न मानकर प्रथम चार ग्रन्थोंकी अनुव्याख्या या प्रपूर्ति मानना चाहिए।

हम यहाँ जीव गोस्वामीके मुख्य–मुख्य ग्रन्थोंका कुछ परिचय

देनेकी चेष्टा करेंगे।

हरिनामामृत व्याकरण–यह एक अद्‌भुत ग्रन्थ है। इसका पाठ करते समय पाठकोंको हरिनामामृत पान करनेका अवसर मिलता है। इसके मंगलाचरण श्लोकमें जीव गोस्वामीने लिखा है कि जिस प्रकार श्रीकृष्णकी उपासना करनेवाले भक्त हरिनामकी मालाकी सहायतासे नाम जप करते हैं, उसी प्रकार मैंने इस व्याकरणमें सूत्रोंकी सहायता से भगवन्नामका समूहको इस प्रकार गांथा है कि इसके पाठके साथ–साथ भगवन्नामका उच्चारण या स्मरण होता है। सकेत, परिहास, पादपूरण या अनायास हरिनामलेनेसे भी समस्त पापोंका नाश होता है। इसलिए इस व्याकरणका अन्य व्याकरणोंकी अपेक्षा विशेष महत्व है।

'सूत्रमालिका' और 'धातुसंग्रह' स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर हरिनामामृत व्याकरणके ही दो अध्याय हैं।

षट्–सन्दर्भ–षट् सन्दर्भ के अन्तर्गत पृथक–पृथक छय सन्दर्भ हैं–तत्व, भगवत्, परमार्थ, श्रीकृष्ण, भक्ति और प्रीति। इसलिए इसे षट्–सन्दर्भ कहते हैं। यह सभी सन्दर्भ श्रीमद्भागवतकी तत्वव्याख्या स्वरूप हैं, इसलिए इन्हें 'भागवत–सन्दर्भ' कहते हैं।

ग्रन्थके मंगलाचररमें जीव गोस्वामीकी उक्ति है–"भगवानका तत्व प्रकाशित करने के लिए रूप सनातनने मुझे इस ग्रन्थकी रचनामें प्रवृत्त किया है। वृद्ध वैष्णादि द्वारा रचित ग्रन्थोंका उनके किसी दाक्षिणात्य भट्ट बन्धुने सार संकलन कर एक ग्रन्थ प्रणयन किया है, जो कहीं–कहीं खण्डित है, कहीं क्रमानुसार है और कहीं बिना किसी क्रम के। उसी ग्रन्थकी पर्यालोचना कर क्षुद्र जीवने उसे क्रमानुसार लिखा है।"

वृद्धवैष्णवोंसे जीव गोस्वामी का अभिप्राय श्रीमन्मध्वाचार्य; श्रीधर स्वामी आदि प्राचीन वैष्णवाचार्यों से है और दाक्षिणात्य भट्ट बन्धुसे उनका अभिप्राय श्रीपाद गोपालभट्ट गोस्वामीसे है, जैसा कि बलदेव विद्याभूषणने तत्व–सन्दर्भकी टीकामें कहा हैं।

इससे स्पष्ट है कि मूलरूपसे इस ग्रन्थका प्रणयन किया श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने। उसे पूर्णकर क्रमबद्ध किया और उसकी पर्यालोचना कर उसे अन्तिम रूप दिया श्रीजीव गोस्वामीने। श्रीजीवने प्रत्येक सन्दर्भके आरम्भमें यह लिखकर इस बातको दोहराया है–

तस्याद्यं ग्रन्थालेख्यं क्रान्तव्युत्क्रान्त खण्डितम्।
पर्यालाच्याय पर्यायं कृत्वा लिखित जीवकः।।

जीव गोस्वामी द्वारा मंगलाचरणमें गोपालभट्ट गोस्वामीका नाम न लिखे जाने और केवल रूप सनातनके बन्धु दाक्षिणात्य भट्ट लिखकर उनका संकेत किये जानेका कारण यह हो सकता है कि उन्होंने दैन्यवश अपना नाम लिखने के लिए जीव गोस्वामीको उसी प्रकार निषेध कर दिया हो, जिस प्रकार उन्होंने चैतन्य–चरितामृतके लेखकको अपने सम्बन्ध में

कुछ भी लिखनेका निषेध किया था।

तत्व–सन्दर्भ–इस सम्बन्धमें जीव गोस्वामीने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि, जितने भी प्रमाण हैं, उनमें से केवल शब्द प्रमाणको ग्रहण किया है, बाकी सबको दोषयुक्त ठहराया है। शब्द प्रमाणमें भी श्रीमद्भागवतका श्रेष्ठत्वं सिद्ध किया है। उसे ब्रह्मसूत्रका व्यासदेव द्वारा स्वरचित भाष्य माना है। इसलिए उन्होंने ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी पृथक्‌रूपसे रचनाका प्रयोजन अस्वीकार करते हुए भागवत सन्दर्भकी श्रीमद्भागत्के ही भाष्यरूपमें रचना की है।

भागवत सन्दर्भ–इस सन्दर्भमें परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन किया गया है। परब्रह्म अद्वय है, अर्थात् स्वजातीय, विजातीय और स्वगत भेदरहित है। जीव और जगत् उसीकी शक्ति का परिणाम है। उसकी अनन्त शक्तियाँ हैं, जिनमें तीन प्रधान हैं–चित्–शक्ति या स्वरूप–शक्ति, जीव–शक्ति और माया–शक्ति। चित्–शक्तिका प्रकाश है उसके धाम, परिकर और लीलादि, जीव–शक्तिका प्रकाश है जीव, और माया–शक्तिका प्रकाश है जगत्।

ब्रह्म की स्वरूप–शक्तिके विकास–क्रमके अनुसार उसके अनन्त रूप हैं, जिनमें तीन मुख्य हैं–ब्रह्म, परमात्मा और भगवान। ब्रह्ममें स्वरूप–शक्तिका न्यूनतम विकास है, केवल उतना ही, जितना सत्तामात्रकी रक्षाके लिए आवश्यक है। इसलिए उसे केवल सतरूप कहते हैं। उसमें ऐसा कोई विशेषत्व नहीं, जो अनुभव में आ सके। इसलिए उसे निर्विशेष कहते हैं। परमात्मामें स्वरूप–शक्ति का विकास ब्रह्मकी अपेक्षा अधिक है। इसलिए वह मूर्त है। श्रुतियाँ उसे अगुष्ठ–प्रमाण कहती हैं। वह अन्तर्यामी रूपसे सब जीवोंके अन्तःकरण में विद्यमान है।

भगवान्‌में स्वरूप शक्तिका पूर्णतम विकास है। ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्यकी उनमें पूर्ण अभिव्यक्ति है। वे रसस्वरूप हैं। उनके भी वासुदेव, राम, नारायण, नृसिंह आदि अनेक रूप हैं, जिनमें उनके ऐश्वर्य, माधुर्यादिके विकासक्रमका तारतम्य हैह। पर उनका श्रीकृष्णरूप ही सर्वश्रेष्ठ है। वे स्वयं, भगवान् हैं। अन्य भगवद्–स्वरूप उनके अंश और कला हैं।

परमात्म–सन्दर्भ –इसमें परमात्माके जीव और प्रकृतिके साथ सम्बन्धकी आलोचना की गयी है। परमात्मा परब्रह्मका वह अंश है, जिसके द्वारा वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी सृष्टि आदि का कार्य करता है और उनमें व्याप्त रहकर उनका संचालन करता है।

परमात्माका सम्बन्ध केवल जीव शक्ति और माया–शक्तिसे है। जीव शक्तिको तटस्था–शक्ति कहते हैं, क्योंकि वह न तो स्वरूप–शक्ति के अन्तर्भुक्त है, न माया–शक्तिके। जीव इसी शक्तिका परिणाम है। वे उसी प्रकार भगवान् के अंश हैं, जिस प्रकार स्फुलिंग अग्निके।

माया–शक्तिको बहिरंगाा शक्ति कहते हैं। इसकी परब्रह्मके स्वरूपमें स्थिति नहीं है। यह अचेतन और अन्धकारमय है। इसका भगवान्‌से उसी

प्रकार सम्बन्ध है, जिस प्रकारका धूम्रका अग्निसे। जगत् इसीका परिणाम है।

जीव और जगत्का ब्रह्मसे अचिंत्य–भेदाभेदका सम्बन्ध है।

श्रीकृष्ण-सन्दर्भ-इस सन्दर्भमें जीव गोस्वामीने श्रीमद्भागवतके 'एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' श्लोक के अनुसार सिद्ध किया है कि कृष्ण अवतार नहीं अवतारी हैं। अन्य सभी अवतार उनके अंश है। कृष्णके धाम, परिकर, लीलादिका भी उन्होंने इसमें विस्तारसे वर्णन किया है।

भगवद्धाम मायातीत है। पर जब भगवान् भूमण्डलपर अवतीर्ण होते हैं, तब पहले उनके धाम का अवतरण होता है। इस प्रकार भगवद्धामके दो प्रकाश है–प्रकट प्रकाश और अप्रकट प्रकाश। अप्रकट प्रकाश भी दो प्रकारका है–गोलोक अर्थात् वैकुण्ठके ऊपर स्थित अप्रकट प्रकाश और पृथ्वीपर स्थित अप्रकट प्रकाश। गोलोकके अन्तर्मण्डलको वृन्दावन कहते हैं।

भगवान्की लीला भी दो प्रकारकी हैं–प्रकट लीला ओर अप्रकट लीला। जब लीला ब्रह्माण्डमें गोचरीभूत नहीं होती, तब उसे अप्रकटलीला कहते हैं। जब भगवान्की इच्छासे लीला ब्रह्माण्डमें गोचरीभूत होती है, तब उसी लीलाको प्रकट लीला कहते है। प्रकटलीलामें प्राकृत जगत्के जीवोंके समान श्रीकृष्णका जन्म होता है। जन्मके पश्चात् शैशव, वाल्य, कौमार, पोगण्ड और कैशोरावस्थाका क्रम चलता है। अप्रकट लीलामें कृष्ण नित्य–किशोर है। इसलिए बहुत सी मधुरलीलाएं, जिसका रसास्वादन श्रीकृष्णको प्रकट लीलामें होता है, अप्रकटलीलामें सम्भव नहीं है।

भगवान्के परिकर दो प्रकार के है–नित्य सिद्ध और साधन–सिद्ध। नित्य सिद्ध परिकर भगवान् या उनकी चिच्छक्तिके ही प्रकाश विशेष है। उनका सेवाभाव स्वयं सिद्ध है। श्रीकृष्णके परिकर हैं नन्द–यशोदा, वसुदेव –देवकी, व्रजकी गोपियाँ, द्वारकाकी महिषियाँ, व्रजके गोप और द्वारका–मथुराके यादवगण। नन्द–यशोदा का श्रीकृष्णके प्रति वात्सल्यभाव अनादिकालसे स्वयं–सिद्ध है, जन्मजात नहीं। इसी प्रकार अन्य परिकरोंका अपना–अपना भाव भी अनादिकालसे स्वयं–सिद्ध है।

व्रजके गोप और द्वारका–मथुराके यादवगण श्रीकृष्णके आविर्भाव विशेष है। व्रजकी गोपियाँ और द्वारका–मथुराकी महिषियाँ स्वरूप–शक्तिकी वृत्ति विशेष हैं।

स्वरूप–शक्तिकी तीन वृत्तियाँ है–संधिनी, संवित और ह्लादिनी, जो क्रमशः भगवान्के सत्, चित् और आनन्द अंशोसे सम्बन्धित है। संधिनीसे संवित और संवित से ह्लादिनी श्रेष्ठ है। ह्लादिनी की ही वृत्ति है भक्ति और भक्तिकी परमघनीभूत मूर्ति हैं राधा।

श्रीकृष्ण रसस्वरूप हैं। रस आस्वाद्य है। जो आस्वाद्य है वही मधुर है। इसलिए रसस्वरूप श्रीकृष्ण माधुर्य स्वरूप हैं। माधुर्य ही उनकी

भगवत्ताका सार है। उनका ऐश्वर्य उनके माधुर्य से पूर्णतः आच्छादित है।

श्रीकृष्णका माधुर्य असीम है, राधाका प्रेम असीम है। असीम होते हुए भी कृष्ण का माधुर्य राधा के प्रेमसे और राधाका प्रेम कृष्णके माधुर्य से उच्छवसित होता है। इसीलिए श्रीकृष्णका माधुर्य असीम होते हुए भी निरन्तर वर्धमान होनेके कारण नित्य नवीन है।

रसस्वरूप श्रीकृष्ण सर्वोत्कृष्ट भक्तिरसका आस्वादन करने के लिए सब प्रकार से स्वतन्त्र होते हुए भी भक्तोंके अधीन हैं।

भक्ति-सन्दर्भ-इसमें भक्तिके स्वरूप, प्रकार, अंग और सोपानादिका वर्णन किया गया है। भक्ति है ईश्वरमें परानुरक्ति। यह जीवकी अपनी शक्ति नहीं, भगवान्की ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति है। गुणातीत ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति होनेके कारण यह निर्गुण हैं, प्रपञ्चातीत है, भगवान् इसे जीवके चित्तमें निक्षिप्त कर उसे आनन्दित करते हैं और स्वयं भी आनन्दित होते हैं।[1] भक्त्यानन्द भगवान्के स्वरूपानन्दसे भी श्रेष्ठ है।

भक्ति कर्म, ज्ञान और योगसे श्रेष्ठ है। भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थामें ज्ञान और योग सहायक हैं, क्योंकि वे सांसारिक विषयोंकी कामनासे मुक्त हैं। भक्तिकी उच्चतर अवस्थामें वे बाधक हैं, क्योंकि मुक्तिकी कामनासे वे मुक्त नहीं हैं, पर किसी भी अवस्थामें वे भक्तिका आवश्यक अंग नहीं है। कर्म, ज्ञान और योग फल की प्राप्तिके लिए भक्तिकी अपेक्षा रखते है। भक्ति किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं रखती। यह परम स्वतन्त्रता है।

वर्णाश्रम-धर्म भक्तिका अंग नहीं है। इससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, मुक्तिकी नहीं। निष्काम-कर्म से मुक्ति की प्राप्ति होती है, श्रीकृष्णकी प्रेम सेवाकी नहीं। कर्म के सम्यक् त्यागमें भी भक्तिका आकार ही है, प्राण नहीं। भक्तिका प्राण है आत्यन्तिकी श्रद्धा और श्रीकृष्णकी प्रेम सेवा की बलवती लालसा।

भगवत्-साक्षात्कार भक्तिसे ही होता है, अन्य किसी साधनसे नहीं। यदि हृदयमें भक्ति न हो और साक्षात्कार हो तो वह साक्षात्कार भी असाक्षात्कारके समान है। उससे भगवान्के माधुर्यका आस्वादन नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार पित्त दूषित जिह्वासे मिसरी के मिठासका आस्वादन नहीं होता-"निरुपाधि प्रीत्यास्पदतास्वभावस्य प्रियत्वधर्मानुभवं बिना तु साक्षात्कारोऽप्यासाक्षात्कार एव। माधुर्य बिना दुष्ट जिह्वया खण्डस्येव (भ०स० १८७)।

भक्ति साधन भी है, साध्य भी। साधन-भक्ति साध्य-भक्तिकी अपरिपक्वावस्था है। साधन-भक्तिके चौसठ अंग है, जिनका पर्यवसान नवधा-भक्तिमें होता है। नवधा-भक्तिके अंग है-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। इनमें भी नाम कीर्तन

१. "भक्तिर्हि भक्तकोटि प्रविष्टतदार्द्रीभावयितृतच्छक्ति विशेष इति विवृतं विवरिष्यते च"-भगवान की जो शक्ति भक्त में प्रविष्ट होकर आर्द्रभाव उत्पन्न करती है, वही भक्ति नाम से पहले पुकारी गयी है। (भ.स. १८०)

सर्वप्रधान है। नाम कीर्तनके बगैर भक्तिका कोई भी अंग पूर्ण नहीं है।

भक्ति दो प्रकारकी है–वैधी और रागानुगा। वैधी–भक्तिके साधक भजनमें प्रवृत्त होते हैं शास्त्र–विधिके भयसे और सांसारिक दुखोंसे परित्राण पानेके उद्देश्यसे। रागमार्गके साधक भजनमें प्रवृत्त होते है। श्रीकृष्णमें राग, प्रीति या आसक्तिके कारण उनकी सेवाके लोभसे।

रागानुगा–भक्ति रागात्मिका भक्तिकी अनुगता है। रागात्मिका भक्तिके आश्रय हैं नन्द–यशोदा–राधा–ललितादि, जो श्रीकृष्णकी स्वरूप–शक्तिके मूर्त विग्रह हैं और अनादिकालसे व्रजधाममें व्रज–परिकरोंके रूपमें विराजमान हैं।

व्रजमें श्रीकृष्णके परिकर चार प्रकारके हैं–दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। दास्य, सख्य वात्सल्यभावके परिकरोंकी कृष्ण–सेवा उनके सम्बन्ध के अनुरूप होती है। इसलिए वह सम्बन्ध रूपा कहलाती है। परन्तु व्रजसुन्दरियोंकी रागात्मिका–भक्ति सम्बन्धकी कोई अपेक्षा नहीं रखती। वह एकमात्र श्रीकृष्ण–प्रीतिकी कामनाकी अपेक्षा रखती है। इसलिए वह कामरूपा कहलाती है।

रागात्मिका–भक्तिके समान रागानुगा भक्ति भी दो प्रकारकी है–सम्बन्धानुगा और कामानुगा। कामानुगाओंकी कामानुगा भक्ति भी दो प्रकारकी है–सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी। सम्भोगेच्छामयी भक्तिमें श्रीकृष्णके साथ सम्भोगकी इच्छा रहती है। सम्भोगकी इच्छा रखनेवाले भक्तोंको व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा नहीं मिलती, क्योंकि व्रजमें स्वसुख वासना है ही नहीं। उन्हें द्वारकाकी प्राप्ति होती है।

साधन दो प्रकारका है–अन्तर और बाह्य। अन्तर–साधनका सम्बन्ध मनसे है, बाह्य–साधनका देह ओर बाह्य इन्द्रियोंसे। रागानुगा भजन अन्तर–साधन प्रधान है। लीला–स्मरण इसका मुख्य अंग है। पर श्रवण कीर्तनादि बाह्य–साधन इसमें उपेक्षनीय नहीं है। बाह्य–साधनसे अन्तर साधनकी पुष्टि होती है। बाह्य–साधनसे यथावस्थित पा०चभौतिक देहसे। अन्तरं साधन होता है अन्तश्चिन्तित सिद्ध देहसे।

प्रीति–सन्दर्भ–प्रीति सन्दर्भमें परमपुरूषार्थका निरूपण किया गया है। परमतम पुरूषार्थ है भगवत् प्रीति। प्रीति शब्द सुख और प्रियता दोनोंका व्यञ्जक है। प्रियतामें सुखका धर्म विद्यमान है, पर सुखको प्रियता नहीं कहा जा सकता। सुखका तात्पर्य एकमात्र अपने उल्लाससे है, प्रियताका तात्पर्य प्रीतिके विषय या प्रियजनके उल्लासके कारण अपने हृदयमें जो उल्लास होता है उससे है। सुखके मूलमें किसीका आनुकूल्य या सुख विधान करनेकी स्पृहा नहीं रहती, इसलिए सुखका विषय नहीं होता। प्रियताके मूलमें प्रियजनका सुख–विधान करनेकी स्पृहा रहती है, इसलिए उसका विषय होता है।

भगवत् प्रीतिकी प्रथम अवस्थामें देहादिकी आसक्ति जाती रहती

है। भगवत् प्रीतिके पूर्णाविर्भावमें भगवान्‌में परमावेश और परमानन्द पूर्णता की उत्पत्ति होती है।

भक्तके चित्तमें आविर्भूता प्रीति उसके चित्तमें संस्कार–विशेष उत्पन्न कर उसे क्रमशः रति, प्रेम प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग और महाभावके स्तरतक ले जाती है। रतिमें उल्लासकी अधिकता होती है। रतिके उत्पन्न होनेपर केवल भगवान्‌में ही प्रयोजन–बुद्धि होती है। भगवान्‌के अतिरिक्त और सभी पदार्थ तुच्छ प्रतीत होने लगते है।

प्रेममें कृष्णके प्रति ममता अधिक होती है। प्रेम उत्पन्न होनेपर यदि प्रीति भंग होनेका कारण भी उपस्थित हो तो उसके स्वरूपमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आती। ममता किस प्रकार प्रीतिको समृद्ध करती है इसका उदाहरण देते हुए मार्कण्डेय पुराणमें कहा गया है कि ममतायुक्त पालतू मुर्गे को विल्लीके खा जानेसे उसके मालिकको जितना दुख होता है, उतना ममताशून्य चूहेको चटक पक्षीके खा जानेसे नहीं होता। प्रेमलक्षणा–भक्तिमें ममताके आधिक्यके कारण ममताको ही भक्ति कहा गया है।

प्रणयमें विश्वासकी, विश्रंभकी प्रचुरता होती है। प्रणयमें सम्भ्रमके लिए स्थान नहीं रहता, क्योंकि इसमें अपने मन, प्राण, बुद्धि, देह परिच्छदादिके प्रियके मन, प्राण, बुद्धि, देह, परिच्छदादिसे अभिन्न होनेकी बुद्धि होती है।

मानमें प्रियतातिशयके कारण प्रणय कौटिल्याभासयुक्त वैचित्री धारण करता है। मान उपस्थित होनेपर भक्तके प्रणयकोपसे भगवान् भी प्रेममय भयको प्राप्त होते है–"यस्मिन जाते श्रीभगवानपि तत्प्रणयकोपात् प्रेममयं भयं भजते।"

स्नेहमें चित्त अत्यन्त द्रवित होता है। स्नेहके उदय होनेपर भगवान्‌के सम्बन्धाभासमें ही महावाष्पादि विकार, प्रिय–दर्शनादिसे अतृप्ति और प्रियतमके अनन्त सामर्थ्यवान होते हुए भी किसीके द्वारा उनके अनिष्टकी आशंकाका जन्म होता है।

रागमें स्नेह अतिशय अभिलाषात्मक होता है। राग उत्पन्न होनेपर प्रियतमका क्षणिक विरह अत्यन्त असह्य होता है। प्रियतमके संयोगमें परम दुख भी सुखरूपमें प्रतीत होता है और वियोगमें परमसुख भी दुखरूपमें प्रतीत होता है।

अनुरागकी अवस्थामें राग प्रियका नवीन–नवीन रूपमें अनुभव कराता है और स्वयं भी नवीन–नवीन होता है। अनुरागके उदय होनेपर परस्परका अत्यन्त वशीभाव, प्रेमवैचित्य[1], कृष्ण सम्बन्धी अप्राणीमें भी जन्म लेनेकी लालसा और विच्छेदमें अतिशय स्फूर्तिका अनुभव होता है।

महाभावमें अनुराग असमोर्द्ध उन्मादक चमत्कारित्वको प्राप्त होता

---

१. प्रिय व्यक्ति के निकट होने पर भी अतिशय प्रेम के कारण प्रिय से विच्छेद के भय से जो आर्ति उत्पन्न होती है, उसे प्रेम-वैचित्य कहते हैं।

है। इस अवस्थामें श्रीकृष्णके संयोगमें पलकका पड़ना भी असह्य हो जाता है और कल्पके बराबर समय क्षणभर जैसा प्रतीत होता है, वियोगमें एक क्षण भी कल्प जैसा लगता है। योग–वियोग दोनों अवस्थाओंमें महाउद्दीप्त[1] सात्वि भाव उत्पन्न होते है[2]।

प्रीति भगवत् स्वभाव–विशेषकी सहायतासे प्रीतिमान व्यक्तिमें अनुग्राह्याभिमान, अनुग्राहकाभिमान, मित्राभिमान या प्रियाभिमान उत्पन्न करती है।

अनुग्राह्याभिमान–विशिष्ट, भक्त भगवान्में ममताहीन होते हैं या ममतावान्। ममताहीन भगवान्को ब्रह्म या परमात्माके रूपमें जानते है। इनकी प्राप्ति ज्ञान–भक्ति कहलाती है। इन्हें शान्त भक्त कहते है।

अनुग्राह्याभिमान–विशिष्ट ममतावान् भक्त भगवान्को अपना प्रभु मानते है। इनकी रति दास्य–रति कहलाती है।

अनुग्राहकाभिमान–विशिष्ट भक्तोंका भगवान्में पुत्रादि–भाव होता है। इनकी रति वात्सल्य–रति कहलाती है।

मित्राभिमान भक्त भगवान्को अपना मित्र या सखा मानते है। इनकी रति सख्य रति कहलाती है।

प्रियाभिमानि भक्तोंमें भगवान्के प्रति कान्ताभाव होता है। इनकी रतिको मधुरा रति कहते है।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर पञ्चविध रतिको स्थायीभाव कहते हैं। विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्याभिचारीभावके सम्मिलनसे इनकी रसमें परिणति होती है। इसलिए शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर–भेदसे रस पञ्चविध है। इसके अतिरिक्त हास्यादि भेदसे रसके सात और प्रकार है।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर–रस उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। मधुर–रस सबसे श्रेष्ठ है। मधुर व उज्ज्वल रसमें कान्तरूपसे स्फूर्तिमान श्रीकृष्ण विषयालम्बन है, उनकी प्रेयसी वर्ग आंश्रयालम्बन हैं। कृष्ण–प्रेयसी स्वकीया परकीया भेदसे दो प्रकार की हैं। रूक्मिणी आदि स्वीयाकान्ता हैं। श्रीराधादि परमस्वीया होते हुए भी प्रकटलीलामें परकीयारूपसे प्रतीयमाना है। स्वकीया प्रेयसियोंमें विवाह विधिकी अपेक्षाके कारण अनुराग होते हुए भी उतना प्रबल नहीं है, जितना परकीया कान्ताओंमें। व्रज–सुन्दरियाँ प्रकटलीलामें विवाह–विधि, इहलोक, परलोक और वेदधर्मादिकी अपेक्षा न कर केवल श्रीकृष्णके प्रति अपने अनुरागके वशीभूत हो उन्हें आत्मसमर्पण करती हैं[3]।

---

१. अश्रु-कम्पादि आठ प्रकार के सात्विकभाव जब परमोत्कर्ष को प्राप्त हो एक साथ उदय होते हैं, तो उसे सुदीप्त या महाउद्दीप्त सात्विकभाव कहते हैं।

२. प्रीति सन्दर्भ, ८४।

३. प्रीति सन्दर्भ, ८४।

व्रजसुन्दरियोंका परकीयात्व प्राकृत जगत्के अधर्ममय, घृणित परकीयात्वके समान नहीं है। व्रजसुन्दरीगण श्रीकृष्णकी नित्यप्रेयसी हैं। उनका प्रबलतम अनुराग आस्वादन करनेके लिए श्रीकृष्ण अपनी अघटन–घटना–पटीयसी योगमाया शक्ति द्वारा प्रकटलीलामें उनकी परकीया नायिकाके रूपमें प्रतीति कराते हैं। प्रकटलीलामें अन्य गोपोंके सहित उनका विवाह मायिक होता है। जब वे श्रीकृष्णके निकट रासादिमें जाती है, तब योगमाया के प्रभावसे उनकी योगमाया–कल्पित मूर्ति घर पर रह जाती है।

प्राकृत जगत्की व्यभिचारिणी रमणी परपुरुषका संग अपने सुखके लिये करती है। व्रजसुन्दरियोंमें स्वमुख–वासनाका लेश भी नहीं है। श्रीकृष्णके साथ व्रजसुन्दरियोंका सम्बन्ध वैध–अवैध किसी भी जागतिक सम्बन्धके अनुरूप नहीं है। वह शुद्ध अनुरागमय है। उनके चित और इन्द्रियाँ कृष्णनुरागसे विभावित हैं। उनकी सारी चेष्टाएं उस अनुरागकी अभिव्यक्ति मात्र हैं और श्रीकृष्णके सुखके लिए हैं। उनका श्रीकृष्णके साथ अनुराग–सिद्ध दाम्पत्य है।

उज्ज्वल रसमें नायक नायिकाका सम्भोग काममय नहीं है। कामक्रीड़ासे उनका बाह्य साम्य मात्र है। उसमें आलिंगन, चुम्बनादिकी जो बाह्य चेष्टाएं हैं वे नृत्यादिकी तरह प्रीति के अनुभाव और उसका बाह्य प्रकाश मात्र है।

सर्वसम्बादिनी–यह भागवत सन्दर्भके अन्तर्गत प्रथम चार सन्दर्भोंकी अनुव्याख्या या टीका है। इसे भागवत–सन्दर्भकी प्रपूर्ति कहा गया है, क्योंकि भागवत सन्दर्भ में दार्शनिक सिद्धान्त और शास्त्र–प्रमाणसे सम्बन्धित, जो जो स्थल असम्पूर्ण या अस्पष्ट रह गये, उनकी जीव गोस्वामीने बहुत से नये शास्त्र–प्रमाण और सिद्धान्त–विचार द्वारा इसमें सम्पूर्ति की है। उसमें उन्होंने वेद, वेदान्त, न्याय, मीमांसा, सांख्य, पातञ्जल, स्मृति, तन्त्र, पुराण, निरुक्त, व्याकरण प्रभृति सर्वशास्त्रोंका मन्थनकर सर्वसम्वादपूर्ण, अति सारगर्भ वैष्णव–सिद्धान्त–समूह समाविष्ट कर रखा है। सम्भवतः इसीलिए इसका नाम सर्वसम्वादिनी रखा है। यह ग्रन्थ मूलग्रन्थ भागवत सन्दर्भसे भी अधिक महत्वका है।

संक्षेपवैष्णवतोषणी–सनातन गोस्वामीकी श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धपर लिखी वैष्णवतोषणी टीकासे यह संक्षिप्तिकृत है। इसके पृथक्‌रूपसे लिखे जानेके वाद सनातन गोस्वामीकी टीकाका नाम हुआ वृहद्वैष्णतवोषणी और इसका नाम हुआ लघुवैष्णवतोषणी या संक्षिप्त–वैष्णवतोषणी। इसके उपसंहारमें दिये गये श्लोकके अनुसार इसकी रचना १५८२ ई0 में समाप्त की गयी।

क्रम–सन्दर्भ–यह जीव गोस्वामी द्वारा की गयी समग्र श्रीमद्भागवतकी टीका है। सर्वसम्वादिनीमें क्रम–सन्दर्भका उल्लेख है

और वैष्णवतोषणीमें सर्वसम्वादिनीका। इससे प्रमाणित है कि क्रम–सन्दर्भकी रचना वैष्णवतोषणीके पूर्व अर्थात् सन् **१५८२** से पूर्व हुई।

गोपालचम्पू–गोपालचम्पू जीव गोस्वामीके शेष जीवनकी विशेष कृति और भागवत–सन्दर्भ के समान उनके जीवनका प्रमुख कीर्तिस्तम्भ है। यह पूर्व और उत्तर दो विशाल खण्डोंमें विभक्त है। पूर्व खण्डमें श्रीमद्भागवतके आधारपर श्रीकृष्णकी बाल्यलीलाका और उत्तर खण्डमें मथुरा और द्वारका लीलाका वर्णन है। चम्पू–काव्य के अनुसार इसमें गद्य और पद्य दोनोंका प्रयोग किया गया है। यद्यपि इसका मूल आधार है श्रीमद्भागवतमें वर्णित वृन्दावन–मथुरा–द्वारका लीला, इसमें उन लीलाओंके विस्तृत वर्णनके साथ साथ अनेक नई लीलाओंका भी वर्णन है, जिनका श्रीमद्भागवतमें परीक्षितको सुनाई गयी सात दिनकी कथामें समावेश सम्भव नहीं था। इसमें श्रीकृष्णकी प्रकट और अप्रकट लीलाओंका सुन्दर सम्मिश्रण है।

इसकी एक असाधारण विशेषता यह है कि यह लीला ही नहीं, कवित्त औरं दार्शनिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी परिपूर्ण है। श्रीकृष्णदास कविराजने चैतन्य–चरितामृतमें इसके सम्बन्ध में लिखा है–

श्रीगोपालचम्पू नामे ग्रन्थ महाशूर। नित्यलीला स्थापन जाहे ब्रजरसपूर।।
(चै०च० २/१/३९)

अर्थात् श्रीगोपालचम्पू नामक ग्रन्थ महासूर है। भाषा, काव्य, सिद्धान्त आदिकी दृष्टिसे यह महागम्भीर और सबको पराजित करनेवाला है। इसमें अप्रकट प्रकाशका वर्णन होते हुए भी व्रजरस, अर्थात् भौम वृन्दावनको प्रधानताकी स्थापना की गयी है।

भौम वृन्दावनकी प्रकटलीलाके सर्वोत्कर्षमयी होनेका कारण है योगमाया द्वारा श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति, उनकी परम स्वीया कान्तागणकी परकीया–अभिमानिनी रूपमें प्रतीति करा श्रीकृष्णको परमास्वाद्य परकीया–रसका आस्वादन कराना। यह रस परमोज्ज्वल और सर्वथा अनवद्य है। इस रूपमें इसका प्रतिपादन श्रीमद्भागवतमें रासलीलाके उपसंहारमें परीक्षित–शुक सम्वादमें स्पष्टरूपसे किया गया है। जीवगोस्वामीने इस ग्रन्थमें परकीया–रसका ही प्रतिपादन किया है। पर उत्तर चम्पूके पैंतीसवें पूरणमें उन्होंने श्रीराधा–माधव–विवाह–प्रसंगका वर्णन किया है। इसके कारण कुछ लोगोंकी धारणा है कि उन्होंने प्रकटलीलामें परकीयत्वका स्वकीयात्व में पर्यवसान किया है और स्वकीयाका सिद्धान्त ही उनका हार्द है। पर यह भ्रान्ति छत्तीसवें पूरणमें राधा–माधवकी कुछ उक्तियोंसे दूर हो जाती है, जिनसे स्पष्ट है कि परकीया लीलामें ही रसकी सम्यक् पुष्टि होती है।

ग्रन्थमें इसकी रचनाकालके सम्बन्धमें जो उल्लेख है उसके अनुसार पूर्वचम्पूकी रचना समाप्त हुई **सन् १५८८** में और उत्तर चम्पूकी **सन् १५९०** में।

माधव-महोत्सव-इस ग्रन्थमें श्रीराधाके वृन्दावनमें राज्याभिषेककी कहानी कही गयी है। पद्मपुराण पाताल खण्डमें "वृन्दावनाधिपत्यञ्ज तत्तं तस्यै" और मत्स्यपुराणमें "राधा वृन्दावने वने" वाक्योंमें राधाभिषेकका इंगित किया गया है। वृहद्गौतमीय तन्त्रमें भी राधाको वृन्दावनधीश्वरीका पद दिया गया है। श्रीजीवने इन वाक्योंको सूत्ररूपमें ग्रहणकर रूप गोस्वामीके आदेशसे इस काव्यकी रचना की है। शब्द-विन्यास अलंकार-छटा, छन्द वैचित्री, भाव प्रस्त्रवण और रसमयता आदि सभी दृष्टिसे यह ग्रन्थ अद्वितीय है। यद्यपि जीव गोस्वामीने इसे 'काव्य खण्ड' कहा है, विद्वानोंने इसमें महाकाव्यके सभी गुण देखकर इसे 'महाकाव्य' की संज्ञा देनेमें संकोच नहीं किया है।

जीव गोस्वामीने स्वयं इसका रचनाकाल शकाब्द १४७७ अर्थात् सन् १५५५ लिखा है।

ग्रन्थ-प्रचार

अब राशि-राशि गौड़ीय-वैष्णव ग्रन्थोंकी रचना हो चुकी थी। भक्तिरस और सिद्धान्त सम्बन्धी प्रचुर ग्रन्थोंकी रचना श्रीरूप और श्रीसनातन पहले ही कर चुके थे। दार्शनिक-सिद्धान्त सम्बन्धी जिन ग्रन्थोंकी कमी थी वह जीव गोस्वामीने पूरी कर दी थी। पर चरित्-ग्रन्थोंकी अभी भी कमी थी। स्वरूप दामोदर और मुरारी गुप्तने महाप्रभुके चरित्रसे सम्बन्धित घटनाओंको सूत्ररूपमें लिख रखा था। यह ग्रन्थ स्वरूप दामोदर और मुरारी गुप्तके कड़चाके नामसे प्रसिद्ध थे। पर यह संस्कृतमें थे और इतने संक्षिप्त थे कि सर्वसाधारणकी इनके द्वारा तृप्ति होना सम्भव नहीं था। महाप्रभुके अंतरंग भक्त श्रीनरहरि सरकार ठाकुरने भाषामें उनके एक सरस चरित्रकी आवश्यकता का विशेषरूपसे अनुभव किया था और उसके लिखे जानेकी भविष्यवाणी इन शब्दोंमे की थी-

गौरलीला दरशने, इच्छा बड़ हय मने, भाषाय लिखिया सब राखि।
मुञी अति अधम, लिखिते ना जानि क्रम, केमन करिया ताहा लिखि।।
ए ग्रन्थ लिखिबे जे, एखनो जन्मे नाइ से, जन्मिते विलम्ब आछे बहु।
भाषाय रचना हैले, बुझिबे लोक सकले, कबे वाञ्छा पुराबेन पहुँ।।

-गौरलीलाके दर्शन कर इच्छा होती है कि उसे भाषा में लिख रखूँ। पर मैं अधम। लिखनेका क्रम मुझे आता नहीं, लिखूँ कैसे? जो लिखेगा, उसका जन्म अभी नहीं हुआ, उसके प्रकट होनेमें विलम्ब है। जब भाषामें इस ग्रन्थकी रचना हो जाएगी, तब सब लोग उसे समझ सकेंगे। हा, नाथा ! कब मेरी यह वांछा पूर्ण होगी?"

नरहरि सरकारकी वांछाकी पूर्तिका समय भी अब आ गया। श्रीवृन्दावनदासने "चैतन्य-मंगल" नामके ग्रन्थकी रचना की। इसका बंगला भाषामें आदि चरित-ग्रन्थके रूपमें सम्मान हुआ। कृष्ण-लीलापर जिस प्रकार श्रीमद्भागवत सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है, उसी प्रकार चैतन्य-लीलापर यह

एक श्रेष्ठ ग्रन्थके रूपमें पूजा जाने लगा। इसीलिए श्रीजीवादि वृन्दावनके प्रमुख गोस्वामीगणोंने इसका नाम बदलकर रखा "चैतन्य–भागवत"। इसी समय (सन् १५७५ में) लोचनदासने "चैतन्य–मंगल" नामका एक और ग्रन्थ लिखा। उसका उतना आदर नहीं हुआ, जितना चैतन्य–भागवतका। पर चैतन्य–भागवतमें चैतन्य महाप्रभुकी अन्त्य–लीलाका वर्णन नहीं था। यह कमी भक्तोंको असह्य हुई। उन्होंने मिलकर कृष्णदास कविराज गोस्वामीसे चैतन्य महाप्रभुकी शेष लीला वर्णन करनेका आग्रह किया। कृष्णदास उस समय बहुत वृद्ध थे और सब तरह से इस कार्यके लिए उपयुक्त होते हुए भी शरीरसे लाचार थे। पर वे सभी वैष्णवोंके प्रेमपूर्ण आग्रहकी अवहेलना न कर सके। श्रीजीव गोस्वामी, श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी, श्रीलोकनाथ गोस्वामी और श्रीभूगर्भ गोस्वामीका आशीर्वाद ले वे इस पुनीत कार्यमें जुट गये। कई वर्षके लगातार परिश्रमके पश्चात् सन् १५८१ में उन्होंने चैतन्य–चरितामृत ग्रन्थ समाप्त किया। इस ग्रन्थको बंगला साहित्यमें वही स्थान प्राप्त हैं, जो हिन्दीमें रामचरितमानसको।

गौड़ीय गोस्वामीगणने वेद, वेदान्त, श्रुति, स्मृति, पुराणादि शास्त्रोंके विशाल समुद्रका मन्थन कर जिस अमृतका निष्कासन किया था, उसका कलश अब पूरा भर चुका था। आवश्यकता थी पिपासुजनोंमें उसके वितरण की। यह कार्य इतना आसान नहीं था। यह ऐसे लोगोंके द्वारा ही हो सकता था, जो स्वयं शास्त्रोंके मर्मज्ञ हों, असाधारण भक्तिभाव–सम्पन्न हों, और जो महाप्रभुका प्रियकार्य जान इसे अपना जीवन समर्पित कर सकें।

महाप्रभुकी इच्छासे ऐसे तीन महापुरूषोंका आगमन वृन्दावनमें पहले ही हो चुका था। ये थे श्रीनिवासाचार्य प्रभु, ठाकुर नरोत्तमदास और श्रीश्यामानन्द, जो रूप–सनातनके अप्राकटयके कुछ ही दिन बाद वृन्दावन आये थे।

इन्हें श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्दप्रभु और श्रीअद्वैताचार्यका परवर्ती अवतार कहा जाता है। प्रेमविलासमें पद है–

नित्यानन्द छिल जेइ नरोत्तम हइला सेइ,
श्रीचैतन्य हइल श्रीनिवास।
श्री अद्वैत जांरे कय श्यामानन्द तिहों हय,
ऐछे हइला तिनेर प्रकाश।।

(प्रेमविलास, २०वां विलास)

श्रीनिवास बंगालके काटोया नगरके निकट चाकन्दी ग्रामके श्रीचैतन्यदासके पुत्र थे। महाप्रभुके आशीर्वादसे उनकी पत्नी श्रीलक्ष्मीप्रियाके गर्भसे उनका जन्म हुआ था (सन् १५१८)। महाप्रभुके ही समान उनकी चम्पकगौर अंगकान्ति और भुवनमोहन मूर्ति थी और उन्हींके समान उनका कृष्णप्रेम था। १४/१५ वर्षकी आयुमें वे नीलाचल गये महाप्रभुके दर्शन करने। मार्गमें ही थे, जब महाप्रभुका अन्तर्धान हो गया। शोकोन्मत्त और

मृतप्राय अवस्थामें उन्होंने नीलाचलमें महाप्रभुके अभिन्न कलेवर गदाधर पण्डितकी शरण ली। गदाधर पण्डितके पास श्रीमद्भागवतका अध्ययन करना चाहा। पर गदाधर पण्डितकेपास जो भागवत ग्रन्थ था, उसके अक्षर उनके अश्रुजलसे मिट चुके थे। उनकी आज्ञासे श्रीनिवास भागवतकी दूसरी प्रति लेने श्रीखण्ड गये। ग्रन्थ लेकर लौटते समय उन्हें पथमें सम्वाद मिला कि गदाधर पण्डित अप्रकट हो गये। रोते रोते लौट पड़े। नवद्वीप गये नित्यानन्दप्रभु और अद्वैताचार्यप्रभुके दर्शन करने। वे भी उनके नवद्वीप पहुँचनेके पूर्व नित्यधामको जा चुके थे। उन्होंने नवद्वीपमें चैतन्यमहाप्रभुकी पत्नी विष्णुप्रिया, शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यकी पत्नी सीतादेवी और खड़दहमें नित्यानन्दकी पत्नी जाह्नवा ठाकुरानीके दर्शन किये। सबने अपने प्रबोध वाक्योंसे उन्हें सान्त्वना दी और वृन्दावन जानेकी अनुमति। प्रेमविह्वल अवस्थामें उन्मत्तकी तरह पदयात्रा करते हुए वे वृन्दावनके लिए चल पड़े, वहाँ सनातन और रूपादिके दर्शनकी हृदयमें साध लेकर। पर उनकी साध क्या पूरी होनी थी? सनातन और रूपभी उनके वृन्दावन पहुँचनेके पूर्व अप्रकट हो चुके थे, जैसे इन सबने श्रीनिवासको दर्शन न देकर और उनके प्रेमपयोधिमें बार–बार उफान लाकर उसे चरम सीमातक पहुँचा देनेकी ठान रखी हो। उन्होंने जबसे नीलाचलकी यात्रा आरम्भ की उनके अश्रु बहते ही रहे, जैसे उनका देह विधाता ने अश्रुओंका ही बनाया हो। रोते–रोते उन्होंने वृन्दावन जाकर जीव गोस्वामीका आश्रय लिया। जीव गोस्वामीने उन्हें गोपालभट्ट गोस्वामीसे दीक्षित करवाकर धन्य किया।

कुछ दिन बाद राजकुमार नरोत्तम आये। ये उत्तरी बंगालके गरानहाटी परगनाके कायस्थ जमीदार राजाकृष्णानन्द रायके एकमात्र उत्तराधिकारी थे। कृष्ण प्रेममें पागल हो घरसे निकल आये थे। वृन्दावनमें ये जीव गोस्वामीका आश्रय लेकर लोकनाथ गोस्वामीकी तनमन से सेवा करने लगे। अपनी सेवासे उन्हें प्रसन्न कर उनके एकमात्र शिष्य हुए।

श्यामानन्द भी इसी समय आये। ये उड़ीसाके अन्तर्गत धारेन्दाबाहादुरपुर ग्रामके सद्गोप जातिके एक दरिद्र व्यक्तिके पुत्र थे। बाल्याकालसे ही बड़े कृष्ण–भक्त थे और इनका जीवन बड़े दुखमें बीता था। इसलिए इनका नाम पड़ गया था दुखी कृष्णदास। जीव गोस्वामीने दीक्षा देकर इनका नाम रखा श्यामानन्द।

यह तीनों जीव गोस्वामीके निकट शास्त्राध्ययन करने लगे। उन्होंने ही श्रीनिवासको 'आचार्य' की उपाधि दी और उन्हीं के कारण नरोत्तम 'ठाकुर महाशय' के नामसे पुकारे जाने लगे। तीनों एक ही भावके भावुक युवक होनेके कारण ऐसे धुलमिल गये, जैसे वे एक ही आत्माके तीन प्रकाश हों।

तीनों बहुत दिनतक कभी वृन्दावनमें, कभी नन्दग्राम, जावट, बरसानादिमें कृष्णलीलाका अभिनय कर ब्रजवासियोंको लीलारसका आस्वादन

कराते रहे और स्वयं उसका आस्वादन कर उन्मत्त होते रहे। उसी क्रीड़ाकौतुकके बीच एकदिन जब सब भक्तवृन्दा गोविन्ददेवके मन्दिरमें भागवत कथा सुनने के लिए एकत्र थे, गोस्वामीगणने इन तीनोंको बुला गौड़ देशमें जाकर गौड़ीय ग्रन्थों और उनमें वर्णित विशुद्ध भागवतधर्म का प्रचार करनेका आदेश किया। उसी समय गोविन्ददेव के गले से पुष्पमाला टूटकर नीचे गिर पड़ी, जैसे गोविन्ददेवने भी तत्काल गोस्वामियोंके आदेशकी पुष्टि कर दी। गोविन्ददेवकी जय–जयकार होने लगी। हर्ष और उल्लाससे उस वातावरणमें सबकी दृष्टि इन तीनों में वरिष्ठ श्रीनिवासाचार्यके ऊपर केन्द्रित थी। वे उत्सुकतासे उनकी प्रतिक्रियाकी प्रतीक्षा कर रहे थे। श्रीनिवासाचार्य बड़े धर्मसंकटमें पड़ गये। वे न व्रज छोड़ सकते थे, न गुरुजनों और गोविन्ददेवकी आज्ञाका उल्लंघन कर सकते थे। अन्तमें उन्हें स्वीकृति देनी पड़ी।

इस योजनाके पीछे हाथ श्रीजीव गोस्वामीका था। वे अपना मनोरथ सफल होते देख बहुत प्रसन्न हुए और इन तीनों को ग्रन्थराशिके साथ गौड़ भेजनेकी व्यवस्था करने लगे। उन्होंने अपने भक्तोंकी सहायता से राजधानीसे राजपत्र मँगवाया, जिसमें इन लोगोंके ग्रन्थोंके साथ वृन्दावनसे झाड़िखण्ड होकर जाजपुर जानेकी राजाज्ञा थी। दो बैलगाड़ियोंकी व्यवस्था की, एक श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्दके लिए और एक ग्रन्थोंके लिए। दस अस्त्रधारी प्रहरियोंकी व्यवस्था की उनके साथ जानेके लिए। रूप, सनातन, जीव आदिके ग्रन्थ यत्नपूर्वक बांध–बांधकर एक बड़े काष्ठके बक्समें रखे गये। तीन महाजनोंसे मार्ग व्यय के लिए आवश्यक धनराशि स्वीकार की गयी। जाने के लिए तिथि निश्चय की गयी अग्रहण मासकी शुक्ला पंचमी।

उस दिन गोविन्ददेवके मन्दिरके सामने दोनों बैलगाड़ियाँ आकर खड़ी हुई। ग्रन्थोंका सन्दूक एक गाड़ीपर यत्नपूर्वक चढ़ाया गया। दूसरी पर श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्दको बैठना था। पर उन्हें विदा करने आये थे श्रीजीव, गोपालभट्ट, लोकनाथ, भूगर्भ, राधव पण्डित, यादवाचार्य, परमानन्द भट्टाचार्य, मधु पण्डित, कृष्णदास कविराज, द्विज हरिदास, पंडुरीकाक्ष प्रभृति। व्रजवासियोंकी भीड़ भी उन्हें विदा करने गोविन्ददेवके मन्दिरपर उमड़ पड़ी थी। इनमेंसे बहुतोंको उनके साथ पैदल मथुरातक जाना था। इसलिए श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द भी गोविन्ददेवको दण्डवत् प्रणाम कर पैदल ही मथुराकी ओर चल पड़े। हरिनामकी मंगलध्वनिके साथ शोभा यात्रा मथुरा पहुँची। दूसरे दिन श्रीजीव आदिको दण्डवत् कर तीनोंने उनसे विदा ली। श्रीजीव, गोपालभट्ट, लोकनाथ आदिने एक एक कर आलिंगनके साथ अपने प्रेमाश्रुओंसे अभिषिक्त करते हुए आशीर्वाद देकर उन्हें विदा किया।

वे राजपथसे चलते–चलते आगरा होते हुए इटावा पहुँचे। इटावामें

राजपथ छोड़कर झाडिखण्डके वनपथसे विष्णुपुर राज्यकी सीमापर पहुँचे। विष्णुपुरके राजा वीर हाम्वीरकी अद्भुत प्रकृति थी। धर्मपरायण और कथा–कीर्तनके प्रेमी होते हुए भी वे लुटेरे थे। अपनी प्रजाका पुत्रवत् पालन करते थे, पर देशकी सीमाके बाहर लूट–पाट मचाया करते थे। प्रेमविलासमें वर्णन है कि वे दिनमें पुराण पाठ करते और रातमें चोरी–डकैती–

"दिवाय पुराण पाठ, राते चुरि डकैति।
पुत्र सम पाले प्रजा, देशेर ना करे क्षति।।"

उन्हें सम्वाद मिला कि उनके राज्य की उत्तर–पश्चिम सीमासे कुछ सशस्त्र प्रहरियोंके साथ एक रत्नभरी गाड़ी जा रही है। उन्होंने उसी समय सैनिकोंको आदेश दिया–"दो सौ सिपाही जाकर उसे लूट लो। पर देखो किसीको जानसे न मारना–

दुइ शत लोक लइया करह गमन। प्राने नाहि मारिबा आनिबे सब धन।।"

(प्रे. वि. १३)

दूसरे दिन संध्या समय श्रीनिवासादि भक्तगण गोपालपुर ग्राम पहुँच कर विश्राम कर रहे थे। रात्रि पर्यन्त कृष्ण कथा कहते कहते वे सो पड़े। उसी समय सिपाही आकर सन्दूक उठा ले गये। प्रहरी दो सौ सशस्त्र सिपाहियोंके सामने कुछ न कर सके। श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द रोते–रोते पागल हो गये। ग्रन्थोंमें तो उनके प्राण ही बस रहे थे। ग्रन्थोंके लूटे जानेपर वे जैसे प्राणहारा हो गये। श्रीनिवासने पत्र लिखकर यह दुःसम्वाद जीव गोस्वामीको भिजवाया। पत्र पढ़ते ही उनके दुखकी सीमा न रही। लोकनाथ, गोपालभट्ट आदि पर भी विषादकी कालिमा छा गयी। पर सबसे अधिक मर्माहत हुए राधाकुण्डवासी कृष्णदास कविराज। उन्होंने प्राण विसर्जन कर देनेका संकल्प किया। एक दिन राधाकुण्डके तीरपर बैठे रोते–रोते उसमें कूद पड़े। भक्तोंने उन्हें निकालकर किसी प्रकार उनके प्राणकी रक्षा की।[1]

जीव गोस्वामी मन ही मन सोचने लगे कि लुटेरे उन ग्रन्थोंका क्या करेंगे। निश्चय ही यह घटना प्रभुकी किसी लीलाविशेषकी पूर्व सूचना है, जिसका रहस्य पीछे खुलनेको है। वे कालान्तरमें कोई नयी सूचना प्राप्त करनेकी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करने लगे।

१. नित्यानन्ददास के 'प्रेम–विलास' में उल्लेख है कि राधाकुण्ड में कूदने के साथ ही कृष्णदास कविराज के प्राण निकल गये। यदुनन्दनदास के 'कर्णनाद' नामक ग्रन्थ में उल्लेख है कि उस समय उनकी मृत्यु नहीं हुई। कर्णानन्द ग्रन्थ की रचना हुई ग्रन्थों की लूट के २६ वर्ष बाद सन् १६०७ में। प्रेमविलास की रचना हुई उससे ७ वर्ष पूर्व सन् १६०० में। इसलिए कुछ लोग मानते हैं कि प्रेमविलास का मत ही ठीक है। पर वृन्दावन शोध–संस्थान को जो जीव गोस्वामी की संकल्पपत्री ःपससद्ध प्राप्त हुई है उस पर तारीख पड़ी है सम्वत् १६६३ (सन् १६०६)। उसकी पीठ पर जो परपिष्टलिपि है उस पर तरीख है सम्वत् १६६५ (सन् १६०८)। उस पर श्रीकृष्णदास कविराज के साक्षी रूप में हस्ताक्षर हैं। इससे श्रीकृष्णदास कविराज का सन् १६०८ तक प्रकट रहना सिद्ध है।

इधर श्रीनिवासाचार्यने अपने दोनों साथियोंसे कहा—"तुम्हें दोनोंको गोस्वामीगणने वैष्णव—धर्मके प्रचारका कार्य सौपा है, मुझे मुख्य रूपसे ग्रन्थोंके प्रचारका। इसलिए तुम दोनों गौड़ जाकर अपना कार्य आरम्भ करो। मैं यहाँ रुककर ग्रन्थोंकी खोज करूँगा। यदि ग्रन्थ न मिले तो प्राण त्याग दूँगा।" नरोत्तम और श्यामानन्द बड़ी विषम स्थितिमें पड़ गये। वे न तो प्राण से भी अधिक प्रिय अपने वरिष्ठ साथीको छोड़कर जा सकते थे, न उसकी और वृन्दावनके गोस्वामीगणकी आज्ञाका उल्लंघन कर सकते थे। अन्तमें महाप्रभुकी इच्छा जान उन्होंने उनके प्रिय कार्यके लिए गौड़ जानेका निश्चय किया। श्रीनिवासाचार्य प्रभुको वही छोड़ उन्होंने उनके चरणोंमें प्रणाम कर रोते रोते गौड़के लिए प्रस्थान किया।

श्रीनिवासाचार्य सर्वस्व लुट जानेके पश्चात् एक उन्मत्त व्यक्तिकी तरह घूम—फिरकर ग्रन्थ—रत्नोंकी खोज करने लगे। देउली ग्रामके कृष्णवल्लभ नामके एक ब्राह्मणसे उन्हें पता चला कि बीरहाम्बीरके राजमहलमें नित्य सन्ध्या समय श्रीमद्भागवत पुराणका पाठ होता है। इससे उन्हें उस पथका संकेत मिला, जिसपर चलकर ग्रन्थोंकी खोज खबर पानेकी कुछ सम्भावना हो सकती थी।

वे कृष्णवल्लभके साथ राजमहल गये पाठ सुनने। रासपञ्चाध्यायीका पाठ चल रहा था। पाठक उलटी—सीधी व्याख्या कर रहे थे। श्रीनिवासाचार्यसे किसी एक अंशकी व्याख्याका प्रतिवाद किये बिना न रहा गया। उनके मुखसे सही व्याख्या सुन सब चमत्कृत रह गये। तब राजा वीर हाम्बीरने उनसे पाठ करनेका आग्रह किया सुयोग पा दूसरे दिनसे श्रीनिवासाचार्य पाठ करने लगे।

श्रीनिवासाचार्यके मुखसे रासपञ्चाध्यायीकी असाधारण पांडित्यपूर्ण रसमयी व्याख्या सुन राजा समेत सब दस्यु सरदारोंका पाषाणसे भी अधिक कठोर हृदय पिघल गया। सभास्थल उनके नेत्रजलसे परिपूर्ण हो गया। उन्होंने श्रीमद्भागवतकी ऐसी रसमयी व्याख्या पहले कभी नहीं सुनी थी।

पाठके पश्चात् वीरहाम्बीरकी श्रीनिवासाचार्यसे जो बात हुई, उससे ग्रन्थोंकी चोरीका रहस्य खुल गया। वीरहाम्बीरने श्रीनिवासाचार्यको ग्रन्थही नहीं लौटाए, अपने आपको भी उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया। वे और उनकी प्रजाके अनेक लोग उनसे दीक्षा ग्रहण कर धन्य हुए।[1] विष्णुपुरमें भक्तिकी गंगा वह निकली। जगह—जगह मन्दिरोंका निर्माण हुआ। घर—घर में कृष्ण पूजा और चैतन्य—पूजा का विस्तार हुआ। घर घरमें गौड़ीय ग्रन्थोंका पाठ होने लगा, विष्णुपुर गौडीय वैष्णव धर्मके प्रचारका प्रमुख

---

१. दीक्षा के पश्चात् श्रीनिवासाचार्य ने वीरहाम्वीर का नाम रखा 'हरिचरणदास'। पीछे जीव गोस्वामी ने उनका नाम रखा 'चैतन्यदास'। वीरहाम्वीर के पुराण-पाठक ने भी श्रीनिवासाचार्य से दीक्षा ली और उनका नाम हुआ 'व्यासाचार्य'।

केन्द्र बन गया। श्रीसतीशचन्द्र मित्रने लिखा है कि आज भी विष्णुपुरमें चैतन्य–चरितामृत आदि ग्रन्थोंकी जितनी प्राचीन लिपियाँ मिलती हैं, उतनी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती।[1]

श्रीनिवासाचार्यने ग्रन्थोंके उद्धारकी कहानी जीव गोस्वामीको लिख भेजी। पत्रके साथ वीर हाम्बीरने ठाकुर सेवाके हेतु एक बैलगाड़ीमें फलमूलादि नाना प्रकारकी खाद्य सामग्री भेजी। पत्र प्राप्तकर जीव गोस्वामीके हृदयमें आनन्द न समा सका। उन्होंने ग्रन्थोंकी चोरीमें प्रभुके किसी गूढ़ उद्देश्यकी जो कल्पना की थी, उसके रहस्यका उद्घाटन हो गया। एक कौपीनधारी वैष्णव के द्वारा ग्रन्थोंके प्रचारका कार्य बिना वीरहाम्मीर जैसे भक्तिमान राजाके अर्थ और शक्तिकी सहायताके सम्भव नहीं था। इसीलिए प्रभुने यह लीला रची थी।

अब प्रचार कार्य सुविधापूर्वक चलते रहनेके लिए सब व्यवस्था अपने आप हो गयी। श्रीनिवास राजगुरु रूपसे सम्मानित हो ग्रन्थ लेकर गौड़ देशमें याजिग्राम पहुँचे। राजगुरु रूपसे उन्हें अर्थकी कोई कमी नहीं थी। उनकी अध्यक्षतामें खेतरीमें एक विराट् उत्सव मनाया गया। बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मनीपुर तकके भक्तोंने उसमें योगदान किया। इसके पश्चात् संगठित और सुव्यवस्थित रूपसे सारा काम चलने लगा। श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्दने गाँव–गाँवमें प्रचार कर गौड़से लेकर नीलाचलतक और पूर्वमें मनीपुरतक सारे प्रदेशको नवधर्मका प्रचार कर भक्तिसिक्त कर दिया। गौड़, आसाम और मणिपुरको नरोत्तमने विशेषरूपसे अपने प्रचारका क्षेत्र बनाया और उड़ीसामें श्यामानन्द प्रचारका संचालन करते रहे वृन्दावनसे श्रीजीव। उनके साथ पत्र–व्यवहार बराबर होता रहा। जिन नये–नये ग्रन्थोंका प्रणयन होता, उन्हें वे गौड़ भेजते रहते। जिन ग्रन्थोंकी गौड़में रचना होती, उन्हें स्वीकृतिके लिए उनके पास भेजा जाता। उनकी स्वीकृति प्राप्त करनेपर या उनके आदेशानुसार ग्रन्थोंके संशोधित होनेपर ही उनका प्रचार किया जाता। जो भी उत्सव, अनुष्ठान आदि होते, उनकी सूचना उन्हें भेजी जाती। किसी विशेष परिस्थितिमें मार्ग–दर्शनके लिए उनसे प्रार्थना की जाती।

वृन्दावनकी दूरी और अपनी व्यस्तताके कारण श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्दका बार–बार वृन्दावन जाना सम्भव नहीं था। फिर भी श्रीनिवासाचार्य दो बार और श्यामानन्द एक बार और वृन्दावन जा सके।

तिरोभाव

महाप्रभुका शेष कार्य, जो रूप सनातन जीव गोस्वामीके लिए छोड़ गये थे, अब पूरा हो चुका। उसके साथ ही जीव गोस्वामीका जीवनकाल भी पूरा हुआ। सन् १६०८ के पौष मासकी शुक्ला तृतीयाके दिन उनका तिरोभाव हुआ। राधादामोदरके मन्दिरके प्रांगणमें उनकी समाधि

१. सप्त गोस्वामी, पृष्ठ २५४।

रखी गयी।[1]

जबतक भारतके वैष्णव–धर्मकी विजयपताका फहराती रहेगी, जबतक सर्व सिद्धान्त सार, सर्वशास्त्र–शिरोमणि श्रीमद्भागवतके भक्ति सिद्धान्त और दर्शनकी आलोचना होती रहेगी, तबतक विश्वके आकाशपर श्रीजीव गोस्वामीकी उज्ज्वल कीर्ति छायी रहेगी।

श्रीरघुनाथदास गोस्वामी

प्रयागमें गंगा, जमुना, सरस्वतीका संगम है, जिससे हम सब परिचित हैं। इन तीनों धाराओंका एक और संगम है बंगालमें, जहाँ ये पूनर्विमुक्त हो अलग अलग बहने लगती हैं। इस 'मुक्त' त्रिवेणीके सन्निकट ही पुराणोक्त राजा प्रियव्रतके सात पुत्रोंने संन्यास ग्रहण कर तपस्या की थी। तभीसे इस क्षेत्रका नाम पड़ा 'सप्तग्राम'। मुसलमानी राज्यकालमें सप्तग्राम और उसके आस पास का क्षेत्र एक सुसमृद्ध और सुविस्तीर्ण 'मुलुक' (राज्यखण्ड) था, जिसके अधिपति थे दो भाई–हिरण्य और गोवर्धनदास। हिरण्य बड़े थे, गोवर्धन छोटे। कायस्थवंशीय यह दोनों भाई अपने विपुल ऐश्वर्य, शौर्य, वीर्य, विद्या, बुद्धि और सदाचारके कारण समाजमें अपना विशेष स्थान रखते थे। राजस्वके रूपमें ये १२ लाख रूपये प्रति वर्ष सरकारी खजानेमें जमा करते थे। इनकी अपनी वार्षिक आय २० लाख रूपये से कम न थी।

दान–ध्यान और धर्मनिष्ठा भी दोनों भाईयोंमें कम न थी। नदिया अंचलके बहुत से ब्राह्मण उनसे निष्कर भूमि या सामयिक वृत्ति प्राप्त कर जीवन निर्वाह करते थे।[2]

हिरण्य निःसन्तान थे। गोवर्धनदासके एक मात्र पुत्र थे–रघुनाथ। उनका जन्म अनुमानतः सम्वत् १५६२ में हुगली जिलेके अन्तर्गत कृष्णपुरमें हुआ था।[3]

बालक रघुनाथ

दोनों भाइयोंकी सम्पत्तिके एकमात्र उत्तराधिकारी, उनके वंशके एकमात्र प्रदीप, उनके नयन–मणि रघुनाथका लालन–पालन अतुलनीय ऐश्वर्य और स्नेह–ममताके परिवेशमें हुआ। दोनों भाइयोंकी अभिलाषा और

---

१. डा० सुशीलकुमार देने History of Sanskrit Poetics (p. 256) में, नगेन्द्रनाथ बसु ने विश्वकोष (पृ० १०९) में और हरिलाल चट्टोपाध्याय ने वैष्णव इतिहास (पृ० ६३) में जीव गोस्वामी का तिरोभाव सन् १६१८ में लिखा है। श्रीसतीशचन्द्र मित्र ने सप्त–गोस्वामी ग्रन्थ (पृ० २५८) में उनका तिरोभाव सन् १५९० में लिखा है। पर वृन्दावन शोध–संस्थान में सुरक्षित जीव स्वामी की 'संकल्पपत्री' (will) की परपिष्ट लिपि (post script verso) जो अन्त समय में संकल्पपत्र में जोड़े गये अंश (codicil) के रूप में है, सन् १६०८ की है। इससे स्पष्ट है कि उनका तिरोभाव सन् १६०८ में हुआ।

२. चै० च०, २/१६/२१७–२१९।

३. डा० जाना : वृन्दावनेर छय गोस्वामी, पृ० २४९

आशा थी कि वे उनके धनी परिवारके योग्य बनेंगे और उसकी राजसिक धारा अक्षुण्ण बनाये रखेंगे।

हिरण्य और गोवर्धन स्वयं सुपण्डित और शास्त्रविद् थे। उन्होंने बालक रघुनाथको भी सुपण्डित बननेके लिए कुलपुरोहित बलराम आचार्यके घर निकटवर्ती चांदपुर ग्राम भेज दिया। वे उनकी संरक्षतामें रहकर विद्या अध्ययन करने लगे।

रघुनाथकी अवस्था उस समय ८-१० वर्षकी होगी। उस समय भी ऐसा नहीं लगता था कि वे परिवारकी राजसिक धाराके योग्य बनकर पिता और पितृव्यकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे। उनका शान्त, सुशील और सौम्य भाव था। खान–पान, वेश–भूषा और खेल–कूदमें अरुचि थी। लगता था कि वे जन्मसे ही विषयोंसे उदासीन हैं। तभी चैतन्य–चरितामृतमें कविराज गोस्वामीने लिखा है–

सेइ गोवर्धनेर पुत्र रघुनाथदास। वाल्यकाल हैते तिहों विषये उदास।।

(चै०च० २/१६/२२२)

बलराम आचार्य और रघुनाथ आदर्श गुरु और शिष्य थे। रघुनाथ जैसे शान्त, सौम्य और विषयोंसे उदासीन थे, वैसे ही बलराम भी। बलराम जैसे शास्त्रविद् पण्डित थे, रघुनाथ भी वैसे ही असाधारण मेधासम्पन्न शास्त्राध्ययनके अधिकारी विद्यार्थी थे। कुछ वर्षोंमें ही रघुनाथ संस्कृत साहित्य और शास्त्रोंमें पारंगत हो गये।

बलराम आचार्य केवल पण्डित ही नहीं थे। एक धर्मपरायण, साधुसेवी व्यक्तिके रूपमें उनकी ख्याति थी! साधु–सन्तोंका समागम उनके घर बना ही रहता था।

एक बार हरिदास ठाकुर बेनापोलसे चांदपुर पधारे। बलराम आचार्यने सादर उनकी अभ्यर्थनाकी। उनके लिए एकान्त स्थानमें एक पर्णकुटी बनवा दी। कुटीमें रहकर हरिदास जप और नाम–कीर्तन करते, बलराम आचार्यके घर भिक्षा करते।

बालक रघुनाथ, जब भी हरिदास घरपर आते, उन्हें दण्डवत् कर हाथ जोड़ विनीत भावसे उनके सामने खड़े हो जाते, उनका आशीर्वाद और स्नेहस्पर्श प्राप्त कर धन्य होते। अवसर मिलने पर उनकी कुटीके आस–पास घूम–फिरकर उनका कीर्तन सुनते, उनकी भजन निष्ठा और उनका दिव्य भावावेश देख स्वयं भी भावाविष्ट होते।

हरिदास ठाकुरके ही दिव्य दर्शन और उनके कृपा–आशीर्वादसे रघुनाथकी भक्ति–साधनाका द्वार उन्मोचित हुआ और उन्हें श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपा प्राप्त हुई। ऐसा रघुनाथदास गोस्वामीके ही शिष्य श्रीकृष्णदास कविराजने चैतन्य–चरितामृतमें कहा है–

हरिदास कृपा करे ताहार उपरे। सेइ कृपा कारण हइल चैतन्य पाइवारे।।

(चै०च० ३/३/१६९)

महाप्रभुसे प्रथम मिलन

बालक रघुनाथने अपने दास–दासियों, आत्मीय स्वजनों और प्रतिदिन पिता–पितृव्यकी सभामें आनेवाले नदियाके विशिष्टजनोंसे गौरहरिकी अनुपम रूप–माधुरी और लीला–माधुरीके सम्बन्धमें जो सुना था, उसके फलस्वरूप उनकी दिव्यमूर्ति उनके हृदय–मन्दिरमेंपहले ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। पर ठाकुर हरिदासके दर्शन और आशीर्वादसे उनके हृदयमें भाव–भक्तिकी जो नयी लहर दौड़ी, उसके परिपेक्ष्यमें वह मूर्ति सजीव हो उठी। उसका आकर्षण उन्हें प्रतिपल व्याकुल किये रहता। उसके प्रत्यक्ष दर्शनके लिए वे बेचैन रहते।

उस दिन नवद्वीपसे आया एक नया सम्वाद, जिसने बिजलीकी तरह सारे सप्तग्रामको झक़झोर दिया। सम्वाद था कि गौर सुन्दर काटोयामें केशव भारतीसे संन्यास लेकर न जाने कहाँ चले गये हैं, उनके स्वजन–परिजन रोते विलखते उन्हें जगह–जगह खोजते फिर रहे हैं। यह सुन रघुनाथपर भी वज्राघात हुआ। न जाने अब कभी गौरके दर्शन होंगे या नहीं, यह सोचते–सोचते वे मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े।

तीन दिन बाद संवाद मिला कि उनके प्राणधन गौरहरि संन्यास लेनेके पश्चात् राढ़ देश भ्रमण करते करते शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर पहुँच गये हैं और असंख्य लोगोंकी भीड़ नवद्वीपसे शान्तिपुरकी ओर उमड़ रही है। सप्तग्रामके लोग भी टोलियाँ बाँध–बाँध शान्तिपुर जाने लगे। रघुनाथके भी विषादके बादलोंसे आच्छन्न हृदयाकाशमें आशाकी किरण सहसा फूट पड़ी। शान्तिपुरमें गौरहरिके दर्शन करनेके लिए वे चंचल हो उठे। रघुनाथकी अवस्था देख विचक्षण हिरण्य–गोवर्धनने ब्राह्मणों, सेवकों और सिपाहियोंके साथ रघुनाथको शान्तिपुर भेजनेकी व्यवस्था कर दी।

वहाँ पहुँचते ही रघुनाथने देखा कि कीर्तनकी एक नयी तरंग शान्तिपुरको बहाये ले जा रही है। निरविच्छिन्न जनस्त्रोत, बालक, वृद्ध, नर और नारी अद्वैताचार्यके घरकी ओर गौरप्रेमके एक सूत्रमें बँधे चले जा रहे हैं। सब उच्च स्वरसे मन और प्राण मथ देनेवाली मधुर हरिध्वनि करते जा रहे हैं। रघुनाथने भी उस मधुर ध्वनिमें अपनी कण्ठ ध्वनिका योग किया।

आचार्यके घर पहुँचकर रघुनाथ गौरसुन्दरके चरणोंमें लोट गये। गौरसुन्दरने स्नेहपूर्वक रघुनाथके मस्तकपर अपने चरण–कमल रख उन्हें आत्मसात् किया और उठाकर हृदयसे लगा लिया। भक्त और भगवान् दोनोंने अपने प्रेमाश्रुओंसे एक दूसरेको अभिषिक्त किया।

रघुनाथको सप्तग्रामके अधिपतिके एक मात्र उत्तराधिकारीके रूपमें सब जानते थे। अद्वैताचार्यसे हिरण्य और गोवर्धनका विशेष परिचय था। इसलिए उन्होंने रघुनाथके सुख–सुविधापूर्वक अपने घर ठहरनेकी व्यवस्था कर दी। रघुनाथने पाँच–सात दिन वहाँ रहकर सुखपूर्वक गौर–दर्शन

किये और प्रतिदिन आचार्यकी कृपा से देव दुर्लभ गौरका उच्छिष्ट प्राप्त किया–

आचार्य प्रसादे पाइल प्रभुर उच्छिष्ट पात। प्रभुर चरण देखे दिन पाँच सात।।
(चै०च० २/१६/२२६)

रंगीले गौरहरिने पाँच–सात दिन अपना अखण्ड संग–सुख देकर और अपना अधरामृत देकर रघुनाथका मन–प्राण सब कुछ हर लिया और फिर विदा कर दिया। रघुनाथ गौर–विरहमें रोते रोते घर लौटे। इस प्रकार उनके रोनेका जो क्रम आरम्भ हुआ उसका जीवन पर्यन्त अन्त न हुआ।

रघुनाथ गौर-प्रेमोन्माद

रघुनाथ शान्तिपुरसे लौट आये हैं, पर उनके प्राण बँधे पड़े हैं एक अज्ञात प्रेमके बन्धनसे गौरहरिके चरणारविन्दसे। उनका रूप, उनकी प्रेमार्ति, उनका भावोच्छवास और उनका बार–बार स्नेहभरी दृष्टिसे उनकी ओर देखना वे एक पलको भी भूल नहीं पा रहे हैं। उनके प्राण उनके पास नीचाचल उड़ जानेको छटपटा रहे हैं।

उन्होंने अपने माता–पिता और ताऊके चरणोंमें आर्तिभरे स्वरमें निवेदन किया–'आप लोग मेरे परम प्रियजन हैं। मेरे हितैषी हैं। यदि मेरा सुख चाहते हैं, तो मुझे नीलाचल जाकर महाप्रभुके चरणोंमें आत्म समर्पण करने की अनुमति दे दें, अन्यथा मेरे प्राण नहीं बचेंगे।'

'बज्राघात ! रघुनाथके मुखसे यह कैसा प्रस्ताव? अभिभावकोंके पैरके नीचेसे धरती खिसकती जान पड़ने लगी। वे एक साथ बोल पड़े–'क्या कहा रघुनाथ? यह क्या पागलपन। ऐसा नहीं हो सकता। फिर न कहना ऐसी बात।'

रघुनाथ सचमुच गौर–प्रेममें पागल थे। माता–पिताके आज्ञाकारी पुत्र होते हुए भी उनकी आज्ञा–पालन कर घरपर रहना उनके लिए अब असम्भव हो गया। उन्होंने कई बार घरसे भाग निकलनेकी चेष्टा की। पर हर बार उनकी चेष्टा विफल कर दी गयी। उन्हें मार्गसे पकड़कर ले आया गया।

रघुनाथकी माँकी चिन्ताका छोर नहीं, आहार नहीं, निद्रा नहीं। हिरण्य और गोवर्धन भी सब समय चिन्तित और भयभीत। कहीं किसी दिन अवसर पाकर रघुनाथ घरसे चला ही न जाय। उन्होंने उसपर सिपाहियोंका पहरा बिठा दिया और सख्त आदेश दे दिया कि वह सप्तग्राम छोड़ कहीं जाने न पाय।

मनुष्यको संसारसे बाँध रखनेके लिए सबसे प्रबल बन्धन नारीका बन्धन है। रघुनाथकी अवस्था अब 17 वर्षकी हो गयी थी। अभिभावकोंने सोचा शायद उसका विवाह कर देनेसे उसमें अनुकूल परिवर्तन हो। एक सुलक्षणा परमसुन्दरी कन्यासे उन्होंने बड़ी धूम–धामसे उसका विवाह कर दिया। पर नारीका बन्धन भी रघुनाथको बाँधनेमें असमर्थ रहा।

महाप्रभुसे द्वितीय मिलन

कुछ ही समय बाद सप्तग्राममें सम्वाद आया कि महाप्रभु रामकेलिमें राजमन्त्री रूप–सनातनपर कृपा करनेके पश्चात् वृन्दावन जानेको थे, पर सनातनके परामर्शसे उन्होंने वृन्दावन–यात्रा स्थगित कर दी है। अब वे एक सप्ताह शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके पास ठहरेंगे। दर्शनार्थियोंकी भीड़ पहलेसे ही वहाँ लगने लगी है। कीर्तन–नर्तनकी आनन्द धारा दिन–रात बह रही है।

रघुनाथ भी व्याकुल हो उठे प्रभुके दर्शनके लिए। जिसके प्राण दीर्घकालसे प्यासके मारे छटपट कर रहे हों, उसके पास अमृतका समुद्र स्वयं चला आये, तो वह उसका पानकर प्राणोंको शीतल किये बिना कैसे रह सकता है? उन्होंने खुलकर कहा अपने पिता और पितृव्यसे–"मैं महाप्रभुके दर्शन किये बगैर नहीं रह सकता।"

हिरण्य और गोवर्धनके सामने फिर एक विकट समस्या। रघुनाथकी शान्तिपुर भेजें तो विपत्ति, न भेजें तो विपत्ति। बहुत सोचने–समझनेके बाद उन्होंने तय किया कि उसे भेज देना ही ठीक होगा। उन्हें महाप्रभुकी असाधारण करुणाका ध्यान आया। उन्होंने सुन रखा था कि किस प्रकार उन्होंने देशके प्रधान नैयायिक और वेदान्ती श्रीवासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य, महाप्रतापशाली राजा प्रतापरुद्र और महाभागवत राय रामानन्दपर ही नहीं अपनी दक्षिण–यात्राके समय जन–जनपर, यहाँ तक कि वारमुखीके समान वेश्या और नरोजीके समान दस्युतक पर कृपा की है। इसलिए उन्होंने सोचा कि वे उनपर भी दया अवश्य करेंगे। वे अन्तर्यामी हैं, जानते हैं कि रघुनाथ उनका नयन–मणि है, उनके प्राणोंका भी प्राण है, वे उसके बगैर जीवित नहीं रह सकते। उनकी कृपासे रघुनाथ सुस्थ और शान्त होकर घर लौटेगा और एक आदर्श गृहस्थका जीवन व्यतीत कर सकेगा।

उन्होंने रघुनाथका आवेदन स्वीकार कर लिया। पर्याप्त देह–रक्षकों, सेवकों और प्रवीण ब्राह्मणोंके साथ उन्हें शान्तिपुर भेज दिया। बहुत सी भेट–पूजाकी सामग्री भी साथमें भेज दी।

चार–पाँच वर्ष गौर–विरहमें रोते–रोते रघुनाथका गौर–अनुराग बहुत बढ़ गया था। शान्तिपुर जाते समय उन्होंने देखा कि अपार जनसमुदाय गौरहरिकी जय बोलता हुआ शान्तिपुरकी ओर द्रुतगतिसे बढ़ा चला जा रहा है। वे भी साथियोंको छोड़ उस भीड़के साथ हो लिए और नाचते–कूदते, गौरहरिकी जय बोलते, शान्तिपुर पहुँच गये।

इस बार गौरको देखते ही रघुनाथ उनके चरणोंसे लिपटकर फूट–फूटकर रोने लगे। चेष्टा करनेपर भी रोना किसी प्रकार रोक न सके। मन ही मन गौरके चरणोंमें वे प्रार्थना करने लगे–"प्रभु ! मुझे किसी प्रकार पहरेदार सिपाहियोंके हाथसे मुक्त कर अपने साथ नीलाचल ले चलो। मुझसे अब आपका विरह सहन नहीं होता। और कबतक मुझे पशुके समान जीवन व्यतीत करता हुआ विषय–विषसे जर्जरित होता देखते

रहोगे? संसारके पतित जीवोंका उद्धार करनेके लिए ही तो आपका आविर्भाव है। मुझ जैसे पतितकी कबतक उपेक्षा करते रहोगे, नाथ?" अन्तर्यामी प्रभुने रघुनाथको उठाकर हृदयसे लगा लिया। रघुनाथके मनकी सब बात जानते हुए भी उस समय उनसे कुछ नहीं कहा।

अद्वैताचार्यने रघुनाथके ठहरनेकी ऐसी व्यवस्था कर दी,' जिससे वे निरवच्छिन्न गौरका संगसुख भोग कर सकें। प्रतिदिन गौरका उच्छिष्ट प्रसाद भी उन्हें देते रहे।

गौरहरि जानते थे कि रघुनाथ उनके नित्य परिकर हैं, उनकी इस बारकी लीलाके अन्यतम सहायकके रूपमें उन्हें निकलकर रंग–मंचपर आना है। पर अभी कुछ दिन और उन्हें संसारमें रखकर उसके लिए सुगठित करना था उन्हें। एक दिन वे उन्हें आश्वस्त करते हुए प्रशान्त स्वरमें बोले–

"स्थिर हञा घरे जाओ ना हओ बातुल।
क्रमे–क्रमे पाय लोक भवसिन्धु कूल।।
मर्कट वैराग्य नाकर लोक देखाइया।
यथायोग्य विषय भुञ्ज अनासक्त हइया।।
अन्तरे निष्ठा कर बाह्ये लोक व्यवहार।
अचिराते कृष्ण तोमाय करिबे उद्धार।।

(चै०च० २/१६/२३७-२३९)

अर्थात् रघुनाथ ! इस प्रकार उन्मत्त न हो। मनको स्थिरकर घर जाओ। भवसिन्धुके पार मनुष्य क्रमशः ही पहुँचता है। मर्कट–वैराग्यसे कोई लाभ नहीं, जो लोगोंकी दिखानेके लिए होता है। घर जाकर अनासक्त भावसे विषयोंका यथायोग्य भोग करो। अन्तरमें प्रभुमें पूर्ण निष्ठा रखते हुए बाहर लौकिक व्यवहार करो। कृष्ण तुम्हारा शीघ्र उद्धार करेंगे।"

एकान्तमें प्रभुने रघुनाथसे यह भी कहा–

"वृन्दावन देखि जबे आसिबो नीलाचले।
तबे तुमि आमा पाश आसिह कोन छले।।
से छल से काले कृष्ण स्फुराबे तोमारे।
कृष्ण कृपा जाँरे, ताँरे के राखिते पारे।।

(चै०च० २/१६/२४०-२४१)

–वत्स ! मनमें किसी प्रकारका दुख न करना। मैं जब वृन्दावनसे लौटकर नीलाचल जाऊँगा, तब तुम किसी छलसे मेरे पास आ जाना। छलका स्फुरण कृष्ण स्वयं ही तुम्हारे हृदय में कर देंगे। जिस पर कृष्ण की कृपा होती है, उसे भला कौन संसारमें रख सकता है?"

प्रभुका इंगित समझनेमें रघुनाथको देर न लगी। उनके स्नेहपूर्ण आश्वास–वाक्यसे इस बार उनके अन्तरकी ज्वाला बहुत कुछ प्रशमित हो गयी। वे जब घर लौटे तो उनमें एक आश्चर्यजनक परिवर्तन देख घरवालोंकी खुशी का ओर–छोर न रहा। अब उनमें पहलेकी–सी उदासीनता

बिल्कुल नहीं। अब वे माता–पिता, दास–दासी सबसे हँसकर बोलते हैं, हास–परिहास द्वारा पत्नीको भी खुश रखते हैं, घरके काम–काजमें रूचि रखते जान पड़ते हैं।

हिरण्य और गोवर्द्धनने यह सुयोग देख अपने सुविस्तृत राज्य–खण्डके शासनका, उसका राजस्व संग्रह करनेका और सुलतानके खजानेमें उसका प्राप्त जमा करनेका दायित्वपूर्ण कार्य उनपर सौंप दिया। रघुनाथ बड़े मनोयोग और दक्षताके साथ कार्य करने लगे।

बुद्धिमान हिरण्य और गोवर्द्धनने एक अच्छा काम और किया। रघुनाथको अपने कुलगुरु यदुनन्दन आचार्यसे दीक्षा दिलवा दी, जिससे वे अपनी प्रवृत्तिके अनुसार पूजा–पाठ करते हुऐ अपने अन्तरात्माको भी प्रसन रख सकें। यदुनन्दन आचार्य सुपण्डित, साधननिष्ठ ब्राह्मण थे और अद्वैताचार्यके शिष्य थे। उनसे प्राप्त दीक्षाको रघुनाथने उसे कृष्ण कृपाका ही प्रथम चरण समझा, जिसका प्रभुने इंगित किया था।

श्रीरूप गोस्वामी और श्रीसनातन गोस्वामीने गौरचरण–प्राप्तिके लिए कृष्ण–मन्त्रका पुरश्चरण किया था। रघुनाथ भी यदुनन्दन आचार्यके सहयोगसे पुरश्चरणमें जुट गये। उनका घोषित उद्देश्य था पारिवारिक सुख–शान्तिकी अभिवृद्धि, आन्तरिक उद्देश्य था गौर चरणकी शीघ्र प्राप्ति। इसलिए घरके लोगोंकी ओरसे इसपर किसी प्रकारकी आपत्ति या शंका किये जाने का कोई प्रश्न नहीं था।

विपद

सप्तग्राम हिरण्य और गोवर्द्धनके आधिपत्यमें आया, उसके पूर्व उसका शासक एक मुसलमान अमीर था। प्रजाके प्रति उसका व्यवहार बड़ा निर्दयतापूर्ण था। इसलिए प्रजा उसे कर नहीं देना चाहती थी। जो कर वह वसूल कर पाता था, उसका भी अधिकांश अपने पास रख लेता था और बहुत कम सरकारी खजानेमें जमा करता था। सुलतानसे कहता था कि प्रजा विद्रोह कर रही है, कर नहीं देती।

हिरण्य और गोवर्द्धनने सुलतान हुसेनशाहको आश्वासन दिया कि वे १२ लाख रुपये प्रतिवर्ष राजस्वके रूप में खजानेमें जमा कर दिया करेंगे, कर वसूल हो या न हो। इस शर्तपर सुलतानने सप्तग्रामका आधिपत्य उन्हें दे दिया था। वह जानता था कि यह दोनों बड़े धनीमानी, सम्मानित और विचच्छण व्यक्ति हैं, सप्तग्रामकी प्रजासे वसूल करनेमें इन्हें कठिनाई न होगी। फिर १२ लाख रुपयेकी तो यह जिम्मेदारी ले ही रहे थे, जो एक अच्छी रकम थी।

दोनों भाइयोंने जबसे सप्तग्रामका शासन सम्हाला प्रजा उनसे बहुत खुश रहती, कर आसानीसे अदा कर देती। सुलतानका देय 12 लाख रुपये उसे देकर भी ये ८ लाख बचा लेते। इसके अतिरिक्त व्यवसाय और कई प्रकारके अन्य करोंसे और भी कई लाख रुपये प्रतिवर्ष की आमदनी कर लेते।

यह देख उस अमीरको ईर्ष्या होना स्वाभाविक था। उसने सुलतानके कान भरने और इनके विरुद्ध उसे उस्कानेमें कोई कसर न रखी। अमीरका परामर्श मान सुलतानने सेनाके साथ बजीरको सप्तग्राम भेजकर दोनों भाइयोंको गिरफ्तार करनेका हुक्म दे दिया।

हिरण्य और गोवर्द्धनको राजधानीका सब समाचार तुरन्त मिल जाया करता था। इस समाचारको भी उनके कानतक पहुँचनेमें देर न लगी। वे सप्तग्राम छोड़कर कहीं अन्यत्र जा छिपे। बजीर जब सेना लेकर आया और हिरण्य–गोवर्द्धन न मिले तो रघुनाथको गिरफ्तार कर ले गया। सुलतानकी आज्ञासे उन्हें कारागारमें डाल दिया।

सुलतान नित्य रघुनाथके दरवारमें हाजिर कराता और उन्हें डराता–धमकाता, जिससे हिरण्य–गोवर्द्धनका पता उनसे लग सके। वह उनके निकट मारने आता, पर उनका मुख देख उसका मन फिर जाता और मार न पाता–

मारिते आसिया जदि देखे रघुनाथे। मन फिरिजाय, तबे ना पारे मारिते।।

(चै०च० ३/६/२२)

रघुनाथ विचार करने लगे क्या करना चाहिए। एक दिन निर्भय हो कौशलपूवक बड़े विनीत भावसे उन्होंने सुलतानसे कहा–"काकाजी, मेरे पिता और पितृव्य दोनों आपके भाई हैं। भाई–भाईमें कभी प्रेम, कभी कलह होता ही है। आप लोगोंमे आज कलह है, कल फिर प्रेम हो जायगा। आप तीनों एक हो जायेंगे। मैं जैसे अपने पिताका पुत्र हूँ, वैसे ही आपका। आप मेरे पालक हैं, रक्षक हैं। साथ ही आप शास्त्रज्ञ हैं, 'जिंदापीर' के समान हैं। क्या बिना कसूर अपने ही पुत्रको डाटना–डपटना आपको शोभा देता है?"

रघुनाथके वचनं सुन और उनकी भावभंगी देख हुसेनशाहका हृदय आर्द्र हो गया, अश्रुजलसे उसकी दाढ़ी भीग गयी। उसने कहा–"रघुनाथ, आजसे तुम मेरे पुत्र हो। तुम्हें रिहा किये देता हूँ। पर देखो, तुम्हारे पिता और ताऊ ८ लाख रुपये प्रतिवर्ष हजम कर जाते हैं। उसमें क्या मेरा अंश कुछ नहीं है? तुम जैसा समझो करो। मैंने तुम्हारे ऊपर सारा भार छोड़ दिया।"

रघुनाथने घर आकर पिता और ताऊसे सब कुछ कहा। उन्हें सुलतानसे ले जाकर मिलवाया और राजस्व कुछ अधिक देने की बात तय करवाकर झगड़ा हमेशाके लिए मिटा दिया। रघुनाथके कौशलसे आया संकट टल गया।

नित्यानन्द प्रभुसे मिलन

कुछ दिन बाद रघुनाथको आनन्द–सम्वाद मिला कि गौरांग महाप्रभुके अभिन्न पार्षद आनन्दमूर्ति श्रीपाद नित्यानन्द प्रभु उनके अपने ही 'मुलुक' सप्तग्रामके अन्तर्गत पानिहाटी आये है। उनके साथ रामदास, गदाधरदास, पुरन्दर पण्डित आदि उनके पार्षद हैं। महाप्रभुने उन्हें घर–घर

जाकर कलिके पापी–तापी जीवोंको प्रेमदान करनेका आदेश दिया है। वे इसी कार्यमें व्यस्त हैं। वे जिधर भी दृष्टिपात करते है, उधर प्रेमाभक्तिकी वृष्टि होने लगती है–

जे दिके देखेन नित्यानन्द महाशय। से दिके महा-प्रेम भक्ति वृष्टि हय।।
(चै०भा० ३/५/३१३)

वे जिसे भी एक बार देख लेते हैं, उसमें अश्रु, कम्प, पुलक, हुंकारादि सात्विक भाव प्रकट होने लगते हैं, अपूर्व कृष्ण–प्रेमके ऐसे बल और ऐसी प्रेमान्मत्तताका उसमें संचार होता है कि वह साधारण शिशु हो तो भी बड़े–बडे वृक्षोंको उखाड़ फेंकता है, भावाविष्ट अवस्थामें उन्मत्तकी भाँति इधर–उधर भागने लगता है, सौ–सौ आदमी भी मिलकर उसे पकड़कर रखनेमें असमर्थ होते हैं। "जय श्रीकृष्ण-चैतन्य," "जय नित्यानन्द" की हुंकार कर वह त्रिभुवनको विकम्पित करने लगता है।[1]

अवधूत नित्यानन्दके मुखपर ऐसा दिव्य भाव है, उनकी बोलीमें ऐसा रस है, हास्यमें ऐसा जादू है और कीर्तनमें ऐसी मदिरा है कि वे जिधर जाते हैं लोग उन्हें देखते ही एक इन्द्रजालमें फँस जाते हैं। वे देह–गेह सब भूलकर उनके साथ हो लेते है और नाच–कूदकर उनके साथ कीर्तन करने लगते है। मृदंग और करतालकी ध्वनिसे आकाश गूँज उठता है और उस अंचलमें विजयी सेनापतिकी तरह नित्यानन्दकी दुन्दुभि बजने लगती है।

यह सम्वाद प्राप्त कर रघुनाथ विह्वल हो गये। उन्होंने समझा कि महाप्रभुने उन्हें जो आशीर्वाद दिया था, उसके फलीभूत होनेका समय आ गया है। परमदयालु नित्यानन्द प्रभु जब जीव मात्र पर अपनी कृपाकी वृष्टि कर रहे है, तो उनपर भी करेंगे ही। उन्होंने शीध्र उनके निकट जाकर उनके चरणों में आत्म–समर्पण करनेका निश्चय कर लिया।

इस बार उन्हें माता–पितासे आज्ञा लेनेमें कोई कठिनाई न हुई। वे पानिहाटी जा पहुँचे। उस समय नित्यानन्द प्रभु कीर्तन–नर्तनके पश्चात् संगातीरपर वट–वृक्षके नीचे चबूतरेपर बैठे थे। नीचे भक्तगण बैठे निर्निमेष उनकी ओर देख रहे थे। उनके समुन्नत देहकी गौरकान्ति सूर्योदयके समान दिशाओंको आलोकित कर रही थी। दोनों विशाल नेत्र दिव्य आनन्दकी दीप्तिसे दीप्तिमान हो रहे थे।

रघुनाथने दूरसे ही उन्हें देख साष्टांग प्रणाम किया। भक्तगण उन्हें पहचानते थे ही। उन्होंने नित्यानन्द प्रभु से कहा–"सप्तग्रामके उत्तराधिकारी रघुनाथ आपको प्रणाम कर रहे हैं।"

नित्यानन्दने पुरीमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके मुखसे रघुनाथकी प्रेमार्तिकी बात सुनी थी। उन्हें देख उत्फुल्लित हो वे उनके निकट गये, अपने चरण–कमलका स्पर्श उनके मस्तकको प्रदानकर उन्हें उठाकर हृदयसे

---

१. चै० भा० ३/५/३०७-३१० ; ३६२-३६५।

लगा लिया और प्रेम–मधुर स्वरमें बोले–

"चोर ! इतने दिन बाद अब आया है। ठहर, तुझे दण्ड देता हूँ।"

निताइ चाँदका भाव था कि गौर उनकी अपनी सम्पत्ति है। जो उस सम्पत्तिका भोग बिना उनकी अनुमतिके स्वतन्त्र रूपसे करनेकी चेष्टा करता है, वह चोर है। रघुनाथने दो बार गौरकी कृपा प्राप्त करनेकी चेष्टा की थी। दोनों बार इसीलिए वे असफल रहे थे कि उन्होंने स्वतन्त्र रूपसे यह चेष्टा की थी। गौड़ीय सिद्धान्तके अनुसार निताई गुरु–तत्त्व हैं और उन्हींके माध्यमसे गौरकी प्राप्ति सम्भव है।

दण्ड–महोत्सव

दण्डके लिए रघुनाथ प्रस्तुत ही नहीं उत्सुक थे। कृपाकी साक्षात् मूर्ति निताइका दण्ड उनकी कृपाके सिवा और क्या हो सकता था? वे दण्ड जाननेके लिए उत्सुकतासे उनकी ओर देखने लगे।

नित्यानन्दने कहा–"आज तुझे दही–च्योड़ा महोत्सव करना है। मेरे सभी भक्तोंको दही–च्योड़ा खिलाना है। यही तेरा दण्ड है।"

दण्डका विधान सुन रघुनाथ अति प्रफुल्लित। अर्थ और सवकोंका तो उनके पास अभाव था नहीं। अल्प समयमें ही सारी व्यवस्था हो गयी। पर्वतके समान च्योड़ा, केला, सन्देश, गुड़ादिके स्तूप जमा होते देर न लगी। उसी प्रकार दूध और दहीके शत–शत घड़े कहाँ–कहाँसे आ पहुँचे। च्योड़ाके दो भाग किये गये। एक भाग धनावर्त दूधमें दूसरा दहीमें भिजो दिया गया। दोनोंमें परिणामके अनुसार केले और गुड़का मिश्रण कर मिश्रित द्रव्यको सहस्त्रों बड़े आकारके सकोरोंमें भरकर रखा गया।

सहस्त्रोंकी संख्यामें बालक, वृद्ध, नर, नारी, ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालतक सब वर्णोंके लोग महोत्सवका सम्वाद प्राप्त कर आ गये। सबने निताइ और उनके परिकरोंको घेरकर बैठना चाहा। अनेकों, जिन्हें स्थान न मिला, वट–वृक्षके ऊपर चढ़ गये, अनेकोंको गंगाके भीतर घुटनोंतक जलमें खड़ा होना पड़ा।

सबको एक–एक सकोरा दही–च्योड़ाका, एक–एक दुग्ध–च्योड़ाका दिया गया। सब अपने–अपने सकोरे सामने रख निताइ चाँदके आदेशकी प्रतीक्षा करने लगे।

वट–वृक्षके नीचे चबूतरेपर निताई चाँद और महाप्रभुके लिए दो आसन बिछाये गये। दोनोंके सामने दही–च्योड़ा और दुग्ध–च्योड़ाके सकोरे रखे गये। निताइने तब ध्यानस्थ हो नीलाचल बिहारी गौरहरिको उस आनन्दोत्सवमें आह्वान किया। चैतन्य–चरितामृतमें उल्लेख है कि महाप्रभु नित्यानन्दकी प्रेम–पुकारकी अवहेलना न कर सके। वे जैसे ही आये नित्यानन्द आसनसे उठ खड़े हुए–

ध्याने तबे प्रभु महाप्रभुरे आनिल। महाप्रभु आइला देखि निताइ उठिल।।

(चै०च० ३/६/७७-७८)

महाप्रभुको लेकर निताई भक्त–समाजमें घूम–घूमकर सबके सकोरोंमें से कणिका लेकर महाप्रभुके मुखमें और महाप्रभु सहास्य नित्यानन्द प्रभुके मुखमें देने लगे। नित्यानन्द और उनके परिकर प्रेम–नेत्रोंसे इस दृश्यको देख परमानन्दित हुए। पर जिन लोगोंके प्रेम–नेत्र नहीं थे, वे निताइके इस प्रकारके व्यवहारका रहस्य न समझ सके।[1]

अन्तमें नित्यानन्द चबूतरेपर महाप्रभुके साथ जा विराजे। एक बार सबकी ओर प्रेम–दृष्टि फिराते हुए प्रसाद ग्रहण करनेका आदेश दिया। सबने निताइ–गौरकी जयध्वनिके बीच प्रसाद ग्रहण किया। अपना और गौरका अवशिष्ट प्रसाद निताइने रघुनाथको दिया।

दण्ड–महोत्सव समाप्त हुआ, पर अपनी मधुर स्मृति चिरकालके लिए छोड़ गया। आज भी उसी जाह्नवी तटपर, उसी वट–वृक्षके नीचे, उसी ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी तिथिपर सहस्त्रों वैष्णव साधु और गृहस्थ एकत्र होकर रघुनाथदास गोस्वामीका दण्ड–महोत्सव मनाया करते है।

आशीर्वाद

उसी दिन रात्रि समय राघव पण्डितके घर निताइ चाँदका भोजन था। उस समय भी गौरांग महाप्रभुका सशरीर वहाँ आविर्भाव हुआ और उन्होंने नित्यानन्दके साथ भोजन किया। राघव पण्डितने दोनों प्रभुओंका प्रसाद रघुनाथको दिया और सस्नेह आशीर्वाद देते हुए कहा–"आज महाप्रभुने स्वयं यहाँ पधारकर भोजन किया है। यह लो उनका प्रसाद। तुम्हारा जीवन धन्य हो।"

दूसरे दिन प्रातःकाल गंगा स्नानकर नित्यानन्द उसी वट–वृक्षके नीचे भक्तों के साथ इष्ट–गोष्ठी कर रहे थे। उसी समय रघुनाथने हाथ जोड़कर नेत्रोंसे अश्रु टपकाते हुए कहा–"प्रभु, मैं जीवाधम विषयी कीट हूँ। वामन हाते हुए चाँद पकड़नेकी अभिलाषा मेरे मनमें है। चैतन्य चरणका आश्रय पाने के लिए मैं उद्विग्न हूँ। आपकी कृपाके बिना चैतन्य चरणकी प्राप्ति असम्भव है। मेरे मस्तकपर चरण रखकर आशीर्वाद करें, जिससे निर्विघ्न चैतन्य–चरण प्राप्त कर सकूँ।"

इतना कहते–कहते वे निताइ चाँदके चरणों मे लोट गये और उच्च स्वरमें रोदन करने लगे। निताइ चाँदने स्नेहपूर्ण स्वरमें कहा–"रघुनाथ, मैं हृदयसे आशीर्वाद देता हूँ। श्रीचैतन्यके चरण–कमलोंका आश्रय तुम शीघ्र प्राप्त करोगे, अन्तरंग भक्तके रूपमें उनकी सेवा कर धन्य होंगे।"

निताइ चाँदकी हृदकर्ण–रसायन आशीर्वाद वाणी सुन रघुनाथ पुलकित और गम्भीर। "हा निताइ ! हा गौरांग !" कहते–कहते और दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए वे घर पहुँचे। उनकी वेशभूषा छिन्न–भिन्न थी, बाल बिखरे हुए थे, नेत्रोंकी भंगीसे लग रहा था कि वे बाह्य–जगत्से एकदम पीठ मोड़कर अन्तर्जगत्के किसी गम्भीरतम प्रकोष्ठमें प्रवेश कर गये हैं।

१. चै०च० ३/६/७८–८२।

गृह-त्याग

घर पहुँचकर वे भीतर नहीं गये। बाहर दुर्गा—मण्डपमें एक कोनेमें रहने लगे। उनमें यह अभूतपूर्व परिवर्तन देख पिता—पितृव्यकी चिन्ताका अन्त न रहा। उनके समझाने—बुझाने, डाटने—डपटने और माँ और पत्नीके रोने—धोनेका भी कोई फल न हुआ। माँने स्वामीसे कहा—"रघुनाथ पागल हो गया है। उसे कुछ दिन बाँधकर रखो। कहीं भाग गया तो मै कैसे जियूँगी?"

हिरण्यने उत्तर दिया—"जिसे इन्द्रसम वैभव और अप्सरासम नारी भी बाँधने में असमर्थ रहे, उसे हम क़ौन—से बन्धनसे बाँध सकते हैं वह क्या साधारण पागल है, जो उसे बाँधें? उसे अवधूत निताइ उग्र गौरांग—प्रेम—मदिरा पिला गया है। अब वह कदापि घरमें नही रहेगा। पुत्रका सुख हमारे भाग्यमें नहीं है, यह जानकर सन्तोष करना पड़ेगा।"

फिर भी पहरेदारों की संख्या बड़ाकर पहरेकी व्यवस्था कडी कर दी गयी। रघुनाथ जहाँ—कहीं भी जाते प्रच्छन्न प्रहरी उनके साथ रहते। ऐसी दशामें उनके व्यूहको भेदकर भाग निकलना उनके लिए असम्भव था। केवल शरीर छोड़कर आत्म—स्वरूपसे महाप्रभुके निकट पहुँचनेका ही एक मार्ग सामने दीखता था। पर वे महाप्रभुकी आशीर्वाद वाणीका स्मरण कर किसी प्रकार जीवन रक्षा कर रहे थे। महाप्रभुने कहा था—कृष्ण तुम्हें मुक्त करने की व्यवस्था अपने—आप कर देंगे।

एक दिन रातको तीन प्रहर बीत गये रघुनाथको 'हा गौर ! प्राण गौर !' कह रोते—रोते। प्रहरी थक थक गये स्वयं रो—रोकर उन्हें प्रबोध देते—दैते। प्रभात होनेमें चार दण्ड बाकी रह गये। उसी समय हठात् कुलगुरु श्रीयदुनन्दन आचार्य उनके पास आकर बोले—'बेटा रघुनाथ ! मैं एक बड़ी विपदमें पड गया हूँ।'

'क्या विपद है गुरुदेव? निःसंकोच आज्ञा करें। आप जो आज्ञा करेंगे यथासम्भव वही करूँगा, 'रघुनाथने तुरन्त उत्तर दिया।

"जो ब्राह्मण बालक मेरे घरके श्रीविग्रहकी सेवा करता था, वह कई दिनसे सेवा छोड़कर चला गया है। मैं अशक्त हूँ, सेवा कर नहीं पाता। उस पुजारी बालकसे यदि तुम कह दो, तो तुम्हारी बात न माननेका साहस वह कदापि न कर सकेगा। तुम इसी समय मेरे साथ उसके घर चलकर मुझे इस विपदसे मुक्त कर दो।"

रघुनाथ उसी समय गुरुदेवके साथ चल दिये। वे गुरुदेवके साथ जा रहे हैं उनके किसी आवश्यक कार्यसे यह समझ प्रहरियोंने बाधा नहीं दी।

मार्गमें ही यदुनन्दन आचार्यका घर पड़ता था। घरके निकट पहुँच रघुनाथने कहा गुरुदेवसे—"गुरुदेव, आप मेरे साथ जानेका कष्ट व्यर्थ कर रहे हैं। आप घर जाकर नित्यकृत्य करें, मैं अभी पुजारीको लेकर आता हूँ।"

आचार्य घर लौट गये। रघुनाथके मन–प्राण आनन्दसे नाच उठे। उन्होंने सोचा घरसे भाग निकलनेका इससे अच्छा अवसर और क्या हो सकता है। पुजारीको आचार्यके घर भेज उन्होंने नीलाचलकी ओर कदम बढ़ाया। राजपथ छोड़ वनपथका अनुसरण किया, क्योंकि राजपथसे किसी भी समय पिताके अश्वारोही सिपाहियों द्वारा पकड़े जानेका भय था।

पथमें कांटे–कंकड़, सांप–विच्छु, शेर–चीतों और नरघातक दस्युओंका भय न कर वे द्रुतगतिसे चैतन्य–प्रेम–मदिराके नशेमें चैतन्य–चरणोंका ध्यान करते बढ़ते चले गये। १८ दिनका रास्ता १२ दिनमें ही तय कर नीलाचल पहुँचे। मार्गमें केवल तीन दिन भोजन मिला। बाकी दिन अनाहार बीते।[1] श्रान्त–क्लान्त अवस्थामें महाप्रभुके निकट जा उन्हें साष्टांग प्रणाम किया।

नीलाचलमें महाप्रभुको आत्म समर्पण

प्रभु भावाविष्ट अवस्थामें भक्तमण्डलीसे घिरे बैठे थे। अचेतन जैसी अवस्थामें रघुनाथके अस्थि–पिंजरको महाप्रभुके सामने पड़ा देखते ही प्रभुके पार्षद मुकुन्द दत्त चौक पड़े। यह क्या ! सप्तग्रामके अधिपतिके पुत्र रघुनाथ ! उन्होंने महाप्रभुका ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया।

रघुनाथको देख महाप्रभुके मुखपर छा गयी प्रसन्नताकी मधुर दीप्ति। उन्होंने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया। रघुनाथके आनन्दाश्रुओंने महाप्रभुको अभिषिक्त किया, महाप्रभुके आनन्दाश्रुओंने रघुनाथको। भक्त और भगवान्‌का प्रेम–मिलन देख भक्तगण भी आनन्दाश्रु बहाने लगे। एक अभूतपूर्व आनन्दाश्रु–महोत्सवकी अनायास सृष्टि हुई।

भक्तोंके मनमें शंका जागी–रघुनाथ महाप्रभुका आलिंगन प्राप्त कर आत्मविभोर हों, यह स्वाभाविक है पर भक्तभाव धारण कर भक्तोंकी–सी लीला करनेवाले प्रभुओंके प्रभु महाप्रभु, जो सब प्रकारसे पूर्ण हैं, परितृप्त हैं, उन्हें ऐसा कौन–सा अभाव है, जिसके कारण रघुनाथको प्राप्त कर वे इतना आत्मविभोर हैं?

किसी अज्ञात शक्तिने उनकी अन्तरात्मामें प्रवेशकर उनसे कह दिया–महाप्रभु महाप्रभु हैं इसलिए कि वे श्रीकृष्ण–प्रेमस्वरूपिणी, परम करुणामयी राधारानीका भाव और कान्ति अंगीकार कर अवतीर्ण हुए हैं। इसलिए वे जीवोंके प्रति और सब प्रभुओंकी अपेक्षा अधिक करुण है। उनके घर–घर जाकर उन्हें प्रेमदान करनेके लिए आतुर हैं। जीवोंके प्रति उनकी करुणा इतनी स्वाभाविक है कि यह उनकी भूख बन गयी है। उनपर करुणाकर वे स्वयं तृप्त होते है। उनकी भूख अनन्त है। इसलिए प्रत्येक जीवका उनके लिए महत्व है। उसे आत्मसात् कर उनका तृप्त

१. बार दिने चलि गेला श्री पुरुषोत्तम।
पथे तिन दिन मात्र करिला भोजन॥
(चै० च० ३/६/१८८)

होना स्वाभाविक है। यही रघुनाथको प्राप्त कर उनके आत्मविभोर होने का रहस्य है। उनके अनन्तकोटि परिकर और सेवक हैं, यह ठीक है। पर रघुनाथ अभीतक उनमें नहीं थे। रघुनाथका अभाव उन्हें सर्व प्रकारसे पूर्ण होते हुए भी अपूर्ण, प्राप्तकाम होते हुए भी सकाम और शान्त होते हुए भी अशान्त किये हुए था।

कुछ स्थिर हो महाप्रभुने रघुनाथके सिरपर हाथ फेरते हुए कहा–'रघुनाथ, देखो कृष्णकी कैसी कृपा है। इस बार तुम्हें विषय–कूपसे कैसे निकाल लाये।'

सजल नेत्र और भाव–गद्गद् कण्ठसे रघुनाथने उत्तर दिया–'प्रभु, मैं कृष्ण कृपा नहीं जानता। मैने आपकी कृपाका ही प्रत्यक्ष अनुभव किया है। आपकी कृपासे ही मेरा उद्धार हुआ है।'

उसी समय प्रभुने बुलाया स्वरूप दामोदरको और रघुनाथका हाथ उनके हाथमें देकर कहा–'स्वरूप, रघुनाथको मैं तुम्हें सौप रहा हूँ। इसे अपने पुत्रके रूपमें स्वीकार करो।'

स्वरूप दामोदर महाप्रभुके सर्वापेक्षा अन्तरंग, गुरु गम्भीर, रसज्ञ भक्त थे। महाप्रभु स्वयं ही कहा करते कि निगूढ़ साधन–तत्व और व्रजके लीला–रस–रहस्यके–सम्बन्धमें वे उनसे भी अधिक जानते हैं। रघुनाथके एक उच्चकोटिके अधिकारी होने के कारण महाप्रभु उन्हें उनके हाथों ही सौप कर निश्चिन्त हो सके थे।

सिंह द्वारपर भिक्षा

पथश्रम, अनिद्रा और अनाहारके कारण रघुनाथका शरीर जर्जर हो गया था। इसलिए उन्होंने पाँच दिन महाप्रभुके सेवक गोविन्दका दिया महाप्रभुका अधरामृत ग्रहण किया। उसके पश्चात् वे रात्रिमें जगन्नाथ मन्दिरके सिंहद्वारपर अयाचक वृत्तिसे जा खड़े होते। जो कुछ कोई दे देता उससे उदरपूर्ति कर लेते।

एक दिन महाप्रभुने गोविन्दसे पूछा–'रघुनाथ यहाँ प्रसाद नहीं पाता?'

गोविन्दने उत्तर दिया, 'वह सिंहद्वारपर अयाचक वृत्तिसे जा खड़ा होता है। जो मिल जाता है, खा लेता है।'

महाप्रभु यह सुन बहुत प्रसन्न हुए और बोले–'यह ठीक करता है। वैरागी होकर परापेक्षा रखनेसे या जिह्वाकी लालसा रखनेसे कृष्ण–प्राप्ति नहीं होती।'

महाप्रभुका उपदेश

एक दिन रघुनाथने स्वरूप दामोदरसे कहा–"मुझे आये उतने दिन हो गये। पर महाप्रभुने अभीतक साध्य–साधनके सम्बन्धमें मुझसे कुछ नहीं कहा। आप न हो मेरी ओरसे उनसे प्रार्थना करें कि मुझे अब क्या करना है, यह बतलानेकी कृपा करें।"

स्वरूप दामोदरने जब रघ्ज़ुनाथके सामने महाप्रभुसे यह बात कही, तो वे हँसकर बोले–'साध्य–साधनके सम्बन्धमें तो तुम्हें सब कुछ स्वरूप दामोदर ही बतायेंगे। पर मुझसे कुछ सुनना ही चाहते हो तो मैं सार बात कहे देता हूँ। सुनो–

"ग्राम्य कथा ना कहिबे, ग्राम्य वार्ता ना शुनिबे।
भाल ना खाइबे आर भाल न परिबे।।
अमानी मानद कृष्ण नाम सदा लबे।
व्रजे राधाकृष्ण सेवा मानसे करिबे।।
(चै०च० ३/६/२३६-२३७)

–ग्राम्य–कथा कहना और सुनना, अच्छा खाना और अच्छा पहनना, इसका परित्याग करना। स्वयं अमानी रहकर दूसरोंका सम्मान करना। कृष्ण नामका सदा जप करना और मानसिक रूपसे (अन्तश्चिन्तित देहसे) व्रजमें राधा–कृष्ण की सेवा करना।'

इस प्रकार महाप्रभुने रागानुगा भजनके बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकारके साधनोंका संक्षेपमे उपदेश कर दिया–वाह्य साधन कृष्ण नाम–जप, अन्तरंग साधन राधाकृष्णकी मानसिक सेवा। विस्तारसे इसके विषयमें स्वरूपसे जाननेको कह दिया।

सप्तग्राममें छाया विषादका अन्धकार

इधर रघुनाथके गृहत्याग करनेके पश्चात् हिरण्य–गोवर्द्धनके राजमहलके समान प्रसादामें छाया है विषादका अन्धकार। रघुनाथकी तरुणी पत्नीका क्रन्दन और विलाप और उन्मादिनी जननीका हा–हाकार किसीसे देखा नहीं जाता। हिरण्य और गोवर्द्धन सिरपर हाथ रख हताश बैठे है। वे जानते है कि रघुनाथ निश्चय ही नीलाचल गया है और वहाँ जाकर उसने सदाके लिए महाप्रभुके चरणोंका आश्रय लें लिया है। अब उसका घर वापस आना सम्भव नहीं है।

शिवानन्द सेन महाप्रभुके भक्तोंमें एक गणमान्य व्यक्ति थे। प्रतिवर्ष गौड़से महाप्रभुके भक्तोंको अपने खर्चपर नीलाचल उनके दर्शनार्थ ले जाया करते थे वे अभी नीलाचलसे लौटकर आये थे। गोवर्द्धनने उनसे सम्पर्क कर रघुनाथके बारेमें जानना चाहा। उन्होंने कहा–'रघुनाथ नीलाचलमें बड़ा वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है। उसका वैराग्य और दैन्य देख आँसू नहीं रुकते।'

अन्तर–वेदनासे गोवर्द्धनका ह्रदय फट गया। राजपुत्रके समान विलास वैभवमें जो पला है, वह इतना कठोर वैराग्य कैसे सहन करेगा, यह सोच उन्होंने तुरन्त एक ब्राह्मण रसोइया और एक नौकर उसके पास नीलाचल भेज दिये। साथमें भेजी चारसौं मुद्रा और बहुतसी सुस्वादु खाद्य सामग्री।

रघुनाथने रसोइये और सेवकको पहुँचते ही वापस कर दिया। मुद्राएं यह सोचकर रख लीं कि बीच–बीचमें महाप्रभु और उनके परिकरोंको

निमन्त्रण देकर उनकी सेवा करेंगे।

रघुनाथकी कुटीपर महाप्रभुका निमन्त्रण

भक्ताधीन प्रभु रघुनाथकी प्रार्थना अस्वीकार न कर सके। माहमें दो–तीन बार भक्तों सहित उनके निवास–स्थानपर भोजन करते रहे। नाना प्रकारके स्वादिष्ट भोज्य तैयार कर रघुनाथ महाप्रभु और उनके पार्षदोंको खिलाते रहे।

दो वर्षतक यह क्रम चलता रहा। उसके पश्चात् हठात् रघुनाथने महाप्रभुको निमन्त्रण देना बन्द कर दिया।

कुछ दिन बाद महाप्रभुने कहा स्वरूपसे–'स्वरूप, बाजकल रघुनाथ निमन्त्रण नहीं कर रहा। बात क्या है?

स्वरूप रघुनाथका मनोभाव जानते थे। उन्होंने कहा–'रघुनाथके मनमें यह बात आयी है कि आपके भक्तों सहित बार–बार उसकी कुटीपर भोजन करनेसे उसे भक्तोंके बीच विशेष मर्यादा मिलती है, जिससे उसके प्रच्छन्न अभिमानकी पुष्टि होती है। पर निमन्त्रणसे आपकी तृप्ति नहीं होती। आप संकोचवश कुछ कह नहीं पाते। पर उसके विषयी पिताका अन्न खानेसे आप प्रसन्न नहीं हैं। फिर आप वैराग्यकी मूर्ति हैं, आपको सुस्वादु अच्छे–अच्छे पदार्थ भी रुचिकर नहीं हैं।'

यह सुन महाप्रभु बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा–'रघुनाथने ठीक समझा है। विषयीका अन्न खानेसे मन–मलिन होता है और कृष्ण–भजनमें बाधा पड़ती है।'[1]

वैराग्यमें वृद्धि

सिंहद्वारपर अयाचक वृत्तिसे भिक्षा करनेका रघुनाथका नियम बराबर चल रहा था। वे सारा दिन स्वरूप दामोदरकी सेवा और भजन साधनमें व्यतीत करते। रात्रिके समय सिंहद्वारपर जा खड़े होते। उनका भक्तिभाव दिनपर दिन बढ़ता जा रहा था। साथ ही वैराग्य भी बढ़ता जा रहा था। कुछ दिन बाद उन्हें अयाचक वृत्तिसे भी विरक्ति होने लगी। वे सोचने लगे इस प्रकार सिंहद्वारपर भिक्षाकी प्रतीक्षामें खड़े रहना क्या उचित है? महाप्रभुने कहा है साधककी परापेक्षा नहीं होनी चाहिए। यहाँ तो पूरी परापेक्षा है। मुखसे भिक्षा न माँगनेपर भी मनमें भिक्षा की लालसा और आशा बनी रहती है। अमुक व्यक्ति आ रहा है, इसने कल भिक्षा दी थी, शायद आज भी देगा। यह जो दूसरा आ रहा है इसने तो कभी कुछ दिया ही नहीं, आज भी नहीं देगा। यह एक और आ रहा है, शायद यह कुछ दे। इसने दिया तो, पर इतने से क्या होगा? कुछ देर और खड़े रहना होगा। आगन्तुकोंके सम्बन्धमें इस प्रकारका भाव मनमें आता रहता है। कभी उदरपूर्ति लायक भिक्षा जल्दी मिल जाती है, कभी बहुत देरतक खड़े रहना पड़ता है। इस बीच सूक्ष्मरूपसे भिक्षाका ही चिन्तन होता रहता है।

१. चै. च. ३/६/२७८

धिक्कार है ऐसी अयाचक वृत्तिको। इससे तो किसी सत्रपर, जहाँ कंगालोंको नियमित समयपर भोजन बांटा जाता है, माँगकर खा लेना ही अच्छा।

महाप्रभु प्रायः महाभावमें मत्त रहते, या इष्टगोष्ठीमें व्यस्त। कभी-कभी कई दिन बीत जाते रघुनाथकी खबर लिये बिना। एक दिन वे भक्तोंसे पूछने लगे-"रघुनाथ कैसा है? आजकल उसकी भिक्षा हो रही है?"

किसी ने कहा-'उसने सिंहद्वारपर अयाचक भावासे भिक्षा करना छोड़ दिया है। आजकल सत्रपर कंगालोंके साथ बैठकर खाने लगा है।'

महाप्रभुने कहा-'ठीक किया। सत्रपर माँगकर खा लेना अच्छा है। दाताकी दृष्टि पड़े ऐसे स्थानपर भिक्षाकी आशासे घण्टों खड़े रहना वेश्यावृत्ति है-

प्रभु कहे, भाल कैल, छाड़िल सिंहद्वार।
सिंहद्वारे भिक्षावृत्ति-वेश्यार आचार।।

(चै०च० ३/६/२८४)

प्रतापशाली सप्तग्रामके अधिपतिके पुत्र रघुनाथको सत्रपर कंगालोंके साथ भोजन करते देख लोग सिहर उठते। पर रघुनाथके वैराग्यका अन्त अभी भी नहीं हुआ। उन्होंने सोचा सत्रकी परिचालना किसी विषयीके द्रव्यसे होती है। विषयीका अन्न खानेसे भजनमें बाधा आती है। फिर सत्रपर निर्भर करना भी तो परापेक्षा ही है। उन्होंने उदरपूर्तिका एक ऐसा साधन खोज निकाला, जिसमें न परापेक्षा थी, न और किसी प्रकारका दोष।

जगन्नाथजीके मन्दिरके पास दुकानोंपर जगन्नाथजीका महाप्रसाद विक्रय होता। जो प्रसाद बिक न पाता और सड़ जाता, उसे दुकानदार सिंहद्वारके पास खड़ी गायोंके खानेके लिए उनके सामने डाल देते। गायें कुछ खाती, कुछ दुर्गन्धके कारण छोड़ देती। रघुनाथ वह सड़ा हुआ भातको उठा लाते। उसे बार-बार पानीसे धोनेके बाद जो भीतर से कुछ दृढ़ और स्वच्छ कण निकलते उन्हें नमक मिलाकर खा लेते।[1]

स्वरूप अपने रघुनाथकी गतिविधियोंकी सतर्कतासे टोह रखते थे। उन्हें जब पता चला उनके वैराग्यकी इस शेष परिणतिका वे मन ही मन प्रफुल्लित और गर्वान्वित हुए। एक दिन रात्रिमें वे रघुनाथकी कुटीपर पहुँच गये, जब वे बासी महाप्रसाद धोकर चुके थे। उन्होंने कहा, 'रघुनाथ, ऐसा अमृतमय प्रसादान्न तुम रोग खाते हो, मुझे नहीं देते।' इतना कह उन्होंने लपककर मुट्ठीभर वही प्रसाद अपने मुखमें डाल लिया। अपने धर्म-पुत्रके वैराग्यकी प्रशंसा करनेका इससे अच्छा ढंग और क्या हो सकता था?

अन्तर्यामी महाप्रभु तो सभी कुछ जानते थे। पर भक्तकी महिमा बढ़ाने के लिए एक दिन उन्होंने पूछा-'स्वरूप, तुम्हारे रघुका क्या समाचार

१. चै. च. ३/६/३१५-३१८

है?'

स्वरूपने भाव गदगद कण्ठसे रघुनाथकी कृच्छ साधनाका सब वृतान्त कह सुनाया। प्रभुका देह पुलकित हो गया, और नेत्रों में पुलकाश्रु छलछलाने लगे। स्वरूपको लेकर उसी समय वे रघुनाथकी कुटीपर गये।

रघुनाथ उस समय भोजन करने जा रहे थे। प्रसाद जलसे धोकर नमक मिलाकर केलेके पत्तेपर रखा था। प्रभुने आनन्दमग्न हो कहा–'रघुनाथ, तुम कैसे स्वार्थी हो? ऐसा अलौकिक प्रसाद रोज अकेले ही खा जाते हो, मुझे नहीं पूछते।'

कहनेके साथ ही महाप्रभुने हाथ बढ़ाकर प्रसादान्नका एक ग्रास मुखमें डाल लिया। दूसरा हाथ बढ़ाने जा रहे थे, तब स्वरूपने हाथ पकड़ लिया और कहा–'ना–ना प्रभुल यह आपके योग्य नहीं है।[1]

महाप्रभुने कहा–"नहीं स्वरूप, नित्य ही मैं नाना प्रकारका प्रसाद पाता हूँ। पर ऐसा दिव्य स्वाद तो किसीमें नहीं होता–

निति निति नाना प्रसाद खाइ। ऐछे स्वाद आर कोन प्रसादे ना पाइ।।
(चै०च० ३/६/३२४)

भक्तगण भी महाप्रभुके पीछे–पीछे भाग आये थे। वे महाप्रभुकी इस लीला का आनन्द ले विभोर हो रहे थे। उनके सामने महाप्रभु रघुनाथके वैराग्यकी प्रशंसा कर अघा नहीं रहे थे।

रघुनाथका वैराग्य शुष्क वैराग्य नहीं था। उन्होंने इसे साधनेका बलपूर्वक प्रयास नहीं किया था। यह उनके प्रबल कृष्ण–प्रेमका स्वाभाविक परिणाम था। इसलिए महाप्रभु रघुनाथसे बहुत प्रसन्न थे। सोचते थे रघुनाथ....... ऐसो कोई वस्तु नहीं थी, जिसे पाकर सर्वत्यागी रघुनाथ सुखी हो सकते थे। पर महाप्रभुके पास दो वस्तुएं ऐसी थी; जो सचमुच उन्हें निहाल कर सकती थी।

दो दिव्य उपहार

शंकरानन्द सरस्वती नामके एक भक्तने वृन्दावनसे एक गोवर्द्धन–शिला और गुंजामाला लाकर महाप्रभुको दी थी। तीन वर्षतक महाप्रभुने गोवर्द्धन–शिलाको कृष्ण–कलेवर जानकर उसकी सेवा की थी। स्मरणके समय वे गुंजामाला गलेमें धारण कर लेते और गोवर्द्धन–शिलाको कभी मस्तकपर धारण करते, कभी छातीसे लगाते, कभी नेत्रोंसे। उनके प्रेमाश्रुसे शिला और माला दोनों अभिषिक्त होते। निरन्तर तीन वर्षतक अपने प्रेमजलसे अभिषिक्त यह दोनों वस्तुएं महाप्रभुने रघुनाथको प्रदान की और कहा–'इस शिलाकी जल और तुलसी–मंजरीसे नित्य सात्विक सेवा करना। तुम्हें कृष्ण–प्रेमधन की प्राप्ति होगी।[2]

१. चै. च. ३/६/३२२–३२३

२. चै. च. ३/६/२८८–२९७

तीन वर्षतक महाप्रभुके साक्षात् अंग–स्पर्शसे परिपुष्ट और उनके प्रेमाश्रुओंसे परिषिक्त इन दोनों वस्तुओंको प्राप्तकर रघुनाथके आनन्दकी सीमा न रही।

रघुनाथके मन में आया कि शिला देकर प्रभुने मुझे गिरिराज गोवर्द्धन और गुञ्जामाला देकर राधारानीके चरण प्रदान किये हैं–

"शिला दिया गोसाञी समर्पिल गोवर्द्धन।
गुञ्जामाला दिया दिल राधिका-चरण।।"[1]

(चै०च० ३/६/३०७)

रघुनाथ प्रेमसे गोवर्द्धनशिलाकी सेवा महाप्रभुके उपदेशानुसार करने लगे। पर स्वरूपने कहा–शिलारूपी श्रीकृष्णको जल और तुलसीके अतिरिक्त आठ कौड़ी मूल्यका खाजा भी नित्य अर्पण किया करो। रघुनाथके पास तो एक कानी कौड़ी भी न थी। इसलिए स्वरूपने ही गोविन्दसे कहकर नित्य खाजा भिजवानेकी व्यवस्था करवा दी।[2] इस सेवाके फलस्वरूप रघुनाथको शिलामें श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हुआ करते–

एइ मत रघुनाथ करेन पूजन। पूजा काले देखे शिलाय व्रजेन्द्रनन्दन।।

नीलाचलमें सोलह वर्ष

रघुनाथका पूजा–जप और कठोर साधन–भजन नियमितरूपसे चलता रहा। दिनके छप्पन दण्ड साधनमें बीतते, बाकी चार दण्ड आहार–निद्रादि समस्त कार्योंमें। भजन–साधनके उनके नियमोंका पत्थरकी रेखाके समान सदा बिना व्यतिक्रमके पालन होता रहा–

अनन्त गुण रघुनाथेर के करिबे लेखा।
रघुनाथेर नियम जेन पाषाणेर रेखा।।
साड़े सात प्रहर जाय जाहार स्मरणे।
सबे चारि दण्ड आहार-निद्रा कोन दिने।।

(चै०च० ३/६/३०९-३१०)

सोलह वर्ष पर्यन्त रघुनाथ नीलाचल रहे। इस बीच में महाप्रभुकी समस्त अलौकिक लीलाओंके प्रत्यक्षदर्शी और श्रोता थे। दिनमें महाप्रभुके निकट रह स्वयं उन लीलाओंका दर्शन करते। रात्रिमें जो लीलाएं घटतीं उन्हें महाप्रभुके सब समय के अन्तरंग साथी स्वरूप दामोदरसे सुनते। परवर्तीकालमें उन्हीं लीलाओंको उन्होंने भक्त–समाजको भेंट किया अप्रतिम उपहारके रूपमें अपने शिष्य कृष्णदास कविराजके माध्यमसे चैतन्य चरितामृतमें।[3]

---

१. श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस पयार की टीका में लिखा है कि इन दोनों वस्तुओं को देकर महाप्रभु ने रघुनाथ को युगलकिशोर के भजन का उपदेश किया।
महाप्रभु के इस इंगित के अनुसार ही रघुनाथदास परवर्ती जीवन में गोवर्द्धन-राधाकुण्ड जाकर रहने लगे।

२. चै. च. ३/६/३०३-३०५।

३. चै. च. २/२/८४

सोलह वर्षके पश्चात् हठात् नीलाचलके नील आकाशपर छा गये महाविरहके काले बादल। महाप्रभुका अन्तर्धान हो गया। स्वरूप उनका विरह सहन न कर सके। थोड़े ही दिनोंमें उन्होंने भी शरीर छोड़ दिया।

बज्राघातके समान इन दोनों प्रहारोंके परिणामस्वरूप रघुनाथके मन–प्राण छिन्न–भिन्न हो गये। उन्होंने भी प्राण–विसर्जन करनेका निश्चय कर लिया। सोचा कि एक बार वृन्दावनमें महाप्रभुके अन्यतम पार्षद श्रीरूप और श्रीसनातनके दर्शन करेंगे। उसके पश्चात् गोवर्द्धनके शिखरसे कूदकर प्राण त्याग देंगे।

रघुनाथदासकृत 'दानकेलिचिन्तामणि' के दो श्लोकोंमें संकेत है कि वे महाप्रभुके विरहमें रोते–रोते अंधे हो गये थे। उनके 'व्रजविलास स्तव' की निम्न पंक्तियोंसे उनका अंधत्व और भी स्पष्टरूपसे सिद्ध होता जान पड़ता है–

दग्धं वार्धक्यवन्यवन्हि भिरलं दष्टं दुराध्याहिना।
विद्धं मामति पारवश्य विशिखैः क्रोधादि सिंहैर्वृतम्।।

'मुक्ताचरित' के अन्तमें उन्होंने जिस प्रकार कृष्णदास कविराजका उल्लेख किया है, उससे भी जान पड़ता है कि वे 'मुक्ताचरित' की रचना करते समय अंधे थे और कृष्णदास्ने ग्रन्थ लिखनेमें उनकी सहायता की थी।[1]

वृन्दावनमें

गोवर्धन शिला और गुंजामाला झोलेमें डाल रघुनाथ वृन्दावनको चल दिये। वृन्दावन पहुँचते ही रूप–सनातनादि गोस्वामियोंने और अन्यान्य भक्तोंने उन्हें आ घेरा। उनके देह त्यागनेके निश्चयके बारेमें जान सनातन और रूपने उन्हें बहुत प्रकार से प्रबोध देते हुए कहा–'रघुनाथ, शरीर त्यागनेका तुम्हारा निश्चय ठीक नहीं। गोवर्द्धन शिला और गुंजामाला प्रदान कर महाप्रभुने तुम्हें गोवर्द्धन और राधाकुण्डके दर्शन करनेका ही इंगित नहीं किया है। इंगित किया है वृन्दावनमें रहकर व्रज–रसकी साधना करनेका। इसके अतिरिक्त तुम महाप्रभुकी महाभावमयी अन्त्य–लीलाके एकमात्र रक्षक और वाहक हो। तुमने उसका प्रत्यक्ष दर्शन किया है और स्वरूप–दामोदरसे उसके विषयमें सुना है। हमें तुम्हारे मुखसे वह लीला–कथा सुनकर कृतकृत्य होनेकी लालसा है। तुम यदि शरीर छोड़ दोगे तो हमें उस सुखसे वंचित होना पड़ेगा।"

सनातन और रूपके प्रेम–बन्धनमें बंधकर रघुनाथको उनकी बात मान लेनी पड़ी और देह त्यागनेका अपना संकल्प छोड़ देना पड़ा। उन्होंने कुछ दिन वृन्दावनमें ही रहकर रूप–सनातनका मधुर संग किया।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी नीलाचल–लीला–कथा सुननेके लिए और स्वरूप और रामानन्दसे प्रेम–तत्वके सम्बन्धमें रघुनाथने जो कुछ सुना था,

१. डा. जाना : वृन्दावनेर छय गोस्वामी, पृ० २३४

उसे सुननेके लिए बहुतसे भक्त उनकी कुटीपर आया करते। महाप्रभुकी अन्त्य–लीलाके प्रत्यक्षदर्शी होनेके नाते तथा त्याग, तितिक्षा और भजनावेशमें महाप्रभुके भक्तोंमें श्रेष्ठ होनेके नाते वृन्दावनमें रघुनाथकी मर्यादाकी कोई तुलना नहीं थी। शायद इसी कारण वृन्दावनमें उनकी गिनती वृन्दावनके प्रसिद्ध छः गोस्वामियों में होने लगी और वेरघुनाथदास गोस्वामीके नामसे पुकारे जाने लगे।

रघुनाथदास गोस्वामीके पास वृन्दावनमें जो भक्त आया करते उनमें भक्तप्रवर श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। कविराज गोस्वामी प्रायः हर समय उनके पास रहते और सुयोग मिलनेपर उनकी सेवा–परिचर्या भी करते। वे उनके एकान्त अनुगत थे। कुछ लोगोंका मत है कि वे उनके शिष्य थे। पर इसमें सन्देह नहीं कि वे उनके शिक्षा–शिष्य थे। उन्होंने स्वयं चैतन्य–चरितामृतमें अपने छः शिक्षा–गुरुओंमें उनका नाम लिया है।[1]

पर वृन्दावनमें रघुनाथदास गोस्वामीका सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था रूप गोस्वामीसे। उनके साधन–जीवनमें स्वरूप दामोदरका स्थान अब रूप गोस्वामीने ले लिया था। जिस प्रकार नीलाचलमें वे स्वरूप दामोदरके साथ महाप्रभुकी निगूढ़ लीला–कथाकी आलोचना करते थे, उसी प्रकार अब वे प्रेमभक्तिरस–सिद्ध रूप गोस्वामीके पास बैठकर उनसे मधुर–रसकी तात्विक व्याख्या सुना करते थे।

राधाकुण्डमें

कुछ दिन बाद रघुनाथ दास गोस्वामीने गोवर्द्धनमें रहकर राधाकृष्णकी मधुर लीलाओंका चिन्तन करते हुए शेष जीवन व्यतीत करनेका निश्चय किया। रूप गोस्वामीसे अनुमति माँगी तो उन्होंने अनुमति दे दी, पर कहा–"कृष्णदास कविराजको अपने साथ अवश्य ले जाओ। तुम तो हर समय लीला–ध्यानमें डूबे रहोगे, बाह्यज्ञान रहेगा नहीं। ऐसी अवस्थामें तुम्हारी देख–भाल कौन करेगा?"

कृष्णदासको लेकर रघुनाथदास गोवर्धन चले गये। गोवर्द्धनके चरणप्रान्तमें एक स्थान है, जहाँ बैठकर महाप्रभुने राधाकुण्ड श्यामकुण्डकी महिमाका वर्णन किया था। आज भी उसे लोग 'उपवेशन–घाट' के नामसे पुकारते हैं। उसके निकट एक वृक्ष तले रघुनाथदासने रहना आरम्भ किया।

सनातन गोस्वामी भी उस समय गोवर्द्धनमें ही चक्रेश्वर महादेवके निकट 'बैठान' नामक ग्राममें रहा करते थे। रघुनाथदासके गोवर्द्धन आनेके पश्चात् वे स्नेहवश उन्हें देखने जाने का लोभ संवरण न कर सके। वे जब उनके निकट पहुँचे तो देखा कि वे ध्यानमग्न वृक्षतले बैठे हैं। एक व्याघ्र कुण्डमें पानी पी रहा है। श्रीकृष्ण व्याघ्रसे उनकी रक्षा करनेके लिए

१. चै. च. १/१/३६–३७

धनुषवाण ताने उनके पीछे खड़े है। घ्यान भंग होने पर जब उन्होंने सनातनको देखा, तो भूमिपर लोटकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। सनातन गोस्वामीने कहा—'रघुनाथ, तुम्हें मेरी एक बात माननी पड़ेगी। महाप्रभुके स्नेहाशिर्वादमें पला तुम्हारा जीवन बहुत मूल्यवान है। तुम्हारे कण्ठसे महाप्रभुको मधुरलीलारसका स्त्रोत बहता है, जिससे असंख्य जीवोंका कल्याण होना है। तुम्हारी जीवनकी रक्षा करना हमारा सबका कर्तव्य है। मैं तुम्हें वृक्षतले न रहने दूँगा। यहाँ हिंसक पशुओंका भय है। तुम नहीं जानते कि तुम्हारी शरीरकी रक्षा प्रभुको स्वयं करनी पड़ती है। क्या उन्हें कष्ट देना तुम्हारे लिए उचित है? मैं तुम्हारे लिए एक पर्णकुटीकी व्यवस्था कराये देता हूँ। उसीमें रहा करना।"

सनातन गोस्वामीकी आज्ञा रघुनाथदासको माननी पड़ी। उनके आदेशसे व्रजवासियोंने एक पर्णकुटी तैयार कर दी। रघुनाथदास उसमें रहकर भजन करने लगे।[1]

श्यामकुण्ड–राधाकुण्डका उद्वार

जिस स्थानपर रघुनाथदासकी कुटिया का निर्माण हुआ उसका नाम है अरिट ग्राम। एक बार अरिष्ट नाम असुरने वृषका रूप धारण कर व्रजमें महा उत्पात आरम्भ किया। कृष्णने उसका इसी स्थानपर वध कर दिया। इसीसे इसका नाम पड़ा अरिष्ट ग्राम या अरिट ग्राम।

यहाँ दो कुण्ड हैं, जिनका प्राकटय भी इसी घटनासे सम्बन्धित है। राधारानीने उपहासमें श्रीकृष्णसे वृष—वधका पापमोचन करने के लिए सब तीर्थोके जलमें स्नान कर आने को कहा। कौतुकी कृष्णने अपने पराक्रमसे पृथ्वीमें लात मारकर एक कुण्डकी सृष्टि की और उसमें सब तीर्थोका आह्वान किया। तीर्थोने साक्षात् प्रकट होकर कृष्णकी स्तुति की ओर कुण्डको अपने अपने जल से परिपूर्ण कर दिया। उस कुण्डका नाम हुआ श्याम कुण्ड। राधाने उसी समय कृष्ण के साथ स्पर्धामें उसीके निकट एक और कुण्ड प्रकट किया, जिसका नाम रखा राधाकुण्ड और अपनी असंख्य सखियोंके सहयोगसे उसे मानस गंगाके पवित्र जलसे भरना चाहा। तब श्रीकृष्णके इंगितपर तीर्थोने राधाकी स्तुति की और उनसे अपने कुण्डमें प्रवेश करनेकी अनुमति माँगी। राधाकी अनुमति प्राप्तकर उन्होंने श्यामकुण्डकी भित्ति तोड़कर राधाके कुण्डमें प्रवेश किया और अपने जलसे उसे परिपूरित किया।

कालक्रमसे यह कुण्ड पटकर नीची भूमिमें परिणत हो गये थे, जिसमें धानकी खेती होती थी। महाप्रभुने अपनी व्रज—परिक्रमाके समय इन दोनों कुण्डोंका आविष्कार किया था। रघुनाथदास गोस्वामीने कुण्डोंका ठीक स्थान निर्देश करने के लिए निकटके वृक्षोंसे प्रार्थना की। उन वृक्षोंने स्वप्नमें स्थानका निर्देश कर दिया। अब रघुनाथदासकी इच्छा हुई कि उन

१. भक्ति रत्नाकर ५/५५४—५६३

स्थानोंका खननकर दोनों कुण्डोंका किसी प्रकार उद्धार किया जाय। कार्य बहुत व्ययसाध्य था। वे इसके लिए सजल नेत्रोंसे भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे। इसके कारण उनका मन अशान्त रहने लगा और नित्यके भजन–साधनमें बाधा आने लगी। उन्होंने अपने–आपको तिरकृत कर इस वासनासे किसी प्रकार मुक्ति पायी।

पर भक्तके मनमें एक क्षणके लिए भी कोई वासना जागे तो भक्ताधीन श्रीकृष्णके लिए उसकी पूर्ति करना अनिवार्य होता है। एक दिन रघुनाथदास गोवर्द्धन परिक्रमा कर उपवेशन घाटपर बैठे थे। एक धनी व्यक्तिने आकर दण्डवत् प्रणाम किया और पूछा–'श्रीरघुनाथदास गोस्वामी आप ही हैं क्या?'

'मैं ही गोस्वामियोंका दास रघुनाथ हूँ' रघुनाथदासने उत्तर दिया।

'मुझे बद्रीनारायणजीने आदेश देकर आपके पास भेजा है।'

'बद्री नारायणजीने? !'

'जी, मैने बद्रीनारायणकी मनौती मानी थी। कार्य सिद्ध होनेपर प्रचुर धन खर्च कर उनकी सेवा पूजा करने बद्रीनाथ गया था। रात्रिमें बद्रीनारायणजीने स्वप्नमें आज्ञा की–मेरी पूजा में अधिक व्यय न कर व्रज चले जाना। वहाँ अरिट ग्राममें मेरा भक्त रघुनाथदास जैसे कहे राधाकुण्ड और श्यामकुण्डकी सेवा कर देना। उनकी आज्ञानुसार मैं बद्रीनाथसे सीधा यहाँ चला आया हूँ। आप जैसे आज्ञा करें सेवा करनेको प्रस्तुत हूँ।'

प्रभुकी असीम करुणाका अनुभव कर रघुनाथदासके नेत्रोंमें जल भर आया।

भाग्यवान् धनिक भी उनके निर्देशानुसार राधाकुण्ड–श्यामकुण्डकी सेवाकर धन्य हुआ। दोनों कुण्डोंका खनन किया गया। सुन्दर सरोवरके रूपमें दोनों का पुनः निर्माण कर दिया गया। आज भी असंख्य नर–नारी इन कुण्डोंमें स्नान कर सभी तीर्थोंमें स्नान करनेका पुण्य लाभ करते है। इतना ही नहीं इन्हें श्रीकृष्ण और श्रीराधाका ही स्वरूप मानकर राधा–कृष्णके अंग–स्पर्शका अनुभव करते है।

रघुनाथदासकी पर्णकुटी राधाकुण्डके बहुत निकट थी। कुछ ही दिनों में रघुनाथदास गोस्वामीके भजनसे प्रभावित हो कई और महात्माओंने अपनी भजन–कुटियाँ वहाँ बना लीं। कालान्तरमें कई मन्दिर और घाटोंका भी निर्माण हो गया। राधाकुण्डके नाम से कस्वा ही वहाँ बस गया।

मानसी सेवा

रघुनाथदासने नीलाचलमें जो कृच्छ साधनाका व्रत ले रखा था, वह पहले ही बहुत कठोर था, राधाकुण्डमें उसमें और वृद्धि हुई। कृष्णदासने राधाकुण्डमें उनकी दिनचर्याका वर्णन करते हुए लिखा है कि वे प्रतिदिन एक लाख नाम जप करते, एक सहस्त्र बार भगवान्‌को दण्डवत् करते, एक प्रहर महाप्रभुकी चरित्र–कथाओंका वर्णन करते, त्रिसन्ध्या राधाकुण्ड स्नान करते और रात्रि–दिन राधा–कृष्णकी मानसिक सेवा करते। इस

प्रकार साढ़े सात प्रहर भक्ति–साधनामें व्यतीत करते। केवल चार–दण्ड निद्रा जाते। किसी किसी दिन बिना निद्राके ही रह जाते। अन्न–जल कुछ भी ग्रहण न करते। केवल दो–तीन 'पल'[1] मठा पीकर कर रहते।[2]

राधा–कृष्णकी मानसी सेवा वे अन्तश्चिन्तित मंजरी–देहसे किया करते। मानसी सेवामें वे सिद्ध थे, यह उस समय की एक घटनासे स्पष्ट है, जो सबके सामने घटी थी। एक बार उन्हें अजीर्ण हो गया। श्रीवल्लभाचार्य के पुत्र श्रीविट्ठलनाथ उनका बड़ा आदर करते थे। उन्हें पता चला तो वे दो वैद्योंका लेकर उनके पास पहुँचे। वैद्योंने नाड़ी देखकर कहा–'इन्होंने दूधभात खाया है, उसीसे अजीर्ण है।' विट्ठलनाथजीने कहा–'असंभव ! ये तो मठेके सिवा और कुछ लेते ही नहीं।' उसी समय रघुनाथदासने कुछ मुस्कराते हुए विट्ठलनाथजीकी तरफ देखा और कहा–'नहीं, वैद्यजी ठीक कहते हैं।'

विट्ठलनाथजी समझ गये कि इसमें कुछ रहस्य है। वैद्योंके जानेके बा[illegible] उन्होंने रघुनाथदाससे फिर पूछा तो उन्होंने कहा–"मैंने मानसी सेव मे युगलको दूध–भातका भोग लगाकर प्रसाद ग्रहण किया था।"[3]

रघु[illegible]ाथदास गोस्वामीमें प्राण–सखी राधाकी मञ्जरीके भावका अभिनिवेष स दा बना रहता। उनका यह भाव कितना दृढ़ था, इसका एक ओर घटनार[illegible] पता चलता है। दास नामका एक व्रजवासी रघुनाथदास गोस्वामीकी [illegible]ठेकी सेवा किया करता था। रघुनाथदास का नियम था नित्य केवल एक दोना मठा लेने का। व्रजवासीने सोचा–इतनेसे मठेसे शरीर कैसे च[illegible]ेगा? वह ऐसे वृक्षकी खोज करने लगा, जिसके पत्ते बड़े हों, जिससे उसके पत्ते का बड़ा दोना बनाकर कुछ अधिक मठा पिलाया जा सके। उसे एक ऐसा वृक्ष सखी–स्थलीमें मिल गया, जो राधारानीकी प्रतिपक्षा चन्द्रावलीका ग्राम है। उसके एक पत्ते के दोनेमें मठा भरकर उसने रघुनाथ दासको दिया। रघुनाथदासने दोना देखते ही पूछा–'यह नया पत्ता कहाँसे लाया?"

व्रजवासीने उत्तर दिया–"मैं गाय चराने सखी स्थली गया था। वहीसे तोड़ लाया।"

सखी–स्थलीका नाम सुनते ही रघुनाथदासको क्रोध आया। उन्होंने मठे समेत दोना फेंक दिया। थोड़ी देरमें शान्त हो व्रजवासीसे बोले–

'देख सखी–स्थली चन्द्रावलीका स्थान है।'

राधारानीके एकान्त अनुगत, उनके अनन्य भक्त, मंजरी रूपसे सदा उन्हीकी सेवामें रह रघुनाथदास चन्द्रावलीके ग्रामकी कोई वस्तु, चाहे वह एक पत्ता ही क्यों न हो, अपने उपयोगमें कैसे ला सकते थे?

१. आठ तोले का एक पल।

२. चै. च. १/१०/९८-१०२

३. भक्ति रत्नाकर ५/५७४-५८१

साधक प्रेम साधनाके उच्च स्तर पर पहुँचकर एक ऐसे भाव–जगत्में विचरण करने लगता है कि उसके क्रिया–कलापको समझना बड़ा कठिन होता है। कभी–कभी अति साधारण कारणके उपस्थित होनेपर भी उसकी प्रतिक्रिया इतनी तीव्र और गंभीर होती है कि उसे देख आश्चर्य होने लगता है।

एक बार रूप गोस्वामीने 'ललित माधव' नाटककी रचनाकर रघुनाथदास गोस्वामीको पढ़नेको दिया। नाटकमें वर्णित राधाकी विरह–वेदनाका चिंतन करते–करते वे ऐसे व्यथित और उन्मत्त हो गये कि उनके प्राणोकी रक्षा करना भी कठिन हो गया। तब रूप गोस्वामीने उनका अन्तर्दाह प्रशमन करने के लिए हास–परिहासयुक्त 'दानकेलि कौमुदी' नामक ग्रन्थकी रचनाकर उन्हें पढ़नेको दिया और 'ललित माधव' नाटक वापस ले लिया। प्रतिषेधक औषधिके समान इस ग्रन्थने रघुनाथदासके मनको विभिन्न रससे प्रभावित कर उन्हें सुस्थ कर दिया। श्रीरूप गोस्वामीने ग्रन्थके आरम्भ और अन्तमें इसका आभास भी दिया है।

नियमाग्रह

रघुनाथदास गोस्वामीको राधाकुण्डमें कृच्छ्र साधन करते और अंतरमें राधा–कृष्णकी दिव्य लीलाओंका आस्वादन करते लगभग **२० वर्ष** बीत गये। तब एक दिन हठात् वृन्दावनके गोस्वामियोंके मध्यमणि सनातन गोस्वामीका अन्तर्धान हो गया। कुछ ही दिन बाद रूप गोस्वामीने भी नित्य–निकुञ्जमें प्रवेश किया। गुरु–स्थानीय इन दोनों महापुरुषोंके अन्तर्हित होने पर रघुनाथदास इतना मर्माहत हुए कि वे जो सूक्ष्म आहार किया करते थे वह भी बहुत दिन तक छूट–सा गया। कविराज गोस्वामी आदि भक्तोंके लिए उन्हें जीवित रखना एक समस्या बन गया। बड़ी सतर्कतासे दिन रात सेवा कर किसी प्रकार वे उनके प्राण बचा पाये।

आश्चर्यकी बात यह कि शरीरकी शोक–जर्जर, अनशनरत, महादुर्बल अवस्थामें भी उनके भजन–पूजनके सारे नियम चलते रहे। श्रीनरहरि चक्रवर्तीने इस समय की उनकी अवस्था का मार्मिक चित्रण इन पंक्तियोंमें किया है–

'कोथा श्रीस्वरूप, रूप, सनातन'-बलि।
भासये नेत्रेर जले, बिलुंठय धुलि।।
अति क्षीण शरीर दुर्बल क्षणे-क्षणे।
करये भक्षण किछु दुई चारि दिने।।
यद्यपि ओ शुष्क देह बातासे हालय।
तथापि निर्बन्ध क्रिया सब समाधय।।
भूमे पड़ि प्रणमि उठिते नाहि पारे।
इथे जे निषेधे किछुना कहये तारे।।
अनुकूल कैले प्रशंसये बारे बार।

(भक्ति रत्नाकर, ६/२३४-२३८)

नियम निर्वाह जैछे जे चेष्टा अन्तरे।
से सब देखिते कार हिया न विदरये।।

(भक्तिरत्नाकर, ११/१५२)

अर्थात्, उस समय रघुनाथदास 'हा स्वरूप ! हा रूप ! हा सनातन ! तुम कहाँ गये?' कह रोते-रोते भूमिपर लोट-पोट होने लगते। शोकातुर अवस्थामें वे बिना कुछ खाये-पिये पड़े रहते। दो-चार दिन बाद ही उनके पेटमें कुछ पहुँच पाता। उनका शरीर इतना क्षीण, इतना दुर्बल और शुष्क हो गया कि एक हवाके झोंकेसे ही हिलने लगता। इतना दुर्बल होते हुए भी उनका आन्तरिक और बाह्य नियम विधिवत् चलता रहता। दण्डवत् प्रणाम करनेके बाद उनका उठ खड़ा होना मुश्किल होता। यह देख यदि कोई बार-बार दण्डवत् करनेको निषेध करता तो उससे कुछ न कहते। पर यदि कोई उठनेमें सहारा लगा देता तो उसकी बार-बार प्रशंसा करते। देवगण भी उनका साधनमें इतना आग्रह देख चमत्कृत रह जाते। ऐसी अवस्थामें उन्हें अन्तर ओर बाहरके सभी नियमोंका निर्वाह करनेकी चेष्टा करते देख ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जिसका हृदय फट न जाता?

दैन्य

भजन सिद्ध होते हुए भी रघुनाथदास गोस्वामीके भजनका और कृष्ण-प्रेम-सिद्ध होते हुए भी कृष्ण प्रेमके लिए उनकी आर्ति और दैन्यका अन्त नहीं था। वृन्दावनके गोस्वामियोंकी गुरुस्थानीया नित्यानन्द पत्नी माँ जाहवा, जब वृन्दावन गयी तो रघुनाथदास गोस्वामीने प्रणत हो उनके समक्ष जो आर्ति व्यक्त की, उसका वर्णन 'प्रेम-विलास' ग्रन्थमें पढ़कर विस्मय होता है। उन्होंने कहा-

"विषयीर घरे जन्म वाँसो लाज भय। कि गुने चैतन्यपद दिबेन अभय।।
एक दिन न करिनु चरण सेवन। तथापि चरण माँगों हीन दीन जन।।
जन्म गेल असाधने कि साधन करि। दिवा निशि हेन पद जेन ना पाशरि।।

(प्रेम-विलास १६)

अर्थात्, मैनें विषयीके घर तो जन्म लिया और एक दिन भी चैतन्य चरणकी सेवा नहीं की। फिर भी मैं उनके चरण-आश्रयकी कामना करता हूँ। मेरे में ऐसा कौन सा गुणहै, जिसके आधार पर मैं उनकी कृपाकी आशा कर सकता हूँ? यह सोचकर मुझे लज्जा आती है और भय लगता है कि मुझे अनधिकारी जान प्रभु त्याग न दें। सारा जीवन तो मेरा बिना भजनके बीत गया। अब कौनसा भजन करूँ। प्रभुसे यही प्रार्थना है कि रात-दिन उनके चरणोंकी स्मृति भर बनी रहे। उन्हें एक क्षणको भी न भूलूँ।"

श्रीचैतन्य महाप्रभुके स्नेहाशीर्वादमें ही जिये और पले रघुनाथदास गोस्वामीका उनकी कृपा-प्राप्तिके लिए इतना दैन्य, इतनी आर्ति । दैन्य ही तो है प्रकृत

भगवत्–भक्तका सच्चा आभूषण और भगवत–कृपा–प्राप्तिका निश्चित चिन्ह। भक्तका स्वाभाविक दैन्य उसके कर्तृव्य–अभिमानको इस ह्रदतक मिटा देता है कि भगवत्–कृपा प्राप्त करने के लिए सब कुछकर चुकने के पश्चात् भी उसे लगता है कि उसने कुछ किया ही नहीं। सब प्रकारसे उसके योग्य होते हुए भी उसे लगता है कि उसमें ऐसा कोई गुण ही नहीं, जो भगवान् को रिझा सके और उनकी कृपा–वृष्टिका हेतु बन सके।

प्रेमधन–मूर्ति रघुनाथदासको ऐसी अवस्थामें भी प्रभुने और बहुत दिन जीवित रखा एक आदर्श साधकके रूपमें जीवोंको मार्ग दर्शन करनेके लिए। अनुमानतः **सम्वत् १६५२** के लगभग **९० वर्ष**की अवस्थामें उन्होंने सहज और स्वाभाविक रूपसे शरीर छोड़कर मंजरी रूपमें निकुञ्ज–लीलामें प्रवेश किया।[1]

ग्रन्थावली

रघुनाथदास संस्कृत भाषाके अच्छे पंडित और कवि थे। वे प्रायः हर समय राधाकृष्ण के लीलारसमें डूबे रहते। बाह्य अवस्था होने पर जब लीला की स्फूर्ति बन्द हो जाती तो उनके ह्रदयकी व्याकुलता और आकूति स्तवावलीके रूपमें उनके कण्ठसे निर्गत होती। उनका पांडित्य और कवित्व स्तवावलीको सुन्दर छंद और अलंकारादिसे सुसज्जित करनेमें समर्थ होता। इसलिए श्रीसतीशचन्द्र ,मित्रने रघुनाथदासके ग्रन्थोंको ग्रन्थ न कहकर उनके 'स्तव या भाव–संग्रह मात्र' कहा है। उनके ग्रन्थ तीन हैं–'स्तवावली', 'दानकेलि चिन्तामणि' और 'मुक्ता चरितम्'।

स्तवावली–स्तवावली २९ स्तवोंका संग्रह है। स्तवोंके नाम है–

शचीसून्वष्टक, गौरांगस्तवकल्पतरु; मनः शिक्षा, प्रार्थना, गोवर्धनाश्रयदशक, गोवर्धनवास–प्रार्थना–दशक, राधाकुण्डाष्टक, व्रजविलासस्तव, विलापकुसुमाञ्जलि, प्रेमापूराभिधस्तोत्र, प्रार्थनाग्रन्थकर्तुः, स्वनियमदशक, राधिकाष्टोत्तरशतनामस्तोत्र, राधाकृष्णोज्जवलरसकेलि, प्रार्थनामृत, नवाष्टक, गोपालराजस्तोत्र, मदनगोपालस्तोत्र, विशाखानन्ददस्तोत्र, मुकुन्दाष्टक, उत्कण्ठादशक, नवयुवद्वन्द्वदिदृक्षाष्टक, अभीष्टप्रार्थनानाष्टक, दाननिवर्त्तनकुण्डाष्टक, प्रार्थनाश्रयचतुर्दशक और अभीष्टसूचन।

---

१. रघुनाथदास की तिरोभाव तिथि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना संभव नहीं है। राधाकुण्ड में उनके माध्यम से जीव गोस्वामी को बेची गयी जमीन की ९८५ हिजरी (सन् १५७७) की एक दलील के अनुसार वे सन् १५७७ तक निश्चित रूप से जीवित थे। सन् १५८२ में श्रीनिवासाचार्यादि को ग्रन्थों सहित बंगदेश के लिये विदा करते समय भी वे जीवित थे। पर उनके जीवनकाल का शेष प्रमाण चैतन्य–चरितामृत है, जिसका लिखना कृष्णदास कविराज ने उनके रहते उनमें सामग्री संग्रह करके प्रारम्भ किया था। कृष्णदास ने चैतन्य–चरितामृत में लिखा है कि उस समय वे बहुत वृद्ध हो गये थे, लिखने में हाथ काँपता था। अनुमान किया जाता है कि उस समय उनकी उम्र ७५ वर्ष से कम नहीं थी। डा० दिनेशचन्द्रसेन के अनुसार उनका जन्म सन् १५१७ में और डा० राधागोविन्द के अनुसार सन् १५२८ में हुआ था। यदि डा० सेन का मत ठीक माना जाय तो भी चैतन्य–चरितामृत का लिखना सन् १५९२ में आरम्भ हुआ था। इससे सिद्ध है कि सन् १५९२ या सम्वत् १६४९ के बाद तक रघुनाथदास जीवित थे।

दानकेलिचिन्तामणि-विषय वस्तु की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत कुछ रूप गोस्वामी के 'दानकेलिकौमुदी' के समान है। 'दानकेलिकौमुदी' के समान इसमें भी राधा अन्य गोपियों के साथ घृत लेकर वसुदेव के यज्ञ में जाती हैं। गोवर्धन पर्वत पर बैठे कृष्ण कर देने के लिये उन्हें रोकते हैं। कररूप में वे राधा और गोपियों का अंगसंग चाहते हैं। गोपियाँ इसे स्वीकार नहीं करतीं। दोनों पक्षों में बाद विवाद के पश्चात् नान्दीमुखी मध्यस्थता करती हैं। फलस्वरुप निर्जन गिरिगुहा में कृष्ण का उनसे मिलन सम्पन्न होता है। मिलन के उपरान्त कृष्ण गोचारण को और गोपियाँ यज्ञशाला को चली जाती हैं।

मुक्ताचरितम्-गद्यपद्यमय रघुनाथदास गोस्वामी की यह रचना उनकी रसिकता और कलानैपुण्य का अपूर्व परिचय देती है।

संक्षेप में इसका कथानक इस प्रकार है। कृष्ण की इच्छा हुई अपनी हंसी और हरिनी नामक दो गायों को मोतियों से सजाने की। वे गये राधा और अन्य गोपियों के निकट और उनसे मोती माँगे। उन्होंने मोती देने को मनाकर दिया। तब वे माँ के पास गये और कहा-'माँ मुझे मोती दे दो, मैं मोतियों की खेती करुंगा।' माँ ने बहुत समझाया कि मोती पेड़ में नहीं उगते। पर श्रीकृष्ण के आग्रह करने पर उन्होंने वात्सल्यवश कुछ मोती दे दिये। श्रीकृष्ण ने मोती बो दिये। वे फिर गये राधा और उनकी सखियों के पास और कहा-'तुम लोग मेरे मोती के खेत को दूध से सींचा करो। फसल होने पर उसका कुछ अंश तुम्हें भी दूँगा।' गोपियों ने कृष्ण की मोतियों की खेती का मखौल उड़ाया और बात टाल दी।

इधर लीला विस्तारणी योगमाया की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से कृष्ण के मोतियों के खेत में तीन ही दिन में अंकुर फूट आये और सुन्दर-सुन्दर मोती फलने लगे।

तब गोपियों ने स्वयं भी मोतियों की खेती करने का विचार किया। वे अपने-अपने घरों से बिना घरवालों को बताये सब मोती ले आयीं। मोती बो दिये और खेत को मक्खनादि से सीचने लगीं, जिससे उनकी खेती कृष्ण से भी अच्छी हो। कुछ दिन बाद देखा कि मोती फलना तो दूर बोये हुए मोती भी चोरी हो गये।

इधर कृष्ण गोपियों को चिढ़ाने के लिये अपने साथियों, गाय-बैलों, और बन्दरों तक को मोतियों से सजाने लगे।

गोपियों को अपने मोती चोरी हो जाने के कारण गुरुजनों की ताड़ना का भय था। उन्होंने सोचा कृष्ण से कुछ मोती खरीदकर घर रख दें। जब वे मोती खरीदने गयीं तो कृष्ण से मूल्य के सम्बन्ध में हासपरिहास युक्त लम्बा वादविवाद हुआ। अंत में कृष्ण ने मूल्य के रुप में गोपियों के अंगसंग की मांग की। गोपियों ने इसे स्वीकार नहीं किया। वे राधाकुण्ड में बकुल कुञ्ज में जा बैठी और सोचने लगी क्या करना चाहिये। तब कृष्ण ने प्रत्येक गोपी के लिये सखाओं द्वारा बहुत-से मोती भेज दिये।

गोपियों ने उन मोतियों से राधा को और अपने आपको सजाया और गुरुजनों के सामने जाकर उन्हें प्रसन्न किया।

यह कहानी श्रीकृष्ण द्वारका में सत्यभामा सुना रहे थे। सुनाते–सुनाते वे राधा की याद में अधैर्य हो विलाप करने लगे। सत्यभामा अपने वस्त्राञ्चल से उन्हें बीजन करने लगीं।

उपरोक्त तीन स्तवों के अतिरिक्त रघुनाथदास के कुछ श्लोक और बंगला पद हैं। उनके तीन श्लोक रूप गोस्वामी की 'पद्यावली' में उद्धृत है, छः बंगालीपद डा० जाना ने अपने ग्रन्थ 'वृन्दावनेर छय गोस्वामी' में उद्धृत किये हैं।[1]

श्रीरामराय प्रभु

रामरायजी के सम्बन्ध में नाभाजी का कथन है–

भक्ति ज्ञान वैराग जोग अंतर-गति पाग्यौ।
काम क्रोध मद लोभ मोह मत्सर सब त्याग्यौ।।
कथा कीरतन मगन सदा आनंद रस झूल्यौ।
संत निरखि मन मुदित उदित रवि पंकज फूल्यौ।।
बैर-भाव जिन द्रोह किय तासु पाग खसि भ्वै परी।
विप्र सारसुत घर जनम रामराय हरि रति करी।।

अर्थात् सारस्वत ब्राह्मण वंश में जन्म लेकर रामरायजी ने ज्ञान, वैराग्य और योग के साथ भक्ति की साधना की। उनकी वृत्ति सदा अंतरमुखी रहती। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादिका उनमें लेश भी न था। कथा–कीर्तन में संलग्न रहकर वे सदा आनन्द में झूमते रहते। संतों को देख उनका मन ऐसे खिल उठता, जैसे सूर्य को देख कमल खिल जाता है। वे ऐसे सिद्ध पुरुष थे कि जिन्होंने उनसे वैर–भाव रखने के कारण उनका द्रोह किया, उनके सिर की पगड़ी अपने–आप खिसकती देखी गयी।

एक बार कुछ मूढ़ व्यक्तियों ने, जो रामरायजी के यश और प्रताप को सहन नहीं कर सकते थे, तर्क–कुतर्ककर उन्हें नीचा दिखाने का प्रयास किया। पर उन्हें परास्त होकर भाग जाना पड़ा। रास्ते में वे सोचने लगे कि रामरायजी को मारकर वहाँ से भगा दें। ऐसा सोचते ही उनके सिर की पगड़ियाँ उड़–उड़कर भूमि पर गिरने लगीं। वे बार–बार उन्हें उठाकर सिर पर रखें। पर वे किसी प्रकार सिर पर न ठहरें। तब वे समझ गये कि रामराजजी की भक्ति के प्रताप से ऐसा हो रहा है। वे केवल कथक और उपदेशक ही नहीं, उच्चकोटि के भगवद्भक्त भी हैं, जिसके

---

१. वृन्दावनेर छय गोस्वामी, पृ. २३८-२४२

कारण भगवान् उनका अपकर्ष सहन नहीं कर सकते।

रामरायजी का जन्म सं0 १५४० में माना गया है। वे 'गीतगोविन्द' के प्रणेता जयदेव से १०वीं पीढ़ी में उत्पन्न श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रसिद्ध पार्षद गोपाल गुरु के पुत्र और श्रीनित्यानन्द प्रभु के शिष्य थे। वार्ता साहित्य में रामरायजी को विट्ठलनाथजी का सेवक कहा गया है। डा0 नरेशचन्द्र बंसल ने प्रभावशाली ढ़ंग से इस मत का खण्डन किया है।[1] इस संबंध में उन्होंने रामरायजी के पदों में निहित प्रबल अंतःसाक्ष्य की ओर भी संकेत किया है।

रामरायजी के अनेक शिष्य हुए, जिनमें १२ प्रधान माने जाते हैं। इनमें आमेर के राजा भगवानदास भी हैं, जो राजा मानसिंह के पिता थे और जिन्होंने गोवर्धन में हरिदेवजी का मन्दिर बनवाया था।[2] भगवानदास के पदों में प्रायः 'भगवान हितु रामराय' की छाप मिलती है।

रामरायजी भक्त होने के साथ–साथ महापंडित और श्रेष्ठ कवि भी थे। उनकी संस्कृत रचनाएं हैं–'ब्रह्मसूत्र' के आरम्भिक ४ सूत्रों पर 'गौर विनोदिनी वृत्ति', गीता पर भाष्य, 'स्तव पंचकम्' और 'गोविन्द तत्व–दीपिका।' उनकी व्रजभाषा की रचनाएँ हैं–'आदिवाणी' और 'गीत गोविन्द' का पद्यानुवाद।

भाव, भाषा और शैली में रामरायजी के पदों की तुलना व्रज–भाषा के किसी भी श्रेष्ठ कवि की रचनाओं से की जा सकती है। 'आदि वाणी' में संकलित उनके पदों में उनके रसिक ह्रदय की झांकी देखने को मिलती है।

देखिये, इस पद में उन्होंने श्यामा रुपी श्याम के रुप का कैसा सुन्दर वर्णन किया है–

मुकुट मणि चंद्रिका स्याम स्यामा बनी।
पलक अलकन लुकीं, तिलक झलकन झुकीं,
कमल कुंडल रूकीं, ललक भृकुटी तनी।
अधर दर कंदरी, सुघरवर सुंदरी,
जुगल गल चंदरी, धवल हीरन खनी।।
चटक पट केसरी, नील नव वेसरी,
कनक नक बेसरी, मनिक मुक्ता मनी।
जटित कंकन करन पगन नूपुर धरन,
मदन मन हरन, 'रामराय' कटि करधनी।।

इसी प्रकार इस पद में श्याम द्वारा श्यामा को श्यामरुप में सजाने का सुन्दर वर्णन है–

---

१. चैतन्य-सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २२१-२२२

२. वही, पृ० २६३

किमौ सिंगर लाल प्यारी कौ निरखि निरखि
सहचरी मुसक्यानी।
मोर मुकट माथे श्रुति कुण्डल भाल तिलक
तन मृगमद सानी।
पीताम्बर पटका कटि उपटत हार हिये
बनमाल सुहानी।
चिबुक बिन्दु सामल कज्जल चखिरस
ताम्बूल लालिमा खानी।
मुरली कर जु देत मोहनकी रामराय
मति गति भुलानी।।

और इस पद में श्यामा–श्याम के पारस्परिक सहज प्रेम की बात कैसे अनूठे ढंग से कही है–

प्यारी जू प्यारे कौं भावै सो सहज करैं,
करैं सोई प्यारे जो भावै प्यारी कौं सदा
तन सौं तन मन सौं मन प्रान प्रान बिक्री कियौ,
जीवत न बिना देखें कोऊ कबहुँ एकदा,
प्यारी कौ पायके प्यारौ भयौ महाधनी,
प्यारी हू प्यारे कौं मानै निज सम्पदा।



श्रीनारायणभट्ट गोस्वामी

सूर्य का उदय–अस्त होता है अपने आप ही, किसी के द्वारा नहीं। इसी प्रकार भगवान् और भगवान् के धाम का प्राकट्य और अप्रकाट्य होता है भगवान् की अपनी इच्छा से ही, किसी के किये नहीं। उसका जो ऐतिहासिक कारण दीखता है, वह उसका बहाना मात्र होता है। व्रज और उसके विभिन्न तीर्थों का लोप हुआ था भगवान की अपनी इच्छा से और उनका पुनरोद्धार भी हुआ उनकी अपनी इच्छा से ही। भगवान् ने स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभु के रूप में व्रज के पुनरोद्धार की योजना बनायी और अपने पार्षदों को भेजकर उसका आविष्कार करवाया। इस सारे कार्य में भगवान् अपने किसी स्वरुप द्वारा स्वप्न में या प्रत्यक्ष में, आदेश देकर या अन्य किसी प्रकार से संकेत देकर उन महापुरुषों को मार्ग प्रदर्शन करते रहे, जो इस कार्य में रत थे। इसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी उनके दो स्वरूपों ने–एक तो श्रीलोकनाथ गोस्वामी के ठाकुर श्रीगोकुलानन्द ने, दूसरे श्रीनारायण भट्ट के ठाकुर श्रीलाडिलेयजीने।

गोकुलानन्दजी की भूमिका का हम श्रीलोकनाथ गोस्वामी के चरित्र में उल्लेख कर चुके हैं। श्रीलाडिलेयजी गोकुलानन्दजी की तरह ही

नारायण भट्ट गोस्वामी को समय–समय पर बताते रहते कहाँ कौन–सा तीर्थ है, कहाँ कौन–सी श्रीमूर्ति भूमि में दवी पडी है, या कुण्डादि में निमग्न है। लाड़िलयेजी ने ही नारायणभट्ट गोस्वामी को व्रज में जाकर श्रीरूप–सनातनादि को उनके तीर्थोद्धार कार्य में सहायता करने की प्रेरणा दी। नारायणभट्ट गोस्वामी का चरित्र एक प्रकार से उनके लाड़िलेयजी का ही चरित्र है। भट्टजी तो मात्र एक काठ की पुतली थे, जिसे लाड़िलेयजी जैसे चाहते नचाते रहते थे।

श्रीनारायणभट्ट का जन्म संवत् १५८८ में नृसिंह चतुर्दशी के दिन दक्षिण भारत के मदुरा (मथुरा पत्तन) नगर में हुआ। उनके पिता का नाम था भास्कर, माता का यशोमती, पिता भृगुवंशी दक्षिणात्य ब्राह्मण थे और माध्व सम्प्रदाय के अनुयायी।

भट्ट जी बाल्यावस्था में अपने पितृव्य श्रीशङ्कर के घर रहते थे और उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। कहते हैं कि उन्होंने १२ वर्ष की अवस्था में ही वेद–वेदान्त का भलीप्रकार अध्ययन कर लिया।

वे एक असाधारण धी–सम्पन्न बालक तो थे ही, उनके भक्ति के संस्कार भी आरम्भ से ही अति प्रबल थे। उन्हें देख लोगों को सहज अनुमान होता था कि वे कोई तेजस्वी महापुरुष हैं, जो किसी विशेष भगवत् कार्य के लिये आविर्भूत हुए हैं। वे पर्यटन प्रेमी थे, पर विद्योपार्जन के कारण उन्हें पितृव्य के घर रहना पड़ रहा था।

विद्याध्ययन समाप्त होने के बाद वे तीर्थ–पर्यटन को निकल पड़े। एक बार वे परम पवित्र गोदावरी नदी के स्नान के लिये गये। वहाँ उन्हें राधिका सहित श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। श्रीकृष्ण ने उनके जन्म का रहस्य उद्घाटन करते हुए कहा–

"तुम मेरे आज्ञाकारी भक्त नारद हो। व्रज की लीला–स्थलियों को प्रकट करने के लिये तुम्हारा जन्म है। अब तुम व्रज जाकर अपने जीवन के इस उद्देश्य की पूर्ति में तन–मन से लग जाओ। मैं अपनी लाडलेय नामक यह बालमूर्ति तुम्हें दे रहा हूँ। इनकी निरन्तर सेवा करना। ये तुम्हें व्रज–लीला के सब रहस्य बतायेंगे।[1]

उसी समय भट्ट जी लाडलेयजी को लेकर व्रज की ओर चल दिये। घूमते–फिरते दो वर्ष में व्रज पहुँचे। इतना अधिक समय लग जाने

---

१. आज्ञापयामास मुदा पुरा संकल्पितं हि यत्।
त्वं हि दीक्षित भक्तो मे नारदोऽसि मुनीश्वरः॥
रङ्गनाथकुलेजातो मदाज्ञा-परिपालकः।
गच्छ शीघ्रं व्रजं वास लीलास्थानं प्रकाशय॥
मत्स्वरूपं लाडिलेयं ते दास्ये बालरूपिणम्।
एतद्रूपेण ते वत्स सेवितेन त्वयानिशम्॥
व्रजलीलारहस्यं च कथयिष्यामि तेऽनघ।
लाडिलेयं गृही त्वैनं व्रजं गच्छस्व नारद॥
(श्री श्रीनारायणभट्ट चरितामृतम्, २४-२७)

का कारण यह था कि लाडिलेय जी मार्ग में तरह–तरह की लीलाएं करते चलते। कोई स्थान उन्हें अच्छा लगता तो वहाँ ठहर जाने का हठ करते। एकान्त में वे भट्ट जी की गोद मे बैठ जाते और उनसे तरह–तरह की बातें करते, पर किसी के आने पर मूर्तिरुप धारण कर लेते।[1]

व्रज पहुँचते ही भट्ट जी ने रूप–सनातन के चरणों में प्रणिपात किया। जिस समय नारायणभट्ट व्रज पहुँचे, श्रीरूप और श्रीसनातन वृद्ध हो चुके थे। व्रज के तीर्थोद्धारादि का बहुत सा काम वे कर चुके थे, बहुत सा बाकी रह गया था। आवश्यकता थी एक निष्ठावान, निपुण और उत्साही नवयुवक की, जो बचे हुए कार्य को पूरा कर सके। नारायणभट्ट इसके लिये सब तरह से उपयुक्त थे। उनके आविर्भाव का उद्देश्य ही था उस कार्य को पूरा करना। रूप–सनातन को यह समझने में देर न लगी। उन्होंने झट उन्हें आत्मसात् कर लिया।

उनके आदेश से नारायणभट्ट ने श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी से दीक्षा ली और कुछ दिन उनके पास रहकर गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्ति और रसोपासना के गूढ़ सिद्धान्त को समझा। श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी श्रीमन्महाप्रभु के अभिन्न पार्षद श्रीगदाधर पंडित के शिष्य थे और सनातन गोस्वामी के उपास्य श्रीमदनमोहन की सेवा करते थे। उनके पास कुछ दिन रहकर वे राधाकुण्ड चले गये।

राधाकुण्ड जाकर उन्होंने तीर्थोद्धार का कार्य प्रारम्भ कर दिया। वहाँ वे कब तक रहे कहना मुश्किल है। पर उन्होंने अपने कई ग्रन्थों में लिखा है कि उनकी समाप्ति उन्होंने राधाकुण्ड में की। 'व्रज भक्ति–विलास' में उल्लेख है कि इसकी संपूर्ति राधाकुण्ड में सं0 1609 में हुई। इससे स्पष्ट है कि वे वहाँ अंत तक रहे। ऊँचा ग्राम जाकर उन्होंने पिता की आज्ञा से विवाह किया और गृहस्थ–धर्म का पालन किया। उनके दामोदर नाम के एक पुत्र का जन्म हुआ।

भट्टजी द्वारा प्रकटित विग्रह, तीर्थ, वनादि

इस बीच भट्टजी का तीर्थोद्धार का कार्य चलता रहा। वाराह पुराण में जितने तीर्थों और लीला–स्थलियों का वर्णन है, उनमें से जिनका अभी तक आविष्कार नहीं हो पाया था, उनका उन्होंने आविष्कार किया। वे गाँव–गाँव में जाते वहाँ की लीला–स्थलियों का आविष्कार करने का व्रत लेकर। वहाँ जाकर लाडिलेयजी का ध्यान करते। लाडिलेयजी उन्हें बता देते कहाँ कौन सी लीला–स्थली है, कहाँ कौन सी देवमूर्ति छिपी हुई है। तब वे गाँववालों को बुलाकर कहते–"देखो, अमुक स्थान पर अमुक मूर्ति दबी पड़ी है, अमुक स्थान पर अमुक कुण्ड या लीला–स्थली है।" उन स्थानों को खुदवाकर वे उन्हें उनका प्रत्यक्ष दर्शन करा देते।

---
२. वही ३२-३७

नाभादासजी ने 'भक्तमाल' में और प्रियादासजी ने 'भक्तिरस-बोधिनी' में इसका वर्णन इस प्रकार किया है-

गोप्य स्थल मथुरा मण्डल जिते 'बाराह' बखाने।
ते किये नारायण प्रकट प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने।।

(भक्तमाल, छप्पय सं० ८७)

भट्ट श्रीनारायणजू भये व्रज परायन,
जायें जाही ग्राम तहाँ व्रत करि ध्याये हैं।
बोलिक सुनावैं इहाँ प्रभु कौ सरूप है जू,
लीला कुण्ड धाम स्याम प्रगट दिखाये हैं।।

(भक्तिरस-बोधिनी, कवित् सं० ३५६)

श्रीनारायणभट्ट-चरितामृत में उल्लेख है कि एक बार माघ महीने में बहुत से मथुरावासी त्रिवेणी स्नान करने प्रयागराज जा रहे थे। उनसे भट्टजी ने कहा-"तुम प्रयाग क्यों जा रहे हो, प्रयाग यहाँ सखी गिरि के पास व्रज में ही जो मौजूद है। वहीं त्रिवेणी है। चलो तुम्हें दर्शन कराऊँ।" वे उन्हें ऊँचा गाँव ले गये और धरती खोदकर त्रिवेणी के दर्शन कराये। सबने त्रिवेणी को सखी गिरि से लेकर बलदेवजी के मन्दिर तक बहते देखा और उसमें स्नान किया।[1] इस घटना का प्रियादासजी ने भी इन शब्दों में उल्लेख किया है-

"मथुरा तैं कही "चलौ बेनी" पूछै "बैनी कहाँ?"
"ऊंचे गाँव" आप खोदि सोत लै लखाये हैं।।

(कवित्त सं० ३५६)

नारायणभट्ट-चरितामृत में यह भी वर्णन है कि उस समय तीर्थराज प्रयाग ब्राह्मण वेश धारणकर नारायणभट्टजी के पास आये और बोले-"आपने यात्रियों को मेरे पास जाने से क्यों रोका? मैं ही तो तीर्थों का राजा हूँ?" तब भट्टजी में और तीर्थराज में शास्त्रार्थ हुआ। भट्टजी ने व्रज की महिमा का वर्णन किया, प्रयागराज ने अपनी महिमा का। अंत में भट्टजी ने यह कहकर प्रयागराज को परास्त किया कि "आप तीर्थों के राजा अवश्य हैं। पर आपको ब्रह्मा ने तीर्थों का राजा बनाया था, अपने प्रभु श्रीकृष्ण के घर का राजा नहीं। व्रज श्रीकृष्ण का निज घर है, उनका अभिन्न-स्वरूप है। इसलिये तीर्थों के राजा का भी राजा है।" इस तरह परास्त हो प्रयागराज ने कहा-"आप ठीक कहते हैं, मैं जानता हूँ आप श्रीकृष्ण के कलास्वरुप देवर्षि नारद हैं। आपके श्रीमुख से व्रज की महिमा सुनने के उद्देश्य से ही मैंने आपसे तर्क किया था, मेरा अपराध क्षमा करें।" इतना कह प्रयागराज अन्तर्धान हो गये।[2]

उसी समय से त्रिवेणीजी मूर्तिरूप धारण कर मन्दिर में रहने लगीं। मूर्तिरूप धारण करने के पूर्व भट्टजी से उन्होंने कहा था-"जिस

१. श्री नारायणभट्ट-चरितामृत, ७२-७५
२. वही, ७५-७६

समय श्रीकृष्ण की आज्ञा से राधाकुण्ड में सब तीर्थों का आगमन हुआ था, उस समय मैं भी आयी थी। मुझे श्रीकृष्ण ने बलदेवजी की सेवा के लिये यहाँ भेज दिया। उनकी सेवा के लिये तभी से मैं यहाँ गुप्त रूप से रहती हूँ। तुम्हारी भक्ति के कारण प्रकट हो गयी हूँ। पर मेरे प्राकट्य का समय अभी नहीं है, अतः मैं अन्तर्धान हो रही हूँ। जो मेरे इस स्थान की रज मस्तक पर धारण करेगा, उसे मैं त्रिवेणी स्नान का फल प्रदान करूँगी।"

इस प्रकार भट्टजी ने बहुत से तीर्थों और श्रीविग्रहों को प्रकट किया। श्रीविग्रहों में प्रधान हैं बरसाना की श्रीलाड़िलीजी, ऊँचा ग्राम के बलदाऊजी, संकेत की संकेत देवीजी और राधारमणजी, शेषशायी के पौढ़ानाथ शेषशायी भगवान्‌जी, आदि बद्रीजी, कामेश्वर महादेवजी, और मथुरा के महाविद्या, दीर्घ विष्णु, महाविष्णु, बाराह भगवानादि।

जिन तीर्थों को उन्होंने प्रकट किया उनमें से मुख्य हैं—गोवर्द्धन में मानसी गङ्गा, कुसुमसरोवर, गोविन्दकुण्ड, चन्द्र सरोवरादि; गोकुल में पूतनाखाल, बाल–क्रीणा–स्थल, रमणवनादि; वृन्दावन में रासस्थलादि; बरसाने में भानुखोर, प्रियाकुण्ड (पिलूपोखर), दानगढ़, मानगढ़, विलासगढ़, गहवरवन, सांकरीखोरादि; ऊँचा ग्राम में देहकुण्ड, त्रिवेणी प्रभृति; काम्यवन में गयाकुण्ड, काशीकुण्ड, विमल सरोवर, कुरुक्षेत्र, पञ्चतीर्थ, धर्मकुण्ड, चौरसी खम्बादि। इनके अतिरिक्त नन्दघाट, चीरघाट, कामाई–करेला आदि गोप–गोपियों के स्थान, विहारवन, चरण पहाड़ी, उद्धववनादि और बहुत–से तीर्थों का भी उद्धार किया, जिनका उन्होंने 'व्रज भक्ति विलास' में विस्तार से वर्णन किया है।[1]

भट्टजी ने बारह वन, बारह उपवन, बारह प्रतिवन, बारह अधिवन, बारह तपोवन, बारह मोक्षवन, बारह कामवन, बारह अर्थवन, बारह धर्मवन, और बारह सिद्धवनों का आविष्कार किया। उनके अधिप देवता और उन सबों के मन्त्रों को निर्णीत किया। इनका भी उन्होंने व्रजभक्ति–विलास में वर्णन किया है।[2]

वनयात्रा, व्रजयात्रा और रासलीला

भट्टजी ने व्रज की सीमा निर्धारित की और वन–यात्रा तथा व्रजयात्रा की परिपाटी डाली। स्नान, दान, पूजा, भजन, परिक्रमा, स्तुति, उपवासादि कर वनों में भ्रमण करते हुए वन–यात्रा की और उक्त प्रकार से ब्रज के गाँवों में भ्रमण करते हुए व्रज–यात्रा की विधि निर्धारित की। वैशाख कृष्ण प्रतिपदा से श्रावण पूर्णिमा तक व्रज–यात्रा का और भाद्र कृष्णाष्ठमी से लेकर भाद्र पूर्णिमा पर्यन्त वन यात्रा का समय निर्धारित किया।[3]

---

१. व्रज-भक्ति विलास' में बाबा कृष्णदास की भूमिका, पृ०२
२. व्रज-भक्ति-विलास, अध्याय १,२
३ व्रजभक्ति-विलास, पृ० १७६-१८०

रास स्थलियाँ-व्रज में जहाँ-जहाँ रासस्थल हैं, उन स्थानों का भट्ट जी ने व्रज-भक्ति-विलास में उल्लेख किया और रास-स्थलियों का वहाँ निर्माण किया। जिन स्थानों में रासस्थलियों का निर्माण किया वे हैं-राधाकुण्ड, शेरगढ़, ऊँचा ग्राम, मयूर कुटी, गहवरवन, यावट, विहारवन, कोकिलावन, कदम्बवन, स्वर्णवन, प्रेमसरोवर, वृन्दावन, करहेला, पिसाई और परासौली।

अकबर के कोषाध्यक्ष राजा टोडरमल भट्टजी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। उन्होंने भट्टजी के निर्देशानुसार बहुत धन खर्चकर व्रज के नवनिर्माण में महत्वपूर्ण सहयोग दिया। उन्होंने रास-स्थलियों में रासमण्डल और हिण्डोलादि का निर्माण किया, प्राचीन कुण्ड-सरोवरादि का खननकर उनमें फिर से सोपानों का निर्माण किया, और भग्न मन्दिरों का पुनरोद्धारकर उनमें श्रीविग्रहों की स्थापना की व्यवस्था की।

रासलीलानुकरण-भट्टजी का एक और बड़ा अवदान है रासलीलानुकरण। यह आज भी व्रज में उपासना का एक अंग माना जाता है और भक्तों के आकर्षण का मुख्य विषय है। भट्टजी ने सर्वप्रथम इसका आयोजन किया और, जैसा प्रियादासजी ने लिखा है, जगह-जगह रासलीला का अभिनय कर रसिकजनों को अपार सुख पहुँचाया-

"ठौर-ठौर रासके विलास लै प्रकास किये,
जिये यों रसिक जन कोटि सुख पाये हैं।"

(भक्तिरस-बोधिनी, कवित्त सं० ३५६)

रासलीलानुकरण को नृत्य-संगीत द्वारा आकर्षक और उपासना के उपयुक्त बनाने में भट्टजी को व्रजवल्लभ जी से बहुत सहायता मिली। व्रजवल्लभजी पर नाभाजी ने जो छप्पय लिखा है उससे ज्ञात होता है कि वे एक उच्च कोटि के भक्त थे और नृत्य-गान में बड़े निपुण थे। रास-लीला में नृत्य-गीतादि के माध्यम से वे युगल और ललितादि उनकी सहचरियों को बड़ा सुख पहुँचाया करते थे-

नृत्य गान गुन निपुन रास में रस बरसावत।
अब लीला ललितादि बलित दंपतिहि रिझावत।।

(भक्तमाल, छप्पय सं० ८८)

भक्तमाल के टीकाकार श्रीबालकराम के अनुसार व्रजवल्लभजी नारायणभट्ट के शिष्य थे। नाभाजी के इस कथन से भी इसकी पुष्टि होती जान पड़ती है कि उन्होंने अपने प्रभु नारायणभट्ट को अपनी प्रीति से वश में कर लिया था-

श्रीनारायणभट्ट प्रभु परम प्रीतिरस बस किये।

(भक्तमाल, छप्पय सं० ८८)

ग्राउज महोदय ने व्रज में वैष्णव धर्म के उत्थान और प्रगति में नारायणभट्टजी के अवदान का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए लिखा है कि सर्वप्रथम रासलीला और व्रजयात्रा का सूत्रपात उन्होंने ही किया

और उन्होंने ही व्रज के प्रत्येक कुण्ड और कुञ्जादि का कृष्ण–लीला से उसके सम्बन्ध के अनुसार नामकरण किया।[1]

ग्रन्थ रचना

व्रज के भक्ति–साहित्य को सुसमृद्ध करने में भी नारायणभट्ट गोस्वामी का योगदान किसी से कम नहीं है। उन्होंने कुल मिलाकर ५९ ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से कई बड़े महत्व के हैं। उनके मुख्य–मुख्य ग्रन्थ हैं–व्रज भक्तिविलास, व्रजप्रदीपिका, व्रजोत्सव चन्द्रिका, व्रजमहोदधि, व्रजोत्सवाल्हादिनी, वृहत् व्रजगुणोत्सव, व्रजप्रकाश, भक्तिभूषण सन्दर्भ, भक्तिविवेक, भक्तिरससतरंगिणी, साधन दीपिका, प्रेमांकुर नाटक और श्रीमद्भागवत की रसिकाल्हादिनी टीका।

इनमें से बाबा कृष्णदास ने 'भक्तिरसतरंगिणी' का प्रकाशन सं० २००४ में और 'व्रज भक्ति विलास' का प्रकाशन सं० २००८ में किया था। 'भक्तिरसतरंगिणी' में सभी रसों और उनके अधिकारी साधकों का विस्तार से वर्णन है। 'व्रज भक्ति–विलास, में वन–परिक्रमा की विधि के साथ–साथ व्रज के समस्त वनों, उपवनों, तीर्थों, लीलास्थलियों और कुण्डादिकों का विस्तार से वर्णन है। व्रज के विभिन्न स्थानों का इतना विस्तृत वर्णन और कहीं नहीं है। ग्राउज ने भी इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है और व्रज के तीर्थों के परिचय की दृष्टि से इसके महत्व को स्वीकार किया है।[2]

[3] 'वृहत् व्रजगुणोत्सव' २६ हजार श्लोकों का बहुत विशाल ग्रन्थ है। यह भी व्रजभक्तिविलास की तरह बड़े महत्व का है। जिस प्रकार व्रज–भक्तिविलास में व्रज के समस्त वन–उपवनों, उनके देवताओं और तीर्थों का वर्णन है, उसी प्रकार 'वृहत् व्रजगुणोत्सव' में व्रज के समस्त ग्रामों, उनके देवताओं, तीर्थों और वहाँ जो कृष्ण–लीलाएं हुई हैं, उनका वर्णन है। इस ग्रन्थ का स्वयं भट्टजी ने व्रजभक्तिविलास में इसी रुप में वर्णन किया है।[4] पर यह ग्रन्थ अभी तक किसी को देखने को नहीं मिला है।[5]

भट्टजी के अन्य ग्रन्थ भी या तो अप्राप्य हैं, या अप्रकाशित। कुछ ग्रन्थ, जिनकी हस्तलिपियाँ बाबा कृष्णदास ने देखी हैं, उनका विवरण

---

1. "The Vaishnava cults then frist developed into its present form under the influence of Rupa and Sanatan..............It was their disciple Narayan Bhatta who first established the Braja-yatra and Raslila, and it was from him that every lake and grove in the circuit of Braja received a distinctive name."- Mathura Memoir, p-75

2- A District Memoir of Mathura, p.89

3. A District Memoir of Mathura, p. 89

४. व्रजभक्तिविलास, पृ० १७७

५. व्रजभक्तिविलास भूमिका, पृ०३

उन्होंने इस प्रकार दिया है–

'भक्तिभूषण सन्दर्भ' में जीव तत्व, जगत्तत्व और ईश्वर तत्व का निर्णय है।

'भक्तिविवेक' में सर्वश्रेष्ठ भजनीयतत्व के रूप में श्रीकृष्ण को, सर्वश्रेष्ठ नाम के रूप में कृष्णनाम को, सर्वश्रेष्ठ धाम के रूप में व्रजधाम को और सर्वश्रेष्ठ भक्त के रूप में व्रजवासियों को निर्धारित किया है।

'व्रजोत्सव चन्द्रिका' और **'व्रजोत्सवाल्हादिनी'** दोनों विशाल ग्रन्थ हैं। इनकी प्रतियाँ श्रीकृष्णदास बाबा ने बरसाने के स्वर्गीय गोस्वामी कुञ्जीलाल के सुपुत्र गोस्वामी युगल शास्त्री जी महाराज के यहाँ देखी है। इनमें तिथि निर्णय के साथ व्रज में प्रचलित समस्त उत्सवों का विस्तार से वर्णन है।

'साधन दीपिका' में साधन–भक्ति और वैष्णवों के विधि–निषेध ादि का वर्णन है।

भट्ट जी के शिष्य

व्रज का प्रकाश करने वाले भट्टजी के प्रति लोग इतना श्रद्धावान हुए कि वे उन्हें "व्रजाचार्य" के नाम से पुकारने लगे। देवर्षि नारद के अवशेषावतार के रूप में उनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। दूर–दूर से आकर लोग उनके शरणागत होने लगे। भाठोठिया नाम के एक परमभक्त और शास्त्रविद श्रोत्रिय ब्राह्मण उनके शिष्य हुए। भट्टजी ने उनका नाम रखा नारायणदास, वे ही बाद में नारायण स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए।[1] जो अन्य लोग उनके शिष्य हुए उनमें प्रधान थे गोविन्ददास, श्यामदास, कृष्णदास, मथुरादास, लालदास और जगन्नाथपुरी की गंगाबाई।

अपने अन्तर्धान का समय निकट जान भट्टजी ने अपने बहुत से मन्दिरों की सेवा अपने शिष्यों में बाँट दी। अपने पुत्र दामोदरजी को उन्होंने बरसाने के लाडली लालजी और ऊँचा गाँव के रेवतीरमणजी की आरती की सेवा का अधिकार दिया और नारायणदास श्रोत्रीजी को उनकी अन्य परिचर्या का। दामोदरदास और नारायणदास दोनों का उन्होंने विवाह करवा दिया, जिससे उनके वंशजों द्वारा यह सेवा चलती रहे। तभी से इन दोनों श्रीविग्रहों की दामोदरजी के वंशज आरती–सेवा और नारायणदास के वंशज अन्य परिचर्या करते आ रहे हैं।

भट्टजी का अन्तर्धान बाबा कृष्णदास के अनुसार सम्वत् १७०० से कुछ पूर्व वामन जयन्ती के दिन हुआ। ऊँचा गाँव में उनकी समाधि है। समाधि पर प्रति वर्ष चैत्र कृष्णा ५ को बरसाना के गोस्वामीगण समाज–गान द्वारा उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

---

१. वही ६९-७०

श्रीगदाधरभट्ट गोस्वामी

श्रीगदाधरभट्ट आन्ध्र प्रदेशीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थें। विद्वान होने के साथ–साथ वे एक अच्छे कवि और रसिक भक्त थे। युगल की लीलाओं के चिंतन और गान में सदा डूबे रहते थे। भक्त–कवि और भागवत के अच्छे वक्ता के रूप में उनकी ख्याति चारों ओर फैली हुई थी। उनके प्रारम्भिक जीवन के बारे में इसके अतिरिक्त और कोई जानकारी नहीं है।

एक बार जीव गोस्वामी ने किसी को उनका यह पद गाते सुना–

सखी हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाय गयी वह मूरति सूरति माँहि पगी।।
संग हुतौ अपनौ सपनौ सौ सोई रही रस खोइ।
जागे हुँ आगे दृष्टि पर सखि नैकु न नयारौ होइ।।
एक जु मेरी अंखियन में निसि द्यौस रह्यौ करि भौन।
गाय चरावत जात सुन्यौ सखि सोधौं कन्हैया कौन।।
कासौं कहौं कौन पतियावे कौन करे बकवाद।
कैसे के कहि जात गदाधर गूँगे कौ गुड़ स्वाद।।

'सखी हौं स्याम रंग रंगी' की टेकवाला यह पद सुन जीव गोस्वामी आनन्द–विभोर हो गये। उन्होंने गदाधरभट्टजी के एक उच्चकोटि के भक्त और भागवत के वक्ता के रुप में समाज में अतिशय प्रिय होने की बात पहले ही सुनी थी। यह पद सुनकर उनका मन उनकी ओर और भी आकर्षित हुआ। उन्होंने उन्हें वृन्दावन की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से एक श्लोक की रचनाकर दो साधुओं के द्वारा उनके पास भेज दिया। श्लोक यह था–

"अनाराध्य राधा–पदाम्भोजयुग्म मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्कम्।
असम्भाष्य तद्भाव गम्भीर चित्तान् कुतः श्यामसिंधोः रसस्यावगाहः।।"

अर्थात् राधा के चरण–कमलों की आराधना किये बिना, उनके चरण–चिन्हों को धारण करने वाले वृन्दावन का आश्रय लिये बिना और वृन्दावन के रसज्ञ भक्तों का संग किये बिना क्या श्याम–रस सिन्धु में कोई अवगाहन कर सकता है?

इस श्लोक को पढ़ते ही गदाधरभट्टजी उठकर वृन्दावन की ओर चल पड़े।

प्रियादासजी ने भक्तमाल की भक्तिरस–बोधिनी टीका में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है–

"स्याम रंग रँगी" पद सुनि कै गुसाई जीव
पत्र दै पठयो उभै साधुवेगि धाये हैं।
रैनी बिन रंग कैसे चढ्यौ, अति सोच बढ्यौ,"
कागद में प्रेम मढ्यौ तहाँ लै कै आये हैं।।
पुर ढिंग कूप, तहाँ बैठे रस रूप, लगे

पूछिबे कौ तिनहीं सों नाँव लै बताये हैं।
"रहौ कौन ठौर," "सिर मौर वृन्दावन धाम,"
नाम सुनि मुरछा ह्वै गिरे प्रान पाये हैं।।

(कवित्त, ५२३)

अर्थात् "स्याम रंग रँगी" पद सुन जीव गोस्वामी ने दो साधुओं के हाथ एक पत्र लिख भेजा। पत्र का आशय था—मुझे यह सुन–सुन आश्चर्य होता है कि आपको रैनी (नाँद) के बिना रंग कैसे चढ़ गया, अर्थात् वृन्दाटवि, जो श्याम–रस की नाँद स्वरूप है, उसमें अवगाहन किये बिना श्याम रंग चढ़ना संभव है ही नहीं। इस पत्र को लेकर, जिसमें मानों प्रेम मढ़ा हुआ था, साधु उनके गाँव पहुँचे। उस समय वे गाँव के समीप के एक कुंए पर बैठे (दातुन कर रहे) थे। साधुओं ने उन्हीं से पूछा—गदाधरभट्टजी कहाँ रहते हैं?" उत्तर देने के पूर्व गदाधरजी ने उनसे पूछा—"आप कहाँ रहते हैं?" उन्होंने जैसे ही कहा—"सब धामों के मुकुटमणि श्रीवृन्दावनधाम में," भट्टजी मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। साधुओं को लगा कि जैसे उनके प्राण निकल गये हों।

काहू कही "भट्ट गदाधरजू एई जानौ,"
मानौ उही पाती चाह फेरि कै जिवाये हैं।
दियौ पत्र, हाथ लियौ, सीस सौं लगाय चाय
बाँचत ही चले बेगि वृन्दावन आये हैं।।
मिले श्री गुसाई जी सौं, आँखै भरि आई नीर,
सुधि न सरीर, धरि धीर वही गाये हैं।
पढ़ सब ग्रन्थ संग नाना कृष्ण कथा रंग
रसकी उमंग अङ्ग अङ्ग भाव छाये हैं।।

(कवित्त ५२४)

अर्थात् किसी ने साधुओं से कहा—"यही गदाधरभट्ट हैं।" तब उन्होंने भट्टजी से कहा—"हम आपके लिये श्रीजीव गोस्वामी का एक पत्र लाये हैं।" भट्टजी यह सुनते ही उठकर बैठ गये, मानो पत्र पढ़ने की चाहने उन्हें फिर से जिला दिया। उन्होंने पत्र लेकर माथे से लगाया और उसे पढ़ते ही वृन्दावन की ओर चल दिये। वृन्दावन में श्रीजीव गोस्वामी के दर्शन करते ही उनके प्रेमाश्रु बहने लगे और वे बेसुध हो गये। किसी प्रकार धैर्य धारणकर उन्होंने जीव गोस्वामी के कहने पर उसी पद का गान किया—"सखी हौं स्याम रंग रँगी।"

वृन्दावन आकर गदाधरभट्टजी ने रघुनाथभट्ट गोस्वामी से दीक्षा ली और जीव गोस्वामी से बहुत से ग्रन्थों का अध्ययन किया। उसके उपरान्त वे कृष्ण–कथा–रस–रंग में ऐसे रंगे कि उनके अंग–अंग में रस की तरंग उठने लगी। वे एक रस–सिद्ध महात्मा और श्रीमद्भागवत के अद्वितीय वक्ता के रूप में प्रसिद्ध हुए। सं० १६११ में रघुनाथभट्ट गोस्वामी का तिरोभाव हो गया। तब गोविन्ददेव जी के मन्दिर में नित्य संध्या समय

उनके द्वारा जो भागवत की कथा हुआ करती थी, उसका भार गदाधरभट्ट पर आ पड़ा। उन्होंने श्रीरघुनाथभट्ट गोस्वामी के अभाव की सम्यक् पूर्ति की।

भट्टजी की कथा इतनी प्रभावशाली होती थी कि कैसा भी व्यक्ति हो, उसे संसार से विमुखकर प्रभु के चरणारविन्द में मन लगाने को विवश कर देती थी। प्रियादासजी ने इस सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख किया है। एक दिन मथुरा और वृन्दावन के बीच में बसे 'धौरहरा' ग्राम का कल्याणसिंह नाम का एक राजपूत घूमता–फिरता उस समय गोविन्ददेव के मन्दिर पहुँचा, जब भट्टजी की कथा चल रही थी। वह भी कथा में बैठ गया। उसे कथा इतनी अच्छी लगी कि रोज सुनने की चटपटी पड़ गयी। कथा सुनते–सुनते उसे संसार से वैराग्य हो गया। उसका अपनी स्त्री से हंसना–बोलना तक बन्द हो गया। स्त्री को बड़ा दुःख हुआ। उसे भय हुआ कि कहीं उसका स्वामी घर छोड़कर बाबाजी न हो जाय। वह जान गयी कि गदाधरभट्टजी की कथा सुनने के कारण ही वह ऐसा हो गया है। उसने सोचा कि किसी प्रकार भट्टजी को बदनाम कर पति के हृदय में उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न की जाय।

उसने एक तरुण अवस्था की गर्भवती स्त्री को, जो भीख मांगती फिरती थी, अपने निकट बुलाया। उससे कहा–"यह लो बीस रुपये और भट्टजी की कथा में जाकर सब लोगों के सामने मैं जैसे कहूँ वैसे उनसे कह दो।" युवती तैयार हो गयी। गोविन्दजी के नाट्य–मन्दिर में कथा के उपरान्त उसने भट्टजी से कहा–"महाराज, आपने अपना प्रसाद देकर मुझे कृतार्थ किया। अब मेरे भविष्य का भी तो कुछ प्रबन्ध कीजिये।" श्रोता सब यह सुनकर अवाक्? वे समझ गये कि किसी दुष्ट ने भट्टजी को अपमानित करने के लिये यह जाल रचा है। पर जब भट्टजी ने उसकी ताड़ना करने के बजाय उससे मधुर बचन कहे और उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की, तो सब चक्कर में पड़ गये और उन्हें मार्मिक कष्ट हुआ। उसी समय श्रीराधिकावल्लभ नाम के एक संत ने, जो बड़े बुद्धिमान थे, उस युवती को अलग ले जाकर कहा–"सच–सच बता क्या बात है, नहीं तो तेरी खैर नहीं।" युवती डर गयी। उसने सारी बात सच–सच कह दी। तब कल्याणसिंह को बड़ा क्रोध आया। वे तलवार ले अपनी स्त्री को मारने चले। भट्टजी ने उन्हें प्रबोध देते हुए कहा–"आपकी स्त्री का कोई दोष नहीं। उन्होंने तो मेरे ऊपर दया ही की है–

'काटि तरवारि तिया मारिबे कल्याण गयौ,
दियौ परबोध "हमैं करी दया नई है।"

संतों का स्वभाव ही जो है कि वे अपनी प्रशंसा को प्रहार और निन्दा को दया समझते हैं।

भट्टजी की कथा में श्रोताओं का हृदय इतना द्रवित हो जाता कि उनके नेत्रों से अश्रुधार बहती ही रही। कथा में एक महन्तजी भी आया

करते। उनके आँसू न आते। इस कारण वे अपने को अभागा बोध करते। एक दिन वे अपने साथ पिसी हुई मिर्चें ले आये और कथा आरम्भ होते ही आँखों में डाल लीं। डाल तो लीं, पर आँखों में मिर्चें लगने लगीं। तो खीझकर अपनी मूर्खता को कोसने लगे। एक संत ने देख लिया। कथा समाप्त होने पर उन्होंने भट्टजी को बताया, तो वे उसकी खीझ मिटाने उसके पास आये और उसे छाती से लगा आँखों में आँसू भरकर बोले–"कहीं मेरे हृदय में भी रोने की ऐसी छटपटी हो जाती, तो मेरा जीवन सार्थक हो जाता।"[1]

नाभाजी ने गदाधरभट्टजी पर अपने छप्पय में उनके गुणों का वर्णन करते हुए कहा है–

सज्जन सुहृद सुसील बचन आरज प्रतिपालय।
निर्मत्सर निहकाम कृपा करुना को आलय।।

प्रियादासजी ने 'करुना को आलय' की व्याख्या में भट्टजी के जीवन की एक और घटना का उल्लेख किया है।

एक बार भट्टजी के घर में कोई चोर घुस आया। माल बटोर कर ले जाने को हुआ तो गठरी उससे नहीं उठी। भट्टजी कहीं से सब देख रहे थे। वह उसके निकट आये और सहारा लगाकर गठरी उठवा दी। यह देख चोर चक्कर में पड़ा। उसने पूछा "आप कौन है?" भट्टजी ने कहा–'गदाधर भट्ट।" उनका नाम उसने सुन रखा था, पर घर नहीं देखा था। यह जानकर कि उसने एक महात्मा का धन चुराया है, उसे बड़ी आत्म–ग्लानि हुई। उसने गठरी रख दी और उनसे क्षमा मांगी।

पर भट्टजी ने कहा–"तुम इसे ले जाओ। मेरे पास सबेरा होते ही इसका दस गुना आ जाएगा। तुम्हारी तो जीविका ही यह है।"

चोर उनकी उदारता से इतना प्रभावित हुआ कि चोरी छोड़कर उनका शिष्य हो गया।

गदाधरभट्टजी के आविर्भाव और तिरोभाव का समय ठीक ज्ञात नहीं। उनका वृन्दावन आगमन जीव गोस्वामी के वृन्दावन–आगमन के बाद और श्रीरघुनाथभट्ट गोस्वामी के तिरोभाव के पूर्व किसी समय हुआ होगा। जीव गोस्वामी का वृन्दावन आगमन हुआ सं०१५८७ में और रघुनाथभट्ट गोस्वामी का तिरोभाव हुआ सं० १६११ में। १५८७ में जीव गोस्वामी की उम्र १९ वर्ष के लगभग थी। दस वर्ष बाद १५९७ के लगभग उनकी इतनी ख्याति हुई होगी कि गदाधरभट्ट उनके संकेत पर वृन्दावन चले आये। इसलिये अनुमान लगाया जा सकता है कि वे वृन्दावन सं० १५९७ और १६११ के बीच किसी समय आये होंगे।

गदाधरभट्टजी के वंश में आज पर्यन्त प्रख्यात विद्वान और श्रीमद्भागवत के रसज्ञ और अधिकारी वक्ता होते रहे हैं। 'प्रेम–पत्तन' ग्रन्थ के प्रणेता श्रीरसिकोत्तंस और 'मधुकेलिवल्ली' के प्रणेता श्रीगोवर्धनभट्ट इन्हीं के वंश में हुए हैं। इनके ठाकुर श्रीराधामोहनजी की सेवा आज भी

१ भक्ति रस-बोधिनी, कवित्त ५२९

वृन्दावन में इनके वंशजों द्वारा बड़े भाव से की जाती है।

गदाधरभट्टजी की कविता परिमाण में थोड़ी होते हुए भी बड़ी उच्च कोटि की है। उसकी तुलना किसी ने तुलसीदास की रचनाओं से, किसी ने श्रीहितहरिवंश गोस्वामी की रचनाओं से और किसी ने सूरदास की रचनाओं से की है। उनकी धमार आज भी नन्दगाँव और बरसाने के मन्दिरों में गायी जाती है। उन्होंने राधा–कृष्ण की मधुर लीलाओं का ही गान किया है। विशेष बात यह है कि उन्होंने राधा–कृष्ण के विवाह तक के पद लिखे हैं, जो गौड़ीय सम्प्रदाय के कवियों की रचना में प्रायः देखने को नहीं मिलते। विवाह का एक पद इस प्रकार है–

युगल वर आवत हैं गठ जोरैं।
संग शोभित वृषभानुनन्दिनी, ललितादिक तृन तोरैं।।
सीस सेहरौ बन्यौ लाल कें, निरखि हंसत मुख मोरैं।
निरखि-निरखि बलि जाय 'गदाधर,' छवि न बढ़ी कछु थोरैं।।

विवाह की गाली का एक सुन्दर पद देखिये–

सुन्दर स्याम सुजान सिरोमनि, देउँ कहा कहि गारी हो।
बड़े लोग के अवगुन बरनत सकुचि उठति मन भारी हो।।
को करि सकै पिता कौ निरनौ, जाति-पाँति को जानै हो।
जाके मन जैसीयै आवति, तैसीय भांति बखानै हो।।
तुम पुनि प्रकट होय बारे तें[1] कौन भलाई कीनी हो।
मुक्ति बधू उत्तम जन-लायक, लै अधमति कौं दीनी हो।।
बसिदस मास गर्भ माता के इहि आसा करि जाये हो।
सो घर छाँड़ि जीभ के लालच भये हो पूत पराये हो।।
बारे तें गोकुल गोपिन के सूने घर तुम डाटे हो।
पैठे तहाँ निसंक रंक-लौ दधि के भाजन चाटे हो।।
आपु कहाइ धनी के ढोटा[2] भात कृपन लौं माँग्यो हो।[3]
मान-भंग पर दूजैं जायतु, नैकु संकोच न लाग्यो हो।।
सब कोउ कहत नंद बाबा कौ घर भरयौ रतन अमोलै हो।
गर गुञ्जा, सिर मोर-पखौवा, गायन के सँग डोलै हो।।
मोहन बसीकरन चट-चेटक मंत्र-तंत्र सब जानै हो।
तातें भले-भले सब तुमकों भले-भले करि मानै हो।।
बरनौं कहा जथामति मेरी बेदहुँ पार न पावै हो।
भट्ट गदाधर प्रभु की महिमा गावत ही उर आवै हो।।

गदाधरभट्टजी के जन्म–संवत् के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। पर यह निश्चित है कि वे संवत् १६६५ के बाद तक जीवित थे, क्योंकि वृन्दावन–शोध–संस्थान में सुरक्षित श्रीजीव गोस्वामी की संकल्प–पत्री पर, जो संवत् १६६५ में लिखी गयी थी, साक्षी रूप में उनके हस्ताक्षर हैं।

१. बचपन से २. पुत्र, ३ सुदामा से चावल माँगकर खाये।

श्रीमधु गोस्वामी

श्रीधाम वृन्दावन में गोपीनाथजी का मन्दिर गौड़ियों के सात प्राचीन देवालयों में से एक है। इसके प्रतिष्ठाता श्रीमधुगोस्वामी श्रीचैतन्य महाप्रभु के अभिन्न पार्षद श्रीगदाधर पंडित के शिष्य थे–

श्रीगोपीनाथ अधिकारी मधु पंडित।
गदाधर पंडितेर शिष्य ए विदित।।

(भक्ति रत्नाकर १३।३१९)

वे गदाधर पंडित की तरह ही महान् पंडित थे। इसलिये लोग उन्हें मधु पंडित के नाम से पुकारते थे। ऐसा शायद ही कोई शास्त्र रहा होगा, जिसका मधु पंडित ने अध्ययन न किया हो। पर श्रीमद्भागवत में उनकी विशेष अनुरक्ति थी। भागवत में उनकी अनुरक्तिका कारण गदाधर पंडित ही थे। गदाधर पंडित की भागवत–भक्ति प्रसिद्ध है। वे श्रीमद्भागवत की साक्षात मूर्ति ही थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु उनसे श्रीमद्भागवत सुना करते थे। उन्हें भागवत सुनाते समय उनके नेत्रों से इतना अश्रुपात होता था कि अश्रुजल से उनकी भागवत–पोथी के अक्षर मिट गये थे। भक्ति रत्नाकर में उल्लेख है कि श्रीनिवासाचार्य उस पोथी के दर्शन कर भावावेश में इतना अस्थिर हो गये थे कि उन्हें स्थिर करने के लिये गदाधर पंडित को अपने वात्सल्य की उन पर विशेष रूप से वृष्टि करनी पड़ी थी।[1]

श्रीमद्भागवत का नित्य अनुशीलन करते–करते और गुरुदेव के मुख से भागवत की कथा और श्रीकृष्ण के रूप, गुण, लीलादि का श्रवण करते–करते मधु पंडित का मन चंचल हो उठा श्रीकृष्ण की त्रिभंग–ललित मूर्ति के दर्शन के लिये। वे जानते थे कि श्रीकृष्ण वृन्दावन में नित्य विराजते हैं, वहाँ से कभी कहीं जाना तो दूर एक कदम भी वृन्दावन के बाहर नहीं रखते–"वृन्दावन परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।"

इसलिये वे चल पड़े वृन्दावन के सुदीर्घ पथ पर। पाथेय के रूप में ले चले श्रीकृष्ण की मधुर स्मृति और अपने प्रेमाश्रु, और कुछ नहीं। और उन्हें चाहिये ही क्या था? जिसके पास श्रीकृष्ण की स्मृति और श्रीकृष्ण–प्रेम का संबल हो, उसे फिर और किसी संबल की आवश्यकता ही क्या? मार्ग में भूख–प्यास, थकावट और अनिद्रा आदि के कष्ट का प्रश्न ही क्या था? कृष्ण की मधुर स्मृति और कृष्ण–दर्शन की लालसा और आशा ने उन्हें सब कुछ भुला दिया था। इतना लम्बा रास्ता पैदल चलते–चलते कब कैसे बीत गया उन्हें पता ही न चला। वे वृन्दावन आ पहुँचे।

वृन्दावन आकर प्रारम्भ हुआ उनका कृष्णान्वेषण। कृष्ण को ढूँढ़ते हुए वे पागल की तरह इधर–उधर भटकते फिरते। कहीं वह इस बन में तो सखाओं के साथ क्रीड़ा नहीं कर रहा है। कहीं इस कुंज में गोपियों के साथ अठखेलियाँ तो नहीं कर रहा है? कहीं इन वृक्षों के झुरमुट न या इन

१. भक्ति रत्नाकर ३/२७६–२७७

लताओं की ओट में तो नहीं छिपा हुआ है? बस इसी तरह वे कोने-कोने झाँकते फिरते। कभी हताश हो, रो-रोकर उसे पुकारने लगते। कभी बन के पत्तों की मरमराहट सुन उन्हें लगता जैसे उसने उनकी पुकार सुन ली है और उनकी ओर आ रहा है, कभी उन्हें बांसुरी की ध्वनि सी सुनाई पड़ती और लगता कि वह उन्हें बांसुरी बजाकर अपनी ओर बुला रहा है। पर जब वह कहीं न दीखता तो विरह-वेदना के कारण उनके प्राण छिन्न-भिन्न हो जाते और वे मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़ते।

भूख-प्यास, धूप-छाँह की परवाह न कर वे इसी प्रकार कन्हैया की खोज में भटकते रहते। पर कन्हैया का अपने भक्तों से लुका-छिपी का खेल सदा लम्बा ही चलता है। वह जल्दी किसी के हाथ नहीं आता। जब आता है तो बिना बुलाये, बिना खोजे अनायास आ जाता है और भक्त को गले लगाकर उसका सारा ताप दूर कर देता है।

एक दिन जब घनघोर वर्षा हो कर चुकी थी और यमुना कगारे काट रही थी, वह मधु पंडित को वंशीवट के पास ललित, त्रिभंग ठाम में खड़ा मंद-मंद मुसकाता दीख गया। मधु पंडित ने दौड़कर उसे दोनों भुजाओं में समेट लिया। उसने भी पीताम्बर सहित दोनों भुजाओं में उन्हें भर लिया।

पर उसका तो स्वभाव ही नहीं अधिक समय कहीं टिकने का। भक्त को प्रेमालिंगन प्रदानकर उसने उसके बाहुपाश से अपने को छुड़ाना चाहा। मधु पंडित इतने परिश्रम और इतनी वेदनाभरी प्रतीक्षा के बाद उसे पाकर छोड़ कैसे देते? उन्होंने कहा-"प्रभु मैं तुम्हारे बगैर जीवित नहीं रह सकता। या तो तुम मेरे पास रह जाओ, या मुझे अपने साथ ले चलो।"

भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रभु को भक्त की बात रखनी पड़ी। वे बोले-'अच्छा मधु! में विग्रहरूप में सदा तुम्हारे पास रहूँगा।'

उसी क्षण वे विग्रह रूप में परिणत हो मधु पंडित के पास रह गये।[1]

प्रियादासजी ने भक्तमाल की अपनी 'भक्तिरस-बोधिनी' टीका में मधु पंडित की गोपीनाथजी की प्राप्ति का विवरण इस प्रकार दिया है-

श्रीमधु गोसाई आये वृन्दावन, चाह बढ़ी,
देखौं इन नैननि सों कैसो धों सरूप है।
ढूँढ़त फिरत बन-बन कुंज-लता-द्रुम,
मिटी भूख प्यास, नहिं जानैं छाँह धूप है।।
जमुना चढ़त, काट करत करारे जहाँ,

वंशी वट-निकट परमरम्य हय।
तथा गोपीनाथ महारंगे विलसय।।
अकस्मात् दर्शन दिलेन कृपा करि।
श्रीमधु पंडित हैला सेवा अधिकारी।।
(भक्ति रत्नाकर, २/४७८-७९)

बंसीवट तट डीठ परे वै अनूप हैं।
अंक भरि लिये दौर, अजहू लौं सिरमौर
चाहै भाग भाल साथ गोपीनाथ रूप है।।

-कवित्त सं० ३८०

मधु पंडित गोपीनाथ को लेकर वृन्दावन में ही रह गये। गोपीनाथजी की सेवा–पूजा बड़े लाड़–चाव से करते हुए आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। वे कब तक जीवित रहे इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना मुश्किल है। पर वे सं० १६३९ तक निश्चित ही प्रकट थे, जब श्रीनिवासाचार्य ग्रन्थों की गाड़ी के साथ वृन्दावन से बंगदेश के लिये विदा हो रहे थे। उस समय श्रीजीव गोस्वामी श्रीनिवासजी को लेकर उनके पास गये थे और उनसे आशीर्वाद की प्रार्थना की थी, जिससे उनकी यात्रा निर्विघ्न पूरी हो। मधु पंडित ने उस समय श्रीगोपीनाथ की 'आज्ञा–माला' लाकर उन्हें दी थी–

श्रीजीव मधु पंडितादि प्रति कय।
श्रीनिवास-गमन निर्विघ्ने जेन हय।।
श्रीमधु पंडित-गोपीनाथे जानाइला।
श्रीनिवासे प्रभु आज्ञा-माला आनि दिला।।

(भक्ति रत्नाकर, ६/४३१-३२)

आज भी वृन्दावन में मधु पंडित के ठाकुर, गोपीनाथजी की निधिवन के निकट उनके मन्दिर में सेवा हो रही है। मन्दिर का निर्माण श्रीरायसिल शेखावत ने करवाया था, जिन्हें अफगानों के एक हमले को विफल कर देने के कारण अकबर ने दरबारी का खिताब और बहुत सी भूमि दी थी। ग्राउज का अनुमान है कि शायद यह मंदिर गोविन्ददेव और मदनमोहनजी के मन्दिरों से कुछ पूर्व बना था।[1]

मंदिर के निकट ही श्रीमधु पंडित की समाधि है।



1- Growse : A District Memoir of Mathura p. 253

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी

श्रीचैतन्य–चरितामृत के रचयिता श्रीकृष्णदास कविराज ने जो अपना संक्षिप्त परिचय चैतन्य–चरितामृत में दिया है, उसके अतिरिक्त उनके बारे में हमें कुछ नहीं ज्ञात। उससे पता चलता है कि उनका जन्म वर्धमान जिले के अन्तर्गत 'झामटपुर' ग्राम में हुआ था। श्रीकृष्णदास कविराज के जन्म–संवत् की कोई जानकारी नहीं है। डाक्टर दिनेशचन्द्रसेन ने उनका जन्म सन् १५१७ में लिखा है और लिखा है कि उनके पिता का नाम था भगीरथ और माता का सुनन्दा। दोनों दरिद्र थे और कृष्णदास और उनके कनिष्ठ भ्राता श्यामदास को छोड़ परलोक चले गये थे, जब कृष्णदास की उम्र ६ वर्ष की ही थी। डा० सेन ने किस आधार पर यह लिखा है, इसका उल्लेख नहीं किया।

यदि १५१७ई में कविराज गोस्वामी का जन्म हुआ होता तो उन्होंने श्रीमन्महाप्रभु के दर्शन न भी किये होते, तो श्रीनित्यानन्दप्रभु और श्रीअद्वैत–प्रभु के तो अवश्य ही किये होते। पर उनके ग्रन्थों से स्पष्ट है कि उन्होंने तीनों प्रभुओं में से किसी के दर्शन नहीं किये।

कविराज गोस्वामी ने चैतन्य–चरितामृत में अपने जीवन की एक विशेष घटना का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है। एक बार उनके घर अष्ट–प्रहर संकीर्तन का आयोजन हुआ, जिसमें श्रीनित्यानन्द प्रभु के शिष्य श्रीमीनकेतन रामदास को आमन्त्रित किया गया। मीनकेतन रामदास प्रेम की मूर्ति थे। प्रेम में वे सदा झूमते रहते थे और उनके नेत्र सदा सजल रहते थे। जो एक बार उनकी ओर देख लेता था, उसके भी नेत्रों से प्रेम–धार अविच्छिन्न बहने लगती थी। उनके अंग में सात्विक–भाव निरन्तर क्रीड़ा करते रहते थे। कभी पुलक होता था, कभी कम्प। कभी एक अंग में जाड्य, दूसरे में कम्प। अवधूत की तरह वे जब कृष्णदास के घर आँगन में आकर विराजे, तो सबने उनके चरणों में दण्डवत् की। प्रेमावेश में उन्होंने किसी पर अपनी बंसी से प्रहार किया, किसी को थप्पड़ मार दिया और किसी की पीठ पर ही चढ़ बैठे। फिर उन्मत्त की तरह आंगन में नृत्य–कीर्तन करने लगे।[1]

इस प्रकार प्रेम में उन्मत्त श्रीमीनकेतन रामदास से कविराज गोस्वामी के भाई श्रीश्यामदास का उत्सव के पश्चात् नित्यानन्द प्रभु के स्वरूप को लेकर कुछ विवाद छिड़ गया। मीनकेतन रामदास क्रुद्ध हो वहाँ से चले गये। इस अपराध के कारण श्यामदास का तत्काल सर्वनाश हो गया।

श्यामानन्द महाप्रभु को मानते थे, पर नित्यानन्द प्रभु के प्रति उनका उतना विश्वास नहीं था। श्यामानन्द के मीनकेतन रामदास से

१. चै. च. १/५/१५८–१७१
२. किस प्रकार सर्वनाश हुआ, इसका उल्लेख कविराज गोस्वामी ने नहीं किया।

विवाद के समय कविराज गोस्वामी ने श्यामानन्द की भर्त्सना की थी और कहा था—महाप्रभु और नित्यानन्द, दोनों भाई एक ही तत्व के दो समान प्रकाश हैं। दोनों में से एक को मानना, एक को न मानना 'अर्धकुक्कुटी—न्याय' का दोषी होना है। वह पाषंडी है, जो ऐसा करता है।[1]

कविराज गोस्वामी ने लिखा है—"मैंने भाई की भर्त्सना की, मेरे इसी गुण से भुग्ध हो नित्यानन्द प्रभु ने मुझे उसी रात स्वप्न में दर्शन दिये। मैं दण्डवत्कर उनके चरणों में लोट गया। तब उन्होंने अपना चरण मेरे सिर पर रख दिया और बार—बार कहा 'उठ, उठ'। उठकर, जो मैंने उनकी ओर देखा, तो उनका (बलराम) रूप देख चमत्कृत रह गया।[2]

नित्यानन्द प्रभु के उस रूप का कविराज गोस्वामी ने सुन्दर वर्णन इस प्रकार किया है—

श्याम-चिक्कन कान्ति प्रकाण्ड शरीर।
साक्षात् कन्दर्प जछे महामल्ल-वीर।।
सुबलित हस्त, पद, कमल-लोचन।
पट्ट वस्त्र शिरे, पट्ट-वस्त्र परिधान।।
सुवर्ण कुण्डल कर्णे, स्वर्णाङ्गद-बाला।
पायेते नूपुर बाजे, कन्ठे पुष्प-माला।।
चन्दन-लेपित अंगे, तिलक सुठाम।
मत्तगज जिनि मद-मन्थर पयान।।
कोटि चन्द्र जिनि, मुख उज्ज्वल-वरण।
दाड़िम्ब-बीज-सम दन्ते ताम्बूल चर्वण।।
प्रेमे मत्त अंग डाहिने-बामे दोले।
'कृष्ण-कृष्ण' बलिया गम्भीर बोल बले।।
राङ्गा-यष्टि-हस्ते दोले जेन मत्त सिंह।
चारि पाशे बेड़ि आछे चरणेते भृङ्ग।।
पारिषदगणे, देखि सब गोप-वेशे।
'कृष्ण-कृष्ण' कहे सबे सप्रेम आवेशे।।
शिङ्गा बांशी बाजाय केह, केह नाचे गाय।
सेवक जोगाय ताम्बूल, चामर ढुलाय।।
(चै. च. १/५/१८४-१९२)

नित्यानन्द प्रभु ने कहा—"कृष्णदास, तुम वृन्दावन जाओ। वहाँ तुम्हारी सर्वाभीष्ट सिद्धि होगी।' इतना कह अन्तर्धान हो गये। कृष्णदास मूर्च्छित हो भूमि पर गिर गये। प्रातः होते ही वे वृन्दावन चले गये।[3]

वृन्दावन जाकर उन्होंने रूप—सनातनादि गोस्वामीगण की शरण ली। उन्होंने उनका भक्तिभाव देख एक अमूल्य रत्न के रूप में उन्हें

१. चै. च. १/५/१७३—१७७
२. चै. च. १/५/१८०—१८३
३. चै. च. १/५/१९५—१९६

अंगीकार किया और बड़े स्नेह के साथ भक्ति—शास्त्रादि की शिक्षा दी। चैतन्य—चरितामृत में उन्होंने उन सभी गोस्वामियों का नाम लेकर शिक्षा—गुरु रूप में उनकी बन्दना की है—

श्रीरूप श्रीसनातन, भट्ट रघुनाथ।
श्रीजीव, गोपालभट्ट, दास रघुनाथ।।
एई छय गुरु शिक्षा-गुरु जे आमार।
ताँ सभार पाद पद्मे कोटि नमस्कार।।

(चै. च. १/१/३६-३७)

गोस्वामीगणकी कृपा से कृष्णदास कविराज सभी शास्त्रों में निपुण हो गये। उनकी ज्ञान—गरिमा और भाव—भक्ति उनके ग्रन्थों से स्वतः प्रमाणित है। उन्होंने बहुत से ग्रंन्थों की रचना की, जिनमें मुख्य हैं—श्रीचैतन्य—चरितामृत, श्रीगोविन्द—लीलामृत और विल्वमंगलकृत 'कृष्णकर्णामृत' की सारङ्ग—रङ्गदा' टीका। चैतन्य—चरितामृत उनकी शेष रचना है।

चैतन्य—चरितामृत की रचना उन्होंने उस समय की जब वे बहुत वृद्ध हो गये थे और नाना रोगों से पीड़ित थे, उन्हें आँखों से दीखता था न कानों से सुनाई पड़ता था; वे चल—फिर और उठ—बैठ भी नहीं सकते थे। हाथ में लेखिनी लेते थे, तो हाथ काँपने लगता था। उस समय की अपनी स्थिति का उन्होंने स्वयं इन शब्दों में वर्णन किया है—

वृद्ध जरातुर आमि अन्ध बधिर।
हस्त हाले, मनोबुद्धि नहे मोर स्थिर।।
नानारोगेग्रस्त, चलिते बसिते ना पारी।
पञ्चरोगेर पीड़ाय व्याकुल रात्रि दिने मरि।।

(चै. च. ३/२०/९३-९४)

ऐसी स्थिति में वे एक ऐसे ग्रन्थ—रत्न की रचना कर सके, जिसकी विश्व में तुलना नहीं है, यह भगवद्—कृपा का एक विशेष चमत्कार है। इसकी रचना का एक इतिहास है। इसके पूर्व श्रीमन्महाप्रभु की लीला से सम्बन्धित कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। उनमें मुरारी गुप्त का कड़चा, कविकर्णपूर के श्रीचैतन्य—चन्द्रोदय नाटक और श्रीचैतन्यचरितामृत—महाकाव्यम्, लोचनदास ठाकुर का श्रीचैतन्यमंगल एवं वृन्दावनदास ठाकुर का श्रीचैतन्य—भागवत प्रधान हैं। इनमें—से किसी ग्रन्थ में महाप्रभु की शेष गम्भीरा—लीला का विशेष रूप से वर्णन नहीं किया गया था। इसलिये गौर—लीला—रस—पिपासु भक्तों की उनसे भली प्रकार तृप्ति नहीं होती थी। एक दिन श्रीभूगर्भ गोस्वामी, गोविन्ददेव के सेवक श्रीहरिदास, काशीश्वर गोस्वामी के शिष्य श्रीगोविन्द गोस्वामी, रूप गोस्वामी के शिष्य श्रीयादवाचार्य गोस्वामी, श्रीमुकुन्द चक्रवर्ती और श्रीशिवानन्द चक्रवर्ती आदि वृन्दावन के विशिष्ट भक्तों ने मिलकर कविराज गोस्वामी से एक ऐसे ग्रन्थ की रचना करने का आग्रह किया, जिसमें महाप्रभु की अन्त्य—लीला का विस्तृत वर्णन

हो।

वृद्ध कविराज गोस्वामी अशक्त होने के कारण इस कार्य को करने की हामी भर सकते थे, न वैष्णव–अग्रगण्य इन सभी भक्तों की आज्ञा का उल्लंघन कर सकते थे। किंकर्त्तव्य–विमूढ़ हो वे गोविन्ददेव के मन्दिर गये। उस समय गोसाञिदास पुजारी नाम के एक सेवक गोविन्ददेव की सेवा में थे। कविराज गोस्वामी ने गोविन्ददेव के चरणों में प्रणत हो अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध में उनसे प्रार्थना की। उसी समय गोविन्ददेव के गले से एक माला खिसक पड़ी। गोसाञिदास ने माला लाकर कृष्णदास के गले में डाल दी। कृष्णदास इसे गोविन्ददेव का ग्रन्थ–रचना का आदेश समझ प्रसन्न हुए। उसी समय उसी स्थान पर उन्होंने ग्रन्थ लिखना आरम्भ कर दिया–

आज्ञा–माला पाञा मोर हइल आनन्द।
ताँहाई करिनु एइ ग्रन्थेर आरम्भ।।

(चै. च. १/८/७७)

ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में कृष्णदास ने लिखा है–"इसके वास्तविक रचयिता तो श्रीमदनगोपाल ही हैं। मेरा लिखना वैसा ही है, जैसा तोते का पढ़ना। तोते को जो पढ़ाया जाता है, वह उसी को अक्षरशः दोहरा देता है। मोहन गोपाल मुझसे जैसे लिखाते हैं, वैसे ही उनकी कठपुतली के समान मैं लिखता जाता हूँ–

एइ ग्रन्थ लेखाय मोरे मदनमोहन।
आमार लिखन जेन शुकेर पठन।।
सेइ लिखि, मदनगोपाल मोरे जे लेखाय।
काष्ठेर पुत्तली जेन कुहके नाचाय।।

(चै. च. १/८/७८-७९)

तभी तो चैतन्य–चरितामृत कृष्णदास कविराज का अक्षय–कीर्ति–स्तम्भ बनकर रह गया है। चैतन्य–चरित का तो इसमें रसमय वर्णन है ही, दार्शनिक दृष्टि से भी यह एक अपूर्व ग्रन्थ है। यह गौड़ीय गोस्वामीगण के समस्त सिद्धान्त–ग्रन्थों का सारस्वरूप है। बंगला साहित्य का यह सर्वश्रेष्ठ रत्न है।

कविराज गोस्वामी के दीक्षा–गुरु कौन थे, इस सम्बन्ध में दो मत हैं। चैतन्य–चरितामृत की अन्त्य–लीला के दो श्लोकों में (९७, १४६) उन्होंने रघुनाथ को अपना दीक्षा–गुरु कहा है। पर कौन से रघुनाथ? रघुनाथदास गोस्वामी? या रघुनाथभट्ट गोस्वामी? यह स्पष्ट नहीं है। इसलिये कुछ लोग उन्हें रघुनाथदास गोस्वामी का शिष्य मानते हैं, कुछ रघुनाथभट्ट गोस्वामी का। श्रीराधागोविन्दनाथ ने श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती के समसामयिक श्रीरूप–कविराज गोस्वामी की गुरु–प्रणालिका के आधार पर रघुनाथभट्ट गोस्वामी को कविराज गोस्वामी का दीक्षागुरु माना है, क्योंकि

इस प्रणालिका में कृष्णदास कविराज को रुप कविराज का परमगुरु और रघुनाथभट्ट गोस्वामी का शिष्य लिखा है।[1]

श्रीकृष्णदास कविराज संवत् 1665 (सन् 1608) के बाद तक जीवित रहे, यह निश्चित है, क्योंकि श्रीजीव गोस्वामी की संकल्प–पत्री की परिपिष्ट लिपि पर, जो संवत् 1665 में लिखी गयी थी, उनके हस्ताक्षर है।[2]

श्रीश्रीनिवासाचार्य प्रभु

उस दिन नवद्वीप के निकट काटोया में जो हो रहा था, भूलोक ही नहीं वैकुण्ठ और गोलोक के इतिहास में भी पहले कभी नहीं हुआ था। विश्व–ब्रह्मांड के अधिपति श्रीभगवान् जीवों के मङ्गल हेतु संन्यास ग्रहण कर वृक्ष–तलवासी भिखारी होने जा रहे थे। उनका मस्तक मुंडन होते देख असंख्य नर–नारी हा–हाकार कर रहे थे। अनेकों मूर्च्छा खा पृथ्वी पर गिर रहे थे। संन्यास देने वाले धीर–गंभीर संन्यासी केशव भारती तक के आँसू नहीं थम रहे थे। गङ्गातीरवर्ती चांकंदी ग्राम से आये गङ्गाधर भट्टाचार्य भी श्रीभगवान् को गेरुआ वस्त्र और दण्ड–कमण्डलु धारण करते देख रो–रोकर पागल हो रहे थे। उन्होंने जैसे ही सुना उनका संन्यास का नाम 'श्रीकृष्ण चैतन्य' वे मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। बहुत देर बाद अकस्मात उठ खड़े हुए और 'श्रीचैतन्य! श्रीचैतन्य!' पुकारते हुए गङ्गा के किनारे–किनारे चाकंदी ग्राम की ओर चैतन्य–प्रेम–मदिरा के नशे में झूमते–झूमते जाने लगे। चाकंदी पहुँचकर भी बहुत दिनों तक ग्राम के गली–कूँचों में 'श्रीचैतन्य'! श्रीचैतन्य!' कहते पागल की तरह डोला किये। तभी से लोग उन्हें पुकारने लगे–श्रीचैतन्यदास। गङ्गाधर पंडित श्रीचैतन्यदास हो गये।

चैतन्यदास की धर्मपत्नी काटोया के निकटवर्ती याजग्राम के बलराम आचार्य की कन्या लक्ष्मीप्रिया परम भक्तिमती और पतिव्रता स्त्री थीं। उनकी सेवा–परिचर्या के परिणामस्वरूप चैतन्यदास कुछ दिनों में स्वस्थ हो गये। घर का कामकाज भी देखने लगे। संसार से लिप्त तो वे पहले भी नहीं थे, पर काटोया से लौटने के पश्चात् उनकी उदासीनता बढ़ गयी। वे सांसारिक कार्य उतना ही करते, जितना उदर पालन के लिये आवश्यक समझते। बाकी समय श्रीचैतन्य के ध्यान और गुणगान में व्यतीत करते। उनकी सहधर्मिणी भी उनके साथ सहयोग करते हुए सदा ठाकुर–सेवा–पूजा में संलग्न रहतीं। दोनों आदर्श भक्त दम्पति के सामने

१. चैतन्य–चरितामृत, भूमिका, पृ० ५
२. यह संकल्प–पत्री वृन्दावन–शोध–संस्थान में सुरक्षित है।

जीवन व्यतीत करते।

जन्म

चैतन्यदास के कोई संतान नहीं थी। संतान प्राप्ति की उन्हें इच्छा भी नहीं थी, क्योंकि भगवत्प्राप्ति ही उनके जीवन का उद्देश्य था।

पर कुछ दिन बाद हठात् भगवत्–प्रेरणा से दोनों के मन में एक सुन्दर, सुपात्र, भगवद्भक्त सन्तान की इच्छा जागी। दोनों ने अपने मन की बात एक दूसरे से कही और दोनों एक–दूसरे का मनोभाव जानकर प्रसन्न हुए। दोनों ने नीलाचल जाकर महाप्रभु से अपनी बात खोलकर कहने का निश्चय किया, क्योंकि उनकी कृपा के बिना उनकी इच्छा की पूर्ति होना संभव नहीं था।

प्रति वर्ष गौड़ देश से रथयात्रा के अवसर पर महाप्रभु के सहस्त्रों भक्त उनके दर्शन करने नीलाचल जाया करते थे। चैतन्यदास और लक्ष्मीप्रिया भी उनके साथ हो लिये। नीलाचल में जगन्नाथजी के मन्दिर के सामने भक्तों का महाप्रभु से मिलन हुआ। महाप्रभु ने प्रत्येक को आलिंगन दानकर कृतार्थ किया। चैतन्यदास को दिखाकर महाप्रभु ने अपने सेवक गोविन्द से कहा–ये ब्राह्मण बड़े सरल, निरीह और संकोची हैं। इन्हें तुम स्वयं जगन्नाथजी के दर्शन कराना। इनके वासस्थान और आहारादि की उचित व्यवस्था करना।

गोविन्द की देख–रेख में और महाप्रभु के मधुर संग में चैतन्यदास और उनकी पत्नी के दिन नीलाचल में आनन्द से बीतने लगे। पर अपने मन की बात महाप्रभु से कहने का उनका साहस न हुआ। एक दिन रात्रि में जगन्नाथजी ने चैतन्यदास से स्वप्न में कहा–'तुम घर चले जाओ। शीघ्र ही तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हारे एक सर्वाङ्ग सुन्दर पुत्र होगा, जो अपने आसाधारण प्रेम और पांडित्य से तुम्हारे कुल को धन्य करेगा।'

दूसरे दिन प्रातःकाल आनन्दाश्रु विसर्जन करते हुए चैतन्यदास स्वप्न का वृतान्त लक्ष्मीप्रिया को सुना रहे थे, उसी समय गोविन्द ने आकर कहा–'महाप्रभु ने तुम्हारा मनोरथ जान लिया है। थोड़े ही दिनों में महाप्रभु का प्रेम हृदय में धारणकर तुम्हें एक अमूल्य पुत्ररत्न लाभ होगा। इसलिये महाप्रभु ने आदेश दिया है कि तुम घर जाओ और सदा संकीर्तन में नियुक्त रहकर उस क्षण की प्रतीक्षा करो।'

अचल जगन्नाथ और सचल जगन्नाथ दोनों का एक साथ आशीर्वाद प्राप्त कर ब्राह्मण दम्पति के विस्मय और आनन्द की सीमा न रही। दोनों ने दोनों वाञ्छापूर्णकारी प्रभुओं के चरणों में प्रणामकर उनके आदेशानुसार घर के लिये प्रस्थान किया।

सम्वत् १५७५, वैशाखी पूर्णिमा के दिन रोहिणी नक्षत्र में लक्ष्मीप्रिया देवी के गर्भ से चम्पकवर्ण एक परम रूपवान शिशु का जन्म हुआ। वेदपाठ, शंखध्वनि और संकीर्तन–ध्वनि से चैतन्यदास का घर मुखरित हो

उठा। शिशु–के असाधारण सौन्दर्य और माधुर्य का संवाद पा लोग बहाने–बहाने से उसे देखने आने लगे। सबकी सम्मति से उसका नाम रखा गया श्रीनिवास।

बाल्य-लीला

शिशु कुछ बड़ा हुआ तो चांचल्य के कारण उसे गोद में रखना असंभव हो गया। पर आश्चर्य की बात यह है कि जब माँ गोद में बैठाकर उसे गौर और गौर परिकरों के नाम गा–गाकर सुनातीं तो वह उत्कर्ण हो बड़े ध्यान से सुनता और स्वयं भी नाम उच्चारण करने की चेष्टा करता। जब कुछ और बड़ा हुआ तो वही गौर और गौर–परिकरों के नाम उसके कंठ के भूषण बन गये। वह अपने कोमल कण्ठ से उनका उच्चारण करते हुए नृत्य करता और पास–पड़ोसी विस्मित और मुग्ध हो उसके नृत्य का दर्शन करते।

पाँचवे वर्ष में प्रवेश करते ही चैतन्यदास ने उसे चाकंदी के महामहोपाध्याय धनञ्जय वाचस्पति को उसे पढ़ाने–लिखाने का भार सौंपा। श्रीनिवास गुरुमुख से पाठ सुनते ही कण्ठ कर लेते। ऐसे मेधावी छात्र को पाकर वाचस्पति महाशय प्राणपण से उसे पढ़ाने की चेष्टा करने लगे। अपनी असाधारण मेधा और अध्यवसाय के फलस्वरूप श्रीनिवास थोड़े ही समय में व्याकरण, काव्य, अलंकार और दर्शनादि में सुपंडित हो गये। पांडित्य के साथ उनका प्रेमानुराग भी बढ़ता गया। गौर–प्रेम उनके हृदय की जिस पेटिका में अविरुद्ध था, उसका ढक्कन खुल गया। पांडित्य की तेजोमय दीप्ति के साथ भगवत्–प्रेम के सुकोमल माधुर्य के मिश्रण से उनका चरित्र एक अपरूप महिमामय आकार में रूपायित होने लगा। वैष्णव समाज में उसकी चरचा जहाँ–तहाँ होने लगी। गौर–भक्तों का ध्यान विशेष रुप से उनकी ओर आकृष्ट हुआ।

कहते हैं कि एक बार नीलाचल में जगन्नाथजी के मन्दिर में भावावेश में नृत्य करते–करते महाप्रभु ने 'श्रीनिवास! श्रीनिवास!' कह किसी को आह्वान किया था। कीर्तन के पश्चात् कौतुहलवश लोगों ने उनसे इसका तात्पर्य पूछा था, तो उन्होंने कहा था–'मेरे विशुद्ध प्रेम की मूर्ति श्रीनिवास का चांकदी में आविर्भाव होगा। वह प्रेम और भक्तिशास्त्र का प्रचार कर सारे देश को प्रेम से परिप्लूत करेगा।' श्रीनिवास की तप्तकाञ्चन के समान अंग–कान्ति, मुखमण्डल पर ज्ञान, वैराग्य और पांडित्य का गाम्भीर्य और सजल दोनों नेत्रों में प्रेमानुराग के अंजन की लालिमा देख भक्तों को संदेह न रहा कि उनके शरीर में महाप्रभु का प्रेम मूर्तिमान होकर आविर्भूत हुआ है।

गौर–प्रेम की मूर्ति श्रीनिवास के पास गौर–परिकरों का आना–जाना प्रारम्भ हुआ। जब से गौर संन्यास लेकर नीलाचल चले गये थे उनके गौड़ देश के परिकर उनके विरह में कातर हो रहे थे। गौर–प्रेम में पागल श्रीनिवास में उन्हें गौर कथा सुनाकर अपनी विरह–वेदना कुछ कम करने

का पात्र मिला और गौररस पिपासु श्रीनिवास को अवसर मिला उनके माध्यम से अपनी पिपासा को कुछ शांत करने का। पर पिपासा शांत होने के बजाय बढ़ती गयी और उसके साथ तीव्र होती गयी श्रीनिवास की गौर–दर्शन की लालसा।

श्रीचैतन्यदास श्रीनिवास के समान गौर–भक्त पुत्र को प्राप्त कर धन्य हुए। वे भी जब अवसर पाते श्रीनिवास को पास बैठाकर स्नेहपूर्वक गौर–कथा सुनाते। पिता–पुत्र दोनों गौर–कथा कहते–सुनते भावाविष्ट हो जाते और कभी–कभी संज्ञाहीन अवस्था को प्राप्त होते।

नरहरि–मिलन

महाप्रभु के अन्यतम परिकर श्रीनरहरि सरकार ने काटोया के निकटवर्ती श्रीखण्ड में जन्म लिया था। गया से लौटकर जब महाप्रभु ने नदिया में संकीर्तन आरम्भ किया था तभी वे नदिया चले गये थे। वे उपासना में महाप्रभु के प्रति मधुरभाव रखते थे। श्रीखण्ड में गौर–विष्णुप्रिया की युगलमूर्ति की प्रतिष्ठाकर युगल–सेवा का प्रकाश उन्होंने ही किया था। गौर गणोद्देश–दीपिका के अनुसार वे व्रजलीला की अंतरंगा सहचरी मधुमती के अवतार थे।[1] नदिया में वे महाप्रभु की सेवा के आवेश में डूबे रहते थे। अवसर पा उनके निकट खड़े होकर चमर डुलाते थे, नगर–संकीर्तन के समय उनकी अंग–रक्षा के निमित्त उनके निकट रहते थे, भगवत्–भाव में आविष्ट हो जब वे विष्णु सिंहासन पर विराजते थे, तब उनकी आरती करते थे।

महाप्रभु के संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् गौर–विरह में कातर हो नरहरि श्रीखण्ड वापस चले गये थे। उन्होंने भी जब गौर–प्रेम की मूर्ति श्रीनिवास के बारे में सुना तो वे उनसे मिलने के लिये व्याकुल हो उठे। श्रीनिवास पहले ही नरहरि सरकार के सम्बन्ध में अपने पिता से सब जान चुके थे और उनसे मिलने को उतावले हो रहे थे। अकस्मात् याजग्राम के पथ पर एक दिन दोनों का मिलन हुआ। श्रीनिवास हरहरि ठाकुर को आत्मसमर्पण कर कृतकृत्य हुए। नरहरि ठाकुर ने श्रीनिवास को आलिंगन कर गौर–आलिंगन के सुख का अनुभव किया[2] और श्रीनिवास ने उनके

---

१. श्रीरामदास बाबाजी महाराज ने, नरहरि सरकार ठाकुर को साक्षात् 'युगल–विलास' की मूर्ति कहा है–'युगल विलास हये मूर्तिमान, धरे नरहरि नाम।'

—नरहरि सूचक–कीर्तन

१. 'प्रेम विलास' में उल्लेख है कि नरहरि ठाकुर को 'श्रीनिवास' नाम सुनते ही विश्वास हो गया था कि वे श्रीचैतन्य महाप्रभु की शक्ति का प्रकाश हैं–

श्रीनिवास नाम सुनि सुख उपजिल।
चैतन्येर शक्ति हन दृढ़ विश्वास हल।।

—प्रेम विलास, ४ अर्थ विलास।

'कणानन्द' के अनुसार वृन्दावन के गोविन्ददेव ने गोस्वामियों से कहा था–मेरी शक्ति से मरे प्रेम का हा ही श्रीनिवास के रूप में आविर्भाव हुआ है–

मोर शक्तिते जन्म इहार करिला प्रकाश।
प्रेम रूपे जन्म हैल नाम श्रीनिवास।।

—कर्णानन्द, षष्ठ विलास

आलिंगन से उनके हृदय की गौर–विरह–अग्नि–शिखा का अपने हृदय में संचरण होने का अनुभव किया। नरहरि ठाकुर ने मार्ग में ही कुछ देर अश्रुविसर्जन करते हुए गौर के सम्बन्ध में आलापकर श्रीनिवास को विदा किया।

श्रीनिवास घर लौटकर आये तो उनका गौर प्रेमोन्माद दसगुना बढ़ गया। वे उन्मत्त की तरह कभी रोते, कभी हंसते, कभी नृत्य करते। गौर–विरह में उनका रोना देख पाषाण–सा हृदय भी विदीर्ण हो जाता।

पितृ-वियोग

कुछ दिन बाद भावावेग कम होने पर उनकी विरह–ज्वाला कुछ शान्त हुई। पर एक और वज्रपात हो गया। उनके पिता ने अकस्मात् देह छोड़कर निकुञ्ज में प्रवेश किया। पिता उनके लौकिक पिता ही नहीं थे, उनके आदि गुरु और गौर–लीला–रसास्वादन के मर्मी साथी भी थे। उनके अप्रकट होने से वे बिलकुल निराश्रय हो गये। संसार में रहने का अब उनके लिये कोई आकर्षण न रहा। नीलाचल जाकर महाप्रभु के चरणों में आत्मसमर्पण करने के लिये उनके प्राण छटपट करने लगे। वे जननी को याजिग्राम में नाना के घर पहुँचाकर नीलाचल जाने की सोचने लगे।

याजिग्राम तो वे जा पहुँचे; पर पति–विरह–कातरा जननी को छोड़कर तुरन्त नीलाचल न जा सके। लक्ष्मीप्रिया अब श्रीनिवास का मुख देखकर ही किसी प्रकार जीवन धारणकर रही थीं। अपनी प्राण से भी अधिक प्रिय सन्तान को सुदूर नीलाचल के पथ पर जाने देने को किसी प्रकार राजी नहीं हो रही थीं। पर श्रीनिवास की अवस्था देखकर वे यह भी भय खा रही थीं कि उसे अधिक दिन महाप्रभु से दूर रखकर कहीं उसका कुछ अहित न कर बैठें। इसलिये अन्त में उन्हें राजी होना पड़ा।

नीलाचल के पथ पर

श्रीनिवास नीलाचल के पथ पर चले जा रहे हैं। चिर आकांक्षित प्रभु के चरण–कमल के दर्शन की आशा से हृदय परिपूर्ण है। नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बह रही है। वाह्यज्ञान बिलकुल नहीं है, है तो इतना ही कि वे प्रभु–मिलन के पथ पर चले जा रहे हैं। कभी धीरे चलते हैं, कभी भावावेश में अधीर होकर दौड़ने लगते हैं। अनाहार, अनिद्रा और पथश्रम से शरीर क्षीण हो रहा है। वस्त्र जीर्ण और मलिन हैं, केश बिखरे हुए और धूलधूसरित। फिर भी तप्तकांचन–द्युतिमय उनके शरीर की आभा और मुखारविन्द के दिव्य भाव और दीप्ति के कारण पथचारी यात्रियों का ध्यान बरबस उनकीओर आकर्षित हो रहा है। वे जान रहे हैं कि निश्चय ही यह कोई गौर–प्रेम का दीवाना नवयुक है, जो गौर–दर्शन के उद्देश्य से नीलाचल की ओर बेसुध भागा चला जा रहा है।

बीच–बीच में बाह्यज्ञान होने पर श्रीनिवास नीलाचल से लौटते हुए यात्रियों से महाप्रभु का कुशल समाचार पूछ लेते हैं। तब उनके हृदय

में प्रज्वलित आशा की दीपशिखा प्रबल हो उठती है। पर अकस्मात् एक हवा के झोंके से दीपशिखा बुझ गयी। उन्हें महाप्रभु के अंतर्धान का हृदय विदारक संवाद मिला। उन्हें लगा कि उनके कोमल हृदय को किसी तीक्ष्ण अस्त्र से किसी ने छेद दिया। आर्तनादकर मूर्च्छित हो वे भूमि पर गिर पड़े।

धीरे–धीरे मूर्च्छा भंग हुई। ज्ञान होने पर फिर से स्मरण हुआ कि महाप्रभु का अंतर्धान हो गया। जीवन के एकमात्र अवलम्ब महाप्रभु के दर्शन की कोई संभावना न रही। वे आर्त स्वर से रोने और बार–बार सिर पीटने लगे। इस प्रकार विलाप करते–करते फिर संज्ञाहीन हो पृथ्वी पर गिर पड़े। बार–बार मूर्च्छा और बार–बार विलाप करते दिन बीत गया। रात्रि में सोचने लगे कि जब जीवन की सारी आशा ही मिट गयी तो जीवन का भार ढ़ोने से क्या लाभ? रात्रि का अंधकार घना होने पर अग्नि प्रज्ज्वलित कर देह विसर्जन करने का निश्चयकर वे एक वृक्ष के नीचे लेट गये।

विरही प्रेमास्पद के मिलन की आशा में असीम दुःख झेलता हुआ भी जीवित रहता है। यदि मिलन की आशा भी जाती रहे तो जीवन असंभव हो जाता है। पर भगवान् के विरह में कोई मरता नहीं। भगवान किसी न किसी उपाय से उसके जीवन की रक्षा करने के लिये सतर्क रहते हैं।

वृक्ष तले लेटे–लेटे श्रीनिवास को दिन भर के मूर्च्छा और क्रन्दन से शरीर क्लान्त हो जाने के कारण तन्द्रा आ गयी। उस समय स्वप्नछल से महाप्रभु श्रीनिवास के समक्ष आविर्भूत हुए। सस्नेह उनके मस्तक पर श्रीचरण अर्पण किया। फिर उन्हें आलिंगन कर स्नेह से अपने कर–कमल–से उनके आँसू पोंछते हुए नाना प्रकार से उन्हें आश्वास प्रदान किया और कहा–"गदाधर आदि मेरे परिकर नीलाचल में तुम्हारी बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहे हैं। तुम शीघ्र वहाँ चले जाओ। देह त्याग करने का संकल्प छोड़ दो। तुम्हारे इस देह से मुझे बहुत–से महत्वपूर्ण कार्य कराने हैं।' जागने पर श्रीनिवास महाप्रभु की अहैतुकी कृपा का स्मरण कर बहुत देर तक क्रन्दन करते रहे। उनका विरह–ताप महाप्रभु के दर्शन से कुछ कम हुआ।

गदाधर-मिलन

प्रातः होते ही वे नीलाचल के पथ पर फिर चल पड़े। कई दिन बाद नीलाचल पहुँचे। उस समय रात्रि हो गयी थी। जगन्नाथजी के मन्दिर के सामने जा लेटे। हारे–थके थे, महाप्रभु के विरह में रोते–रोते सो गये। उसी समय श्रीजगन्नाथ, श्रीबलराम और श्रीसुभद्रादेवी ने स्वप्न में दर्शन देकर उन्हें आश्वस्त किया। कुछ देर बाद नींद खुली तो देखा एक ब्राह्मण हाथ में प्रसाद लिये उन्हें बुला रहा है और प्रसाद ले जाने को कह रहा

है। वे भौंचक्के–से उसकी ओर देखने लगे। सोचने लगे–बिना जान–पहचान का यह व्यक्ति कौन है, जो मुझे बुला रहा है? इसे कैसे मालूम कि मैं यहाँ भूखा पड़ा हूँ? विस्मयपूर्वक वे उठकर उसके पास गये। प्रसाद का पात्र उसके हाथ से लिया। पात्र नीचे रखकर सामने देखा तो कहीं कोई नहीं। एक अज्ञात अनुभूति की तरंग उनके हृदय में खेल गयी। उनके नेत्र सजल हो गये और उनके मुख पर इतने दिनों में पहली बार हास्य की मृदु रेखा प्रस्फुटित हुई।

सप्रेम प्रसाद ग्रहणकर श्रीनिवास नाम–कीर्तन करते–करते फिर सो गये। शेष रात्रि में महाप्रभु ने फिर स्वप्न में दर्शन दिये और कहा–"दुःख न करना। मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ।"

श्रीमन्हाप्रभु जब गङ्गादास पंडित की टोल में छात्र थे, गदाधर नाम के एक छात्र से उनका बड़ा स्नेह था। गदाधर परम भक्तिमान और रूपवान थे। उम्र में महाप्रभु से छोटे, पर महाप्रभु में असाधारण रूप से अनुरक्त थे। गया से लौटकर जब महाप्रभु प्रेमोन्माद दशा को प्राप्त हुए गदाधर छायारूप से हर समय उनके साथ रहते और उनकी परिचर्या करते। महाप्रभु श्रीवास अंगन में संकीर्तन के समय उन्हें अपने बायें रख उनका दाहिना हाथ अपने हाथ में लेकर नृत्य करते।[1] महाप्रभु के संन्यास ग्रहणकर नीलाचल चले जाने के पश्चात् वे भी नीलाचल चले गये। वहाँ टोटा गोपीनाथ को प्रकट कर और क्षेत्र–संन्यास ग्रहण कर टोटा गोपीनाथ की सेवा में रहने लगे।

गदाधर परम पंडित और भागवत के मर्मज्ञ थे। महाप्रभु उनके मुख से भागवत सुना करते। भागवत पाठ करते–करते गदाधर का बाह्यज्ञान लुप्त हो जाता। श्रोता और वक्ता दोनों के नेत्र–जल से नीलाचल की शुष्क भूमि कर्दमाकार हो जाती। आज महाप्रभु नहीं हैं। गदाधर का भागवत–पाठ भी बन्द है। बार–बार पाठ करने की चेष्टा करते हैं। पर भागवत खोलते ही उनकी पूर्व स्मृति जाग जाती है। ग्रन्थ अलग रखकर क्रन्दन करने लगते हैं। क्रन्दन करते–करते बीच–बीच में 'गोरा' नाम लेकर चीख उठते हैं। पर 'गोरा' उच्चारण नहीं कर पाते, 'गो–गो' कहते–कहते ही मूर्च्छित हो जाते हैं। प्रायः बाह्यज्ञानहीन अवस्था में आहार और निद्रा बिना जड़वत् बैठे रहते हैं।

नीलाचल पहुँचने के बाद दूसरे दिन जब श्रीनिवास गदाधर पंडित के दर्शन करने गये, तब वे उसी अवस्था में मूर्तिवत् स्वब्ध बैठे थे। उनकी अवस्था देख श्रीनिवास का हृदय विदीर्ण हो गया। नेत्रों में जल नहीं, मुख में शब्द नहीं, काष्ठ पुत्तलिका की तरह वे हाथ जोड़े खड़े रह गये। उपस्थित भक्तवृन्द ने मूर्च्छितप्राय श्रीनिवास को कौशलपूर्वक वहाँ से हटा

1. गदाधर का मधुर भाव था। गौरगणोद्देश दीपिका के अनुसार वे श्रीराधिका के अवतार थे-

श्रीराधा प्रेमरूपा या पुरा वृन्दावनेश्वरी।
सा श्रीगदाधरो गौर वल्लभः पण्डिताख्यकः॥

दिया। संध्या समय प्रकृतिस्थ होने पर वे उन्हें जगन्नाथजी के दर्शन कराने ले गये। वहाँ से लौटकर प्रसाद सेवन कराया और विश्राम क़ी व्यवस्था कर दी।

दूसरे दिन प्रातः श्रीनिवास को गदाधर पंडित के पास ले जाया गया। श्रीमन्महाप्रभु और नित्यानन्द प्रभु की जय बोलते हुए उन्होंने दण्डवत् प्रणाम किया। प्रभु का नाम सुनते ही ध्यानमग्न गदाधर बाह्यदशा को प्राप्त हुए। भक्तों ने श्रीनिवास का परिचय दिया। गदाधर ने प्रसन्न हो उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। फिर निकट बैठाकर स्नेह से उनके अंग पर हाथ फेरते हुए बोले–'मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। तुम्हारे आने का संवाद मुझे स्वप्न में पहले ही मिल गया था।'

श्रीनिवास को पाकर गदाधर का बाह्यावेश बहुत–कुछ लौट आया। उनके साथ गौर–प्रसङ्ग में सारा दिन बीत गया।

दूसरे दिन गदाधर ने श्रीनिवास को महाप्रभु के अन्य परिकरों के साथ साक्षात् करने भेज दिया।

महाप्रभु के अदर्शन के पश्चात् उनके सभी परिकर विरहानल से जर्जरित अपना देह जैसे–तैसे धारणकर रहे थे। स्वरूप दामोदर तो उनके अंतर्धान का संवाद पाते ही मूर्च्छित हो गये थे। उनकी मूर्च्छा फिर भंग नहीं हुई थी। राजा प्रतापरुद्र भी कराघात करते–करते मूर्च्छित हो गये थे। राय रामानन्द किसी प्रकार उनकी देह–रक्षा कर सके थे। पर श्रीक्षेत्रवास उनके लिये असंभव हो गया था। वे पुत्र पर राज्य भार छोड़कर अन्यत्र चले गये थे। रघुनाथदास वृन्दावन चले गये थे। राय रामानन्द और सार्वभौम एकान्त में बैठकर क्रन्दन किया करते थे और परस्पर गौर–कथा कह जीवन रक्षा करने की चेष्टा किया करते थे।

श्रीनिवास ने राय रामानन्द और सार्वभौम के पास जाकर व्याकुल भाव से रोते–रोते उन्हें दण्डवत् की। उन्हें श्रीनिवास के नीलाचल आने का संवाद पहले ही मिल गया था। उन्हें श्रीनिवास को पहचानने में देर न लगी। उन्होंने उन्हें उठाकर आलिंगन किया। उनके आंसू पोंछते–पोंछते स्वयं आँसुओं की नदी बहा दी। कुछ देर बाद संयत हो महाप्रभु की कुछ चरचा की।

राय रामानन्द और सार्वभौम से आज्ञा लेकर श्रीनिवास ने एक–एककर परमानन्दपुरी, वाणीनाथ, शिखि माइति, शङ्कर, गोविन्द, वक्रेश्वर पंड़ित, गोपीनाथ आचार्य प्रभृति महाप्रभु के परिकरों से भेंट की। किसकी सामर्थ्य, जो विरह–व्याकुल गौर–परिकरों से श्रीनिवास के मिलन–प्रसंग का वर्णनकर सके?

श्रीनिवास को पाकर गदाधर और अनन्य गौरभक्तों का गौर–विरह कुछ कम हुआ। उनके साथ गौर–प्रसंग में उनके दिन अपेक्षाकृत आनन्द में बीतने लगे।

एक दिन श्रीनिवास ने गदाधर पंडित से कहा–'मुझे आपको

भागवत का अध्ययन कराना होगा।'

गदाधर ने कुछ देर रूककर कहा—'मेरी बड़ी इच्छा थी तुम्हें भागवत पढ़ाने की। पर मेरे पास जो भागवत की पोथी है, उसे महाप्रभु भी कभी—कभी देखा करते थे। उनके अश्रुजल से उसके बहुत से अक्षर मिट गये हैं। मेरी इच्छा है कि तुम वृन्दावन जाकर श्रीजीव से भागवत अध्ययन करो।'

कुछ दिन बाद श्रीनिवास को पास बिठाकर उन्होंने फिर कहा—'तुम्हारे द्वारा प्रभु को बहुत—से कार्य करने हैं। तुम गौड़ होते हुए वृन्दावन चले जाओ और वहां जीव गोस्वामी से श्रीमद्भागवत और अन्यान्य भक्ति—ग्रन्थों का अध्ययन करो।'

गदाधर पंडित का मधुर संग न छोड़ने की इच्छा होते हुए भी श्रीनिवास एक शुभ दिन उनके चरणों में प्रणाम कर आंसू पोंछते—पोंछते उनसे विदा हुए। विदा होते समय गदाधर ने मृदु कंठ से कहा—गौड़ जाकर दास गदाधर से कहना—'तुम्हारे मित्र अब दूसरे घर जायेंगे।'[1]

गदाधर का अंतर्धान

श्रीनिवास गौड़ जा रहे थे, पर प्राणहीन अवस्था में। उनके प्राण गदाधर के चरणों में ही पड़े रह गये थे। वे ज्यों—ज्यों आगे बढ़ते गदाधर का विरह भी उतना ही बढ़ता जाता। अंत में उन्हें प्रतीत होने लगा कि वे गदाधर के बिना नहीं रह सकेंगे। उन्होंने वृन्दावन जाने का विचार छोड़ दिया। निश्चय किया कि गौड़ में भागवत की प्रति कहीं से संग्रहकर फिर नीलाचल लौट जायेंगे और गदाधर के चरणों में बैठकर नित्य गौर—कथा सुनेंगे और भागवत अध्ययन करेंगे।

गौड़ पहुँचकर उन्होंने नरहरि सरकार से भागवत की प्रति ली और नीलाचल के पथ पर चल दिये। याजपुर पहुँचे तो उन्हें नीलाचल से लौटते हुए यात्रियों से संवाद मिला कि गदाधर का अंतर्धान हो गया। संवाद प्राप्त करते ही वे मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़े। होश आने पर बार—बार सिर—पर कराघात कर रोने लगे। महाप्रभु के बाद गदाधर के तिरोधान का दुःख सहन करना क्या श्रीनिवास जैसे कोमल हृदय के लिये सहन करना किसी प्रकार संभव था? वे ज्ञानहारा हो उन्मत्त की तरह इधर—उधर डोलने लगे। तन्द्रावस्था में एक दिन गदाधर सहित महाप्रभु ने स्वप्न में प्रकट होकर उन्हें नाना प्रकार से प्रबोध दिया और कहा—'तुम गौड़ होते हुए श्रीधाम वृन्दावन चले जाओ। वहाँ तुम्हारी सारी वासना पूर्ण होगी।' श्रीनिवास उनकी आज्ञा शिरोधार्यकर गौड़ की ओर चल दिये।

श्रीनिवास अब समझ गये कि क्यों गदाधर ने आग्रह कर इतना शीघ्र उन्हें गौड़ भेज दिया था। वे नीलाचल पहुँचने के पूर्व गदाधर द्वारा

१. श्रीदास गदाधर महाप्रभु के अन्तरंग परिकर थे। वे सदा गोपी भाव में मत रहते। उन्हें महाप्रभु ने नित्यानन्दप्रभु के साथ गौड़ में नाम—कीर्तन प्रचार के लिये भेजा था।

बेचैनी से उनकी प्रतीक्षा किये जाने का कारण भी समझ गये। गदाधर उनके कारण ही इतने दिन जी रहे थे।

नित्यानन्दप्रभु और अद्वैताचार्य का अंतर्धान

अब वे मार्ग में यह सोचते जा रहे थे कि महाप्रभु और गदाधर के अन्तर्धान के पश्चात् उनके मुख्य अवलम्ब हैं श्रीपाद नित्यानन्द और श्रीअद्वैताचार्य। वे अपने पिता से सुन चुके थे कि यह दोनों ही श्रीमन्महाप्रभु के अभिन्न विग्रह हैं और उनके आदेश से गौड़वासी जीवों पर दया करने के उद्देश्य से गौड़ में रह रहे हैं। उन्हें आशा थी कि उनकी शरण में जाने से अवश्य शांति मिलेगी।

पर दैव जब विपरीत होता है तो आपद्–विपद् की कोई सीमा नहीं रखता। मार्ग में ही उन्हें नीलाचल जाने वाले गौर–भक्तों से संवाद मिला कि नित्यानन्द प्रभु और अद्वैताचार्य प्रभु ने लीला संगोपन कर ली है। इस बार भी श्रीनिवास जितना मर्माहत हुए और उनकी जो दशा हुई, उसका वर्णन करना संभव नहीं। बाह्य दृष्टि से हम इतना ही कह सकते हैं कि मूर्च्छा, रोदन और विलाप का क्रम, जो थोड़ी देर पहले टूट गया था, फिर से आरम्भ हो गया। सारा दिन और सारी रात क्रन्दन में बीते। शेष रात्रि में तन्द्रा आने पर नित्यानन्द प्रभु और अद्वैताचार्य ने स्वप्न में कहा–'श्रीनिवास, लो हमारे दर्शन करो। हम कहीं गये थोड़े ही हैं। सदा तुम्हारे साथ हैं। धैर्य धारण कर शरीर की रक्षा करो। तुम्हारे शरीर से प्रभु को बहुत से कार्य कराने हैं। अब तुम अविलम्ब गौड़ दर्शनकर वृन्दावन चले जाओ।''

यदि गौर और उनके परिकर इस प्रकार बार–बार श्रीनिवास को दर्शन देकर आश्वस्त न करते तो उनका जीवन धारण करना असंभव होता।

श्रीनिवास शोक–संताप की असहनीय वेदना को संयम के कठोर आवरण से आबद्धकर अश्रु पोंछते–पोंछते गौड़ के पथ पर फिर अग्रसर हुए।

गौड़मंडल भ्रमण

कई दिनों की यात्रा के पश्चात् श्रीनिवास श्रीखण्ड पहुँचे। सरकार ठाकुर और स्थानीय भक्तों के दर्शन कर वे नवद्वीप चले गये। विष्णुप्रिया ठाकुरानी के कृपा–आशीर्वाद के उद्देश्य से महाप्रभु के घर के द्वारदेश पर जा बैठे। और आगे जाने का साहस न कर सके। द्वार पर बैठे–बैठे महाप्रभु की यादकर क्रन्दन करने लगें। क्रन्दन का स्वर सुन महाप्रभु के बाल्यकाल के सखा और भृत्य ईशान बाहर निकले। श्रीनिवास का परिचय प्राप्तकर उन्होंने विष्णुप्रिया देवी को सूचना दी। विष्णुप्रिया ईशान को छोड़ किसी पुरुष का मुखावलोकन नहीं करती थीं। पर कुछ दिन पूर्व महाप्रभु ने स्वप्न में उनसे कहा था–'मेरा श्रीनिवास बहुत विरहव्यथा भोगते–भोगते तुम्हारे पास आ रहा है। उसे यत्नपूर्वक शान्त करना। इसलिये उन्होंने

तुरन्त ही श्रीनिवास को अंतःपुर में बुला लिया। वात्सल्य रस से आप्लूत हो निकट बैठाकर स्नेहा–सम्भाषण से उनका दुःख दूर किया। उन्हें आग्रह पूर्वक कुछ दिन अपने पास रख उनका लालन–पालन किया।

कुछ दिन विष्णुप्रिया देवी के पास रहने के पश्चात् उन्होंने गौड़ मंडल के अन्य भक्तों के दर्शन करने के लिये उनसे आज्ञा माँगी। उन्होंने सर्वप्रथम शान्तिपुर जाने का आदेश दिया और विदा करते समय कहा–'तुम किसी प्रकार का दुःख न करना, शान्तिपुर में श्रीअद्वैताचार्य के दर्शन तुम्हें अवश्य मिलेंगे।'

श्रीनिवास ने सोचा कि एक बार पहले नित्यानन्द प्रभु के साथ अद्वैताचार्य स्वप्न में दर्शन दे चुके हैं। उसी प्रकार फिर कृपा करेंगे। पर श्रीनिवास जब शान्तिपुर पहुँचे तो देखा कि एक महापुरुष उनकी ओर बढ़े चले आ रहे हैं। उनके विशाल वक्ष, प्रशस्त ललाट, आजानुलम्बि भुजाएँ और तेजोमय प्रशान्त, गम्भीर मूर्ति को देख श्रीनिवास को उन्हें पहचानने में देर न लगी। श्रीनिवास तत्क्षण उनके चरणों में गिर व्याकुल भाव से रोदन करने लगे। उन्होंने स्नेहपूर्वक उन्हें उठाकर मस्तक पर हाथ रखा और कहा–'मैंने तुम्हें साक्षात् दर्शन दिये, यह बात किसी से न कहना। तुम अब वृन्दावन चले जाओ। प्रभु ने तुम्हारे लिये ही गोपालभट्ट को वहाँ रख छोड़ा है। उनसे दीक्षा लेकर श्रीजीव से भक्ति–शास्त्र अध्ययन करना। मुझे कभी अपने से दूर न समझना। मैं सदा तुम्हारे निकट हूँ।' इतना कह वे अंतर्धान हो गये। श्रीनिवास अद्वैत प्रभु के दर्शन कर कृतार्थ हुए।

शान्तिपुर में अद्वैत प्रभु की पत्नी सीता देवी और उनके पुत्र श्रीअच्युतानन्द आदि के दर्शन कर श्रीनिवास खड़दह चले गये। वहाँ श्रीनित्यानन्द प्रभु के पुत्र श्रीवीरभद्र के दर्शन कर उनकी चरण वन्दना की। वीरभ्रद ने उन्हें जननी जान्हवा और वसुधा ठाकुरानी के दर्शन कराये।

तत्पश्चात् वे अभिरामगोपाल गोस्वामी प्रभु के दर्शन करने खानाकुल कृष्ण नगर गये। श्रीमन्महाप्रभु के परिकरों में अभिराम गोपाल परम तेजस्वी थे। वे व्रजलीला के श्रीदाम थे। श्रीमन्महाप्रभु और उनके परिकरगण जन्मादि का अनुकरणकर आविर्भूत हुए थे। परन्तु अभिराम के बारे में कहा जाता है कि वे नित्यानन्द प्रभु के आह्वान पर द्वापर युग की सप्तहस्त परिमित मूर्ति के रूप में गिरि गोवर्द्धन की गुफा से निर्गत हुए थे। पर श्रीमन्महाप्रभु की इच्छा से उन्होंने चतुर्हस्त परिमाण मूर्ति धारण कर ली थी। वे सदा व्रज–गोपालगण के अनुरूप वेश धारण करते और सखारस में आविष्ट रहते। उनके पास जयमंगल नामक एक चाबुक रहता। किसी में शक्ति संचार करने की उनकी इच्छा होती, तो उस पर चाबुक से प्रहार करते। प्रहार के साथ ही वह व्यक्ति प्रेम से उन्मत्त हो उठता। कृष्ण नगर में उनके द्वारा स्थापित श्रीगोपीनाथ विग्रह आज भी विराजमान हैं।'[1]

१. 'श्रीअभिराम लीलामृत' आदि प्राचीन ग्रन्थों में अभिराम ठाकुर से सम्बन्धित बहुत सी विस्मयकर लीला–कहानियों का उल्लेख है।

श्रीनिवास ने अभिराम ठाकुर के निकट जाकर जब उनकी चरण बन्दना की तो उन्होंने श्रीनिवास को दस कौड़ियाँ दी और बाजार से सामान लाकर अपने लिये रसोई बनाने को कहा। श्रीनिवास दस कौड़ियों में जो थोड़ा-सा सामान मिला खरीद लाये। रसोई बनाकर वे जैसे ही भोग लगाने जा रहे थे चार और व्यक्तियों को अभिराम ठाकुर ने उनके पास भोजन करने भेज दिया। अभिराम ठाकुर के पराक्रम से उन चारों ने भरपेट भोजन किया। जो बच रहा वह श्रीनिवास के लिये पर्याप्त था।

प्रसाद ग्रहणकर श्रीनिवास ने फिर अभिराम ठाकुर के पास जा उनके चरणों में प्रणाम किया। तब अभिराम ठाकुर ने जयमंगल हाथ में ले उनकी पीठ पर प्रहार करना आरम्भ किया। दूसरी बार प्रहार करने के बाद ही श्रीनिवास प्रेम में उन्मत्त हो गये। तीसरी बार प्रहार करने जा रहे थे, उसी समय उनकी पत्नी मालिनी देवी ने आकर चाबुक पकड़ लिया और कहा-'और नहीं, इसे प्रभु के बहुत-से कार्य करने हैं। यदि यह प्रेम में और अधिक उन्मत्त हो गया तो वह कार्य कौन करेगा?'

अभिराम ठाकुर और मालिनीदेवी से विदा ले श्रीनिवास एक बार फिर श्रीखण्ड गये। श्रीनरहरि ठाकुर से वृन्दावन जाने की अनुमति माँग मातृचरण के दर्शन करने के उद्‌देश्य से याजिग्राम गये। जननी लक्ष्मीप्रिया पुत्र वियोग में उद्वेग और दुश्चिन्ताओं के कारण बहुत शीर्ण और दुर्बल हो गयी थीं। उनकी दशा देख श्रीनिवास को कुछ दिन के लिये वृन्दावन जाने का संकल्प त्याग देना पड़ा।[1] लक्ष्मीप्रिया अब उन्हें कभी भी अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहती थीं। पर श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्दप्रभु के साथ स्वप्न में प्रकट हो उन्हें अविलम्ब वृन्दावन जाने का आदेश दिया। आदेश प्राप्तकर श्रीनिवास वृन्दावन जाने को इतना व्याकुल हो उठे कि जननी को भी लाचार हो वृन्दावन जाने की अनुमति देनी पड़ी।

वृन्दावन के पथ में

क्रन्दन करती हुई वृद्धा जननी के चरणों में प्रणाम कर श्रीनिवास चल पड़े वृन्दावन के पथ पर। अग्रद्वीप, कटोया, एकचक्रा, गया, काशी, प्रयाग होते हुए वे वायुवेग से भावविह्वल अवस्था में वृन्दावन की ओर भागे चले जा रहे थे। 'हा रूप! हा सनातन! हा गोपालभट्ट! कब दर्शन दोगे?' यही उनके अन्तःकरण की एकमात्र पुकार थी। उनके पूर्वानुभव उन्हें सशंकित और भयभीत किये हुए थे। वे जब भी जिनके दर्शन के लिये घर से निकले थे, मार्ग में हीं उनके अदर्शन का संवाद प्राप्तकर मर्माहत् हुए थे। कहीं फिर क्रूर देव वैसा ही न करे, यह चिंता उन्हें दिन-रात उद्विगन किये हुए थी।

अयाचित वृत्ति से जीवन निर्वाह करते हुए, आहारनिद्रा की चिंता

1. कुछ लोगों का मत है कि श्रीनिवास ने कई वर्ष तक माँ के पास रहकर उनकी सेवा की थी।

न करते हुए बहुत दिन चलकर क्लान्त, शीर्ण अवस्था में मथुरा पहुँचकर उन्होंने ठंडी सांस ली। विश्राम घाट पर बैठे विश्राम कर रहे थे। शीघ्र रूप–सनातन आदि के दर्शन प्राप्त करने की आशा से हृदय उत्फुल्ल था। उसी समय किसी ने संवाद दिया कि कुछ ही दिन पूर्व श्रीरघुनाथभट्ट, श्रीसनातन और श्रीरुप का अंतर्धान हो गया।

तत्काल श्रीनिवास गम्भीर मूर्च्छा में भूमि पर लोट गये।

मूर्च्छा भी असहनीयं वेदना को कम करने का प्रभु का एक अच्छा विधान है। यदि यह न हो तो शायद बहुत बार वह वेदना घातक सिद्ध हो। श्रीनिवास के लिये यह वेदना शायद घातक ही सिद्ध होती यदि उन्हें गम्भीर मूर्च्छा न आ गयी होती।

जब तक श्रीनिवास मूर्च्छित अवस्था में विश्रामघाट पर विश्राम कर रहे हैं, हम इस बात पर विचार कर लें कि क्या उनका जन्म निरन्तर विरह वेदना भोग करने, रोदन करने और बार–बार के वज्रपात के कारण बार–बार मूर्च्छा का सहारा लेकर जीवन–रक्षा करने के लिये ही हुआ था? क्या श्रीमन्महाप्रभु ने गदाधर पंडित, श्रीनित्यानन्दप्रभु, श्रीअद्वैआचार्य, श्रीरूप और श्रीसनातन के साथ कोई योजना बना ली थी, जिसके अनुसार प्रत्येक ने अपने दर्शनाकांक्षी श्रीनिवास को पथ में ही अपने अंतर्धान का संवाद सुनाकर मर्माहत करने का व्रत ले लिया था? यदि उनकी ऐसी योजना थी तो इसका उद्देश्य भी कुछ अच्छा ही रहा होगा। मंगलमय भगवान् जो करते हैं, अपने भक्त के मंगल के लिये ही करते हैं। कदाचित् उनका उद्देश्य था श्रीनिवासं को विरहाग्नि में तपाकर उनके स्वरूप को उज्ज्वलतर और उज्ज्वलतम करना, उनके प्रेम को अधिकाधिक परिपुष्ट करना।

एक गूढ़ बात और भी है। शास्त्र का सिद्धान्त है कि सांसारिक बन्धु–बान्धवों का विरह दुःखदायी होता है, भीतर भी बाहर भी। पर भगवान् और उनके परिकरों का विरह बाहर से दुःखदायी होते हुए भी भीतर से परम मंगलमय होता है। उनका विरह जितना तीव्र होता है, उतना ही वह अन्तरात्मा में उनके सूक्ष्म मिलन का अनुभव कराकर एक अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि करता है।

बहुत देर बाद श्रीनिवास की चेतना धीरे–धीरे लौटने लगी। वे उठ खड़े हुए। और निरुद्देश्य इधर–उधर घूमने लगे। वृन्दावन जाने का अब कोई प्रयोजन नहीं रहा। जहाँ जाते हैं वहाँ कुछ न कुछ अमंगल ही होता है। अपने को साक्षात् अमंगल–स्वरूप जान उन्होंने वृन्दावन जाने का विचार छोड़ दिया। गौड देश भी लौटकर क्या करेंगे। वहाँ जाकर भी किसी नये अमंगल की सृष्टि करेंगे। यह सोचकर उद्भ्रान्त अवस्था में घूमते–फिरते उन्होंने जंगल में प्रवेश किया। कुछ दूर जाकर एक वृक्ष के तले बैठ गये। रोते–रोते निद्रा आ गयी। शेष रात्रि में श्रीरूप और

श्रीसनातन स्वप्न में आविर्भूत हुए। स्नेहपूर्ण वाक्यों से प्रबोध देने के पश्चात् उन्होंने कहा—"तुम अविलम्ब वृन्दावन चले जाओ। हमारे ही अभिन्न आत्मा श्रीगोपालभट्ट तुम्हारी बाट देख रहे हैं। उनसे जाकर दीक्षा ग्रहण करो। हमारे लिखे ग्रन्थों का यत्नपूर्वक अध्ययन करो। फिर गौड़मंडल जाकर उनका प्रचार करो। यही तुम्हारे लिये महाप्रभु की आज्ञा है। उसका पालन करो।"

इसके साथ ही उनकी निद्रा भंग हुई। महाप्रभु के पूर्वादेश का भी उन्हें स्मरण हो आया। बहुत चेष्टाकर उन्होंने धैर्य धारण किया और वृन्दावन की ओर प्रस्थान किया।

वृन्दावन में

इधर वृन्दावन में एक दिन पूर्व श्रीरूप और श्रीसनातन ने स्वप्न में श्रीगोपालभट्ट और श्रीजीव को एक साथ दर्शन देकर श्रीनिवास के वृन्दावन आने की सूचना दी थी। श्रीगोपालभट्ट से कहा था उन्हें दीक्षा देने को और श्रीजीव से यत्नपूर्वक शास्त्राध्ययन कराने को।

दूसरे दिन जब श्रीजीव गोविन्दजी के दर्शन करने गये तो देखा कि मन्दिर के प्रांगण में एक नवयुवक मूर्च्छित पड़ा है। मन्दिर के पुजारी, कर्मचारी और अन्यान्य भक्त उसके चारों ओर खड़े आश्चर्य—चकित से उसकी भाव—दशा देख रहे हैं। उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधार बह रही है, शरीर में कभी प्रबल कम्प, कभी वैवर्ण्य हो रहा है। उसका शरीर कृश और धूलि—धूसरित है, पर मेघावृत चन्द्र के समान उससे सुनिर्मल तेज बहिर्गत हो रहा है। श्रीजीव देखते ही समझ गये यह श्रीनिवास है। उन्होंने श्रीनिवास का सिर अपनी गोद में रख नाना प्रकार से उन्हें सचेत करने की चेष्टा की। पर वे सफल न हुए। तब उपस्थित भक्तगणों की सहायता से वे उन्हें अपनी कुटी पर ले गये। वहाँ रात्रि के दो प्रहर बीत जाने पर उन्हें चैतन्य हुआ। श्रीजीव का परिचय प्राप्त करते ही वे उनके चरणों में लोट गये। श्रीजीव ने उन्हें उठाकर हृदय से लगाया। दोनों के नयनाश्रुओं से दोनों का अंग सिक्त हुआ। रात्रि अधिक हो जाने के कारण श्रीजीव ने श्रीनिवास को गोविन्दजी का प्रसाद खिलाकर बगल की कुटी में विश्राम करने को कहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीजीव श्रीनिवास को गोपालभट्ट की कुटी पर ले गये। श्रीनिवास अपने परम आराध्य गुरुदेव को पाकर और श्रीगोपलभट्ट अपनी दीर्घ काल से आकांक्षित वस्तु को पाकर परमानन्दित हुए। श्रीगोपालभट्ट ने बार—बार श्रीनिवास के मस्तक और मुख पर हाथ फेरा और वात्सल्यवश अपनी चरणधुलि उनके मस्तक पर अर्पणकर बार—बार आशीर्वाद दिया। गुरु—शिष्य दोनों एक अनिर्वचनीय आनन्द का भोगकर कुछ देर आनन्दाश्रु विसर्जन करते रहे।

दूसरे दिन शुभ मुहूर्त में श्रीनिवास की दीक्षा हो गयी। श्रीनिवास

ने गुरुदेव की अंग–सेवा का भार अपने ऊपर ले लिया।

शीघ्र ही श्रीजीव श्रीनिवास को राधाकुण्ड ले जाकर श्रीरघुनाथदास गोस्वामी और श्रीकृष्णदास कविराजादि के दर्शन करा लाये। वृन्दावन लौटकर श्रीनिवास ने नियमपूर्वक श्रीगुरु सेवा, श्रीगुरु द्वारा उपदिष्ट जप, कीर्तन और लीला–स्मरण और श्रीजीव के पास शास्त्राध्ययन आरम्भ किया।

लीला–स्मरण में श्रीनिवास का असाधारण अभिनिवेश देख श्रीगोपालभट्ट बहुत प्रसन्न हुए। वे एक–एक दिन एक–एक लीला में डूबकर उसका प्रत्यक्ष दर्शन करते। एक दिन गौर–लीला में प्रवेशकर उन्होंने देखा कि वे सुगन्धित तेल, माला, चन्दनादि से प्रभु की सेवाकर उनके पास खडे चामर डुला रहे हैं। उसी समय प्रभु के इंगित दूसरे सेवक ने उनके गले से माला उतारकर श्रीनिवास को पहना दी। ध्यान भङ्ग होने पर उन्होंने देखा कि वही माला उनके गले में लटकी है।

एक दिन बसन्त के अवसर पर वे ब्रजलीला का ध्यान कर रहे थे। ध्यान करते–करते मंजरी रूप से ब्रजगोपियों के साथ श्रीकृष्ण की होली–लीला में प्रवेश कर गये। उन्होंने देखा कि होली खेलते–खेलते राधारानी के हाथ का गुलाल शेष हो गया है। उसी समय उन्होंने गुलाल लाकर उन्हें दे दिया। ध्यान भंग होने पर होली के चिन्ह अपने वस्त्रादि पर देखकर वे विस्मित हुए। दूसरे लोग भी यह देखकर चकित हुए कि उनका सर्वाङ्ग होली के रंग से रंगा हुआ है।

अध्ययन में भी श्रीनिवास का तीव्र अनुराग था। श्रीजीव जैसे अद्वितीय अध्यापक थे, श्रीनिवास वैसे ही अद्वितीय मेधावी छात्र। ऐसे गुरु और शिष्य के संयोग का फल अपूर्व और अतुलनीय होना ही था। थोड़े ही समय में श्रीनिवास श्रीमद्भागवत और अन्य भक्ति शास्त्रों में पारंगत हो गये।

एक दिन श्रीजीव भक्त मंडली के बीच उज्ज्वलनीलमणि के एक श्लोक की व्याख्या कर रहे थे, जिसका अर्थ यह था कि मथुरा जाने के पूर्व श्रीकृष्ण ब्रजद्वार पर अपने हाथ से जिस कदम्ब के पौधे का रोपण कर गये थे, उसमें समय से पूर्व ही फूल खिल आये थे, जबकि अन्य कदम्ब के वृक्ष, जो उससे भी पहले बोये गये थे बिना फूल के थे। प्रश्न था कि उसी कदम्ब के वृक्ष में ही फूल कैसे आ गये? श्रीजीव ने सेभी भक्तों से इस प्रश्न का उत्तर पूछा, पर कोई सन्तोषजनक उत्तर न दे सका। श्रीनिवास ने कहा–'मथुरा जाकर श्रीकृष्ण अपने हाथ से लगाये गये उस पौधे की चिंता किया करते थे। सोचा करते थे कि अब वह बड़ा हो रहा होगा, उसमें फूल आने को होंगे। उनके चिंता–वारि से सींचे जाने के कारण ही वह शीघ्र बड़ा हो गया और उसमें फूल खिल आये।' श्रीनिवास के मुख से यह सुसिद्धान्त सुन श्रीजीव बहुत प्रसन हुए। भक्तगण ने भी

श्रीनिवास की प्रशंसा की।

एक दिन श्रीजीव ने गोविन्दजी के मन्दिर में पंडितों और भक्तों की सभा की। सभा में श्रीनिवास के पांडित्य, शास्त्राधिकार और भजन निष्ठादि की प्रशंसा की और कहा—"मैं आज श्रीनिवास को 'आचार्य ठाकुर' की उपाधि से भूषित करना चाहता हूँ। आप लोगों का क्या मत है?" सबके परमानन्दपूर्वक इस प्रस्ताव का अनुमोदन करने पर श्रीजीव ने श्रीनिवास को यह उपाधि दी। श्रीनिवास उस दिन से 'आचार्य ठाकुर' कहलाने लगे।

इसी समय श्रीमन्महाप्रभु के विधानानुसार वृन्दावन में श्रीनिवास के ही समान भक्ति की मूर्ति स्वरूप दो और विभूतियों का आगमन हुआ। एक थे पद्मा—तीरस्थ खेतुरी के राजा कृष्णानन्द के पुत्र, नित्यानन्दप्रभु के द्वितीय प्रकाश श्रीनरोत्तम, जिन्हें महाप्रभु ने वृन्दावन जाकर लोकनाथ गोस्वामी का आश्रय ग्रहण करने का स्वप्नादेश दिया था। दूसरे थे श्रीश्यामानन्द, जिन्हें उनके गुरु श्रीहृदय चैतन्य ने वृन्दावन में श्रीजीव गोस्वामी के आनुगत्य में अध्ययन और भजन करने का आदेश दिया था।[1]

ये दोनों वृन्दावन में आचार्य श्रीनिवास के अंतरंग साथी हुए। वे उनके साथ व्रज के विभिन्न स्थानों में भ्रमण किया करते, कृष्ण—लीला का अभिनय कर व्रजवासियों को लीलारस का आस्वादन कराया करते और एकान्त में बैठकर इष्टगोष्ठी किया करते।

एक दिन श्रीनिवास और नरोत्तम गोवर्द्धन के एक निर्जन, एकान्त स्थल में बैठे भगवच्चिन्तन कर रहे थे। सहसा उन्होंने सुनी गोवर्द्धन कन्दरा में से आती श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि और उनकी नासिका एक दिव्य सौरभ से परिपूर्ण हो गयी। दोनों को मूर्च्छा आ गयी। कुछ देर बाद मूर्च्छा भंग हुई तो सामने एक गोपकुमार को देखकर पूछा—'तुम यहाँ इस निभृत बन में कैसे?'

गोपकुमार ने कुछ हंसकर कहा—'मेरा अपना कोई काम नहीं। केवल तुम लोगों की रक्षा करने आया था। इस स्थान में हिंसक जीव—जन्तुओं का बड़ा भय रहता है। हम लोग यहाँ गोचारण करते हैं। कहाँ क्या है भली प्रकार जानते हैं। तुम लोगों को अचेतन पड़े देख मैं साथियों को दूर छोड़कर यहाँ आया था। अब देर हो रही है, साथी अपेक्षा करते होंगे, जा रहा हूँ।' कहते—कहते गोपकुमार एकदम अन्तर्धान हो गया। उसके सहसा अदृश्य हो जाने से दोनों व्याकुल हो गये। व्याकुलता में दिन बीत गया। रात्रि में स्वप्न में श्रीकृष्ण ने दोनों से कहा—'मैंने ही तुम्हें गोपकुमार के वेश

---

१. 'प्रेम विलास' में नरोत्तम ठाकुर को नित्यानन्दका, श्रीनिवास को महाप्रभु का और श्रीश्यामानन्दको अद्वैताचार्य का द्वितीय प्रकाश कहा है—

नित्यानन्द छिल जेइ नरोत्तम हइला सेइ श्रीचैतन्य हइला श्रीनिवास।
श्रीअद्वैत जारे कय श्यामानन्द तिहँ हय ऐछे हइला तिनेर प्रकाश।।

—प्रेम विलास, २०वाँ विलास

में दर्शन दिया था।' बीच–बीच में इसी प्रकार यह लोग श्रीकृष्ण के दर्शनकर धन्य होते।

श्रीजीव गोस्वामी को बहुत दिनों से इच्छा थी कि जिन भक्ति–ग्रन्थों का श्रीरूप, श्रीसनातन और स्वयं उन्होंने निर्माण किया है, उनका गौड़ देश में भली भांति प्रचार हो। इस कार्य के लिये उपयुक्त पात्र अभी तक नहीं जुट पाये थे। श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द अब सब प्रकार से इसके उपयुक्त थे। नरोत्तम और श्यामानन्द ने भी शास्त्राध्ययन और सदाचारानुष्ठान द्वारा भक्ति–शास्त्रों के प्रचारक और मानव–समाज के प्रकृत गुरु के उपयुक्त सामर्थ्य प्राप्त कर ली थी। इसलिये जीव गोस्वामी ने लोकनाथ, भूगर्भ, गोपालभट्ट आदि गोस्वामीगण से परामर्श कर इन तीनों को इस कार्य के लिये ग्रन्थों सहित गौड़ भेजने का निश्चय किया।

वृन्दावन से विदा

एक दिन गोविन्दजी के मन्दिर में, जहाँ सब गोस्वामीगण और भक्तवृन्द श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण करने के लिये एकत्र थे, कथा के पश्चात् जीव गोस्वामी ने सबके सामने प्रस्ताव रखा कि आचार्य श्रीनिवास को रूपसनातनादि के ग्रन्थों और भक्तिधर्म के प्रचार के लिऐ गौड़ भेजा जाय, और नरोत्तम और श्रीश्यामानन्द को उनके सहायक के रूप में भेजा। सबने सहर्ष इसका अनुमोदन किया। उसी समय गोविन्दजी के गले की पुष्पमाला टूटकर नीचे गिर पड़ी, मानो गोविन्दजी ने भी इसकी पुष्टि कर दी। गोविन्दजी की जय–जयकार होने लगी। जीव गोस्वामी ने गोविन्द की माला श्रीनिवासाचार्य के गले में डाल दी।

श्रीनिवासाचार्य नतमस्तक किये कुछ देर चुप बैठे रहे। उन्हें व्रजधाम और यहाँ के गोस्वामीगण का सुखमय संग छोड़कर जाना होगा, इसकी चिंता करने लगे। पर गोविन्ददेव और गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन कैसे करते? उन्हें भी स्वीकृति देनी पड़ी।

गौड़ जाने की तिथि निश्चित हो गयी। ग्रन्थ सब एकत्र कर लिये गये। एक बड़े काठ के सन्दूक में उन्हें यत्नपूर्वक बन्द किया गया। मथुरा के तीन महाजनों की आर्थिक सहायता से गौड़ जाने के लिये दो बैलगाड़ियों और दस सशस्त्र रक्षकों की व्यवस्था की गयी। श्रीजीव गोस्वामी श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्दको राधाकुण्ड ले जाकर श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, श्रीकृष्णदास कविराज और अन्य वैष्णवों से मिलवाकर उनका आशीर्वाद दिलवा लायें।

अग्रहायण मास की शुक्ला पंचमी के दिन गोविन्द देव के मन्दिर के सामने दोनों बैलगाड़ियाँ आकर खड़ी हुईं। एक बैलगाड़ी पर ग्रन्थों का सन्दूक रखा गया। दूसरी पर आचार्य श्रीनिवास, श्रीनरोत्तम और श्रीश्यामानन्द को बैठना था। पर उन्हें विदा करने के लिये गोविन्द जी के मन्दिर में आये श्रीजीव, श्रीगोपालभट्ट, श्रीलोकनाथ, श्रीभूगर्भ, श्रीराघव पंडित, श्रीकृष्णदास

कविराज आदि गोस्वामीगण और ब्रजवासी पैदल चलकर मथुरा तक साथ गये। इसलिये श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द को भी मथुरा तक पैदल चलना पड़ा। मथुरा पहुँचकर तीनों ने श्रीजीवगोस्वामी आदि के चरणों में प्रणाम किया, गोस्वामीगण ने एक–एक को प्रेमाश्रुओं से सिक्त करते हुए आलिंगन प्रदान कर आशीर्वाद सहित विदा किया।

ग्रन्थों की चोरी

तीनों आगरा होते हुए इटावा पहुँचे। इटावा से राजपथ छोड़कर झाड़िखण्डके वन–पथसे जाना शुरू किया, जिससे महाप्रभु ने यात्रा की थी। इस दुर्गम पथ का धीरे–धीरे अतिक्रमण करते हुए और वन–भूमि की शोभा का दर्शन करते हुए गौड़ देश की सीमा के भीतर मालियाड़ा ग्राम के निकट गोपालपुर नामक स्थान में पहुँचे। वहाँ एक रात विश्राम करने के उद्‌देश्य से एक भौमिक का आतिथ्य स्वीकार किया। रात्रि के दो प्रहर बीत चुके थे और दो प्रहरियों को छोड़ बाकी सब लोग सो रहे थे। उस समय यकायक प्रचण्ड कोलाहल सुनाई पड़ा। सब लोग जाग पड़े। एक मुहूर्त के भीतर देखा कि अस्त्र–शस्त्र लिये एक विराट जन–समूह उनके ऊपर टूट पड़ा है। श्रीनिवास, नरोत्तम और श्यामानन्द वहाँ से हटकर एक वृक्ष के नीचे जा खड़े हुए। मुट्‌ठीभर प्रहरियों का साहस न हुआ इतने सारे सशस्त्र लोगों का मुकाबला करने का। लुटेरे बैलगाड़ी सहित ग्रन्थों का सन्दूक लेकर जंगल के भीतर प्रवेश कर गये। श्रीनिवासाचार्य हा–हाकार कर भूमिपर लोट गये, जैसे ग्रन्थ सहित उनके प्राण भी लुटेरे लूट कर ले गये।

रात रोते–रोते बीती। सवेरा होते ही श्रीनिवासाचार्य नरोत्तम और श्यामानन्द ग्रन्थों के अनुसन्धान के लिये निकले। पर कहीं कुछ पता न चला। अंत में श्रीनिवास ने श्रीजीवगोस्वामी को पत्र लिख कर ग्रन्थों की चोरी की सूचना दी। प्रहरियों में से किसी के हाथ पत्र भेज दिया। नरोत्तम और श्यामानन्द से उन्होंने कहा–'तुम लोग मुझे छोड़कर गौड़ चले जाओ और भक्ति–धर्म के प्रचार कार्य में लग जाओ। यहाँ समय व्यर्थ नष्ट करने से कोई लाभ नहीं। मैं यहाँ तबतक रहूँगा, जबतक ग्रन्थों का पता कर उन्हें प्राप्त नहीं कर लूँगा।'

नरोत्तम और श्यामानन्द आचार्यप्रभुको उस अपरिचित स्थान में अकेले छोड़कर नहीं जाना चाह रहे थे। पर उनकी आज्ञा पालन करने को बाध्य थे। दूसरे दिन उनसे विदा लेकर वे खेतुरीकी ओर अग्रसर हुए।

वीरहाम्वीर का उद्धार

श्रीनिवासाचार्य ग्रन्थोंकी खोज में पागल की तरह इधर–उधर फिरते रहे। दस दिन बाद जीर्ण–शीर्ण अवस्था में विष्णुपुर राज्य की सीमा के भीतर प्रवेश किया। वहाँ कृष्णवल्लभ नामके एक ब्राह्मण छात्र से भेंट हुई, जो विष्णुपुर के राजा वीरहाम्वीर के आश्रय में रहकर संस्कृत पढ़ता

था। कृष्णवल्लभ ने आचार्यप्रभु को पहले एक साधारण भिक्षुक समझा। पर उनसे कुछ देर बात करने पर उसे उनके असाधारण पांडित्य का पता चला। वह उन्हें आदरपूर्वक देउली ग्राम में अपने घर ले गया। उसी के आग्रहपर वे दूसरे दिन वीरहाम्वीर की राजसभा में भागवत–पाठ सुनने गये।

व्यास चक्रवर्ती नामक एक ब्राह्मण राजा को नित्य भागवत सुनाया करते थे। उस दिन रासपञ्चाध्यायी का पाठ चल रहा था। व्याख्याता सिद्धान्त विरुद्ध व्याख्या कर रहे थे। श्रीनिवासाचार्य से उसका प्रतिवाद किये बिना न रहा गया। व्याख्याता और श्रोता सब उनकी सुसिद्धान्तपूर्ण रसमयी व्याख्या सुन चमत्कृत हो गये। राजा पहले ही उनका तेजोमय वपु देख उनसे आकृष्ट था। उनके मुख से रास पञचाध्यायी के उस अंश की व्याख्या सुन वह और अधिक प्रभावित हुआ। उसने उनसे भ्रमरगीत की व्याख्या सुनाने का आग्रह किया।

राजा के अनुरोध से आचार्यप्रभु व्यासासन पर जा विराजे। श्रीमन्महाप्रभु को मन ही मन प्रणाम कर उन्होंने श्रीमद्भागवत को स्पर्श किया। स्पर्श करते ही वे भावविभोर हो गये। दोनों नेत्रों से अश्रुधार बहने लगी। वाह्य दृष्टि लुप्त हो गयी। थोड़ी देर में संयत हो पाठ आरंभ किया। उनके प्रशान्त, गंभीर कण्ठ से प्रेमरस की सरिता बह चली। श्रोतागण विस्मय–विस्फारित नेत्रों से उनकी ओर देखते हुए समाहित चित्त से कथा श्रवण करने लगे। धीरे–धीरे वक्ता के हृदय में उठी भाव तरंग ने सबको लपेट लिया। तरंग उन्हें एक अप्राकृत, आनन्दमय भाव–राज्य में बहा ले गयी। आनन्दाश्रु उनके नेत्रों से प्रवाहित होने लगे। अविश्रान्त नयन–धारा से राजा के भी वस्त्र भीग गये। पाठ समाप्त होने पर श्रोतागण प्रकृतिस्थ हो पाठक की जय–जयकार करने लगे। राजा ने अश्रुसिक्त नेत्रों से आकर आचार्यप्रभु के चरणों की बन्दना की और हाथ जोड़कर बार–बार आतिथ्य स्वीकार करने का आग्रह किया। आचार्य प्रभु को आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा। अति मनोरम एक निर्जन स्थान में उनके रहने की व्यवस्था कर दी गयी। कृष्णवल्लभ, व्यास चक्रवर्ती और राजकर्मचारियों को उनकी सेवा में नियुक्त कर दिया गया।

रात्रि के समय सबको विदाकर श्रीनिवासाचार्य प्रभु शयन करने गये। पर निद्रा उसी दिन से उन्हें त्याग चुकी थी, जिस दिन ग्रन्थों की चोरी हुई थी। वे इसी चिंता में डूबे हुए थे कि किस प्रकार, किसके माध्यम से, ग्रन्थों का पता किया जाय। राजा का भाव देख उनके मन में आशा की एक किरण जागी थी। वे सोच रहे थे कि उपयुक्त अवसर पर उनसे इसका जिक्र छेड़ेंगे।

इधर राजा कई दिन से बहुत दुःखी थे। उनसे कोई ऐसा घृणित कार्य बन गया था, जिसके कारण उनका हृदय आत्मग्लानि से जला जा

रहा था। उन्हें शान्ति एक क्षण को भी नहीं थी। जब से उन्होंने श्रीनिवासाचार्य के दर्शन किये थे, उन्हें लग रहा था कि कोई उनसे कह रहा है–ये एक महापुरुष हैं। तुम्हारे कल्याण के लिये ही तुम्हारे राज्य में पधारे हैं। इनकी शरण लो। इनसे अपने मन की बात खोलकर कहो। तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जायगा, और तुम्हें एक नयी दिशा मिलेगी, जिस पर चलकर तुम परमानन्द लाभ कर सकोगे।'

दूसरे दिन फिर पाठ आरम्भ हुआ। आचार्यप्रभु प्रेम गङ्गा में संतरण करते–करते श्रोताओं को भी उसमें डुबकियाँ खिलाने लगे। राजा एकदम अधीर हो गये। पाठ शेष होते ही वे आचार्यप्रभु को अपने निजी कक्ष में ले गये। उनके चरणों में बैठकर उनका विशेष परिचय और विष्णुपुर आने का कारण पूछने लगे। श्रीनिवासाचार्य ने आदि से अन्त तक अपने जीवन की पूरी कहानी सुना दी। राजा विस्फारित नेत्रों से उनकी ओर देखते रहे। जब उन्होंने गोपालपुर में ग्रन्थों की चोरी की बात कही, तब उन्होंने सिर में कराघात कर उच्च स्वर से रोदन करते हुए उनके चरण पकड़ लिये। श्रीनिवासाचार्य राजा का अकस्मात इस प्रकार का आचरण देख विस्मित हुए। थोड़ी देर में कुछ संयत हो राजा वेदना भरे स्वर में हाथ जोड़कर बोले–'प्रभु, मैं ही वह नराधम डाकुओं का सरदार हूँ, जिसने आपके ग्रन्थों की चोरी की है। राजा होते हुए भी मैं राज्य के बाहर अपने सैनिकों को लूट–पाट करने भेजता रहा हूँ। डकैती और लूटपाट मेरी साधारण वृत्ति बनी हुई थी। मेरे ज्योतिषी ने मुझे बताया था कि आपके उस सन्दूक में अति दुर्लभ बहुमूल्य पदार्थ हैं। इसीलिये मैंने उसका अपहरण करवाया था। बक्स के हाथ में आते ही मेरा मन एक अनिर्वचनीय उल्लास और विवेक से भर गया, जिसका कारण मैं उस समय न समझ सका। जब मैंने एकान्त में बक्स खोला तो उसमें अमूल्य ग्रन्थराशि देख मुझे बड़ी आत्मग्लानि हुई। साथ ही ग्रन्थों के दर्शन मात्र से मेरी हृदय–ग्रन्थि खुल गयी। मैंने दस्यु वृत्ति छोड़ देने का निश्चय किया और ग्रन्थों के स्वामी का पता लगाकर उसे ग्रन्थ लौटाने और उससे क्षमा प्रार्थना करने के लिये मेरे प्राण छटपट करने लगे। उनका पता लगाने को मैंने अपने आदमियों को इधर–उधर भेजा। पर उन्हें वे कहीं न मिले। इसलिये मैं बड़ा दुःखी था। आत्मग्लानि और पश्चाताप से मेरा हृदय फटा जा रहा था। प्रभु की कृपा से आज आपको पाकर मेरा सब दुःख दूर हुआ। अब आप जो चाहें दण्ड देकर मुझे इस अपराध से मुक्त करें।'

इतना कह राजा ने आचार्यप्रभु के चरण पकड़ लिये और फूट–फूटकर रोने लगे।

आचार्यप्रभु विस्मय और आनन्द से अधीर हो उठे। एक ही क्षण में उनकी सारी चिंता दूर हुई। राजा को उठाकर गम्भीर भाव से आलिंगन करते हुए उन्होंने आनन्दाश्रुओं से उन्हें सिक्त किया।

दूसरे दिन आचार्य प्रभु के आदेश से ग्रन्थों का पूजन हुआ। कुछ

दिन बाद आषाढ़ी कृष्णा तृतीया को राजा के विशेष आग्रह पर आचार्यप्रभु ने उन्हें दीक्षा दी राजमहिषी सुलक्षणा देवी और राजकुमार धाड़ी हाम्वीर, व्यास चक्रवर्ती, कृष्णवल्लभ और अन्यान्य अनेक विष्णुपुरवासी आचार्यप्रभु से दीक्षा लेकर धन्य हुए। दीक्षा के पश्चात् वीरहाम्वीर का नाम हुआ श्रीचैतन्यदास और व्यास चक्रवर्ती का नाम हुआ श्रीव्यासाचार्य। कुछ ही दिनों में विष्णुपुर राज्य भगवत्–नाम–गुण–गान की मधुर झंकार से मुखरित हो उठा।

आचार्य प्रभु ने सब संवाद पत्र द्वारा वृन्दावन भेजा। जिस बैलगाड़ी में ग्रन्थ आये थे, उसे भी राजा ने स्वेच्छा से गोविन्दजी, गोपीनाथजी और मदनमोहन आदि के लिये बहुमूल्य सामग्री से परिपूर्ण कर पत्र–वाहक के साथ वृन्दावन भेज दिया।

नरोत्तम और श्यामानन्द उस समय खेतुरी के निकट गोपालपुर में थे। उनके पास भी संवाद भेजा गया। ग्रन्थों की प्राप्ति का संवाद पाते ही वे आनन्द से नृत्य करने लगे।

याजिग्राम में

श्रीनिवासाचार्य को याजिग्राम छोड़े बहुत दिन हो गये थे। वृद्धाजननी कातर भाव से उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रही थीं। एक दिन उन्होंने राजा के निकट याजिग्राम जाने का अपना संकल्प व्यक्ति किया। राजा अनिच्छा होते हुए भी बाधा न दे सके। ग्रन्थों के सन्दूक और बहुमूल्य द्रव्यादि के साथ उन्हें विदा किया। कृष्णवल्लभ, व्यास चक्रवर्ती और बहुत से लोग उनके साथ गये।

यथासमय श्रीनिवास याजग्राम पहुँचे। एकाकिनी लक्ष्मीप्रियादेवी ने इतने दिन सन्तान के बिना कैसे बिताये इसका अनुमान लगाना कठिन है। आज उन्हें राजा–प्रदत्त बहुमूल्य द्रव्य और शिष्यवर्ग के साथ अकस्मात् आया देख उनकी आनन्द की सीमा न रही।

स्थानीय भक्तवृन्द आचार्यप्रभु के शुभागमन का संवाद प्राप्तकर उनके दर्शन को आने लगे। उन्होंने उनसे नवद्वीप, काटोया, श्रीखण्ड आदि स्थानों के भक्तों का कुशल समाचार पूछा। विष्णुप्रिया देवी और श्रीवास पंडित के तिरोधान का समाचार पाकर वे इतना मर्माहत हुए कि उन्हें प्रकृतिस्थ होने में कई दिन लग गये।

प्रकृतिस्थ हो एक दिन वे जननी से आज्ञा लेकर नरहरि सरकार ठाकुर और रघुनन्दन ठाकुर[1] के दर्शन करने श्रीखण्ड गये। दोनों ने उन्हें

---

१. रघुनन्दन ठाकुर महाप्रभु के विशेष कृपा पात्र थे। महाप्रभु ने उन्हें संकीर्तन यज्ञ के शेष में पूर्णाहुति के रूप में दधि हरिद्रा की हंडिया–भंजन का अधिकार दिया था। उन्होंने आठ वर्ष की अवस्था में स्वकृत 'गौर–भावामृत' स्तोत्र से महाप्रभु की वन्दना की थी।

—श्रीहरिदास दास कृत 'गौड़ीय वैष्णव जीवन, खण्ड १, पृ० १६५

स्नेहपूर्वक हृदय से लगाया और विविध प्रकार से उनके प्रति अपने वात्सल्य का परिचय दिया, वृन्दावनवासी भक्तों का कुशल समाचार पूछा और अंत में विवाह कर एक आदर्श गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हुए महाप्रभु के धर्म का प्रचार करने का उपदेश किया।

सरकार ठाकुर और रघुनन्दन ठाकुर का आशीर्वाद ग्रहण कर श्रीनिवास याजिग्राम लौट गये। पर विवाह के सम्बन्ध में उनका आदेश प्राप्तकर वे चिंता में डूब गये। उन्होंने विवाह की बात कभी स्वप्न में भी नहीं सोची थी।

याजिग्राम आकर उन्होंने एक विद्यालय की स्थापना की और अध्यापन का कार्य आरम्भ किया। उनके पांडित्य की ख्याति थोड़े ही दिनों में चारों ओर फैल गयी। दूर-दूर से विद्यार्थी आने लगे। याजिग्राम विद्यार्थियों से परिपूर्ण हो गया। महाप्रभु के सरस भक्ति धर्म का प्रचार भी उन्होंने आरम्भ कर दिया। याजिग्राम और उसके चारों ओर घर-घर में संकीर्तन की धूम मच गयी।

उधर नरोत्तम ठाकुर ने श्यामानन्द को आचार्यप्रभु के पूर्वदेशानुसार प्रचारार्थ उड़ीसा भेज दिया था और स्वयं खेतुरी और आस-पास के क्षेत्र में प्रचार आरम्भ कर दिया था। इन दोनों स्थानों में भी याजिग्राम की तरह भक्ति की प्रबल तरंग बह चली थीं।

विवाह

आचार्यप्रभु यह देख-सुनकर सन्तुष्ट थे। उनका जीवन सुख से बीत रहा था। पर उनकी विवाह की चिंता बढ़ गयी थी, क्योंकि जनिनी लक्ष्मीप्रिया ने भी उसके लिये आग्रह करना शुरु कर दिया था। वे बड़ी दुविधा की स्थिति में पड़ गये थे। इसी बीच एक दिन अद्वैताचार्य ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा-'श्रीनिवास, विवाह के सम्बन्ध में गुरुजनों के आदेश की अवहेलना न करना। बिना किसी प्रचार की चिंता किये विवाह कर लेना। तुम्हारा हर प्रकार से मंगल होगा।' इसके साथ ही श्रीनिवासाचार्य की सारी दुविधा जाती रही। उन्होंने विवाह के लिये सहमति प्रकट कर दी।

रघुनन्दन ठाकुर विवाह के लिये सुयोग्य कन्या की खोज करने लगे। इस सम्बन्ध में प्रयत्न किये जा रहे थे तभी एक दिन लंक्ष्मीप्रिया देवी का अकस्मात् अन्तर्धान हो गया। बहुत कष्ट से श्रीनिवासाचार्य ने विचलित हृदय को संयत कर श्राद्धादि कार्य किया। राजा वीरहाम्वीर के सहयोग से विराट उत्सव के साथ सारा कार्य सम्पन्न हुआ।

कुछ दिन बाद वैशाख मास की कृष्णा तृतीया को याजिग्राम के श्रीगोपाल चक्रवर्ती की द्रोपदी नाम की सुरूपा और सुलक्षणा कन्या से आचार्य प्रभु का विवाह महासमारोह के साथ सुसम्पन्न हुआ। विवाह के पश्चात् द्रोपदी का नाम हुआ ईश्वरी ठाकुरानी।

रामचन्द्र

आचार्यप्रभु एक दिन अपने घर के निकट एक वृक्ष के नीचे शिष्यों सहित बैठे भगवत् प्रसंग में लीन थे। उन्होंने देखा एक परम रूपवान, तेजस्वी नवयुवक और उसकी नवविवाहिता पत्नी को बाजे गाजे के साथ पालकी में घर जाते हुए। तब उन्होंने वेदना भरे कंठ से अपने शिष्यों से कहा–'देखो यह नवयुवक कैसा रूपवान और तेजस्वी है, देवमूर्ति के समान लगता है। पर इसका यौवन प्रभु की सेवा में न लगकर कामिनी की सेवा में उत्सर्गीकृत होगा, यह सोचकर दुःख होता है।'आचार्यप्रभु के शब्दों ने तरुण के कर्ण में प्रविष्ट होते ही, उसके सुप्त वैराग्य को जगा दिया। उसने जैसे ही मुड़कर आचार्यप्रभु की ओर देखा, उसे लगा कि उसके हृदय में बिजली खेल गयी और उस एक ही मुहूर्त मे उसका सब कुछ बदल गया।

कुछ ही दिन बाद नवयुवक आचार्यप्रभु के समीप गया और उनके चरणों में गिरकर रोते–रोते कहने लगा–'प्रभु, आपने कृपाकर मेरे नेत्र खोल दिये हैं। अब मैं संसार में एक क्षण भी नहीं रह सकता। मुझे अपने चरणों का आश्रय प्रदान कर माया–बन्धन से मुक्त करें। आचार्यप्रभु ने उसे हृदय से लगाकर अश्रुसिक्त कन्ठ से कहा–"मैंने जब से तुम्हें देखा है, तुम्हें प्राप्त करने के लिये प्रभु से कातर भाव से प्रार्थना करता रहा हूँ। आज तुम्हें पाकर मैं बहुत सुखी हूँ।"

नवयुवक थे महाप्रभु के लीला–परिकर श्रीचिरञ्जीवसेन के पुत्र सुविख्यात श्रीरामचन्द्र कविराज। रामचन्द्र लौट कर घर नहीं गये। यथा–विधि आचार्यप्रभु से दीक्षा ग्रहण कर वे कायमनोवाक्य से उनकी सेवा करने लगे।

द्वितीय बार वृन्दावन गमन

श्री श्रीनिवासाचार्यप्रभु का आविर्भाव श्रीमन्महाप्रभु की लीला के अंतिम समय हुआ था, जब लीला–संवरण का क्रम प्रारम्भ होने को था। इसलिये एक–एक कर महाप्रभु के सभी लीला–परिकरों का विरह–दुःख देखना उनके लिये अनिवार्य था। कुछ दिन हुए उन्हें संवाद मिला था कि नीलाचल में महाप्रभु के शेष–लीला परिकरों का, एक के बाद एक, अंतर्धान हो गया है और श्यामानन्द ने दुःखित हो वृन्दावन जाने का निश्चय किया है। एक दिन अकस्मात् संवाद मिला कि श्रीनरहरि सरकार ठाकुर भी अब नहीं रहे। तब श्रीनिवासाचार्य को असहनीय दुःख हुआ। वे भी वृन्दावन की यात्रा पर चल दिये।

श्रीनिवासाचार्य के वृन्दावन पहुँचने के १० दिन पूर्व श्रीहरिदासाचार्य का तिरोधान हो गया था। पर श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी, श्रीलोकनाथ गोस्वामी और श्रीभूगर्भ गोस्वामी अभी प्रकट थे। सब श्रीनिवास को अकस्मात् प्राप्त कर आनन्दित हुए।

इधर श्रीनिवासाचार्य के अभाव में भक्तों को गौड़ अंधकारमय लगने लगा। रामचन्द्र इस अभाव को दूर करने का उपाय सोच ही रहे थे।

कि उन्हें आचार्यप्रभु को वृन्दावन से लिवा लाने का रघुनन्दन ठाकुर का आदेश मिला। वे भी वृन्दावन पहुँच गये। आचार्य प्रभु के इंगित से वे गोपालभट्ट गोस्वामी की सेवा में जुट गये। उनका असाधारण पांडित्य और कवित्व–प्रतिभा देख गोस्वामीगण ने उन्हें 'कविराज' उपाधि से विभूषित किया।

गौड़ प्रत्यावर्तन

श्यामानन्द भी इसी समय वृन्दावन पहुँच गये थे। रामचन्द्र कविराज के वृन्दावन पहुँचने के कुछ ही दिन पश्चात् श्रीनिवासाचार्य ने गोपालभट्ट गोस्वामी आदि से गौड़ जाने की आज्ञा माँगी। गोस्वामीगण ने श्यामानन्द और रामचन्द्र के साथ उन्हें विदा किया। उनके साथ वाहकों द्वारा कुछ ग्रन्थ भी भेज दिये, जिनकी जीव गोस्वामी आदि ने उनके वृन्दावन से चले जाने के बाद रचना की थी।

श्रीनिवासाचार्यप्रभु विष्णुपुर होते हुए याजिग्राम गये। वीरहाम्वीर ने पहले एक पत्र लिखकर उनसे विष्णुपुर आने की प्रार्थना की थी। पर तब उनका जाना संभव नहीं हुआ था। इस बार अकस्मात् श्यामानन्द और रामचन्द्र के साथ उन्हें प्राप्त कर वे आनन्द से विभोर हो गये।

श्यामानन्द को आचार्यप्रभु ने दस दिन बाद उड़िसा भेज दिया। स्वयं वीरहाम्वीर के आग्रह पर दो महीने और वहाँ रुके रहे। इस बीच राजा ने आचार्यप्रभु के इंगित पर श्रीकालाचांद विग्रह की स्थापना की। आचार्यप्रभु ने स्वयं श्रीविग्रह का अभिषेक किया। उनके द्वारा प्रतिष्ठित श्रीकालाचांद की सेवा आज भी वनविष्णुपुर में विधिवत् चल रही है।

पिछली बार दीक्षा के समय आचार्यप्रभु ने राजा और महारानी आदि को युगल मन्त्र प्रदान नहीं किया था। इस बार यह देखकर कि भक्ति का जो बीज वे इनमें बो गये थे, वह अंकुरित हो आया हैं, इन्हें युगलमन्त्र भी प्रदान किया। शत–शत और भी बहुत से लोगों को इस बार दीक्षा देकर कृतार्थ किया।

दो महीने बाद किसी प्रकार राजा और महारानी को संतुष्ट कर श्रीनिवासाचार्य ने याजिग्राम के लिये प्रस्थान किया।

गोविन्द की दीक्षा

रामचन्द्र के भाई गोविन्द अपने पिता की तरह दुर्गा देवी के बड़े भक्त थे। पिता की तरह ही वे बहुत बड़े पंडित और कवि भी थे। उनके द्वारा रचित देवी–माहात्म्य मूलक पद–पदावलियों का आज भी भक्तसमाज और साहित्य जगत् में बड़ा आदर है। रामचन्द्र की हार्दिक इच्छा थी कि गोविन्द भी वैष्णवधर्म अंगीकार कर उनके सहयोगी बन जाते और अपनी कवित्व–शक्ति का कृष्ण का गुणगान करने में प्रयोग करते। उन्होंने कई बार इस सम्बन्ध में गोविन्द से अनुरोध किया। पर देवी के चरणों में आत्म–समर्पित गोविन्द पर इसका कुछ असर न हुआ। तब उन्होंने

गोविन्द से इस सम्बन्ध में कुछ न कहकर प्रभु से मन ही मन कातर भाव से प्रार्थना करना प्रारम्भ किया। प्रभु ने उनकी सुन ली। कुछ घटनाएं ऐसी घटीं कि गोविन्द को वैष्णवी दीक्षा लेनी पड़ी।

एक बार रामचन्द्र गोविन्द के पास अपने पैतृक स्थान बुधरी में थे। प्रातःकाल वे घर के बगीचे में टहल रहे थे। वहाँ सुन्दर–सुन्दर पुष्पों को खिला देख उनके मन भाव आया कि ये श्रीकृष्ण को अर्पित किये जाते तो अच्छा होता। उन्होंने बिना तोड़े मन ही मन उन्हें श्रीकृष्ण को अर्पित कर दिया। उन्हीं पुष्पों को तोड़कर जब गोविन्द अपने घर के मन्दिर में देवी के चरणों में अर्पित करने जा रहे थे, देवी ने साक्षात् प्रकट होकर दोनों हाथ फैलाते हुए कहा–'गोविन्द, यह फूल मेरे प्रभु श्रीकृष्ण की प्रसादी है। इन्हें मेरे चरणों में न देकर मेरे हाथ में दो।' गोविन्द ने विस्मित भाव से देवी की ओर देखा और फूल उनके हाथों में दे दिये। इस प्रकार देवी ने संकेत किया कि श्रीकृष्ण की भक्ति ही श्रेष्ठ है। पर फिर भी गोविन्द देवी के प्रति अपनी निष्ठा में दृढ़ रहे।

कुछ दिन बाद उनके घर एक वैष्णव अतिथि आये। स्नान के पश्चात् आन्हिक के लिये जब वे मन्दिर में गये तो मुण्डमाला पहने देवी की मूर्ति को देख विरक्त हो पड़े। पर देवी की मूर्ति के पास ही एक पृथक् सिंहासन पर शालग्राम शिला देख उनकी विरक्ति जाती रही। उन्होंने नित्यक्रिया समापन कर शालग्राम की अर्चना की और देवी की पूजा के लिये सजाकर रखी हुई नैवेद्यादि सामग्री शालग्राम को अर्पण कर दी। उनके चले जाने के पश्चात् जब नित्य देवी की पूजा करने वाले ब्राह्मण पुजारी आये, तो उन्होंने बिना जाने वही प्रसादी नैवेद्य देवी को समर्पण कर दिये। उसी दिन रात को देवी ने गोविन्द को स्वप्न दिया। स्वप्न में संतोष और तृप्ति की मुस्कान के साथ उन्होंने गोविन्द से कहा–'गोविन्द, इतने दिन स तुम्हारे घर में मैं अनिवेदित. वस्तु ही भोग करती आ रही हूँ। आज तुमने मेरे प्रभु का प्रसाद समर्पण कर मुझे बहुत सुखी किया। सर्वावतारी श्रीकृष्ण ही मेरे और तुम्हारे सबके प्रभु हैं। आज से तुम भी उन्हीं की उपासना किया करो।'

इस बाद देवी ने संकेत ही नहीं, कृष्ण की उपासना का स्पष्ट आदेश भी दिया। पर इसका भी गोविन्द पर कोई असर न हुआ। देवी के प्रति उनकी निष्ठा ने उन्हें देवी के आदेश की भी अवमानना करने को बाध्य किया।

पर देवी का कोई भक्त जब अनुकूल भाव से की गयी उनकी कृपा को ग्रहण नहीं करता तो वे प्रतिकूल भाव से कृपा करने को बाध्य होती हैं। कुछ ही दिन बाद गोविन्द संग्रहणी रोग के कारण शय्याग्रस्त हुए। जीवन की कोई आशा न रही। रात–दिन रो–रोकर देवी के चरणों में प्रार्थना करते हुए व्यतीत करने लगे। सन्तान का कातर आह्वान सुन देवी

अविर्भूत हुई। उन्होंने श्रीकृष्ण–भजन की महिमा का वर्णनकर फिर कहा– "तुम सब संशय त्यागकर श्रीकृष्ण का भजन करो। तुम्हारा सब संकट दूर होगा और परमानन्द की प्राप्ति होगी।'

इस बार गोविन्द का सारा संशय जाता रहा। उन्होंने अपने पुत्र दिव्य सिंह द्वारा रामचन्द्र को पत्र लिखवाया। अपनी अवस्था का वर्णन करते हुए आचार्यप्रभु को लेकर शीघ्र बुधरी चले आने की सकातर प्रार्थना की। पत्रवाहक जब पत्र लेकर याजिग्राम पहुँचा, आचार्यप्रभु काञ्चनगड़िया जाने की तैयारी कर रहे थे। उन्हें काञ्चनगड़िया में हरिदासाचार्य का उत्सव समाप्त कर आने में कुछ विलम्ब हुआ। तब तक गोविन्द इतने अशक्त हो गये थे कि बोल भी नहीं पाते थे। उन्होंने आचार्यप्रभु को देख लेटे ही लेटे हाथ जोड़कर प्रणाम किया। फिर अश्रु विसर्जन करते हुए कातर भाव से संकेत द्वारा कुछ प्रार्थना की। आचार्यप्रभु को उनके मन की बात समझने में देर न लगी। उन्होंने रामचन्द्र से कहा उन्हें उठाकर बैठाल देने को। उसी अवस्था में उन्हें स्नान करा और वस्त्र परिवर्तन करवाकर आचार्यप्रभु ने उन्हें मन्त्र–दीक्षा दी। उसी समय से उनके स्वास्थ्य में परिवर्तन होने लगा और थोड़े ही दिनों में वे पूर्ण स्वस्थ हो गये।

इसके पश्चात् गोविन्द ने अपने पांडित्य और कवित्व प्रतिभा का गुरु–गोविन्द की सेवा में प्रयोग किया। उनका नाम श्रेष्ठतम पदकर्ता के रूप में आज भी वैष्णव समाज में लिया जाता है। 'संगीत माधव' नाम का उनका नाटक और उनके इक्यानवे पद वैष्णव–साहित्य की अपूर्व निधि है। आचार्यप्रभु ने उनकी कवित्व प्रतिभा से तुष्ट हो उन्हें 'कविराज' की उपाधि दी।

खेतुरी–महोत्सव

बुधरी में कई दिन नाम–कीर्तन और पाठादि में संलग्न रहने के पश्चात् आचार्यप्रभु ने खेतुरी में नरोत्तम ठाकुर के पास जाने की इच्छा प्रकट की। आचार्यप्रभु के प्रथम बार वृन्दावन से लौटने के पश्चात् एक बार नरोत्तम ठाकुर याजिग्राम में उनसे मिले थे और खेतुरी आकर श्रीविग्रह प्रतिष्ठा करने की प्रार्थना की थी। पर वे अभी तक खेतुरी जा नहीं सके थे। वे खेतुरी के लिये प्रस्थान करें उसके पूर्व ही उन्हें संवाद मिला कि नरोत्तम ठाकुर स्वयं उनसे मिलने आ रहे हैं।

दूसरे दिन प्रातःकाल आचार्यप्रभु ने रामचन्द्र और व्यासाचार्य को मार्ग में ही नरोत्तम ठाकुर से मिलकर उन्हें अपने साथ लिवा लाने के लिये भेज दिया। रामचन्द्र पहले ही आचार्यप्रभु से नरोत्तम ठाकुर के वैराग्य, गुरुनिष्ठा और भजन–निष्ठा के बारे में सुनकर उनके प्रति आकृष्ट थे और उनके दर्शन के लिये व्याकुल थे। गत रात्रि सोते समय महाप्रभु ने दर्शन देकर उनसे कहा था– 'कल नरोत्तम से तुम्हारा मिलन होगा। नरोत्तम तुम्हारा नित्य–संगी है। उसके साथ मिलन होते ही पूर्व लीला का सब

रहस्य तुम्हारे मन में स्फुरित होगा।' इसलिये और भी नरोत्तम ठाकुर से मिलने के लिये वे उत्कंठित हो उठे थे।

नरोत्तम ठाकुर ने भी रामचन्द्र के विषय में जो सुना था उसके कारण बिना उन्हें देखे ही उनके प्रति स्वाभाविक प्रेम हो गया था और वे भी उनसे मिलने के लिये उतना ही उत्कंठित थे।

रामचन्द्र की जब नरोत्तम ठाकुर से मार्ग में भेंट हुई, उन्होंने उन्हें देखते ही पहचान लिया। द्रुत गति से आगे बढ़कर वे उनके चरणों में गिर गये। नरोत्तम ठाकुर ने भी उन्हें पहचानने में विलम्ब नहीं किया। तुरन्त उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। दोनों ने एक-दूसरे को अपने प्रेमाश्रुओं से सिक्त किया।

परस्पर कुशल प्रश्न करने के पश्चात् रामचन्द्र नरोत्तम ठाकुर को आचार्यप्रभु के पास ले आये। दीर्घकाल के बाद दोनों के मिलन का दृश्य देख रामचन्द्र, गोविन्द और अन्य लोग यह देखकर विस्मित हुए कि दोनों में कितना प्रेम है। दोनों एक-दूसरे को आलिंगन करते ही अश्रु, कम्प, पुलकादि सात्विक भावों से इतना अभिभूत हो गये कि उन्हें सम्हालना मुश्किल हो गया। बहुत देर बाद प्रकृतिस्थ हो दोनों ने एक-दूसरे को पिछले दिनों का अपना इतिहास सुनाया और प्रचार के क्षेत्र में अपनी-अपनी उपलब्धियों का जिक्र किया। खेतुरी के उत्सव के सम्बन्ध में नरोत्तम ठाकुर ने जो तैयारियाँ कर रखी थीं उनका वर्णन कर आचार्यप्रभु से उनका अनुमोदन कराया और उत्सव में पधारने की उनसे प्रार्थना की। आचार्यप्रभु ने रामचन्द्र और व्यासाचार्य को नरोत्तम ठाकुर के साथ भेज दिया, स्वयं कुछ दिन बाद आने को कहा। कहते हैं कि इसी समय उन्होंने रामचन्द्र को नरोत्तम ठाकुर को समर्पित कर दिया।

कई दिन बाद गोविन्द आदि को साथ ले आचार्यप्रभु खेतुरी पधारे। विराट उत्सव हुआ। राजा कृष्णानन्द ने बहुत धन व्ययकर जो उत्सव की व्यवस्था की, उसकी इतिहास में तुलना नहीं है। दूर-दूर से सहस्त्रों भक्त आमन्त्रित किये गये और सबके ठहरने की उचित व्यवस्था की गयी। सबका भेंट पूजादि से उचित सम्मान किया गया। उत्सव में पधारने वाले विशिष्ट व्यक्तियों में श्रीनित्यानन्दप्रभु की पत्नी जान्हवा ठाकुरानी और श्रीअद्वैताचार्य के पुत्र अच्युतानन्दप्रभु और गोपालदासप्रभु भी थे।

दोल पूर्णिमा के दिन छय विग्रहों की धूम-धाम से प्रतिष्ठा हुई। उसके बाद जो संकीर्तन हुआ उसकी तुलना नहीं है। विशेष बात यह थी कि उसमें श्रीमन्महाप्रभु, श्रीनित्यानन्दप्रभु और श्रीअद्वैताचार्य ने साक्षात प्रकट होकर नृत्य-कीर्तन किया।

खेतुरी के इस उत्सव का और इसमें जो अद्भुत घटनाएँ घटीं उनका हम विस्तार से नरोत्तम ठाकुर के चरित्र में वर्णन करेंगे।

आचार्यप्रभु इस अवसर पर एक मास खेतुरी में रहे। अंत में रामचन्द्र का मनोभाव जान उन्हें नरोत्तम ठाकुर के पास छोड़कर याजिग्राम चले गये।

ईशान का नित्य-लीला में प्रवेश

कुछ दिन बाद आचार्यप्रभु को नवद्वीप से ईशान का एक पत्र मिला। उस समय नरोत्तम ठाकुर और रामचन्द्र भी याजिग्राम में उनके पास ही थे। पत्र में ईशान ने आचार्यप्रभु से नवद्वीप आने का आग्रह किया था। कारण कुछ नहीं लिखा था। वे पहले भी कई बार याजिग्राम से नवद्वीप जाने वाले यात्रियों के द्वारा उन्हें एक बार उनसे शीघ्र मिलने के लिये कहला चुके थे। आचार्यप्रभु की नवद्वीप भ्रमण की इच्छा थी। उन्होंने तुरन्त नवद्वीप जाने का निश्चय कर लिया। नरोत्तम ठाकुर और रामचन्द्र भी साथ चलने को तैयार हो गये।

तीनों एक दिन नदिया पहुँच गये। महाप्रभु के घर पहुँचते ही वे अत्यन्त भाव–विह्वल हो गये। महाप्रभु और विष्णुप्रिया देवी की स्मृति में अधीर होकर रोते–रोते ईशान के चरणों में लोट गये। वृद्ध ईशान ने उन्हें उठाकर हृदय से लगाया।

महाप्रभु की आद्योपान्त नदिया–लीला का साक्षी अब ईशान के सिवा और कोई नहीं रह गया था। ईशान महाप्रभु की लीला–कथा कहते–कहते बाह्यज्ञान खो बैठते थे। जिस प्रकार ईशान गौड़ में महाप्रभु की लीला–कथा के सर्वश्रेष्ठ वक्ता थे, उसी प्रकार आचार्यप्रभु, नरोत्तम और रामचन्द्र महाप्रभु की कथा के सर्वश्रेष्ठ श्रोता थे। ईशान महाप्रभु की कथा के उपयुक्त श्रोताओं के बीच महाप्रभु की कथा कहकर अपनी विरह कथा कम करने को सदा उत्सुक रहते थे। आचार्यप्रभु, नरोत्तम और रामचन्द्र महाप्रभु की लीला के प्रत्यक्ष दृष्टा उनके परिकरों से उस कथामृत को सुन अपना विरह–ताप दूर करने को व्याकुल रहते थे। आज ईशान वक्ता थे और आचार्यप्रभु, नरोत्तम तथा रामचन्द्र श्रोता थे। ईशान आँसू पोंछते जा रहे थे और महाप्रभु की नवद्वीप लीला का वर्णन करते जा रहे थे। इस प्रकार सारा दिन बीत गया। दूसरे दिन ईशान ने तीनों अतिथियों को ले जाकर नवद्वीप में महाप्रभु की विभिन्न लीला–स्थलियों का दर्शन कराया। तीसरे दिन वे बिदा हुए। उन्हें विदा करते समय ईशान ने आचार्यप्रभु की ओर एक रहस्यमय दृष्टि से देखते हुए हाथ हिलाकर विचित्र ढंग से कुछ इंगित किया। इंगित का मर्म कोई न समझ सका। पर आचार्यप्रभु समझ गये कि ईशान कह रहे हैं वे शीघ्र लीला संवरण करेंगे और यह उनका शेष मिलन था। याजिग्राम पहुँचने से पहले ही मार्ग में उन्हें संवाद मिला कि ईशान नित्य–लीला में प्रवेश कर गये। वे समझ गये कि लीला संवरण करने के पूर्व वे एक बार उनसे मिल लेने की ही प्रतीक्षा कर रहे थे और यही उनके बार–बार निमन्त्रण भेजने का कारण था।

रघुनन्दन का भी स्वेच्छा से नित्य लीला में प्रवेश

याजिग्राम पहुँच कर हठात् एक दिन आचार्य प्रभु का मन रघुनन्दन के पास जाने को मचल उठा। वे इसका कुछ कारण न समझ पाये। तो भी वे श्रीखण्ड चले गये। रघुनन्दन उन्हें देखकर बहुत प्रसन्न हुए। कुछ समय बाद उन्हें एकान्त में ले जाकर बोले—"महाप्रभु के सभी परिकर एक—एक कर चले गये। उनका सुखमय संग छोड़कर अब मेरी जीते रहने की इच्छा बिलकुल नहीं है। देखो, करुणामयप्रभु कब मेरी वासना पूर्ण करेंगे।' इतना कह उन्होंने एक लम्बी सांस ली और चुप हो गये। आचार्यप्रभु समझ गये कि अब वे भी अपनी लीला शीघ्र संवरण करेंगे।

दो—एक दिन बाद रघुनन्दन ने नाम—यज्ञ की आज्ञा दी। नाम—यज्ञ में उन्होंने स्वयं योगदान किया। तीसरे दिन कीर्तन करते—करते वे भाव—विह्वल हो गये और उच्च स्वर से 'श्रीकृष्ण चैतन्य' नाम उच्चारण करते—करते महाप्रभु को आह्वान करने लगे। महाप्रभु ने उनकी पुकार सुन ली और उनके प्रेम—नेत्रों के समक्ष प्रकट होकर उन्हें अपने साथ ले गये।

द्वितीय विवाह

आचार्यप्रभु श्रीमन्महाप्रभु के परिकरों के अदर्शन के कारण दिन पर दिन गंभीर और संसार से उदास होते जा रहे थे। ऐसे में घटी एक अप्रत्याशित घटना। गोपालपुर ग्राम के राघव चक्रवर्ती नामक ब्राह्मण ने आकर डरते—डरते बड़े संकोच के साथ उनसे निवेदन किया—'प्रभु, पद्मावती नाम की मेरी एक कन्या है। रूप और गुणादि में उसकी तुलना नहीं है। मैंने एक दिन स्वप्न में देखा कि मैं उसे आपके हाथों समर्पित कर रहा हूँ। दूसरे दिन प्रातः जब मैं अपनी धारणा से अतीत इस स्वप्न की बात की चिंता कर रहा था, मेरी पत्नी ने आकर अपने स्वप्न का वृतान्त सुनाते हुए कहा—'मैंने श्रीअद्वैताचार्य के परम ज्योतिर्मय कलेवरके दर्शन किये। उन्होंने कहा—'तुम कन्या के विवाह के लिये चिंता न करना। उसका विवाह श्रीनिवास के साथ होगा। वे ही तुम्हारी कन्या के पूर्वनिर्दिष्ट स्वामी हैं।'

चक्रवर्ती महाशय ने आगे कहा—'कर्तव्य जानकर दोनों स्वप्नों का वृतान्त मैंने आपको सुना दिया। अब आपकी जैसी इच्छा हो करें।'

आचार्यप्रभु को भी पिछली रात महाप्रभु ने स्वप्न में इसी प्रकार का आदेश दिया था। इसलिये वे और क्या कहते। उन्हें विवाह के लिये सम्मति प्रदान करनी पड़ी।

शुभ मुहूर्त में पद्मावती का विवाह आचार्यप्रभु से हो गया। उनका नाम हुआ श्रीगौरांगप्रिया।

आचार्यप्रभु के तीन पुत्र हुए। ईश्वरी ठाकुरानी से हुए श्रीवृन्दावनचन्द्र और श्रीराधाकृष्ण और गौरांगप्रिया देवी से श्रीगति गोविन्द। उनके तीन कन्याएँ भी हुई। कन्याओं में ज्येष्ठा थीं हेमलता, मध्यमा कृष्णप्रिया और

कनिष्ठा काञ्चन लतिका।

आचार्यप्रभु, नरोत्तम ठाकुर और रामचन्द्र का पारस्परिक सम्बन्ध

रामचन्द्र आचार्यप्रभु के शिष्य थे। नरोत्तम ठाकुर आचार्यप्रभु को महाप्रभु का द्वितीय स्वरूप मानते थे। पर दोनों आचार्यप्रभु के प्रति इतना समर्पित थे कि उनका उनसे पृथक् कोई अस्तित्व ही नहीं था। तीनों के पारस्परिक प्रेम ने तीनों के तन, मन और आत्मा का ऐसा एकीकरण कर दिया था कि उनके आपस के व्यवहार में शास्त्रीय विधि–निषेध का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था। आचार्यप्रभु रामचन्द्र की सेवा ग्रहण करते थे और रामचन्द्र भी कभी–कभी आवश्यकता पड़ने पर आचार्यप्रभु की सेवा बिना किसी प्रकार की द्विधा के ग्रहण करते थे। रामचन्द्र में यदि लेश मात्र भी अहं–बुद्धि होती तो वे उनकी सेवा ग्रहण करने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

शिष्य के प्रति गुरुदेव के आसन पर बैठकर उनके द्वारा व्यवहृत पात्र में प्रसाद ग्रहण करना नीति विरुद्ध है। पर रामचन्द्र बिना किसी संकोच के ऐसा किया करते। आचार्यप्रभु कभी–कभी रामचन्द्र और ठाकुर महाशय को अगल–बगल में बैठाकर एक साथ प्रसाद ग्रहण करते। जो प्रसाद सुस्वाद लगता उसे अपने पात्र में से उठाकर उन्हें दोनों को देते। तत्कालीन समाज की व्यवस्था के अनुसार इस प्रकार का आचरण नीति विरुद्ध इसलिये और भी था कि रामचन्द्र और नरोत्तम ठाकुर ब्राह्मण नहीं थे।

एक बार ठाकुरानीगण ने आचार्यप्रभु से इस सम्बन्ध में प्रश्न किया। तब उन्होंने कहा–'उन दोनों के देह को मेरे देह से पृथक् न मानना। वे दोनों मेरी दो भुजाएँ हैं।'

आचार्यप्रभु अकसर नरोत्तम ठाकुर और रामचन्द्र के संग के लोभ से खेतुरी जाया करते। नरोत्तम ठाकुर और रामचन्द्र आचार्यप्रभु के संग के लोभ से अकसर याजिग्राम जाया करते।

एक बार जब रामचन्द्र और नरोत्तम याजिग्राम में थे, आचार्यप्रभु ने रामचन्द्र से कहा–'तुमने विवाह किया है। पत्नी के प्रति तुम्हारा कुछ कर्तव्य है। पत्नी–सम्भाषण के उद्‌देश्य से तुम आज ही घर चले जाओ।'

विवाहित होते हुए भी रामचन्द्र अखण्ड ब्रह्मचारी थे। उन्हें न बाह्य स्मृति थी न देहाभिमान। उनका अन्तः–बाहार सब गुरुमय था। गुरुदेव का आदेश गृह जाने का हुआ था। इसलिये उन्हें बिना विचारे उसका पालन करना था। वे उसी दिन अपरान्ह में घर चले गये।

पत्नी रत्नमाला अप्रत्याशित भाव से उन्हें आया देख आनन्दविभोर हो गयीं और उनकी सेवा में नियुक्त हुई। रात्रि के समय निभृत शयन–कक्ष में रामचन्द्र ने उनसे आलाप करना आरम्भ किया। आलाप का विषय गुरुदेव के सिवा और क्या हो सकता था? वे गुरुदेव का गुणगान करते जाते और अश्रु विसर्जन करते जाते। रत्नमाला स्थिर दृष्टि से पतिदेव का

मुखकमल निहारते हुए बीच–बीच में अपने अंचल से उनके आँसू पोछती जातीं। पतिदेव का कथामृत पान करते–करते धीरे–धीरे उनका मन भी एक अप्राकृत भावराज्य में प्रवेश कर गया। दोनों में से किसी को ज्ञान न रहा कौन पुरुष है कौन स्त्री। दोनों ने एक दिव्य अनुभूति की आनन्द तरंग में संतरण करते–करते सारी रात बिता दी। उषा काल निकट आया देख रामचन्द्र उठ खड़े हुए और बोले–'गुरुदेव की सेवा का समय हो गया, अब विलम्ब करना ठीक नहीं।' रत्नमाला से विदा ले वे जाने लगे। सहसा उन्हें ध्यान आया कि गुरुदेव के आदेशानुसार 'पत्नी–सम्भाषण' तो हुआ नहीं। उन्होंने रत्नमाला को एक बार आलिंगन किया और चल दिये।

वे जब याजिग्राम में गुरुदेव के निवास–स्थान पर उपस्थित हुए, नरोत्तम ठाकुर आंगन में झाड़ू दे रहे थे। उनकी दृष्टि रामचन्द्र के ललाट पर लगे सिन्दूर पर पड़ी, जो पत्नी को आलिंगन करते समय लग गया था। उसे देखते ही वे विस्मय और क्रोधभरे स्वर में बोले–'कहाँ गये थे? माथे पर सिन्दूर कैसा?'

रामचन्द्र ने सरल भाव से उत्तर दिया–'गुरुदेव की आज्ञा से 'पत्नी–सम्भाषण' के लिये घर गया था। रत्नमाला का सिन्दूर माथे में लग गया होगा।'

इस स्वीकारोक्ति से ठाकुर महाशय का क्रोध और बढ़ गया। उन्होंने विरक्ति के स्वर में कहा–'छिः छिः रामचन्द्र! धिक्कार है तुम्हें। यह अपवित्र देह लेकर गुरुदेव की सेवा करने आये हो। तुम्हें इतना भी विचार न हुआ कि स्नानादि कर स्त्री–सम्भोग के चिन्ह मिटा कर आते।' कहते–कहते उन्होंने झाड़ू से रामचन्द्र की पीठ पर प्रहार किया। प्रहार के साथ ही रामचन्द्र की देह–बुद्धि और विचार–बुद्धि लौट आयी। उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ। स्नानादिकर उन्होंने अपने को सेवा कार्य में नियुक्त किया।

नरोत्तम ठाकुर जितने दिन याजिग्राम में रहते आचार्यप्रभु के स्नान के समय उनके अंग में तेल–मालिश किया करते। उस दिन तेल मलते समय उन्होंने देखा कि सवेरे रामचन्द्र की पीठ पर उन्होंने जो झाड़ू से प्रहार किया था उसके चिन्ह रक्तिम आकार में आचार्यप्रभु की पीठ पर स्पष्ट दीख रहे हैं। वे जान गये कि रामचन्द्र का देह आचार्यप्रभु को समर्पित और उनके द्वारा अंगीकृत होने के कारण उनका अपना ही देह है और रामचन्द्र की पीठ पर आघात कर उन्होंने आचार्यप्रभु पर ही आघात किया है। उन्होंने तत्काल मन ही मन निश्चय किया कि जिस हाथ से उन्होंने रामचन्द्र को झाड़ू मारी थी, उसे आज ही रात अग्नि में जलाकर अपराध का मार्जन करेंगे।

अन्तर्यामी आचार्यप्रभु से उनका यह संकल्प छिपा न रह सका। वे बोल उठे–

"ए देशे विचार नाइ बाप् रे वाप् ।

दिने भारे झांटार बाड़ी रात्रे पोड़ाय हात्।

—बाप रे बाप! इस देशे के लोगों में विचार रत्ती भर भी नहीं। दिन में मारे झाड़ू की मूठ, रात में जलायें हाथ।

यह सुन ठाकुर महाशय को होश आया। अपनी आन्तरिक वेदना के कारण वे भूल गये थे कि उनका शरीर भी तो आचार्यप्रभु द्वारा अंगीकृत है, इसलिये जिस हाथ को उन्होंने जलाने का संकल्प किया था, वह भी तो आचार्यप्रभु का ही है। ऐसा संकल्प कर उन्होंने एक और अपराध किया, यह सोच वे आचार्यप्रभु के चरणों में गिरकर रोदन करने लगे।

महापुरुषों के आचरण में कभी—कभी बड़ा विरोधाभास होता है। उसका कारण यह है कि उनकी बहुत सी लीलाएँ अपने स्वभाव और शक्ति के विपरीत होते हुए भी केवल लोक—शिक्षा के लिये होती हैं। नरोत्तम ठाकुर से रामचन्द्र का कुछ भी छिपा नहीं था। वे जितना उनकी मनोवृत्ति के बारे में जानते थे उतना शायद रामचन्द्र स्वयं भी नहीं जानते थे। फिर भी उन्होंने रामचन्द्र के आचरण पर क्रोध किया था केवल रामचन्द्र की और भाव—जगत् की महिमा संसार में प्रकट करने के लिए।

आचार्यप्रभु कभी—कभी वीरहाम्वीर के आह्वान पर विष्णुपुर भी जाया करते। एक बार जब वे विष्णुपुर में थे, लीला—स्मरण करते समय मणिमञ्जरी के स्वरूप में अवस्थित हो ध्यान—योग से लीला के गम्भीरतम प्रदेश में प्रविष्ट हो गये।[1] शरीर निश्चल हो गया, निश्वास बन्द हो गया। देह में प्राण को कोई लक्षण न रहा। दो दिन और दो रात लगातार उस अवस्था में बीत गये। वीरहाम्वीर, व्यासाचार्य, कृष्णवल्लभ आदि की चिंता की सीमा न रही। किसी की कुछ समझ में न आया क्या करना चाहिये। बहुत चेष्टा करने पर भी जब वे कुछ न कर सके तो उन्हें रामचन्द्र की याद आयी। आचार्यप्रभु की मनोवृत्ति वे ही अच्छी तरह समझते थे और यदि उन्हें बाह्य दशा में लाने का कोई उपाय किया जा सकता था, तो वह रामचन्द्र द्वारा ही किया जा सकता था। पर रामचन्द्र तो खेतुरी में थे। उन्हें इतना शीघ्र कैसे लाया जा सकता था? उनके आते—आते अमंगल घटने की पूर्ण आशंका थी।

पर गुरुगतप्राण रामचन्द्र के दूर होते हुए भी उनसे कुछ छिपा नहीं था। वे जहाँ भी रहते गुरुदेव के अन्तर की प्रत्येक वृत्ति का उन्हें पता रहता। विष्णुपुर की इस घटना का उन्हें पहले ही पता चल गया था और वे स्वयं विष्णुपुर की ओर चल पड़े थे। उन्हें संवाद देने के लिये किसी को भेजा जाता उसके पूर्व ही वे आ पहुँचे। वीरहाम्वीर और माता ठाकुरानी को आश्वस्त करते हुए वे बोले—'आप लोग बिलकुल चिंता न करें। प्रभु अभी प्रकृतिस्थ हो जायेंगे। मैं देखता हूँ कि वे कहाँ किस सुख में विचरण कर

१. 'श्रीमन्महाप्रभु स्वमाधुरी आस्वादन करने के निमित्त आचार्यप्रभु के रूप में अवतीर्ण हुए थे। पर विशेष किसी रस का आस्वादन करने के लिये मणि मञ्जरी ने भी उनके शरीर में प्रवेश किया था।'-
श्रीनिवास-चरितामृत, पृ० २२९

रहे हैं। वे जहाँ भी हों वहां से उन्हें शीघ्र वापस ले आऊँगा।'

इतना कह रामचन्द्र आचार्यप्रभु के पास जा बैठे और ध्यान मग्न हो गये। करुणामञ्जरी[1] स्वरूप से लीला में प्रवेशकर उन्होंने देखा कि वे अन्य मञ्जरियों के साथ यमुनाजल के भीतर कुछ अन्वेषण कर रहे हैं। रामचन्द्र करुणा मञ्जरी रूप में उनके निकट गये, तो उन्हें देखते ही वे बोले–'अच्छा हुआ तुम आ गयीं। कल रात महारास के पश्चात् जल क्रीड़ा करते समय राधारानी की बेसर जल में गिर गयी। वही हम खोज रही हैं।'

रामचन्द्र समझ गये कि बेसर के अनुसन्धान में ही उन्हें इतना समय लग गया[2] और बेसर जब तक नहीं मिल जाती तब तक वे स्थूल देह में नहीं लौटेंगे। इसलिये वे भी उनके साथ बेसर के अनुसन्धान में जुट गये। गुरु कृपा के बल से उन्हें तुरन्त ही एक कमल पत्र के नीचे वह मिल गयी। उन्होंने उसे ले जाकर गुरुदेव को दिया, उन्होंने गुण मञ्जरी (श्रीगोपालभट्ट प्रभु) को, गुण मञ्जरी ने रूप मञ्जरी (श्रीरूप) को और रूप मञ्जरीने राधारानी को।[3]

राधारानी ने प्रसन्न हो अपना चर्वित ताम्बूल करुणा मञ्जरी को देकर पुरस्कृत किया। उसी समय आचार्यप्रभु ने हुङ्कार के साथ समाधि त्याग दी। रामचन्द्र भी आसन से उठ खड़े हुए। आनन्द विभोर हो सब लोग रामचन्द्र की जय बोलते हुए नृत्य करने लगे। उसी समय रामचन्द्र के हाथ में राधारानी का प्रसादी ताम्बूल देख और उसकी अपूर्व गंध का अनुभव कर सब चमत्कृत हो गये और उसका कणिका ग्रहण कर धन्य हुए।

अन्त्य लीला

आचार्यप्रभु खेतुरी के वार्षिक उत्सव पर बराबर खेतुरी जाया करते। इस बार के वार्षिक उत्सव के बाद जब वे वहाँ से विदा होने लगे उन्होंने नरोत्तम ठाकुर को अलग ले जाकर कान में कुछ बात कही। कोई न समझ सका कि दोनों में क्या बात हुई। पर उसी समय से नरोत्तम ठाकुर में भावान्तर हो गया। वे बहुत गंभीर रहने लगे। उन्हें देख लगता कि वे किसी तीव्र आन्तरिक वेदना को गोपन रखने की भरसक चेष्टा कर रहे हैं। पर उनके धैर्य का बांध कभी–कभी टूट जाता और वे सहसा रो पड़ते।

आचार्यप्रभु इस बार खेतुरी से लौटने के पश्चात् हर समय

---

१. 'गदाधर स्वमाधुरी आस्वादन करने के निमित्त रामचन्द्र रूप में अवतीर्ण हुए थे। पर व्रज-लीला का कोई विशेष रस आस्वादन करने के लिये करुणा मंजरी भी उसी देह में आकर उनके साथ एकीभूत हो गयी थी।

- श्रीनिवास-चरितामृत, पृ० २३१

२. लीला जगत में बेसर के अनुसन्धान में जितना समय बीता था, उतने में ही इस जगत् के दो दिन से ऊपर बीत गये थे।

३ लीलाराज्य में आनुगत्यमूलक सेवा ही अधिक आनन्ददायक और लोभनीय है। ऐसा नहीं कि करुणा मंजरी को सीधे राधारानी की सेवा करने का अधिकार नहीं था। पर उस प्रकार की स्वतंत्र सेवा में उतनी आनन्द चमत्कारिता और रसमयता नहीं है।

आविष्ट रहने लगे। उनकी वृत्ति इतनी अंतर्मुखी हो गयी कि स्थूल जगत् नाम की कोई वस्तु है, इसका भी उन्हें बीच–बीच में विस्मरण हो जाता।

महाप्रभु और गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट कार्य वे अब पूरा कर चुके थे। महाप्रभु के प्रायः सभी परिकर एक–एक कर अंतर्धान हो चुके थे। वे सोचने लगे थे कि उनका संगच्युत हो और अधिक विरह–वेदना भोगने से क्या लाभ? गुरुदेव अवश्य अभी वृन्दावन में विद्यमान थे। पर उनके भी शीघ्र नित्य–लीला में प्रवेश करने का आभास उन्हें अवश्य हो गया था। तभी उन्होंने भी उनका अनुसरण करने का निश्चय कर नरोत्तम ठाकुर से अपने हृदय की बात गोपन में कही थी।

कुछ ही दिन बाद वृन्दावन से श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी और श्रीलोकनाथ गोस्वामी के अन्तर्धान का समाचार आया। अब श्रीनिवासाचार्य के लिये जीवन का बोझ ढोते रहने का कोई औचित्य ही नहीं रह गया। उन्होंने रामचन्द्र के साथ वृन्दावन जाकर राधा–कृष्ण पदांकित उस पवित्र भूमि में उस शुभ क्षण की प्रतीक्षा करने का निश्चय किया, जब गुरुदेव का इंगित प्राप्त करते ही वे लैकिक लीला संवरण कर उनके चरणों के समीप जा उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे।

उसी समय उन्होंने नरोत्तम ठाकुर को रामचन्द्र को उनके साथ वृन्दावन भेजने के लिये चिट्ठी लिखी। चिट्ठी पाते ही नरोत्तम ठाकुर व्याकुल हो गये। खेतुरी से विदा होते समय आचार्यप्रभु ने उनसे जो कुछ कहा था, उसकी यह प्रथम कड़ी थी। उन्होंने जान लिया कि आचार्य प्रभु की यह अंतिम यात्रा है। आचार्यप्रभु की गोपनीय वार्ता में कुछ ऐसा संकेत भी अवश्य रहा होगा, जिससे उन्होंने यह भी जान लिया कि रामचन्द्र की भी यह अंतिम यात्रा है। यह सोच–सोचकर वे अत्यन्त विचलित हो उठे। रामचन्द्र के पास जा उन्हें दृढ़ आलिंगन कर रोने लगे। रामचन्द्र भी समझ गये कि गुरुदेव के साथ उनका भी लीला संवरण करने का समय आ गया, क्योंकि नरोत्तम ठाकुर ने उन्हें आचार्यप्रभु की गोपनीय कथा का अभिप्राय पहले ही बता दिया था। वे भी विच्छेद–वेदना के कारण अधीर हो उठे। कौन किसे सान्त्वना देता? दोनों एक–दूसरे को निविड़ भाव से आलिंगन में आबद्ध कर एक–दूसरे को अपनी नयन–धारा से अभिषिक्त करने लगे।

उनके इस प्रकार आलिंगनबद्ध हों रोदन करने का कारण कोई न समझ सका। सब तो यही जानते थे कि रामचन्द्र आचार्यप्रभु के साथ फिर वृन्दावन से लौटकर अपना संग–सुख उन्हें प्रदान करेंगे। कोई क्या जानता था कि यह उनका अंतिम आलिंगन है? कोई क्या जानता था कि उनके दो देहों में बसे एक प्राण के दो टुकड़े होने जा रहे हैं?

बहुत देर बाद नरोत्तम ठाकुर ने कुछ संयत होकर रामचन्द्र के सारे शरीर पर स्नेह से हाथ फेरते हुए कहा–'गुरुदेव के साथ श्रीधाम जा रहे हो। यह तो बड़े सौभाग्य की बात है। परमानन्द पूर्वक जाओ। मैं उस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करूँगा, जिसमें फिर हमारा मिलन होगा।' इतना कह

नरोत्तम ठाकुर ने रामचन्द्र को विदा किया। उनके शेष वाक्यों का अर्थ कोई न समझ सका।

रामचन्द्र के याजिग्राम पहुँचने के दो ही एक दिन के बाद आचार्यप्रभु ने श्रीधाम की यात्रा प्रारम्भ की। उनकी दोनों ठाकुरानियाँ, सन्तान, शिष्य और छात्र वर्ग, कुछ दूर तक उनके साथ जा उन्हें बिदाकर घर लौट आये। बिदा करने के समय से ही सब उनके याजिग्राम लौटकर आने का एक-एक दिन गिनने लगे। पर वे फिर लौटकर न आये।

संवत् १६६० कार्तिकी शुक्ला अष्टमी को आचार्यप्रभु ने और **संवत् १६६९** कार्तिक कृष्णा अष्टमी को रामचन्द्र ने नित्य लीला में प्रवेश किया। कुछ ही दिन बाद नरोत्तम ठाकुर ने गंगातीर पर अलौकिक भाव से स्वेच्छापूर्वक संसार त्याग दिया। वृन्दावन में आचार्यप्रभु की समाधि है। उसी के पीछे रामचन्द्र की भी समाधि है।



श्रीनरोत्तम ठाकुर

जन्म और शिक्षा

महाप्रभु के काल में पूर्व बंग के गड़ेरहाट (गरानहाटी) परगना का खेतुरी ग्राम, जो पद्मा नदी से एक मील दूर बसा है, एक छोटे राज्य की राजधानी था। इसके अधिपति थे उत्तर राढ़ीय कायस्थ वंश के दो भाई श्रीकृष्णानन्द दत्त और श्रीपुरुषोत्तम दत्त। कृष्णानन्द दत्त बड़े थे। उनके एक पुत्र रत्न का जन्म हुआ, उसका नाम रखा 'नरोत्तम'। माता-पिता उसे प्यार में 'नरु' पुकारते।

नरु में राजकुमार के सभी गुण विद्यमान थे। वे श्यानवर्ण के होते हुए भी रूपवान थे। उनका स्वभाव शान्त था, बुद्धि तेज थी, अङ्ग-प्रत्यङ्ग सब सुगठित थे। माता-पिता ने उनकी शिक्षा की उत्तम व्यवस्था की। वे एक उत्तम विद्यार्थी की तरह विद्याध्ययन में प्रगति करने लगे।

खेतुरी में कृष्णदास नाम के महाप्रभु के भक्त रहते थे। नरोत्तम उनके पास जाया करते और उनसे महाप्रभु की लीला-कथा बड़े प्रेम से सुना करते। सुनते-सुनते भाव-विभोर हो जाते, घण्टों निश्चेष्ट बैठे रहते। खाना-पीना तक भूल जाते। उन्हें महाप्रभु की कथा के सिवा और कुछ अच्छा ही न लगता। वे दिन-रात महाप्रभु के दर्शन का स्वप्न देखा करते।

महाप्रभु के अंतर्धान का संवाद

हठात् एक दिन उन्हें महाप्रभु के अंतर्धान होने का संवाद मिला। वे मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। होश आने पर कृष्णदास ने उन्हें समझाया कि महाप्रभु कहीं गये नहीं हैं। वे अंतर्धान होने के पश्चात् वृन्दावन में कहीं छिप गये हैं। उनके पार्षद जगदानन्द, वक्तेश्वर, काशीश्वर,

गोविन्द, रघुनाथदास आदि भी गौरशून्य नीलाचल को छोड़ वृन्दावन चले गये हैं। तब नरोत्तम वृन्दावन जाने का स्वप्न देखने लगे।

नरोत्तम ने कृष्णदास से सुना था कि महाप्रभु वृन्दावन जाते समय लाखों लोगों के साथ नृत्य करते पद्मा के पार दूसरे तट पर आये थे। वे पद्मा के तट पर जाते और उसके उस पार ताकते रहते। ताकते–ताकते भाव–विह्वल अवस्था में देखते कि जैसे महाप्रभु लाखों मनुष्यों के साथ 'हरिबोल' बोलते हुए नृत्य कर रहे हैं। यह देख वे आनन्द–मग्न हो जाते। पर आवेश भंग होने पर महाप्रभु को पुकार–पुकार रूदन करने लगते।

आकस्मिक परिवर्तन

एक दिन राजकुमार पद्मा नदी में स्नान करने गये और नहीं लौटे। माता–पिता बहुत–से लोगों को साथ ले उन्हें खोजने निकले। पद्मा के तट पर गये तो राजकुमार उन्हें नहीं दीखे। उन्होंने देखा कि गौर वर्ण का एक बालक नृत्य कर रहा है। और वहाँ कोई नहीं है।

माँ को शंका हुई कि शायद नरु स्नान करते समय पद्मा में डूब गया। वे 'नरु, नरु' पुकार कर उच्च स्वर से रोने लगीं। यह सुन नृत्य करते बालक का आवेश भंग हो गया। वह दौड़कर माँ के पास आया और बोला–'माँ, तुम रो क्यों रही हो? यही तो मैं हूँ।'

नरु पहले श्याम वर्ण के थे। अब उनका गौर वर्ण हो गया था। मन में भाव–तरंग उठने के कारण उनकी आकृति भी बदल गयी थी। इसलिये कोई उन्हें पहचान नहीं सका था। अब माँ ने उन्हें पहचानकर गोद में लिया और बार–बार मुख चूमकर प्रेमाश्रुओं से अभिषिक्त किया। पर नरु फिर विह्वल हो उच्च स्वर से रूदन करने लगे।

माँ ने बार–बार उन्हें छाती से लगा रोने का कारण पूछा। पर वे न रोना बन्द कर सके, न उत्तर दे सके। तब माता–पिता उन्हें घर ले गये। वहाँ कुछ शान्त होने पर उन्होंने कहा–'आज प्रातः मेरी अवस्था कुछ अचेत जैसी थी। उसी अवस्था में मैं पद्मा में स्नान करने गया। स्नान करते समय मैंने देखा कि गौर वर्ण का एक परम सुन्दर बालक नृत्य करते–करते मेरे निकट आया और मुझे आलिंगन कर मेरे भीतर प्रवेश कर गया। उसके भीतर प्रवेश करते ही मैं नृत्य करने लगा और आनन्दातिरेक के कारण रोने लगा। उसके बाद क्या हुआ, मुझे पता नहीं। तुम्हारा रोना सुनकर मैं सचेत हुआ। मैं उसी गौर–वर्ण बालक को हृदय में बार–बार देखता हूँ। देखते ही आनन्द में डूब जाता हूँ। जब वह अदृश्य हो जाता है, तब रोने लगता हूँ।"

इतना कह नरु फिर करुण स्वर से रूदन करने लगे और कहने लगे–'हाय! कहाँ गये तुम? अब कहाँ जाऊँ? कहाँ जा तुम्हें पाऊँ? तुम जहाँ मिलोगे, वहीं जाऊँगा। घर नहीं रहूँगा।"

परिवर्तन का रहस्य

राजकुमार नरोत्तम के इस परिवर्तन का एक रहस्य था, जिसका

वर्णन 'प्रेम–विलास' ग्रन्थ में मिलता है। महाप्रभु जब रामकेलि में रूप–सनातन पर कृपा कर नीलाचल लौट रहे थे, उन्होंने खेतुरी ग्राम की ओर देखकर कई बार 'बाप नरोत्तम, बाप नरोत्तम'![1] कह नरोत्तम को पुकारा था। उसी पुकार के आकर्षण से नरोत्तम का जन्म हुआ था। उसी समय महाप्रभु और नित्यानन्द प्रभु ने 'प्रेम–धन' पद्मा नदी के निकट धरोहर के रूप में रख नरोत्तम के जन्म लेने पर उन्हें देने का आदेश दिया था। नरोत्तम के जन्म के उपरान्त एक दिन नित्यानन्द प्रभु ने स्वप्न में उनसे कहा–'तुम कल उषाकाल में पद्मा में स्नान करने अकेले जाना। वहाँ तुम्हें परम धन की प्राप्ति होगी।' नरोत्तम इस आदेश को पाकर ही पद्मा में स्नान करने गये थे और पद्मा ने देह धारण कर उन्हें धरोहर में रखा प्रेम–धन प्रदान किया था। इसीलिये पद्मा में स्नान करते ही वे प्रेमोन्मत्त हो गये थे और उनका सब कुछ बदल गया था।

माता-पिता की चिन्ता

राजकुमार की अवस्था देख राजा कृष्णानन्द और उनकी पत्नी की चिन्ता की सीमा न रही। यद्यपि पहले की अपेक्षा उसका सौन्दर्य और तेज बढ़ गया था और उसमें शारीरिक पीड़ा या उन्माद का कोई चिन्ह नहीं था, फिर भी उसके क्रन्दन का अन्त नहीं था। वह कभी रोता, कभी हँसता, कभी मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ता। पूछने पर कहता कि एक समवयस्क बालक उसके हृदय में प्रविष्ट हो गया है। वही उसे हँसाता, रुलाता और विह्वल करता है।

इससे माता–पिता को शंका हुई कि पद्मावती के तीर पर निर्जन स्थान में कोई अपदेवता उसके भीतर प्रवेश कर गया है। उन्होंने दूर–दूर से नामी ओझाओं को बुलाकर उससे छुटकारा दिलाने की चेष्टा की। पर कोई फल न हुआ। नरु ने कहा–'माँ, मैं जानता हूँ मेरे रोग की क्या औषधि है। तुम मुझे वृन्दावन जाने दो। वहाँ जाकर ठीक हो जाऊँगा। नहीं जाने दोगी, तो मर जाऊँगा।' पर माँ इसका उल्टा ही सोचती। वे सोचतीं कि वह वृन्दावन जायगा तो जीवित लौटकर नहीं आयेगा; क्योंकि उस समय सुदूर वृन्दावन जाना एक सुकोमल राजकुमार के लिये निरापद नहीं था।

राजकुमार छिपकर वृन्दावन न भाग जाये, इसके लिये माता–पिता ने उस पर सदा दृष्टि रखने के लिये राज–कर्मचारियों को आज्ञा दी। राजकुमार ने सोचा कि उसने वृन्दावन जाने की बात माता–पिता से कहकर गलती की। वे रघुनाथदास गोस्वामी की तरह माता–पिता को भुलावे में डालने के लिए बड़े प्रयत्न से अपने भाव को दबाकर पढ़ने–लिखने और राज्य के काम–काज में रुचि लेने लगे। माता–पिता को लगा कि नरु अब स्वस्थ हो गया है।

---

१. बंगला में छोटों को स्नेहवश 'बाप' कहते हैं।

पलायन

राजा कृष्णानन्द को एक मुसलमान जागीरदार को कर देना पड़ता था। जागीरदार ने सुना कि कृष्णानन्द का पुत्र बहुत रूपवान और बुद्धिमान है। उसके मन में उसे देखने की साध जागी। उसने उसे लिवा लाने के लिये घुड़सवार भेजे। कृष्णानन्द ने उसे भेजने में कोई आपत्ति नहीं की। अपने बहुत से लोगों के साथ उन्होंने राजकुमार को भेज दिया। राजकुमार ने चलते समय मन–ही–मन माता–पिता को सदा के लिये प्रणाम किया। कुछ दूर जाकर सब लोगों को चकमा दे वे वृन्दावन भाग गये।

जैसे ही खेतुरी में यह संवाद पहुँचा माँ पछाड़ खाकर गिर पड़ीं। कृष्णानन्द ने सैकड़ों सैनिकों को राजकुमार को खोजने के लिये चारों ओर भेज दिया।

सोलह वर्षीय राजकुमार नरोत्तम वृन्दावन के पथ पर द्रुतगति से चले जा रहे थे। मार्ग में दो–दो, तीन–तीन दिन उपवास करना पड़ता था, रात्रि में वृक्ष तले सोना पड़ता था, तो भी वृन्दावन का आकर्षण उन्हें खींचे लिये जा रहा था, ऐसे जैसे मार्ग के किसी भी कष्ट का उन्हें बोध ही नहीं हो रहा हो। वे अकेले जा रहे थे, पर अकेले होते हुए भी अकेले नहीं थे। महाप्रभु और नित्यानन्द प्रभु उनके साथ थे और स्वप्न में उन्हें दर्शन देकर आश्वस्त करते रहते थे।

पिता के भेजे सैनिकों की एक टोली ने एक स्थान पर उन्हें जा पकड़ा। बहुत अनुरोध किया उनसे घर चलने का। पर उनका सारा अनुरोध विफल रहा। राजकुमार ने उनकी एक न सुनी। अन्त में हारकर वे वापस चले गये। पर रुपये–पैसे के साथ एक आदमी छोड़ गये, जो राजकुमार के पीछे हो लिया।

राजकुमार चलते–चलते मार्ग में काशी और प्रयाग में उन स्थानों के दर्शन करते हुए, जिन्हें महाप्रभु ने पवित्र किया था, मथुरा पहुँचे।

वृन्दावन आगमन

मथुरा पहुँचते–पहुँचते वे बहुत थक गये थे। दुर्बल भी बहुत हो गये थे। इसलिये विश्रामघाट पर विश्राम करने लगे। विश्राम करते–करते सो गये। थोड़ी देर में 'राजकुमार नरोत्तम, राजकुमार नरोत्तम!' की पुकार सुन वे जाग पड़े। देखा कि श्रीजीव गोस्वामी के भेजे हुए आदमी उन्हें खोज रहे हैं। जीव गोस्वामी को स्वप्न में राजकुमार के आने का पहले ही पता चल गया था। इसलिये उन्होंने उन्हें लिवा लाने के लिए आदमी भेजे थे।

राजकुमार नरोत्तम वृन्दावन जाकर श्रीजीव के आश्रय में रहने लगे। वे मृतवत् क्षीण हो गये थे। इसलिये श्रीजीव ने कुछ दिन उन्हें अपने पास रख यत्नपूर्वक उनका पालन किया। स्वस्थ हो जाने पर उन्हें साधु–दर्शन के लिए भेज दिया। नरोत्तम ने व्रज के विभिन्न स्थानों में

जा–जाकर श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के सैकड़ों भक्तों के दर्शन किये। वे सभी परम वैराग्यवान्, गौर–प्रेम में उन्मत्त और जगत् को पावन करने वाले थे। नरोत्तम उनके दर्शन कर धन्य हुए।

लोकनाथ गोस्वामी को आत्म–समर्पण

नरोत्तम ने लोकनाथ गोस्वामी के भी दर्शन किये और उनके दर्शन करते ही उनके हाथ बिक गये। मन–ही–मन उन्हें आत्म–समर्पण कर और गुरु–रूप में अपने हृदय–सिंहासन पर सदा के लिये विराजमान कर निश्चिन्त हो गये।

कुछ ही समय पश्चात् उन्हें पता चला कि लोकनाथ गोस्वामी ने किसी को दीक्षा न देने का व्रत ले रखा है और सारी उम्र इस व्रत का पालन करते आये हैं। तब वे बड़े धर्म संकट में पड़ गये। उनकी अवस्था वैसी ही हो गयी, जैसी उस नारीकी, जो मन–ही–मन किसी को रूप में वरण कर ले और पीछे पता चले कि जिसे उसने अपना तन–मन सौंप दिया है, उसने सारा जीवन ब्रह्मचर्य पालन करने का व्रत ले रखा है।

नरोत्तमका अब किसी और को गुरु करने का तो प्रश्न था नहीं। उन्होंने यथासम्भव लोकनाथ की सेवा में संलग्न रहकर जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया। पर उनकी सेवा करना क्या सम्भव था ? वे किसी से किसी प्रकार की सेवा ग्रहण ही नहीं करते थे। सेवा ग्रहण करना तो दूर वे किसी से बात तक नहीं करने थे। हर समय भजन में लीन रहते थे। यदि कोई कुछ सेवा करना चाहता था, तो उसे अस्वीकार कर देते थे।

पर नरोत्तम अब उनकी सेवा बिना रह ही नहीं सकते थे। उन्होंने उनकी कुटिया से कुछ अपनी भी एक झोंपड़ी डाल ली। उसमें रहकर वे भजन करते और बीच–बीच में लोकनाथ गोस्वामी की कुटी की परिक्रमा करते हुए उन्हें हरिनाम–कीर्तन सुनाते। उनके अंग–रक्षक की तरह उनके निकट रहकर उनकी इस प्रकार देख–भाल करते, जिससे उनके भजन में किसी प्रकार का विघ्न न हो। पर इतने से तो उनकी तृप्ति होनी थी नहीं। वे अलक्षित रूप से उनकी और भी कुछ सेवा करने की सोचने लगे। हम लोकनाथ गोस्वामी के चरित्र में पहले कह आये हैं कि किस प्रकार उन्होंने उनके मेहतर की सेवा करना आरम्भ किया है। वे नित्य रात्रि के चार दण्ड रहते उनके शौच के स्थान को भली प्रकार झाड़ू से परिष्कार कर उसके निकट हाथ धोने के लिये जल और छनी हुई मिट्टी रख देते और दूर एक पेड़ के पीछे छिपकर खड़े हो जाते। जब वे शौच कर चले जाते तो एक ठीकरे से मल फेंक कर फिर उस स्थान को साफ कर देते।

लोकनाथ समझ न पाते कि उनकी यह घृणित सेवा कौन कर जाता है। साल भर यह सेवा नियमित रूप से चलती रही। एक दिन लोकनाथ ने विशेष यत्न कर नरोत्तम को पकड़ लिया। उन्होंने कहा– 'नरोत्तम तुम ! राजा के लड़के होकर यह कार्य ! यह मैं तुम्हें नहीं करने दूँगा।

कल से यहाँ न आना।'

नरोत्तम ने सिर नीचा कर मन्द स्वर में उत्तर दिया–'मैं गुरु–सेवा के रूप में यह सेवा कर रहा हूँ, गुरुदेव ! मैंने आपको गुरु रूप में वरण किया है।'

'गुरु–सेवा' सुन लोकनाथ चौंक पड़े। उन्होंने गरजकर कहा–'कैसा गुरु ? मैं किसी को शिष्य नहीं बनाता। मैंने दीक्षा न देने का व्रत लिया है। दीक्षा तुम किसी और–से लेना।'

'पर मैं तन–मन आपको समर्पण कर चुका हूँ। समर्पित वस्तु दूसरे को कैसे समर्पित करूँ, गुरुदेव ? यदि आप कृपा न करेंगे तो मैं कहीं का भी न रहूँगा।' नरोत्तम ने आँसू टपकाते हुए विनम्रतापूर्वक फिर कहा।

लोकनाथ हृदय कुछ द्रवित हुआ। पर उन्होंने कहा–'तुम्हें गुरु करने की आवश्यकता ही क्या ? जगत्–गुरु श्रीचैतन्य ने स्वयं तुम्हारे भीतर प्रवेश किया है। श्रीचैतन्य प्रेमरूप हैं। प्रेम के लिये ही सब भजन करते हैं। जब साध्य वस्तु प्रेम तुम्हारे हृदय में है, तो गुरु का क्या प्रयोजन?'

'इस प्रकार वंचना न करें गुरुदेव ! मैं अति दीन हूँ। मेरा और कोई सम्बल नहीं है। मेरी दीन दशा देख कृपा करें।' नरोत्तम ने अत्यन्त कातर स्वर में हाथ जोड़कर निवेदन किया।

पर लोकनाथ टस–से–मस न हुए। उन्होंने कहा–'नरोत्तम तुम कातर वचनों से मुझे व्यथित न करो। मैं तुम्हारे गुणों से मुग्ध हूँ। पर अपने संकल्प के कारण तुम्हारी बात न मानने को विवश हूँ। अब मुझसे इस सम्बन्ध में कुछ न कहना।'

नरोत्तम 'जो आज्ञा' कह वहीं खड़े रहे। लोकनाथ शौचको गये। जब वे शौच से लौटकर आये नरोत्तम थोड़ी मिट्टी लेकर डरते–डरते सामने आकर खड़े हो गये। लोकनाथ ने मिट्टी ले ली। इससे नरोत्तम कुछ सन्तुष्ट हुए। लोकनाथ अपनी कुटी को जाने लगे तो वे भी उन्हें दण्डवत् कर अपनी कुटी को लौट आये।

उस दिन दिनभर और रातभर लोकनाथ गोस्वामी के कान में नरोत्तम के कातर स्वर गूँजते रहे। भजन में वे मनोनिवेश न कर सके। उन्हें लगा कि महाप्रभु उन्हें अपना संकल्प भंग करने के लिये विवश कर रहे हैं।

दूसरे दिन जब नरोत्तम लोकनाथ की कुटिया की परिक्रमा कर लौट रहे थे, उन्होंने उन्हें बुला लिया। पास बैठाकर कहा–'वत्स, तुम बड़े भाग्यशाली हो। कृष्ण ने तुम्हारे ऊपर कृपा की है। मैं तुम्हारे संकल्प के आगे अपना संकल्प भंग करने को बाध्य हूँ। आगामी श्रावणी पूर्णिमा को तुम्हें दीक्षा दूँगा। तुम मेरे आदि और अन्तिम शिष्य हो। तुम्हारे समान शिष्य जगत् में दुर्लभ है। मैं तुम्हें प्राप्त कर धन्य हूँ।'

नरोत्तमका हृदय–कमल सहसा आनन्द से खिल गया। आनन्दाश्रु

उनके नेत्रों से बहने लगे। आत्महारा हो वे लोकनाथ गोस्वामी के चरणों में लौट गये। लोकनाथ गोस्वामी ने उन्हें उठाकर आलिंगन किया और अपने प्रेमश्रुओं से अभिषिक्त किया। गुरु और शिष्य दोनों एक अनिर्वचनीय भावतरंग में बह गये।

सिद्धि लाभ

गुरु–दीक्षा के पश्चात् प्रारम्भ हुई नरोत्तम की गुरु–प्रणालिका के अनुसार अन्तरंग 'साधना। गुरुकृपा से कुछ ही दिनों में सिद्ध लाभ कर वे धन्य हुए। श्रीजीव गोस्वामी ने उन्हें सब प्रकार से उपयुक्त जान 'ठाकुर' की उपाधि दी। राजकुमार नरोत्तम अब 'नरोत्तम ठाकुर' या 'ठाकुर महाशय' कहलाने लगे।

प्रचारार्थ गौड़-गमन

नरोत्तम ठाकुर जबसे वृन्दावन आये थे उनके दो मुख्य कार्य थे–अलक्षित रूप से श्रीलोकनाथ गोस्वामी की सेवा और श्रीजीव गोस्वामी से शास्त्रअध्ययन। इसी समय श्रीश्रीनिवासाचार्य और श्रीश्यामानन्द भी श्रीजीव से शास्त्र–शिक्षा ग्रहण करते थे। श्रीजीव गोस्वामी इन्हें तीनों को वृन्दावन के गोस्वामियों द्वारा रचित राशि–राशि भक्ति–ग्रन्थों का पूर्व भारत में प्रचार करने के लिये तैयार कर रहे थे।

तीनों की शिक्षा समाप्त होने पर एक दिन जीव गोस्वामी ने लोकनाथ गोस्वामी के समक्ष नरोत्तम ठाकुर को श्रीनिवासाचार्य और श्यामानन्द के साथ प्रचार के हेतु गोड़मण्डल भेजने का प्रस्ताव रखा।

लोकनाथ गोस्वामी की अवस्था इस समय लगभग सौ वर्ष की हो गयी थी। वे अपना बहुत–सा कार्य स्वयं करते थे, तो भी उन्हें नरोत्तम ठाकुर जैसे एक सेवापरायण शिष्य की आवश्यकता थी। नरोत्तम ग्रीष्मकाल में उनकी पूजा और ध्यान के समय उन्हें पंखा करते थे, शीतकाल में तापने को अंगाठी तैयार कर उनके पास रख देते थे, पूजा केलिये पुष्प चयन कर देते थे, जल ला देते थे, शौचसे लौटनेपर उनका कौपीन धो देते थे, उनकी चरणसेवा कर देते थे।

पर जीवगोस्वामी ने जब यह प्रस्ताब रखा, उन्होंने कहा–"यह तो बड़ी अच्छी बात है। मेरी पूर्ण अनुमति है कि नरोत्तम भक्ति का प्रचार कर जीवों के कल्याण का पथ प्रशस्त करे।"

नरोत्तम ठाकुर की इच्छा थी कि वे वृन्दावन में रहकर ही गुरुदेवकी सेवा करें। पर श्रीजीव और श्रीगुरुदेवकी आज्ञा शिरोचार्य कर वे श्रीनिवासाचार्य और श्रीश्यामानन्द के साथ गौड़–मण्डल जाने को प्रस्तुत हुए। जाते समय उन्होंने रुँधे कण्ठ से गुरुदेव से कहा–"प्रभु, आज्ञा हो तो दास गौड़ देश से आकर कभी–कभी आपके चरण–दर्शन कर जाया करे।"

"ना वत्स", लोकनाथ गोस्वामी ने तुरन्त कहा "अब तुम्हें महाप्रभु के प्रेम–धर्म के प्रचार में ही निरन्तर संलग्न रहकर जीवन सफल करना

है। मेरे पास आने की आवश्यकता नहीं। यही मेरा अन्तिम दर्शन है।"

नरोत्तम मूर्च्छित हो भूमिपर गिर पड़े। स्वस्थ होने पर उन्होंने गुरुदेव से उनकी चरण–पादुका मांगी और उसे हृदय से लगा श्रीनिवास और श्यामानन्द के साथ ग्रंथों के चार बड़े सन्दूक दो बैलगाड़ियोंपर लेकर चल दिये प्रेम–धर्म के प्रचार के लिये।

मार्ग में बन विष्णुपुर पड़ता था। उस समय एक स्वाधीन राजा की राजधानी था। यहाँ का मल्लवंशी राजपूत राजा वीरहाम्वीर बड़ा प्रतापशाली था। उसके राज्य में बड़ी सुव्यवस्था थी।[1] राजा धर्मपरायण भी था, पर राज्य के बाहर लूट–पाट किया करता था। हम श्रीनिवासाचार्य प्रभु के चरित्र में वर्णन कर आये हैं किस प्रकार एक दिन रातको जब वे और उनके साथी गोपालपुर के निकट एक स्थान में पहुँचे राजा वीरहाम्वीरके भेजे सशस्त्र डाकू ग्रन्थों के सन्दूकों को धन से भरा समझ बैलगाड़ियों को हाँककर ले गये। ग्रन्थों के इस प्रकार लुट जाने के कारण श्रीनिवासाचार्य बहुत मर्माहत हुए। उन्होंने सोचा क़ि डाकू जब सन्दूकों में ग्रन्थ देखेंगे तो उन्हें लौटा देने में आपत्ति न करेंगे। इसलिये वे उन डाकुओं की खोज करने के उद्देश्य से वहीं रह गये और नरोत्तम ठाकुर तथा श्यामानन्द की गौड़मण्डल भेज दिया।

नरोत्तम श्रीनिवासाचार्यप्रभुकी गुरुवत् भक्ति करते थे। उन्हें छोड़कर जाना उनके लिये संभव नहीं था। पर उनकी आज्ञा का उल्लंघन भी वे नहीं कर सकते थे। उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर वे रोते–रोते श्यामानन्द के साथ देश की ओर चल पड़े।

खेतुरी प्रत्यागमन

नरोत्तम ठाकुर के माता–पिता पुत्र–वियोग के कारण मृतवत् हो गये थे। न जाने इतने दिनों से वे कैसे जीवन धारण कर रहे थे। उन्हें अपने लाड़ले पुत्रका मुख देखने का इस जीवन में फिर अवसर मिलेगा, इसकी उन्हें बिल्कुल आशा नहीं थी। उस दिन हठात् कर्मचारियों ने आकर संवाद दिया कि राजकुमार बाहर खड़े हैं।

"क्या सचमुच राजकुमार आये हैं ?" दोनों ने हड़बड़ाते हुए पूछा।

"जो, राजकुमार और उनके एक साथी। दोनों बाहर खड़े हैं। वे भीतर नहीं आना चाहते," कर्मचारियों ने उत्तर दिया।

और विलम्ब किये बिना राजा कृष्णानन्द और रानी भागकर दरबाजे पर गये, राजकुमार को देख उनके हर्ष की सीमा न रही। पर

---

१. महात्मा शिशिरकुमार घोष ने 'नरोत्तम–चरित' में एक फ्रांसीसी पर्यटक के लेख के आधार पर विष्णुपुर के बारे में लिखा है–"इस प्रकार का सुशासित देश उस समय भूमण्डल में नहीं था। राजा लोग भी बड़े क्षमताशील थे। मुसलमान उनके देश में प्रवेश न कर सके। राजाओं के पास बड़ी–बड़ी तोपें थीं। उनमें से आज भी एक वहाँ विद्यमान है। लोग कहते हैं कि इस प्रकार की बड़ी तोप संसारमें और कहीं नहीं है," –श्रीनरोत्तम–चरित पृ० ३२,

विषाद ने भी उसी समय उन्हें आ घेरा। राजकुमार कौपीन धारण किये थे और उत्तरीय। हाथ में थी हरनाम की माला और कुछ नहीं। मार्ग के श्रम और उपवास के कारण उनका मुख मलिन और शरीर शुष्क हो रहा था।

राजा कृष्णानन्द और उनकी रानी से उनका यह रूप न देखा गया। वे रो पड़े। नरोत्तम ठाकुर ने उनके चरणों में प्रणाम किया और मृदु वाक्यों से उन्हें शान्त करने का प्रयत्न किया।

विद्युतकी–सी द्रुत गति से खेतरी में चारों ओर राजकुमार के आने की खबर फैल गयी। लोगों की भीड़ उन्हें देखने को उमड़ पड़ी। पर किसी से राजा और रानी का रोना न देखा गया।

किसी प्रकार राजा कृष्णानन्द ने अपनेको सम्हाल कर राजकुमार से भीतर चलने का अनुरोध किया। राजकुमार ने रोते–रोते कहा–"पिताजी, मैंने गुरुको आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने और विषयों से दूर रहने का वचन दिया है। इसलिये क्षमा करें। मैं आपके संसार में प्रवेश नहीं करूँगा। मेरा यहाँ राजधानी में रहना भी उचित नहीं। पर गुरु की आज्ञा और आप लोगों का स्नेह मुझे यहाँ ले आया है। मैं यहाँ ठाकुरबाड़ी में रहरकर भजन करूँगा। संध्या समय एक बार आकर आपको प्रणाम कर जाया करूँगा। आप ऐसी कृपा करें, जिससे गुरु को दिये अपने वचनों को आखीर तक निभा सकूँ।"

राजा कृष्णानन्द का और कुछ कहने का साहस न हुआ। उन्हें और रानी को यह सोचकर संतोष करना पड़ा कि उनका नरु उनके पास ही रहेगा और नित्य एक बार उनसे मिल जाया करेगा।

नरोत्तम ठाकुर बाड़ी में जाकर रहने लगे। वेस्वयं पाक करके एक बार आहार करते, त्रिसन्ध्या स्नान करते और दिन–रात भजन करते। दिन समाप्त होनेपर एक बार माता–पिता के पास होआते।

कुछ दिन बाद उन्हें श्रीश्यामानन्द के सम्बन्ध में श्रीजीवगोस्वामी की आज्ञा का स्मरण हो आया। उन्होंने दो आदमियों के साथ उन्हें उड़ीसा भेजने का प्रबन्ध कर दिया। श्रीनिवासाचार्य तो उनसे पहले ही विछुड़ चुके थे। आज अपने जीवन–साथी श्यामानन्द से भी विछुड़ते हुए, उन्हें बहुत दुःख हुआ। वे पद्मा नदीतक उन्हें पहुँचाने गये। श्यामानन्द नौकापर आरूढ़ हुए। नरोत्तम ठाकुर तीर पर खड़े देखते और आँसू बहाते रहे।

ठाकुर महाशय को ग्रन्थों की याद बराबर सताया करती। वे इस कारण बहुत चिंतित रहते। एक दिन आचार्य प्रभु का पत्र लेकर दो आदमी आये। ग्रन्थों के मिल जाने और राजा वीर हाम्वीर का उनका शिष्यत्व ग्रहण करने का संवाद पढ़ उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने इस उपलक्ष्य में पिताजी से राज्य में उत्सव मनाने की इच्छा प्रकट की। पिता ने सुनते ही राज्य में पाँच दिन तक आनन्दोत्सव मनाने का प्रबन्ध किया।

नवद्वीप गमन

ठाकुर महाशय ने श्रीगौरांग महाप्रभु की लीला–कथाएं सुनी थीं। उन्हें सुन वे उनके दर्शन के लिए व्याकुल और व्यग्र हो उठे थे। तभी उनके अन्तर्धान का संवाद प्राप्त कर वे बज्राहत हुए थे। तभी से उनका अदर्शन उनके प्राण को शूल की तरह भेदता रहा था। उनके हृदय में आकांक्षा जागी, उनकी लीला–स्थलियों का दर्शन कर मन–प्राण का कुछ शीतल करने की। माता–पिता से आज्ञा ले वे नवद्वीप की यात्रा पर चल दिये।

द्रुतगति से चलते हुए वे जैसे नगर के निकट पहुँचे, उनके पैर सहसा अचल हो गये। वे एक भाव समाधि में डूब गये। सोचने लगे–मैं कहाँ जा रहा हूँ ? क्यों जा रहा हूँ ? नदिया क्या अब वही नदिया है, जहाँ गौर–सुन्दर पार्षदों सहित नृत्य–कीर्तन किया करते थे ? वहाँ तो अब मधुर–कीर्तन–ध्वनि की जगह भक्तों का करुण क्रन्दन ही सुनाई पड़ता होगा। जहाँ पहले प्रेम की बाढ़ आयी रहती थी, वहाँ अब विरहाग्नि चारों ओर सुलग रही होगी। मैं उस सुलगत, धधकती नगरी में प्रवेश करके क्या करूँगा ?

पर उनके पैर पीछे को भी नहीं मुड़ रहे थे। थोड़ा साहस बटोरकर वे जैसे ही आगे बढ़े उन्होंने एक परम तपस्वी और तेजस्वी वैष्णव साधुको देख उससे महाप्रभु के घर का रास्ता पूछा। साधु उनके तेजःपूर्ण कलेवर और भाव–भंगिमा को देख समझ गया कि यह कोई विशेष गौर–अनुरक्त प्रेमीभक्त हैं। कौतुहल वश उसने पूछा–"तुम कौन हो बापू ?"

"मैं खेतरी ग्राम का निवासी हूँ" नरोत्तम ठाकुर ने उत्तर दिया। उस समय आचार्यप्रभु, नरोत्तम ठाकुर महाशय और श्यामानन्द के नाम का प्रचार सारे गौड़ देश में हो रहा था। ग्रन्थों की चोरी और उनकी प्राप्ति की कहानी भी सबने सुनी थी। नरोत्तमका नाम सुनते ही साधु ने उन्हें प्रेम से आलिंगन करते हुए कहा–"मैं अभागा शुक्लाम्बर हूँ। प्रभु के पार्षदों में मैं और दो–एक कंगाल वैष्णव ही उनके विरहका दुःख झेलते हुए अब तक जी रहे हैं।" यह कहते ही अंसुओं की धार उनके नेत्रों से बह चली। नरोत्तम ठाकुर का भी अश्रु–प्रपात आरम्भ हुआ, जो उनके नदिया–भ्रमण के अन्त तक उमड़–घुमड़कर बराबर बहता रहा।

शुक्लाम्बर नरोत्तम ठाकुर को, महाप्रभु के घर मायापुर ले गये। काँपते–काँपते घर के भीतर प्रवेश करते ही नरोत्तम ठाकुर 'हा गौरांग !' कह आंगन में गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये।

वहाँ दामोदर पंडित और ईशान थे। दामोदर पंडित महाप्रभु के प्रिय भक्त और विष्णुप्रिया देवी के अभिभावक थे। ईशान महाप्रभु की माँ शचीदेवी के सेवक थे। उनके पश्चात् वे विष्णुप्रियादेवी की सेवा करते थे।

विष्णुप्रिया के गोलोकवास के पश्चात् दोनों पागल जैसे हो गये थे। महाप्रभु के शून्य घर में अब उन दोनों के सिवा और कोई नहीं था। शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी से नरोत्तम ठाकुर का परिचय प्राप्त कर दोनों ने उन्हें प्रकृतिस्थ करने की चेष्टा की। उन्हें बाह्य ज्ञान होने पर कहा–"नरोत्तम, हमारा दुःख देखो और उसे देख अपना दुःख हलका करो। हमें महाप्रभु का यह घर व्याघ्र जैसा लगता है। फिर भी हम इसी में पड़े हैं। बताओं हम क्या करें, कहाँ जायें?"

दामोदर पंडित तब ठाकुर महाशय को महाप्रभु के घर के सब कक्ष और उनके द्वारा व्यवहार की गयी, वस्तुओं को दिखाने ले गये। दिखाते हुए बोले–"देखो, यह महाप्रभु की ठाकुरवाड़ी है, यह शचीमाता का शयन गृह है, यह प्रभु का शयनगृह है, यह उनकी शय्या है, यह अभी तक उठायी नहीं गयी है, प्रभु जिस अवस्था में इसे छोड़ गये थे, उसी अवस्था में है; यह प्रभु का पटवस्त्र है, यह उनका जल–पात्र है, यह उनके नूपुर हैं, यह उनकी चरणपादुका है, जिसकी विष्णुप्रिया सेवा करती थीं।

तब बाहर निकलकर ठाकुर महाशय ने महाप्रभु के सब लीला–स्थल देखे, जहाँ वे शैशव में क्रीड़ा करते, जहाँ उठते, जहाँ बैठते, जहाँ घूमते–फिरते, जहाँ कीर्तन करते, जहाँ पार्षदों के साथ बैठकर इष्टगोष्ठी करते।

नरोत्तम ठाकुर महाशय जितने दिन नवद्वीप में प्रभु के घर रहे, वे रात में महाप्रभु की लीला के स्वप्त देखते, दिनमें दामोदर और ईशान से उनकी लीला–कथा श्रवण करते, हर समय भाव में विह्वल रहते।

कुछ दिन बाद महाप्रभु के मन्दिर को प्रणाम कर वे शान्तिपुर गये। शान्तिपुर में अद्वैत प्रभुका स्थान देखा। फिर अम्बिका गये। वहाँ श्यामानन्द के गुरु हृदय चैतन्य के घर जाकर गौर–निताइ विग्रह के दर्शन किये।

वहाँ से खड़दह गये। उस समय नित्यानन्द प्रभुका अन्तर्धान हो चुका था। माँ जान्हवा और वीरभद्र प्रभु ने उनका स्वागत किया। कई दिन अपने पास रखकर नीलाचल जाने की अनुमति दी।

नीलाचल में

जिस मार्ग से महाप्रभु नीलाचल गये थे, उसी मार्ग से नरोत्तम ठाकुर भी नीलाचल गये। नीलाचल पहुँचकर वे पहले गोपीनाथाचार्य के घर गये। प्रभु के नवद्वीप–विहार के संगी उस समय नीलाचल में मात्र वे ही थे। गोपीनाथ आचार्य ने उन्हें पहले जगन्नाथजी के दर्शन कराये, तब श्रीगौरांग महाप्रभु के वास–स्थान काशी मिश्र के घर ले गये। वहाँ जाते ही ठाकुर महाशय मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। स्वस्थ होने पर गोपीनाथ उन्हें वह कुटी दिखाने ले गये, जिसमें महाप्रभु अठारह वर्ष रहे थे। उन्होंने कहा–"देखे, वह आसन है, जिस पर बैठकर प्रभु संख्या–माला जप करते थे, यह वह प्रस्तर है, जिसपर प्रभु शयन करते थे, यह वह

कदलीपत्रकी शय्या है, जो उनके लिये बनायी गयी थी, यह उनका जीर्ण कन्था है, यह उनकी पादुका है।"

नरोत्तम ठाकुर ने अजस्र अश्रु बहाते हुए एक-एक वस्तु को दण्डवत् प्रणाम किया और उसे स्पर्श कर महाप्रभु के स्पर्शका अनुभव किया। हृदय का संताप दूर करने के लियें वे उस पवित्र भूमि में लोटे-पोटे और वहाँ की रजको सिरपर धारण किया।

इसके पश्चात् बाहरं जाकर कुछ दूर पर उन्होंने उस कुटी को देखा, जिसमें स्वरूप दामोदर रहते थे। प्रभु के वियोग में स्वरूप दामोदर का हृदय फट गया था और प्राण-पखेरू उड़ गये थे। वहाँ भी लोट-पोट कर उन्होंने अपने हृदय की दारुण व्यथा को कुछ हलका किया।

महाप्रभु के निवास-स्थान के दूसरी ओर ठाकुर हरिदासकी कुटी थी। उस कुटी के सामने हरिदास के मृत देह को लेकर महाप्रभु ने नृत्य किया था। उसके भी ठाकुर महाशय ने प्रभु की भक्तवत्सलताकी याद में भाव-विह्वल हो दर्शन किये।

जिस स्थान पर खड़े होकर महाप्रभु जगन्नाथ दर्शन करते थे वहाँ उनके चरण-चिन्ह थे। उसी के पास गरुड़-स्तम्भ पर उनका कर-चिन्ह था। फर्श पर एक गर्त था, जो दर्शन करते समय उनके आनन्दाश्रुओं से भर जाता था। इनके भी उन्होंने दर्शन किये।

गदाधर पंडित के उस स्थान के भी उन्होंने दर्शन किये, जहाँ नित्य अपरान्ह में प्रभु उनसे भागवत सुना करते थे और उस भागवत की पोथी को दण्डवत् की जो गदाधर के अश्रुजल से सिक्त हो गयी थी।

नीलाचलवासी महाप्रभु के मुख्य-मुख्य उन भक्तों से भी उन्होंने भेंट की जो विद्यमान थे। उनमें शिखी माहिती, कानाई खुटिया, मंगराज और रामानन्द के भाई वाणीनाथ प्रधान थे। नीलाचलवासी सभी महाप्रभु के अनन्य भक्त थे। सभी महाप्रभुका नाम लेते ही रो देते थे। ठाकुर महाशय ने देखा कि नीलाचल में महाप्रभुका प्रभाव जगन्नाथ जी से अधिक है। यह स्वाभाविक था, क्योंकि जीव के लिये अचल जगन्नाथ से सचल जगन्नाथ का महत्त्व अधिक है।

नीलाचल से विदा होकर ठाकुर महाशय उड़ीसा के नृसिंहपुर गये, जहाँ श्यामानन्द रहते थे। वहाँ कई दिन तक उनके आगमन की खुशी में आनन्दोत्सव हुआ। उसके पश्चात् श्यामानन्द से विदा ले वे श्रीखण्ड और महाप्रभु के संन्यास-तीर्थ कटवा होते हुए खेतुरी लौट गये।

पुनः खेतुरी में

ठाकुर महाशय का नवयौवन था। पर उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया था। ऐसी अवस्था में लोग समाज से दूर वन में रहते हैं, तभी अपना व्रत साध सकते हैं। पर नरोत्तम समाज के बीच पिता की राजधानी में रहते थे, तो भी विषय उन्हें स्पर्श नहीं करते थे। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती

ने लिखा है कि इस प्रकार विषयों पर विजय केवल गौरांग–भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि उनके लिये इन्द्रियाँ दाँत निकाले हुए सर्प के समान केवल खेलकी वस्तु बन जाती हैं। ठाकुर महाशय दिन–रात भजन करते। विषय वार्ता या ग्राम्य–वार्ता न कहते, न सुनते। वे सब समयजंप करते और ध्यान, या भक्तों के साथ कीर्तन। आहार बहुत सूक्ष्म करते। आहार में केवल भात का माँड़ और तरकारी लेते।

ठाकुर महाशय को कीर्तन बहुत प्रिय था। उनका मधुर कीर्तन सुनने को वैष्णव–अवैष्णव, भक्त–अभक्त सभी लालायित रहते। एक तो उनका कण्ठ मधुर था, दूसरे वे भाव में सदा डूबे रहते। सुर–ताल में भी वे अद्वितीय थे। जब वे अपने मधुर कण्ठ से मधुर सुर में भावाविष्ट हो कीर्तन करते तब पाषाण–हृदय के लोग भी द्रवित हो एक अनिर्वचनीय भाव समुद्र में डूबने और उतराने लगते।

गरानहाटी कीर्तन का आविष्कार

एक दिन, जब वे भाव में विभोर हो कीर्तन कर रहे थे एक नया सुर उनके गले से फूट निकला। उसे सुन लोग जैसा आनन्दोन्मत्त हुए वैसा पहले कभी नहीं हुए थे। वह सुर बहुत ही लोकप्रिय हुआ। दूर–दूर से उसे सुनने लोग आने लगे। देवीदास, बल्लभदास, गौराङ्गदास आदि प्रसिद्ध कीर्तनकार और मृदङ्गवादक उनके साथ आ मिले और इस नये सुर में कीर्तन का प्रचार करने लगे। गरानहाटी परगनाके नाम से, जहाँ इसका आविष्कार हुआ, इसका नाम पड़ा 'गरानहाटी' कीर्तन। आज भी गरानहाटी कीर्तन बंगाल में प्रसिद्ध है।

विग्रहों की स्थापना और महोत्सव

ठाकुर महाशय ने श्रीखण्ड में गौराङ्ग–विष्णुप्रिया के श्रीविग्रह के दर्शन किये थे। तब से उनके मन में उसी प्रकार के युगल–विग्रह की खेतुरी में स्थापना करने की प्रबल वासना थी। उन्होंने बड़े यत्न से अष्ट धातुकी श्रीगौरांग और श्रीविष्णुप्रिया की मूर्तियाँ तैयार करवाई। साथ ही श्रीवल्लभी–कान्तकी एक मूर्ति तैयार करवायी। शुभ मुहूर्त में धूम–धाम से उनकी प्रतिष्ठा की योजना बनायी। राजा कृष्णानन्द ने संकल्प किया कि वे विग्रह–स्थापना के अवसर पर एक ऐसा विराट महोत्सव करेंगे, जैसा पहले कभी कहीं नहीं हुआ था।

श्री श्रीनिवासाचार्यप्रभु के बिना यह उत्सव संभव नहीं था। उस समय आचार्यप्रभु खेतुरी से चार–पाँच कोस बुंधुरी गाँव में आये हुए थे। नरोत्तम ठाकुर उन्हें आमंत्रित करने बुधुरी गये। उनके बुधुरी जाने का संवाद आचार्यप्रभु को पहले ही मिल गया। उन्होंने मार्ग से ही उन्हें लिवा लाने के लिये रामचन्द्र कविराज और व्यासाचार्य को भेज दिया।

दोनों मार्ग में ही ठाकुर महाशय से जा मिले। रामचन्द्र और ठाकुर महाशय की यह प्रथम भेंट थी। रामचन्द्र ठाकुर महाशय के हाथ में हाथ डालकर उन्हें ले जा रहे थे। उन्होंने आचार्यप्रभु से उनके बारे में बहुत

कुछ सुन रखा था। पर उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर उन्हें लग रहा था कि वे न जाने कब के कितना उनके अपने हैं, और लग रहा था कि वे न जाने कितना मधुर हैं, न जाने कितना प्रेमामृत में पगे हुए हैं। उनके नेत्रों से प्रेमकी वृष्टि हो रही थी, हाथ के स्पर्श लग रहा था कि एक अनिर्वचनीय प्रेमकी लहर बिजली की करेंट की तरह उनके भीतर संक्रमित हो रही है। ठाकुर महाशय को भी रामचन्द्र के हाथ के स्पर्श से उसी प्रकार का अनुभव होरहा था। दो प्रेमी भक्तों का मिलन ऐसा ही होता है। नेत्रों के माध्यम से और एक दूसरे के स्पर्श से उनमें जिस वस्तु का आदान–प्रदान होता है, वह वाणी से होना संभव नहीं है। वाणी का वह विषय ही नहीं है। दोनों एक–दूसरे के स्पर्श–सुख का अनुभव करते हुए एक–दूसरे के संग–सुखकी मन ही मन कामना करने लगे।

ठाकुर महाशय का आचार्यप्रभु से मिलन बहुत दिन बाद हुआ। ठाकुर महाशय ने उन्हें प्रणाम किया। आचार्यप्रभु ने उन्हें हृदयसे लगा लिया। दोनों बैठे। शिष्यगण उन्हें घेर कर चारों ओर बैठे। फिर दोनों में प्रेमालाप आरम्भ हुआ, जो सारा दिन और सारी रात चलता रहा। कृष्ण–कथा और गौर–कथाके आवेश में दोनों का देहाध्यास जाता रहा। रामचन्द्र का बीच–बीच में स्नान और आहारादिके लिये कहना भी निष्फल रहा।

दूसरे दिन ठाकुर महाशय ने श्रीविग्रह की प्रतिष्ठा और महोत्सवकी बात कही। आचार्यप्रभु सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा–'तुम व्यासाचार्य को लेकर खेतुरी जाओ। मैं रामचन्द्र को लेकर चार–पाँच दिन बाद आ जाऊँगा।

चार–पाँच दिन बाद आचार्यप्रभु रामचन्द्र, गोविन्द और अन्यान्य शिष्यों को साथ ले खेतुरी पहुँचे। श्यामानन्द भी रसिक मुरारी आदि अपने शिष्यों को लेकर आ गये। सबने महोत्सव का कार्य आपस में बाँट लिया। पर मुख्यरूप से सारा भार आचार्यप्रभु पर रहा।

गौड़ देश के सभी महन्तों और प्रधान–प्रधान भक्तों को निमंत्रण भेजे गये। सबके लिये नये–नये घर बनाये गये। प्रत्येक घर में एक भण्डार की व्यवस्था की गयी, जिससे सामग्री के अभाव के कारण किसी को कष्ट न हो।

श्रीगौरांगकी जन्म–तिथि फाल्गुन को श्रीविग्रहों की स्थापना होनी थी। शुक्ला पंचमी से देश–विदेश से आये तरह–तरह के वाद्य बजाने वाले वादकों द्वारा वाद्य आरम्भ हुआ।

आमन्त्रित लोगों की टोलियाँ की टोलियाँ आने लगीं। घाट पर उनके लिये बहुत–सी नौकाएँ रखी गयीं। उनके आते ही उनकी अगवानी कर रहने को स्थान दिया गया और उनकी देख–भाल के लिये आदमी नियुक्त किये गये।

जान्हवा माता आयीं, बीरभद्रप्रभु आये, उनके साथ बहुत–से भक्त आये। श्रीचैतन्य–भागवत के प्रणेता श्रीवृन्दावनदास ठाकुर आये, पदकर्ता ज्ञानदास और बलराम दास आये। शान्तिपुर से गोपाल प्रभु अपने गण के साथ आये। नवद्वीप से गौरांग–पार्षद श्रीवास के भाई श्रीपति और श्रीनिधि आये। श्रीखण्ड से रघुनन्दन और कनाई ठाकुर आये। श्यामानन्द के गुरु हृदयानन्द बहुत–से शिष्यों को लेकर आये। कटोया से यदुनन्दन और आकाईहाट से कीर्तनकार कृष्णदास आये। वंशीवदन के पुत्र चैतन्यदास, खन्ज भगवान् के पुत्र आचार्य आदि जहाँ–जहाँ, जो–जो महन्त थे सब आये। इस प्रकार सहस्रो महन्त अपने गण सहित आये। पिपीलिकाकी पंक्तियों के समान महन्त वैष्णवों के दल के दल खेतुरी की ओर उमड़ पड़े। सहस्रों लोग जिन्हें निमन्त्रण नहीं था, उत्सव देखने आ गये। निमन्त्रित, अनिमन्त्रित सभी का स्वागत था, सभी के लिये भोजन की व्यवस्था थी।

सैकड़ों कीर्तन–दल 'जय गोरांग', 'जय नित्यानन्द' की ध्वनि के साथ कीर्तन करने लगे। सैकड़ों नये मृदंग, करताल, शंख, घंटों आदिकी ध्वनि के साथ दिन–रात कीर्तन चलने लगा। खेतुरी ग्राम में प्रेम–सिन्धु उमड़ पड़ा। बालक, वृद्ध, स्त्री–पुरुष सब उन्मत्त हो उठे। जिसके मुख से कृष्ण–नाम कभी नहीं निकलता था, वह भी उस कीर्तन–तरंगकी लपेट में आकर नृत्यकीर्तन करने लगा।

कीर्तन में महाप्रभु का आविर्भाव

आज पूर्णिमा है। विग्रह–स्थापना का दिवस है। आचार्यप्रभु ने श्रीविग्रहों को अभिषिक्त कर और शास्त्र विधि के अनुसार विग्रह–स्थापना का कार्य समाप्त कर तथा ठाकुरों को सिंहासन पर विराजमान कर संकीर्तन की आज्ञा दी है। कीर्तनकारी ठाकुर महाशय के शिष्य और उनके प्रियजन देवीदास, गौरांगदास, बल्लभदास, गोकुलदास आदि माला–चंदन से सुसज्जित हो पंक्ति बांधकर श्रीविग्रहों के सामने खड़े हैं। बीच में करताल लिये गोरांग के वर–पुत्र, गरानहाटी कीर्तन के सृष्टिकर्ता ठाकुर महाशय खड़े हैं। उनकी भाव–भंगि देखते ही बनती है। उनके पुलकित अंग की मनोहर कान्ति कनक–केतिकीको पराभूत कर रही है। चारों ओर संत–महन्त वैठे उनके मुख की ओर निहार रहे हैं। उन्होंने उनके अद्वितीय कीर्तन की प्रशंसा सुनी है। आज उसे सुनने को वे उतावले होरहे हैं। ठाकुर महाशय के हृदय में उन्हें देख–देख आनन्द की लहर उठ रही है। एक अभूतपूर्व भावकी कान्ति उनके मुखपर झलक रही है। नेत्र आनन्दातिरेक के कारण सजल हो रहे हैं।

उन्होंने एक बार पृथ्वी पर लेटकर सबको प्रणाम किया। फिर खड़े होकर दीन भाव से ठाकुरों को देखा और परिकरों के प्रति दृष्टिपात कर संकीर्तन आरम्भ करने का संकेत किया।

मन्द–मन्द वाद्य आरम्भ हुआ। धीरे–धीरे अमृतकी सी नयी–नयी तरंगे उठने लगीं। नरोत्तम–विलास में लिखा है कि उस अश्रुत और अद्भुत वाद्यको सुन देवता, गन्धर्व और किन्नर आकाश में छा गये। गोकुलदास ने आलाप आरम्भ किया। उनका आलाप समाप्त होने पर ठाकुर महाशय ने कीर्तन आरम्भ किया। पहले आलाप किया, फिर श्रीगौरांग का स्तव–कीर्तन आरम्भ किया। वे मन्द–मन्द मुसका रहे थे और उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित हो रहे थे। कीर्तन के साथ रस की तरंग उठ रही थी। तरंग क्रमशः बढ़ती गयी। आनन्द की हिलोर से लोगों का धैर्य, ज्ञान, लज्जा, भय सब जाता रहा। कोई आनन्द से नृत्य करने लगा, कोई रोदन। किसी को कम्प होने लगा, किसीको पुलक। किसीको जाड्यने आ घेरा और कोई भाववेश में मूर्च्छित हो भूमिपर गिर पड़ा। किसीको देहकी सुध न रही। साधु–असाधु, बड़े–छोटे सब एक साथ उस रस–तरंग में बहने लगे।

उसी समय घटी एक अद्भुत घटना। लागों ने देखा कि साक्षात् महाप्रभु कीर्तन में नृत्य कर रहे हैं। उनके साथ नित्यानन्द, अद्वैत, श्रीवास, गदाधर, मुरारी, स्वरूपदामोदर, हरिदास, वक्त्रेश्वर आदि भी नृत्य कर रहे हैं। लोगों की बाह्य इन्द्रियाँ भाव–तरंग में लुप्त हो गयीं, अन्तः इन्द्रियाँ प्रस्फुटित हो गयीं। वे अपने–आपको बिलकुल भूल गये। उन्हें यह ज्ञान नहीं रहा कि महाप्रभु और उनके वे सब पार्षद बहुत पहले अंतर्धान हो चुके हैं। उन्हें लगा कि जैसे वे नवद्वीप में प्रभु के साथ नृत्य कर रहे हैं।

अन्त में महन्तगण और गौरांग के गण एक साथ मिलकर एक–दूसरे का हाथ पकड़कर नाचने लगे। पर बहुत देर तक वे इस आनन्द का उपभोग न कर सके, शायद इस लिये कि बहुत देर तक इस आनन्द का उपभोग करने की उनके मनुष्य–शरीर में शक्ति ही नहीं थी। श्रीगौरांग और उनके गुण जैसे अचानक प्रकट हुए थे, वैसे ही अचानक अप्रकट हो गये।

तब सबको चेतना आयी। चेतना आते ही कोई उस दृश्य के लुप्त होने पर भौंचक्का–सा खड़ा रह गया, कोई रोने लगा, कोई भूमिपर लोट–पोट होने लगा और कोई मूर्च्छित हो गिर पड़ा।

राजा कृष्णानन्द को कीर्तन में अपूर्व भाव आया। वे अपना धन–सम्पत्ति सब लुटाने लगे। पागलकी तरह वे बार–बार घरके भीतर जाते और जो भी उनके हाथ पड़ता उसे लाकर कीर्तन के बीच फेंक देते। कोई उसे ले रहा है या नहीं, उस पर ध्यान न देते। वे आनन्द में झूमते हुए सबके पैरों से लिपट–लिपट कर रोते। नरोत्तम ठाकुर तक के चरणों में लोट–पोट होते। उनकी चिबुक पकड़ कर रोते–रोते कहते–"बापू, तुम धन्य हो। तुमने पृथ्वी को पवित्र कर दिया। पृथ्वी पर क्या ऐसा सुख कभी किसीने देखा है ?"

पर नरोत्तम को न पिता के चिबुक पकड़ने का होश न उनके चरणों में लोटने का। वे न जाने किस भाव-सागर में कितनी गहरी डुबकी लगाये हुए थे।

सब लोग धीरे-धीरे स्थित हो गये। पर ठाकुर महाशयको अब भी होश नहीं। उन्हें गाते और नाचते दो प्रहर बीत गये। वे कभी रोते हैं, कभी हंसते हैं, कभी भावावेश में चीख पड़ते हैं और कभी पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं।

आचार्यप्रभु ने उन्हें गोद में लेकर उज्ज्वलनीलमणि के श्लोक उनके कानमें पढ़े। तब भी उन्हें चेतना न आयी। तब उन्हें मूर्च्छित अवस्था में घर के भीतर ले जाकर लिटा दिया। एक प्रहर उसी अवस्था में लेटे रहने के पश्चात् उन्हें भावान्तर हुआ। तब वे उठ कर बैठे।

उधर कीर्तन समाप्त होने पर सब लोग महाप्रसाद ग्रहण करने बैठे। बारम्बार हरिध्वनि के साथ सहस्रों लोगों ने भोजन किया। महोत्सव के पश्चात् सब लोग क्रमशः विदा हुए। सब महन्तों की पूजा हुई। उन्हें राह खर्च के साथ नये वस्त्र, जल-पात्र, रजत-मुद्रा या स्वण-मुद्रा, जिसकी जैसी मर्यादा थी उसके अनुसार भेटें में दिया गया। एक महीने बाद आचार्यप्रभु भी विदा हुए। रह गये केवल रामचन्द्र।

ठाकुर महाशय और रामचन्द्र

ठाकुर महाशय और रामचन्द्र दोनों की मनोकामना सिद्ध हुई। दोनों एक जगह रहते, एक जगह सोते, एक जगह भजन करते, एक साथ भोजन करते। क्षण भरको भी एक-दूसरे से अलग न होते। वे रात में केवल दो घंटे सोते। प्रातः उठकर आरती दर्शन करते, प्रातः-क्रिया और स्नानादि समाप्त कर भजन-कुटी में प्रवेश करते। ठाकुर का भोग लग जाने पर भोजन करते। उसके पश्चात् दोनों बैठकर भक्ति-ग्रन्थों का पाठ करते।

ठाकुर की पाँच बार आरती होती। आरती के समय दोनों करताल बजाकर कीर्तन करते। संध्या समय फिर कीर्तन करते, जिसमें कम्प-मूर्च्छा आदि नाना प्रकार के भावों का उदय होता। कीर्तन करते-करते अधिक रात हो जाती तो दोनों शयन करते। इस कार्यक्रम के बीच में जो समय मिलता उसमें दोनों एक लाख नाम-जप करते।

वैष्णव-धर्मकी उन्नति : ब्राह्मणों का विरोध

ठाकुर महाशय ने खेतुरी के महोत्सव के पश्चात् चार और ठाकुरों की प्रतिष्ठा की, जिनके नाम हैं श्रीब्रजमोहन, श्रीकृष्ण, श्रीराधाकान्त और श्रीराधारमण। इन सभी ठाकुरों की सेवा की ऐसी सुन्दर परिपाटी चलायी कि दूर-दूर से लोग उसे देखने आते।

खेतुरी के महोत्सव के पश्चात् विष्णुपुर में राजा वीरहाम्बीर ने भी एक उतना ही विशाल महोत्सव किया। उसमें भी आचार्यप्रभु, नरोत्तम

ठाकुर और रामचन्द्र ने भाग लिया। नरोत्तम ठाकुर का वहाँ कीर्तन हुआ।

इन महोत्सवों के पश्चात् वैष्णव–धर्मका गौड़ देश में तेजी से प्रचार होने लगा। नरोत्तम ठाकुर की ख्याति चारों ओर फैलने लगी। सैकड़ों लोग उनसे मन्त्र–दीक्षा लेने लगे। समाज में एक विप्लवकी सृष्टि हुई। गौड़ देश में उस समय शाक्त–धर्म का बोल–बाला था। ब्राह्मण सभी शाक्त धर्मावलम्बी थे। वैष्णव–धर्म से घृणा करते थे। जो वैष्णव हो जाता उसे उसी दृष्टि से देखते, जिससे इसाई हो जोने वाले हिन्दू को देखते हैं। यदि कोई ब्राह्मण वैष्णव से दीक्षा लेता, तो उसे किसी प्रकार क्षम्य भी समझा जाता। पर नरोत्तम ठाकुर तो कायस्थ थे। उनसे दीक्षा लेने से जाति चली जाती ऐसा माना जाता, क्योंकि शिष्य उनका अधरामृत (उच्छिष्ट प्रसाद) ग्रहण करता।

ब्राह्मणों की दीक्षा

समाज में, विशेष रूप से ब्राह्मण समाज में, बड़ी हलचल उस समय मची जब ठाकुर महाशय ने रामकृष्ण और हरिराम नामके दो ब्राह्मण भ्राताओं को मन्त्र दिया। इनके पिता शिवानन्द आचार्य गणेशपुर के रहने वाले एक धनवान और देश–विख्यात भगवती उपासक थे। इन्हें उन्होंने दुर्गा–पूजा के लिये पद्माके उस पार बकरा खरीदने भेजा। उसी समय खेतुरी के घाटपर ठाकुर महाशय और रामचन्द्र शास्त्र–चर्चा कर रहे थे। दोनों भाइयों ने इनका यश पहले ही सुन रखा था। इसलिये वे कौतुहलवश उनकी चर्चा सुनने लगे। चर्चा में रामचन्द्र ने कोई ऐसी बात कही, जो उनके अपने सिद्धान्त के विरुद्ध थी। उन्होंने शंका उठायी। रामचन्द्र ने उत्तर दिया। एक लघु शास्त्रार्थ चल पड़ा। शास्त्रार्थ में दोनों भाई पराजित हुए। वे रामचन्द्र और ठाकुर महाशय से इतना प्रभावित हुए कि बकरा खरीदने का विचार छोड़कर उनके साथ उनके निवास–स्थान तक गये। देर तक उनका सत्संग किया। उस दिन और रात भर वे वहीं रह गये। आपस में कहने लगे–"ठाकुर महाशय और रामचन्द्र दोनों ही महापुरुष हैं। इनकी बोल–चाल, भावभंगि, हास्य, क्रन्दन, चलना, फिरना सब कुछ कितना मधुर है ? आश्चर्य ! भक्ति में इतना माधुर्य, इतना आकर्षण! ये बरबस हमारे प्राण खींचे लेरहे हैं। इच्छा यह बात समझ में आती है कि भगवान् भी भक्ति से ही आकर्षित होते हैं, कर्मकाण्ड और मन्त्र–यन्त्र से नहीं। भगवान् को वे ही प्रिय है, जो उनकी भक्ति करते हैं। सच्चे ब्राह्मण भी वे ही है, चांडाल वंश में जन्मे हों तो भी।"

प्रातःकाल होते–होते– दोनों ने उन दोनों के चरणों में आत्मसमर्पण करने का निश्चय कर लिया। ज्येष्ठ भ्राता हरिराम ने रामचन्द्र के चरण पकड़े, कनिष्ठ रामकृष्ण ने ठाकुर महाशय के और उनसे वैष्णवी दीक्षा देने की प्रार्थना की। दीक्षा लेने के पश्चात् दोनों भाई खेतरी में रहकर भक्ति–ग्रन्थ अध्ययन करने लगे; बकरा लेकर घर नहीं लौटे।

धीरे–धीरे यह समाचार सारे में फैल गया। गणेशपुर में भारी हलचल मची। पिता ने दोनों पुत्रों को पकड़ लाने के लिये आदमी भेजे। दोनों ने जाकर पिता को प्रणाम किया। पिता ने क्रुद्ध हो 'दूर–दूर' कह उनका तिरस्कार किया और कहा–"तुम लोग स्पर्श करने योग्य नहीं। शूद्रों से दीक्षा लेकर तुम भी शूद्र हो गये हो। ब्राह्मण होकर कायस्थ और वैद्य जाति के गुरु से दीक्षा लेते तुम्हें लज्जा नहीं आयी। तुमने अपना पतन तो किया ही, सारे ब्राह्मण समाज की नाक कटा दी। मैं समाज में मुँह दिखाने लायक नहीं रहा। तुम्हें इसका प्रायश्चित करना होगा।"

दोनों हाथ जोड़कर कहा–"पिताजी, हमने जिनसे दीक्षा ली है, वे परम भागवत हैं, हरि के प्रियजनों में अग्रगण्य हैं। जो हरि को प्रिय होते हैं, उनकी जाति नहीं होती। वे सभी जाति के लोगों के पूज्य होते हैं। इसपर हम किसी से भी शास्त्रार्थ करने को तैयार हैं। यदि शास्त्रार्थ में हार गये, तो आप जो प्रायश्चित कहेंगे उसे करने को तैयार हैं।"

पिता राजी हो गये। उन्होंने सोचा, कि इस पर शास्त्रार्थ क्या होना है। शास्त्रों ने तो ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान दे ही रखा है। उन्होंने अच्छे–अच्छे पंडितों को बुलाया। उनसे शास्त्रार्थ हुआ, पर पंडितों की पराजय हुई। तब उन्होंने मिथिला के दिग्विजयी पंडित मुरारी को बुलवाया। वे भी परास्त हो गये। हरिराम और रामकृष्ण विजयी होकर फिर से समाज में पदस्थ हुए।

बालुचर के निकट गंगा तटपर गाम्भिला ग्राम में गंगानारायण चक्रवर्ती नाम के एक कुलीन ब्राह्मण रहते थे। अपने पांडित्य के कारण वे देशभर में प्रसिद्ध थे। सभी उनका सम्मान करते थे। हरिराम और रामकृष्ण के साथ उनकी गाम्भिला में भेंट हुई। वे उन्हें अपने घर ले गये। रातभर उनके साथ कृष्णचर्चा होती रही। हरिराम और रामकृष्ण जब भगवान् का गुणानुवाद करते तो अश्रु, पुलकादि नाना प्रकार के भाव उदित होते देख गंगानारायण चकित होते। उस भाव–तरंग की चोट उनके हृदय को लगी। वे सोचने लगे–इनका भगवान् नाम लेते ही आनन्द से गद्‌गद् हो जाते हैं। मेरी मात्र एक कन्या है। मैं उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करता हूँ। पर उसका नाम लेकर मेरे मन में इस आनन्द के सहस्रांशका एक अंश आनन्द भी नहीं होता। न मेरी आँखों में आँसू आते हैं, न कम्प और पुलक होता है। इससे लगता है कि आनन्द भगवत्–प्रीति में है, और कहीं नहीं। मैं भी क्यों न इनकी तरह ठाकुर महाशय का शरणागत होकर इनका जैसा सौभाग्य प्राप्त करूँ ?

यह सोचते–सोचते वे उनके चरणों में गिर पड़े। हाथ जोड़कर बोले–"आप लोग ऐसा करने की कृपा करें, जिससे ठाकुर महाशय की शरणागति मुझे भी प्राप्त हो। मैं उनकी कृपा के लिये अपने ब्राह्मणत्व और पाण्डित्यअभिमान को तिलांजलि देने को तैयार हूँ।"

दोनों भाइयों ने उनका हाथ पकड़ कर कहा—"आप ठाकुर महाशय की कृपा के लिये इतना अधीर क्यों होते हैं ? आप यदि उनपर कृपा करेंगे तो वे स्वयं कृतार्थ होंगे।" प्रेम—राज्य की कुछ ऐसी ही अटपटी बात है। यहाँ कृपा चाह कर भी अज्ञातरूप से कृपा की जाती है। कृपा चाहना एक अन्य प्रकार से अपना प्रेम निवेदन करना होता है। कृपा करनेवाला कृपा चाहने वाले के प्रेम के कारण उसके हाथ बिक जाता है। तभी न स्वयं भगवान् अपने भक्तोंपर कृपा करके भी उनके अधीन बने रहते हैं।

ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ

गंगानारायणी की दीक्षा होते देर न लगी। उनकी दीक्षा होते ही ब्राह्मणों को लगा कि ब्राह्मणत्वका एक मुख्य स्तम्भ धराशायी हो गया। उनके क्रोध की सीमा न रही। वैसे कोई शूद्र किसी ब्राह्मण को मन्त्र देता तो वे मन्त्र देने वाले और लेनेवाले दोनों को दण्डित करते। पर ठाकुर महाशय और उनके शिष्यों को दण्ड देने की बात वे सोच भी नहीं सकते थे। निरुपाय हो उन्होंने पक्वपल्ली के राजा नरसिंह का आश्रय लिया। उनके देश के ब्राह्मण सुविख्यात पंडित और अध्यापक थे। उनसे प्रार्थना करते हुए उन्होंने कहा—"आप राजा हैं। हमारे रक्षक हैं। हमारी ज़ाति की रक्षा करने आप अपने पंडितों और अध्यापकों को लेकर चलें। हम शास्त्रार्थ में कृष्णानन्द के बेटे नरोत्तम को परास्तकर उसे देश से निर्वासित करेंगे।"

राजा नरसिंह भक्तिमान् पुरुष थे। ठाकुर महाशय के दर्शन करने की उनकी इच्छा थी। इस बहाने उनके दर्शन होंगे, यह सोचकर वे तैयार हो गये। उन्होंने अपने भाई रूप नारायण और अध्यापकों के साथ जाकर खेतरी के निकट कुम्हारपुर ग्राम में डेरा डाला।

ठाकुर महाशय ने जब यह सुना कि यह लोग शास्त्रार्थ करने आये है, उन्होंने रामचन्द्र और गंगानारायण के मुखकी ओर देखकर कहा—"यह कहाँ का बबाल आ गया ? इन लोगों से शास्त्रार्थ में माथापिच्ची न करना पड़े, इसका कोई उपाय है ?"

दोनों ने कहा—"आपके आशीर्वाद से सब अपने आप ठीक हो जाएगा। आप जरा भी चिंता न करें।"

गंगानारायण और रामचन्द्र दोनों भक्तिरस में उन्मत्त और बालक के समान कौतुकी थे। दोनों ने मिलकर एक युक्ति सोची। रामचन्द्र ने बारुई (पान बेचनेवाले किसान) का वेश धारण किया, गंगानारायण ने कुम्हार का। दोनों पान और हंड़िये लेकर कुम्हारपुर के बाजार में बेचने के लिये जा बैठे। उन्होंने सोचा कि राजा के साथ आये पंडित बाजार करने आयेंगे ही। तब वे युक्तिपूर्वक उनसे वहीं शास्त्रार्थ छेड़ देंगे।

ऐसा ही हुआ। कुछ विद्यार्थी पंडित पान खरीदने आये। एक ने पान के दाम पूछे। रामचन्द्र ने संस्कृत में उत्तर दिया। चकित हो पंडित

विद्यार्थियों ने पूछा—'तुम संस्कृत जानते हो ?; रामचंद्र ने संस्कृत में ही कहा—"मैं खेतुरी में रहता हूँ और यह कुम्हार भी वहीं रहता है। वह ठाकुर महाशय का गाँव है। वहाँ हम लोगों ने सुन—सुनकर संस्कृत सीखी है। केवल संस्कृत भाषा ही नहीं, शास्त्र—ज्ञान भी हमने सुन—सुनकर बहुत—कुछ प्राप्त कर लिया है। तुम लोग क्या पढ़ते हो, सुनें तो।"

उन्होंने गर्वपूर्वक बड़े—बड़े ग्रंथों का नाम लिया। रामचन्द्र ने उन्हीं ग्रंथों के विषय में चर्चा शुरु की। पंडितों का बारुई से शास्त्र—चर्चा करना उनकी मर्यादा के विरुद्ध था। इसलिये उन्होंने कतराना चाहा। पर रामचन्द्र पंडितों का स्वभाव जानते थे। उन्होंने उनके शास्त्र—ज्ञान के बारे में मीठी चुटकी ली। तब पण्डितों को उनके साथ शास्त्र—चर्चा में जुट जाना पड़ा। उत्तर—प्रत्युत्तर में शास्त्रार्थ छिड़ गया। एक ओर रामचन्द्र और गंगानारायण, दूसरी ओर राजा के सब पंडित। थोड़ी ही देर में पंडित लोग दांतों तले उंगली दबा गये। उन्हें लगने लगा कि यद्यपि यह दोनों साधारण किसान और कुम्हार हैं, इनके शास्त्र—ज्ञान की थाह नहीं है। उन्हें पराजय का मुँह न देखना पड़े, इस भय से एक पण्डित भागकर अध्यापकों के पास गया और बोला—"आप लोग बाजार चलिये। वहाँ महान् अनर्थ होने जा रहा है। एक कुम्हार और पान के खेतिहर के साथ हमारा शास्त्रार्थ छिड़ गया है। वे महापण्डित हैं। धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हैं! चलिये, जल्दी चलिये, नहीं तो हमारी जाति गयी, मान गया, सब गया।"

अध्यापकों में से बारुई और कुम्हार के साथ शास्त्रार्थ करना कोई नहीं चाह रहा था। पर उसी समय एक और पंडित विद्यार्थी आकर बोला—"आप लोग जल्दी चलें। उनके साथ शास्त्रार्थ में कोई नहीं टिक रहा है।"

अध्यापकों ने पहले एक छोटे अध्यापक को भेजा। पीछे—पीछे दो—एक आदमी और गये। शास्त्रार्थ में रामचन्द्र और गंगानारायण से कोई पार न पा सका। अन्त में अध्यापकों के सारे दल को जाना पड़ा। राजा भी कौतुहलवश वहाँ जा पहुँचे। अध्यापकों से जमकर शास्त्रार्थ हुआ। राजा ने मंध्यस्थता की। अध्यापकों का कुछ बस न चला तो वे तर्क करते—करते क्रोध में आ गये। उन्होंने चाहा कि विपक्षियों को मार—पीटकर भगा दें। पर राजा ने ऐसा न होने दिया। अध्यापकों को मालूम पड़ा कि भक्ति भी एक शास्त्र है, जिसके बारे में वे कुछ नहीं जानते। इससे वे अप्रतिभ हो गये।

राजा ने अध्यापकों से कहा—"शास्त्रार्थ तो हो गया। यहाँ तक आये हैं तो खेतुरी के ठाकुर महाशय और उनके छय विग्रहों के भी दर्शन करते चलें।" अध्यापक कैसे मना करते? राजा उन्हें सबको लेकर खेतरी पहुँचे। राजा कृष्णानन्द ने उनका स्वागत किया।

इधर कौतुकी रामचन्द्र और गंगानारायण ने अपना वेश बदला। कंगालों को बुलाकर रामचन्द्र पान और गंगानारायण ने हंड़ियाँ उनमें लुटा दीं। तब वे खेतुरी पहुँचे और ठाकुर महाशय को सब वृतान्त कह सुनाया–

रामचन्द्र काङ्गाले डाकिया दिल पान। गङ्गानारायण हाँड़ी करिल प्रदान।।
परम कौतुके दोंहे खेतरी आइल। श्रीठाकुर महाशये सब निवेदिल।।

-नरोत्तम-विलास

राजा नरसिंह को रामचन्द्र और गंगानारायण को खेतरी में अपने असली रूप में देखकर सुखद आश्चर्य हुआ। वे उनके पांडित्य और कौतुक की प्रशंसा करने लगे।

ठाकुर महाशय के प्रति राजा की श्रद्धा पहले से थी ही। शास्त्रार्थ के परिणाम से वह और दृढ़ हो गयी। पर उन्होंने जब उन्हें देखा तो न जाने उनकी भक्ति के प्रभाव से या ठाकुर महाशय की कृपा के प्रभाव से उनमें सहसा ऐसा भाव उदय हुआ कि वे उनके चरणों में गिर पड़े और रोकर बोले– 'ठाकुर, हम आपको अपदस्थ करने आये थे। हमारे अपराध को क्षमा करें और हमें अपने चरणों में शरण दें।" राजा का भाव देख ठाकुर महाशय की आँखों में आँसू आ गये। उन्होंने उन्हें उठाकर आलिंगन किंया और कहा–"चिंता न करो। मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे हो।"

राजा और उनके भाई दोनों ठाकुर महाशय से दीक्षा लेकर प्रेमोन्मत्त हो गये। यह देख अध्यापकों का हृदय द्रवित हो गया। दिन–रात कीर्तन की वायु के स्पर्श से उनका मन भी निर्मल हो गया। उन्होंने भी एक–एक कर ठाकुर महाशय के चरणों की शरण ली।

राजा घर नहीं गये। प्रेमोन्मत्त हो खेतुरी में ही रह गये। उनकी रानी रूपमाला पति की ऐसी अवस्था देख बहुत प्रसन्न हुईं। वे सोचने लगीं–क्या ठाकुर महाशय मेरे ऊपर भी ऐसी कृपा करेंगे, जिससे मैं पति के योग्य बन सकूँ? वे डोली में बैठकर खेतुरी आयीं और अपने दैन्य के बल से ठाकुर महाशय की कृपा प्राप्त कर धन्य हुईं।

हमने जिन शास्त्रार्थों का ऊपर उल्लेख किया है उस तरह के शास्त्रार्थ जगह–जगह हुए। सर्वत्र ठाकुर महाशय और उनके जनों की विजय हुई। कारण यह था कि महाप्रभु गौरांग के आविर्भाव के बाद उनके अनुयायी महामहोपाध्याय पण्डितों ने शास्त्रों का अनुसन्धान किया था और संस्कृत और बंगला में राशि–राशि ग्रन्थों की रचना कर विशुद्ध भक्ति–धर्म को ही सब शास्त्रों का निचोड़ सिद्ध किया था। उन्हीं ग्रन्थों को लेकर आचार्यप्रभु और ठाकुर महाशय ने बंगाल में भक्ति का प्रचार प्रारम्भ किया था। जिन लोगों को वे प्रचार के लिये भेजते थे, वे उन ग्रन्थों के पण्डित होते थे। उनके आगे शास्त्रार्थ में कौन टिक सकता था?

राजा चांदराय

चांदराय ब्राह्मण जमींदार राघवेन्द्र राय के पुत्र थे। राघवेन्द्र राय

की गौड़ के निकट चौरासी हजार रुपये की जमींदारी थी। पर चांदराय वीर पुरुष थे। वे शक्ति के उपासक थे। उन्होंने अपने पराक्रम से गौड़देश का बहुत सा भाग अपने अधीन कर लिया था। गौड़ के बादशाह उन्हें अपना प्रतिद्वन्दी समझने लगे थे। उनके पाँच हजार घुड़सवार और बहुत से सैनिक थे।

वीर पुरुष होते हुए भी चांदराय स्वेच्छाचारी थे। वे मद्यपान करते थे और दिन–रात युद्ध में रत रहते हुए नाना प्रकार के अनाचार करते थे। उनके भाई संतोषराम उनके सभी कार्यों में उनके साथ सहयोग करते थे। दोनों भाई मानो दूसरे जगाई–मधाई थे।

एकाएक चांदराय भूत–बाधा से ग्रस्त हो गये। राघवेन्द्र ने नाना प्रकार के उपाय किये। परन्तु पुत्र की भूत–बाधा न गयी। किसी ने परामर्श दिया कि ठाकुर महाशय को लिवा लाने से बाधा दूर हो जायेगी। उन्होंने राजा कृष्णानन्द को पत्र लिखकर ठाकुर महाशय को भेज देने का अनुरोध किया। पर ठाकुर महाशय ने यह कहकर जाने से मना कर दिया कि उनमें रोग दूर करने की क्षमता नहीं है।

राघवेन्द्र को इससे बड़ी निराशा हुई। तब देवी दुर्गा ने स्वप्न में उनसे कहा–"राघवेन्द्र, तुम अपने पुत्र को ठाकुर महाशय का आश्रय लेने को कहो। तभी वह निरोग होगा। तुम भी यदि मुझे सन्तुष्ट करना चाहते हो तो अपनी गोष्ठी के साथ उनका आश्रय ग्रहण करो।"

राघवेन्द्र ने पुन दो ब्राह्मणों के द्वारा राजा कृष्णानन्द को पत्र भेजा। उसमें देवी का आदेश लिखा। यह भी लिखा कि पुत्र की अवस्था खेतुरी जाने लायक नहीं है और ठाकुर महाशय को भेजने की पुनः प्रार्थना की।

कृष्णानन्द ने डरते–डरते फिर पुत्र से राघवेन्द्र का अनुरोध स्वीकार कर लेने को कहा। ठाकुर महाशय ने उस समय उत्तर नहीं दिया। रात्रि में इस सम्बन्ध में गौरांग महाप्रभु का आदेश प्राप्त करने के लिये वे उनके मन्दिर के कपाट की तरफ सिर करके सो गये। जिनका इस तरह का विश्वास होता है, उनसे भगवान् अवश्य बातें करते हैं। रात्रि में स्वप्न में महाप्रभु ने कहा–'नरोत्तम, जीव का उपकार करना परम धर्म है। तुम अवश्य जाओ। तुम्हारे जाने से चांदराय का कल्याण होगा।'

ठाकुर महाशय दूसरे दिन प्रभात में ही रामचन्द्र, गंगानारायण, हरिराम और रामकृष्णादि को साथ लेकर पैदल ही राघवेन्द्र के नगर की ओर चल दिये। यह सूचना पाकर कि ठाकुर महाशय आ रहे हैं नगर के लोग उन्मत्त हो उठे। राघवेन्द्र ने नगर सजाने की आज्ञा दी। जगह–जगह नौबत बजने लगी। जल से भरे कलश रखे गये। केले के वृक्ष रोपे गये।

राघवेन्द्र उनके स्वागत के लिये माला–चन्दनादि लिये पहले ही घर के बाहर खड़े थे। उनके आते ही यथाविधि उनका स्वागत और

दण्डवत् प्रणाम कर वे उन्हें चांदराय के पास ले गये। चांदराय उस समय सोते से जान पड़ रहे थे। राघवेन्द्र ने उन्हें गोद में उठाकर कहा—'वत्स, देखो ठाकुर महाशय आये हैं, इन्हें प्रणाम करो।'

चांदराय ने उत्तर नहीं दिया। उनके भीतर बैठे ब्रह्म दैत्य ने बोलना आरम्भ किया। उसने कहा—"ठाकुर महाशय, मैं ब्राह्मण हूँ। मैंने बहुत दुष्कर्म किये हैं। मैं जैसा हूँ, चाँदराय भी वैसा ही है। इसलिये मैंने इसके शरीर का आश्रय लिया है। अब आपके आने से मेरा उद्धार हो गया। मैं चला। आपके चरणों में कोटिशः प्रणाम।"

उसी समय चाँदराय ने चीख मारी और बेहोश होकर गिर पड़े। होश आने पर वे भौंचक्के से चारों ओर देखने लगे। उनके भाई सन्तोष ने रोते-रोते कहा—'देखो, ठाकुर महाशय आये हैं। उनकी कृपा से तुम स्वस्थ हो गये। अब किसी प्रकार का भय नहीं रहा।'

चाँदराय ने डरते-डरते ठाकुर महाशय के चरणों में सिर रख दिया और रोते-रोते बोले—"ठाकुर, मैं बड़ा पापी हूँ। ऐसा कोई दुष्कर्म नहीं जो मैंने नहीं किया। क्या मेरा उद्धार संभव है? क्या आप मेरे ऊपर कृपा करेंगे।?"

गौड़ के बादशाह के प्रतिद्वन्दी, एक विशाल सेना के अधिपति चाँदराय को, जो संसार को तृणवत् समझते थे, इस प्रकार ठाकुर महाशय के चरणों में गिरकर उनकी कृपा की प्रार्थना करते देख सब आश्चर्यचकित रह गये। ठाकुर महाशय ने उन्हें गले से लगाकर पूर्ण आश्वस्त किया। शीघ्र उन्हें और उनके भाई और पिता को दीक्षा देकर उन पर कृपा की।

जब ठाकुर महाशय ने खेतुरी लौटना चाहा, राघवेन्द्र ने नौका द्वारा उन्हें भेजने की व्यवस्था कर दी। वे और उनके दोनों पुत्र भी एक नौका पर उनके साथ हो लिये। कई और नौकाओं पर खेतुरी के छय विग्रहों के लिये नाना प्रकार के उपहार लेकर वे खेतुरी की ओर चल दिये।

जिस चाँदराय ने सहस्त्रों शत्रुओं और प्रजा के विरोधी लोगों को बंदी बनाकर कारागार में डाल रखा था, उसे ठाकुर महाशय ने गोष्ठी सहित प्रेम-बन्धन में बांध गौर के सामने लाकर खड़ाकर दिया।

खेतुरी से लौटकर चाँदराय संसार का कार्य दूसरे लोगों पर छोड़कर स्वयं भजन-साधन में लीन रहने लगे। उनकी सैन्य-शक्ति कम होती गयी। मुसलमान बादशाह ने मौका पा उन्हें किसी तरह पकड़ कर बन्दी बना लिया। उन्हें नाना प्रकार की यातनाएँ दीं। फिर कहा—"अब तुम्हें पागल हाथी से कुचलवाकर मार डाला जायेगा। यदि तुम जीवित रहना चाहते हो, तो उसका एक ही उपाय है—तुम मुसलमान हो जाओ।"

चाँदराय ने दृढ़तापूर्वक कहा—"मैं अपने भगवान् को छोड़कर मुसलमान नहीं हो सकता, भले ही तुम मुझे हाथी से कुचलवा दो।"

तब बादशाह ने चाँदराय को, हाथी से मरवा डालने का हुक्म दे दिया। चाँदराय का हाथी से कुचला जाना लोगों को दिखाने के लिये समारोह किया गया। मद्यपान कराकर मतवाले हाथी को लाया गया। चाँदराय से एक बार फिर मुसलमान बनने को कहा गया। उन्होंने फिर दृढ़तापूर्वक अपना धर्म त्यागने से मनाकर दिया और 'हरे कृष्ण' नाम का उच्चारण करते हुए स्वच्छन्द हाथी की ओर बढने लगे।

चाँदराय भगवान् के लिये प्राण देने जा रहे हैं। भगवान् देख रहे हैं। भगवान् क्या देखते ही रहते? एक साधारण व्यक्ति जब किसी को अपने लिये प्राण देते देखता है, तो स्वयं उसके लिये अपना सर्वस्व देने को तैयार हो जाता है। तो दयानिधि, प्रेमनिधि श्रीभगवान चाँदराय के लिये कुछ किये बिना रह सकते थे?

भगवान् ने उसी समय बादशाह के हृदय में प्रवेश किया। वह सोचने लगा–चाँदराय भगवान् के लिये मरने जा रहे हैं। भय का उनके ऊपर कोई चिन्ह नहीं है। मुखमण्डल पर एक अपूर्व तेज की दीप्ति है। निश्चय ही भगवान् की उनके ऊपर विशेष कृपा है। उन्हें दण्ड देना भगवान् को दण्ड देना है, भगवान् के कोप को आमन्त्रित करना है।

उसी समय उन्होंने आगे बढ़कर चाँदराय को पकड़ लिया। प्रेमपूर्वक उन्हें आलिंगन कर दर्शकों में घोषणा की–"चाँदराय का दण्ड हो चुका। आज से ये मेरे बन्धु हैं।" दर्शकों का हृदय चाँदराय की भक्ति और आत्म–बलिदान देख पहले ही द्रवित हो चुका था। उन्होंने बादशाह की घोषणा सुन हर्षध्वनि की और चाँदराय तथा बादशाह की ज़य–जयकार की।

बादशाह ने कुछ दिन चाँदराय को प्रेमपूर्वक अपने साथ रखा। फिर उन्हें अपनी अधीनता में एक स्वतंत्र राज्य का अधिपति बनाकर शाही पोशाक में ५०० अश्वारोहियों के साथ बिदा किया। बादशाह को अब चाँदराय के आतंक का भय नहीं था, क्योंकि जिस चाँदराय को वे अपने सैन्य–बल से नहीं जीत सके थे, उसके हृदय को उन्होंने प्रेम से जीत लिया था।

चाँदराय घर नहीं गये। आश्वारोहियों को पद्मा के इस पार छोड़कर सीधे खेतुरी पहुँचे। राघवेन्द्र चाँदराय के मुसलमानों द्वारा पकड़ लिये जाने के बाद शोकाकुल अवस्था में खेतुरी चले गये थे और वहीं रहने लगे थे। वे और वहाँ के सभी लोग समझ बैठे थे कि चाँदराय की प्राण–रक्षा का अब कोई उपाय नहीं है, क्योंकि यवन बहुत नृशंस हैं और चाँदराय ने उन्हें परेशान करने में कोई कसर नहीं रखी है। पर चाँदराय को मुसलमानों से छूटकर राजवेश में आया देख खेतुरी में आश्चर्य और आनन्द की लहर दौड़ गयी। सबने इसे ठाकुर महाशय की कृपा का परिणाम समझ उनकी जय–ध्वनि की।

ठाकुर महाशय का एकान्तवास

इस समय तक दो–तीन और राजाओं ने ठाकुर महाशय की शरण ले ली थी। खेतुरी के ऐश्वर्य में बहुत वृद्धि हो गयी थी। नित्य नये–नये उत्सव होते रहते थे। ठाकुर महाशय के भजन में विघ्न होता था। इसलिये उन्होंने एकान्तवास का निश्चय किया। खेतुरी से दो मील दूर भजन करने योग्य एक ऐसे सुन्दर स्थान का निर्माण किया, जिसे देख वृन्दावन का भान होता। उसका नाम रखा 'भजन–स्थली।' नरोत्तम ठाकुर और रामचन्द्र वहाँ जाकर रहने लगे। रामचन्द्र के रहने के लिये अलग कुटिया थी। पर वे दिन–रात ठाकुर महाशय के साथ एक ही कुटी में रहते थे।

तपस्या, ध्यान और योगादि अकेले करना होता है। पर भक्ति ऐसा साधन है, जिसे अनुकूल संगी के साथ रहकर करने में रस की पुष्टि होती है। जब दो–एक मर्मी साथियों के साथ कृष्ण–कथा या कीर्तन होता है, तब पारस्परिक दर्शन, स्पर्श और वार्तालाप से भाव की वृद्धि होती है। एक भगवान् का गुण–कीर्तन करता है, दूसरा सुनता है। जो गुण–कीर्तन करता है, वह कहकर और जो सुनता है, वह सुनकर सुख पाता है। एक प्रेम में गद्–गद् हो जब दूसरे की ओर देखता है, तो उसके नयन बाण से घायल हो वह भी प्रेम में विह्वल हो जाता है। एक आदमी अपना आनन्द दूसरे को प्रदान कर स्वयं सुखी होता है और दूसरे को भी सुखी करता है।

रामचन्द्र का वियोग

अब ठाकुर महाशय के माता–पिता का गोलोकवास हो गया था। उनके दिन रामचन्द्र के साथ भजन–स्थली में बड़े सुख से बीत रहे थे। पर यह सुख अधिक न रहा। अचानक एक दिन श्रीनिवासाचार्यप्रभु का पत्र आया, जिसमें उन्होंने रामचन्द्र को अपने साथ वृन्दावन भेजने को लिखा था। आचार्यप्रभु जीव गोस्वामी के अंतिम दर्शन करने वृन्दावन जाना चाह रहे थे। पत्र ठाकुर महाशय ने रामचन्द्र को दिया। उसे पढ़ते ही उनका मुख सूख गया। श्रीनिवासाचार्य जैसे अपने गुरु के साथ वृन्दावन जाने से बढ़कर आनन्द की बात उनके लिये और क्या हो सकती थी? पर ठाकुर महाशय उनके पिता, माता, स्वामी, सखा सब कुछ थे। ठाकुर महाशय के भी वे ही एक मात्र आधार थे। उन्हें ठाकुर महाशय का संग छोड़ने में अपने लिये उतनी चिंता नहीं थी, जितनी ठाकुर महाशय के लिये। वे जानते थे कि ठाकुर महाशय से उनका विरह सहन न हो सकेगा। वे गुरु–आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं कर सकते थे। अपने विरह में ठाकुर महाशय के दुःख का ध्यान कर वे रोने लगे।

उनकी अवस्था देख उन्हें सान्त्वना देते हुए ठाकुर महाशय ने कहा–"रामचन्द्र, हमारे नित्य धाम में जाने के लिये अब बहुत दिन बाकी नहीं हैं। वहाँ वियोग बिलकुल नहीं होगा। यहाँ भी कुछ दिन वियोग सहन

करने के पश्चात् जब हम फिर मिलेंगे, तो सुख अधिक होगा।"

रामचन्द्र ने ठाकुर महाशय से भी वृन्दावन चलने का अनुरोध किया। ठाकुर महाशय ने कहा—"वृन्दावन में अब क्या है? गुरुदेव हमें छोड़कर चले गये हैं। भूगर्भ भी नहीं रहे हैं। जीव गोस्वामी हैं या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। वृन्दावन के जितने रत्न थे सब अदृश्य हो गये हैं। उनके बिना वृन्दावन में विरहव्यथा और अधिक ही होगी। प्रभु की यही इच्छा जान पड़ती है कि कुछ दिन हम लोग वियोग का अनुभव करें।"

तब दोनों गौरांग महाप्रभु के मन्दिर में गये। रामचन्द्र ने महाप्रभु के आगे दण्डवत् कर मन ही मन अपने पीछे ठाकुर महाशय का ध्यान रखने की प्रार्थना की। ठाकुर महाशय ने भी रामचन्द्र को महाप्रभु के चरणों में समर्पित कर बिदा किया।

रामचन्द्र के जाने के बाद ठाकुर महाशय ने पूर्ण रूप से अपने को अपने आप में समेट लिया। बाह्य जगत् से सम्बन्ध जैसे बिलकुल छोड़ दिया। रामचन्द्र के विरह में उनके प्राण छट–पट करने लगे। केवल उनके वृन्दावन से वापस लौटने की आशा ने उन्हें जीवित रखा। लौटने का समय निकट आने पर वे नित्य प्रति उनके आने की बाट देखने लगे। पर एक–एक दिन करके महीनों बीत गये, फिर भी वे न आये। अंत में संवाद मिला कि श्रीनिवासाचार्य और रामचन्द्र दोनों का अंतर्धान हो गया।

संवाद प्राप्त कर ठाकुर महाशय की जो दशा हुई, उसका वर्णन कौन कर सकता है? उन्हीं के शब्दों में उसका थोड़ा आभास मिलता है। उस समय के एक पद में उन्होंने लिखा है—

"आचार्य श्रीनिवास, आछिनु जाँहार पाश, कथा शुनि जुड़ाइत प्राण।
तेंइ मोरे छाँड़ि गेल, रामचन्द्र ना आइल, दुःखे जिऊ करे आन चान॥
जे मोर मनेर व्यथा, काहारे कहिब कथा, एछार जीवने नाहि आश।
अन्न जल विष खाइ, मरिया नाहिक जाइ, धिक्! धिक्! नरोत्तम दास॥

—हाय! यह क्या हुआ? श्रीनिवासाचार्य, जिनके निकट रहकर और जिनकी कथा सुनकर मैं अपने प्राण शीतल कर लिया करता था, वे मुझे छोड़ गये। रामचन्द्र भी नहीं आये। इस दुःख के कारण मेरे प्राण छट–पट कर रहे हैं। मैं अपने मन की व्यथा किससे कहूँ? जीवन की आशा भी अब कैसे करुँ। पर धिक्कार है मुझे कि अन्न–जल, लेते हुए भी, जो मुझे विष के समान लगते हैं, मेरे प्राण निकल नहीं रहे हैं।"

गङ्गातट पर लीला संवरण

भक्त का विरह भगवान् के विरह से कम दुःखदाई नहीं होता। ठाकुर महाशय का दुःख उनके भक्तों से न देखा गया। एक दिन वे भजन–स्थली में एक वृक्ष के नीचे बैठे बाँये हाथ पर मुख टेके रुदन कर रहे थे। दूर खड़े, उनके भक्त रो रहे थे। उन्होंने जैसे ही सिर उठाकर भक्तों की ओर देखा, वैसे ही गंगानारायण ने रोते–रोते उनके चरण

पकड़कर कहा–"प्रभु, आप इस अवस्थां में कैसे जीवन धारण करेंगे?"

ठाकुर महाशय कुछ कह न सके। गङ्गानारायण के गले में बाँह डालकर रोने लगे।

गङ्गानारायण ने धैर्य धारण करं फिर कहा–"आप मेरे साथ गंभीला चलें। वहाँ गङ्गा–स्नान कर कुछ स्वस्थ हों।"

ठाकुर महाशय ने कुछ सोचकर कहा–"चलो तुम्हारे घर रहकर कुछ दिन गङ्गा–स्नान करेंगे।"

यह सुन भक्तगण प्रसन्न हुए। ठाकुर महाशय को गंभीला ले जाया गया। गंभीला में गङ्गानारायण की पत्नी नारायणी और उनकी विधवा कन्या विष्णुप्रिया थीं। जब ठाकुर महाशय अपने भक्तगण के साथ वहाँ पहुँचे तो उनके आनन्द की सीमा न रही। उस दिन से गङ्गानारायण के घर महोत्सव होने लगा। दूर–दूर के गाँवों से लोग आने लगे। कीर्तन–ध्वनि से गंभीला गूँज गया।

दो–एक दिन बाद ठाकुर महाशय को ज्वर हो आया। ज्वर धीरे–धीरे बढ़ने लगा। भक्तगण चिंतित होने लगे। चार दिन बाद ठाकुर महाशय ने स्वयं भक्तों से गङ्गातट पर ले चलने को कहा। कीर्तन करते हुए भक्तगण उन्हें गंगातट पर ले गये। गङ्गातट पर वे आँख मूंद कर लेट गये। बात करना बन्द कर दिया। कीर्तन बराबर चलता रहा।

हम कह चुके हैं कि गाँव के ब्राह्मण गङ्गानारायण और ठाकुर महाशय के प्रति बहुत द्वेष रखने लगे थे। पर वे उनके विरुद्ध कुछ कर नहीं पाये थे। ठाकुर महाशय का अंतिम समय देख उन्हें अपना रोष प्रकट करने का अवसर मिला। घाट पर आकर वे गङ्गानारायण से बोले–"चक्रवर्ती! तुम्हारे गुरु का वाक्–रोध हो गया है। अंत समय उन्हें कृष्ण–नाम लेना चाहिये। पर उनके मुख से शब्द नहीं निकल रहा है। हम पहले ही जानते थे कि जिस मुख से उन्होंने ब्राह्मण को मन्त्र दिया उस मुख का यही होना है।"

गङ्गानारायण को इससे मार्मिक पीड़ा हुई। पर वे कर ही क्या सकते थे? वे विषाद–सागर में डूबे हुए थे।

ठाकुर महाशय को आँख मूँदकर गङ्गातट पर पड़े अब तीन दिन हो गये। उनका अंत समय निकट लगने लगा। यह स्पष्ट दीखने लगा कि वे स्वेच्छा से गङ्गातट पर शरीर छोड़ने के लिये ही गंभीला आये थे। पर गङ्गानारायण उन्हें गंभीला लाकर अपने को दोषी मान रहे हैं।

क्रमशः ठाकुर महाशय की निद्रा गंभीर होती गयी। उन्होंने हरिनाम के महाकलख के बीच अपनी लीला संवरण की। बज्राहत के समान स्तम्भित हो गङ्गानारायण उनके मुख की और देखते रह गये। ब्राह्मणों ने कहा–"देख लिया न ब्राह्मण को मन्त्र देने का क्या फल होता है। जैसे ब्राह्मण को मन्त्र दिया, वैसे ही वाक्‌रोध होकर मरा न।"

गङ्गानारायण ठाकुर महाशय के चरणों में सिर रखकर रोने लगे। कुछ देर बाद न जाने उनमें क्या भाव आया। उनका रोदन बन्द हो गया। मुख पर एक अपूर्व तेज छा गया। गम्भीर स्वर में ठाकुर महाशय को सम्बोधन कर उन्होंने कहा—"प्रभो, आपने बहुत से पाखण्डियों का उद्धार किया है। इस समय जो ये मूढ़ ब्राह्मण आपकी निन्दा कर अपना सर्वनाश कर रहे हैं, इनके ऊपर करुणाकर इन्हें दण्ड दें।"

गङ्गानारायण ने जब यह कहा तो सबको लगा कि वे देवाविष्ट होकर बोल रहे हैं। बात कुछ ऐसी ही थी, क्योंकि जैसे ही उन्होंने यह कहा, ठाकुर महाशय के शरीर में स्पन्दन हुआ, श्वास आने लगा और उन्होंने आँखें खोल दीं। सब चित्रलिखित की तरह देखने लगे। किसी के मुँख से कोई शब्द न निकला। अंत में ठाकुर महाशय ने गङ्गानारायण की ओर देखकर पास आने का इशारा किया। गङ्गानारायण चरण छोड़कर उनके पास गये, तो उनका गला पकड़कर वे उठ बैठे। भक्तगण यह देख आनन्दाश्रु बहाने लगे। ब्राह्मण भयभीत हो गये। उन्होंने समझ लिया कि नरोत्तम ब्राह्मण नहीं हैं, तो भी महापुरुष हैं। गङ्गानारायण की प्रार्थना पर उन्हें दण्ड देने के लिये जी उठे हैं।

ठाकुर महाशय गंगा–स्नान कर भक्तों के साथ गंगानारायण के घर की ओर चल दिये। भक्तों में से कोई नृत्य करता जा रहा था, कोई हरि–ध्वनि करता जा रहा था। नारायणी और विष्णुप्रिया कोलाहल सुनकर बाहर आयीं। ठाकुर महाशय को एकाएक स्वस्थ होकर घर आया देख वे आनन्दाश्रु विसर्जन करने लगीं।

ठाकुर महाशय ने मृदु मुस्कान के साथ उनसे कहा—"बड़ी भूख लगी है।" वे आनन्दोमत्त हो कृष्ण का नैवेद्य तैयार करने में लग गयीं। सबने ठाकुर महाशय के साथ मिष्ठान्न प्रसाद ग्रहण किया।

थोड़ी देर में गंगानारायण ने देखा कि गाँव के बड़े–बड़े पंडित और ब्राह्मणों के मुखिया, जो ठाकुर महाशय के सबसे बड़े विरोधी थे; उनके मकान के बाहर खड़े हैं। वे जैसे ही उन्हें देखकर बाहर गये, उन्होंने उनके चरण पकड़ लिये और कहा—"तुम हमारे गाँव के हो। हमसे जो अपराध हो गया है उसे क्षमा करो। ऐसा उपाय करो जिससे ठाकुर महाशय की कृपा हम पर हो। हमने समझ लिया कि ठाकुर महाशय भगवान् के विशेष कृपापात्र और यथार्थ ब्राह्मण है। उनका विरोध कर हमने बड़ा अन्याय किया है। अब उनकी शरण–में जाय बिना हमारी गति नहीं है।

ब्राह्मणों में ऐसा परिवर्तन देख गंगानारायण अवाक्! वे उन्हें ठाकुर महाशय के पास ले गये और बोले—"प्रभु, यह लोग आपकी कृपा की याचना करने आये हैं।" ब्राह्मण ठाकुर महाशय के चरणों में जा गिरे। ठाकुर महाशय ने उनमें–से–प्रत्येक को आलिंगन किया और खेतुरी आने का आदेश दिया।

कुछ दिन गंगानारायण के घर और रहकर ठाकुर महाशय खेतुरी चले गये। खेतुरी जाकर ब्राह्मणों ने उनसे दीक्षा ली। इस प्रकार गंगानारायण का संकट दूर हुआ। उन्हें जो जातिच्युत कर दिया गया था, उन्हें और उनके परिवार को भांति–भांति से पीड़ित किया जाता था, उसकी भी समाप्ति हो गयी। साथ ही वैष्णव–धर्म के प्रचार में जो एक बड़ी बाधा थी, वह दूर हो गयी। ब्राह्मणों और वैष्णवों का विरोध अब नहीं रहा।

अन्तिम बिदा

एक दिन ठाकुर महाशय ने फिर कहा कि वे गम्भीला जायेंगे। खेतुरी में उनका जो–जो काम था, उसे पूराकर वे ठाकुर मन्दिर के प्राङ्गण में आये। प्रत्येक विग्रह के सामने कुछ देर स्तुति की। गौरांग महाप्रभु से सब जीवों के प्रति शुभ दृष्टिपात करने की प्रार्थना की। तब सब विग्रहों को दण्डवत् प्रणाम कर उनसे बिदा मांगी।

भक्तगण यह देख चिंतित हो उठे। क्या ठाकुर महाशय सदा के लिये बिदा हो रहे हैं? वे किसलिये गंभीला जा रहे हैं, उन्होंने किसी से कुछ नहीं कहा। खेतुरी के सब लोग उनके साथ जाने को हुए। पर उन्होंने मना कर दिया। केवल उनके निज जन ही उनके साथ गये।

वे पहले बुधुरी ग्राम में गोविन्द कविराज के घर गये। उनसे कहा–"मुझे कीर्तन मंगल सुनाओ। मैं यही सुनने आया हूँ।" कीर्तन आरम्भ हुआ। सारी रात कीर्तनानाद में बीत गयी।

दूसरे दिन कार्तिक मास के कृष्ण–पक्ष की पंचमी तिथि थी। ठाकुर महाशय गंभीला पहुँचे। नारायणी और विष्णुप्रिया से मधुर आलाप किया। कुछ देर में गाँव के ब्राह्मण–अब्राह्मण सब आ पहुँचे। सब ठाकुर महाशय को प्राप्तकर आनन्द–सागर में निमग्न हो गये। ठाकुर महाशय ने सबको आशीर्वाद दिया। उसके पश्चात् निज जनों के साथ गंगा–स्नान को गये।

गंगा–स्नान कर वे आधे शरीर से गंगाजल में बैठ गये। गंगानारायण और रामकृष्ण से शरीर मलने को कहा। गंगानारायण दाहिने और रामकृष्ण बाँये बैठकर शरीर मलने लगे। उनके स्पर्श करते ही शरीर दुग्धवत् हो गंगाजल में मिल गया। उसी समय अकस्मात् गंगा की तरंगे उठीं और देखते–देखते सब अदृश्य हो गया–

देहे किवा मार्ज्जन करिबे, परशिते।
दुग्ध प्राय मिशाइला गङ्गार जलेते।।
देखिते देखिते शीघ्र हैल अन्तर्धान।
अत्यन्त दुर्ज्ञेय इहा के बुझिबे आन।।
अकस्मात् गंगार तरंग उठिल।
देखिया लोकेर महाविस्मय हइल।।

–नरोत्तम–विलास

विरह महोत्सव

ठाकुर महाशय के बाद गङ्गानारायण गङ्गा में प्रवेश करने चले। पर लोग उन्हें पकड़ कर घर ले गये। गम्भीला में शोक के बादल छा गये। क्षण भर में संवाद चारों ओर फैल गया। बुधुरी से गोविन्द कविराज और खेतुरी आदि स्थानों से भक्तगण आ गये। गङ्गानारायण ने बड़ा महोत्सव किया।

उसके पश्चात् खेतुरी में राजा रूपनारायण, राजा चांदराय, राजा नरसिंह आदि ने मिलकर एक ऐसा उत्सव किया, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। देवीदास, गोकुलदास, गौरांगदास, गन्धर्वराय, रूपराय आदि ठाकुर महाशय के शिष्य कीर्तनियागण ने महा–महासंकीर्तन किया, जिसमें उन्होंने ठाकुर महाशय के रचे पदों के गान के साथ आनन्द से नृत्य किया। कहते हैं कि उस कीर्तन से आकृष्ट हो स्वयं ठाकुर महाशय ने भी प्रकट होकर सबके साथ नृत्य किया।

ग्रन्थ रचना

ठाकुर महाशय संस्कृत के महापंडित थे। पर उन्होंने सर्वसाधारण के उपकार के लिये बंगला में बहुत से ग्रन्थों की रचना की, जैसे स्मरण मङ्गल, उपासना पटल, प्रार्थना, सूर्यमणि, चन्द्रमणि, प्रेमभक्ति–चन्द्रिका, मनःशिक्षा इत्यादि। पर उनके ग्रन्थों में 'प्रार्थना' और प्रेम–भक्ति चन्द्रिका ही अधिक प्रसिद्ध है। बंगाल में घर–घर में इनका पाठ होता है। गौड़ीय–वैष्णवों के यह दोनों ग्रन्थ कंठहार हैं।

श्रीश्यामानन्दप्रभु

श्यामानन्द का जन्म का नाम था 'दुखिया' या 'दुःखी'। उनके पिता श्रीकृष्णमंगल सदगोप जाती के थे। वे बड़े कृष्ण–भक्त थे। वे गौड़देश से उड़ीसा जाकर दण्डेश्वर के अन्तर्गत धारेन्दा बाहादुरपुर ग्राम में रहने लगे थे। उनकी सहधर्मिणी श्रीदुरिका सब प्रकार से उनकी अनुगामिनी थीं। उनकी कई संतान होकर मर चुकी थीं, तब **संवत् १४९१** में श्यामानन्द का जन्म हुआ था। श्यामानन्द को उन्होंने बड़े दुःख से पाला था। इसी से उनका नाम 'दुखिया' रखा था।

शिशु काल से ही दुखिया अन्य बालकों से अलग और खेल–कूद से उदासीन रहते थे। भक्त–गाथाओं के पढ़ने–सुनने में उनकी प्रारम्भ से ही बड़ी रुचि थी। श्रीगौरांग महाप्रभु और श्रीनित्यानन्दप्रभु की कथाएँ वे बड़े मनोयोग से सुनते। सुनते–सुनते प्रेमानन्द में उन्मत्त हो जाते। परम करुणामय श्रीगौरांग महाप्रभु को किस प्रकार क्या किया जाय यही चिंता उन्हें उद्विग्न किये रहती। उन्होंने सुना कि गुरु–कृपा के बिना गौर–प्राप्ति को कोई उपाय नहीं है। गुरु–चरण की प्राप्ति के लिये तब वे दिन–रात बेचैन रहने लगे, यहाँ तक कि उनका खाना–पीना भी दूभर हो गया। वे

समझ नहीं पा रहे थे कि वे क्या करें, कहाँ जायें जिससे उन्हें श्रीगुरु मिलें। एक दिन रात्रि में यही चिंता करते–करते वे सो गये। स्वप्न में श्रीमन्महाप्रभु ने दर्शन देकर कहा–अम्बिका कालनामें गौरीदास पंडित के शिष्य हृदय चैतन्य रहते हैं। तुम शीघ्र वहाँ चले जाओ। वही तुम्हें दीक्षा देंगे।'

हृदय चैतन्य की शरण में

दूसरे दिन जनक–जननी को शोक–सागर में निमग्न कर दुःखी संसार त्यागकर कालनाकी ओर अग्रसर हुए। मार्ग में वे कभी सोचते–क्या हृदय चैतन्यप्रभु सचमुच मुझे अंगीकार करेंगे? क्या मैं उनके योग्य हूँ? कभी महाप्रभु के वचन याद कर आश्वस्त होते और उनकी अहैतुकी कृपा का स्मरण कर रोने लगते। गुरुदेव के चरण दर्शन करने की उत्कण्ठा उन्हें द्रुत गति से अम्बिका कालनाके पथ पर लिये जा रही थी।

इधर हृदय चैतन्य उनकी प्रतीक्षा में व्याकुल हो रहे थे। उनके हृदय में सदा चैतन्य वास करते थे, इसी से उनका नाम हृदय चैतन्य था। उनका यह जान लेना स्वाभाविक था कि श्रीचैतन्य की कृपा प्राप्तकर दुःखी उनकी आज्ञा से उनके पास आ रहा है। श्रीचैतन्य की जिस पर इतनी कृपा हो, उसे प्राप्त करने के लिये उनका व्याकुल हो उठना भी स्वाभाविक था।

कालना पहुँचकर दुःखी हृदय चैतन्य का अनुसन्धान करते हुए उस स्थान पर पहुँचे जहाँ निताइ–गौरांग की एक आश्चर्यजनक लीला के चिन्ह–स्वरूप उनके श्रीविग्रह आज भी विद्यमान हैं।

लीला इस प्रकार हैं। महाप्रभु और नित्यानन्दप्रभु एक बार श्रीकृष्ण–लीला के द्वादश गोपालों के अन्यतम सुबल सखा के अवतार गौरीदास पंडित के घर गये। वहाँ नृत्य–कीर्तन के साथ बड़ा महोत्सव हुआ। महोत्सव के उपरान्त जब दोनों भाई बिदा होने को हुए गौरीदास पंडित उनके चरणों में लोटकर अश्रु गद्‌गद् कण्ठ से अनुनय–विनय करते हुए बोले–'प्रभु, मुझे लगता है कि मैं एक पल भी आपके बिना जीवित नहीं रह सकूँगा। मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे छोड़कर कहीं न जायें। यहीं रहकर चिरकाल अपनी सेवा का सुख प्रदान करने की कृपा करें।' महाप्रभु के बहुत समझाने पर भी जब गौरीदास पंडित उन्हें छोड़ने को तैयार न हुए, तब भक्तवत्सल प्रभु ने कहा–'अच्छा, तुम हम दोनों की मूर्तियों की सेवा करो। हम तुम्हारी सेवा वैसे ही अंगीकार करेंगे, जैसे तुम चाहते हो।' इस पर भी गौरीदास पंडित आश्वस्त न हुए। पर महाप्रभु की आज्ञा से उन्होंने महाप्रभु और नित्यानन्दप्रभु के दो श्रीविग्रह तैयार करवा लिये। विग्रह आ गये तो महाप्रभु ने कहा–'इन्हें हमारे दोनों के साथ भोजन कराओ।' गौरीदास पंडित ने उन्हें भोजन करवाया। चारों को एक साथ भोजन करते देख वे परमानन्दित हुए। भोजन के उपरान्त पुष्पमाला

पहराने और सर्वांग में चन्दन लेपन के छल से चारों की परीक्षा कर वे पूर्णरूप से आश्वस्त हुए। तब महाप्रभु ने कहा–'हमारी जौन–सी भी जोड़ी चाहो रख लो और दूसरी को बिदा कर दो।' गौरीदास ने जो जोड़ी बोल रही थी उसी से रह जाने को कहा। वह मूर्तिरूप में रह गयी। दूसरी जाने लगी। गौरीदास को संदेह हुआ। उन्होंने जाने को प्रस्तुत महाप्रभु और नित्यानन्दप्रभु से कहा–'नहीं, आप नहीं, आप यहीं रहिये।' दूसरी जोड़ी की ओर देखकर कहा–'आप पधारिये।' तब वह जोड़ी मूर्तिरूप में रह गयी और दूसरी जाने लगी। इस प्रकार कई बार हुआ। अंत में निरुपाय हो गौरीदास ने एक जोड़ी को रख लिया। आज भी श्रीविग्रहों की वही जोड़ी कालनामें विद्यमान है।

उस स्थान पर पहुँचकर श्रीदुःखी ने गौरीदास पंडित के निताई–गौर विग्रह के दर्शन किये। वहीं उन्हें अपने हृदय के ठाकुर श्रीहृदय चैतन्य का साक्षात्कार हुआ। उन्हें देखते ही वे उनके चरणों में लोट गये। रोते–रोते महाप्रभु के स्वप्नादेश की बात कही और अपने चरणों में आश्रय देने की प्रार्थना की।

हृदय चैतन्य ने उन्हें उठाकर अपने हृदय से लगा लिया और कहा–'वत्स, चिंता न करो। तुम जन्म–जन्म से मेरे हो, मैं तुम्हारा हूँ।' इतना कह उन्होंने निताइ–गौर की ओर देखते हुए कहा–'प्रभु, यह तुम्हारा नित्य दास तुम्हारे चरणों में समर्पित है। इसे अंगीकार करो।'

हृदय चैतन्य ने शुभ मुहूर्त में दुःखी को दीक्षा दी। नाम रखा कृष्ण–दास। तभी से वे 'दुःखी कृष्णदास' कहलाने लगे।

हृदय चैतन्य ने कृष्णदास को अपने पास रख गौर–निताइ की पुष्प–वाटिका को जल से सींचने की सेवा प्रदान की। कृष्णदास तन–मन से इस सेवा में जुट गये। बाटिका को सींचने के लिये उन्हें जल दूर गङ्गा नदी से लाना पड़ता। दिन में कई चक्कर गङ्गातट के करने पड़ते। पर वे थकते बिलकुल नहीं। गुरु–आज्ञा पालन करने के आवेश में वे अपने शरीर और आहार–निद्रा तक को भूले रहते। जल के कलश ढोते–ढोते उनके सिर में घाव हो गया। घाव में कीड़े पड़ गये। पर गुरु–सेवा में रत कृष्णदास का ध्यान उधर नहीं गया।

वे नित्य निताइ–गौर के नाम–गुण–लीला का कीर्तन करते नाचते–कूदते गंगातट पर जल भरने जाते और कीर्तन करते ही वापस आते। वापस आते समय उन्हें केवल यह चेतना रहती कि वे निताइ–गौर की वाटिका के लिये जल लिये जा रहे हैं। यह विचार उन्हें आनन्दोन्मत्त किये रहता और प्रेमाश्रु नेत्रों से ढलते रहते। सिर पर रखे घड़े से जल छलकता होता और नेत्रों से अश्रु। देह की सुध उन्हें बिल्कुल न रहती।

एक दिन गुरुदेव ने सिर में घाव देखकर पूछा–'यह तुम्हारे मस्तक में क्या हो गया है? विशेष कुछ नहीं' कह कृष्णदास ने प्रश्न को

टालते हुए वहाँ से सरक दिये। पर हृदय चैतन्य समझ गये कि जल ढोने के कारण उनके घाव हो गया है। वे स्नेह की दृष्टि से उन्हें जाते हुए देखते रह गये।

वृन्दावन में

एक दिन हृदय चैतन्यप्रभु ने कृष्णदास से कहा–'अब तुम्हें यहाँ रहने की आवश्यकता नहीं। तुम श्रीधाम वृन्दावन चले जाओ। वहाँ श्रीजीव के आनुगत्य में रहकर भक्ति–ग्रन्थों का अध्ययन और भजनांग का याजन करो। मेरे दर्शन तुम्हें यथासमय फिर होंगे।'

कृष्णदास के प्राण तो गुरुदेव के चरणों में बसते थे। उन्हें छोड़कर उनका जाना वैसा ही था, जैसा मछली का जलाशय छोड़कर जाना। पर गुरुदेव की आज्ञा का उल्लंघन करना भी उनके लिये संभव नहीं था। उन्हें जाना ही था। निताइ–गौर के सम्मुख जाकर उन्होंने कहा–'गुरुदेव की आज्ञा से वृन्दावन जा रहा हूँ। आप दोनों की सेवा से वंचित हो रहा हूँ। आप ऐसी कृपा करें कि जहाँ भी रहूँ गुरुदेव को न भूलूँ। उनके चरणों की स्मृति मेरे हृदय में सदा बनी रहे। गुरु–चरणों के सिवा मेरा और कोई संबल नहीं है। उनकी आज्ञा पालन करने के सिवा मेरे लिये और कोई साधन भी नहीं है। उनके चरणों को हृदय में रख उनकी आज्ञा का पालन कर सकूँ यह मेरी प्रार्थना है।

उसी समय गौर के गले से माला उतारकर पुजारी ने कृष्णदास को पहना दी। उनकी आज्ञा–माला प्राप्त कर और उन्हें और गुरुदेव को प्रणाम कर वे वृन्दावन के पथ पर चल दिये। चलते समय उन्होंने कई बार आँसू पोंछते हुए मुड़–मुडकर गुरुदेव के आश्रम की ओर देखा। यह सोचकर उनके प्राण छट–पट करने लगे कि अब न जाने कब गुरुदेव के दर्शन कर वे अपने प्राणों को शीतल कर सकेंगे।

चलते–चलते कृष्णदास मार्ग में बहुत–से तीर्थों का दर्शन करते हुए ब्रजमंडल पहुँचे। व्रजमंडल पहुँचकर वे पहले राधाकुण्ड गये श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के दर्शन करने। राधाकुण्ड के दर्शन कर वे भाव–विह्वल हो गये। अश्रु–कम्पादि सात्विक भावों ने ऐसा आ घेरा कि वे अपने वश में न रहे। 'हा, राधे! हा किशोरी! हा प्राणेश्वरी! हा स्वामिनी! कह चीख–चीखकर रोने लगे। उसी समय दास गोस्वामी के अनुगत दास–व्रजवासी नाम के एक व्रजवासी ने उन्हें देखकर समझ लिया कि वे गौर के विशेष कृपा–पात्र हैं, क्योकि गौर की कृपा के बिना ऐसी प्रेमोन्मत्तता संभव नहीं है। वह उन्हें दास गोस्वामी के पास ले गया। दास गोस्वामी को देख कृष्णदास उनके चरणों में गिर गये। उन्हें देखते ही उनके नेत्रों से शत–शत अश्रुधार बहने लगीं। दास गोस्वामी ने परिचय पूछा तो उन्होंने कहा–"मैं गौरीदास पंडित के शिष्य हृदय चैतन्य प्रभु का कृतदास हूँ।"

परिचय पाते ही रघुनाथदास गोस्वामी ने कहा–"आओ बापू, निकट आओ। तुम्हें अपने हृदय में रख लूँ।" दोनों बाँहें पसारकर उन्होंने उन्हें प्रेमालिंगन प्रदान किया। कुछ दिन अपने पास रख बहुत प्रकार से उन पर कृपा की। अन्त में श्रीजीव गोस्वामी के पास वृन्दावन जाकर रहने की आज्ञा दी।

तब वे वृन्दावन चले गये। जीव गोस्वामी अपने किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिये पहले ही उनकी बाट देख रहे थे। उन्होंने भी उनके ऊपर अपने स्नेह की वृष्टि की। उन्हें अपने निकट रख शास्त्राध्ययन कराया और भजन की शिक्षा दी।

तीन प्रभु

वृन्दावन आने पर कृष्णदास की प्रथम बार श्रीनिवासाचार्य और नरोत्तम ठाकुर से भेंट हुई। गौड़ीय–वैष्णवों की मान्यता के अनुसार जिस प्रकार श्रीनिवासाचार्यप्रभु श्रीमन्महाप्रभु के और श्रीनरोत्तम ठाकुर नित्यानन्द प्रभु के आवेशावतार थे, उसी प्रकार कृष्णदास (श्यामानन्द) श्रीअद्वैत प्रभु के आवेशावतार थे। तीन प्रभुओं के तीन आवेशावतारों के वृन्दावन में मिलन से गौर–लीला के दूसरे अध्याय का सूत्रपात हुआ। तीनों ने पहले व्रजमण्डल में घूम–फिर कर गौर–लीला–अभिनय और गौर–गुण–कीर्तनादि के माध्यम से गौर–प्रेम और कृष्ण–प्रेम की गंगा बहायी, फिर पूर्व के देशों में। तीनों जब मिलकर श्रीमन्महाप्रभु के लीला–प्रसंग में रत होते तो बाह्य–ज्ञान खो बैठते। प्रेम–पयोधि में तैरते–तैरते दिन और रात परमानन्दपूर्वक व्यतीत कर देते। कभी वे गोवर्धन की गुफाओं में जाकर एकान्त भजन में कुछ दिन व्यतीत कर आते, कभी राधाकुण्ड जाकर रघुनाथदास गोस्वामी और कृष्णदास कविराज के साथ कथा–प्रसंग का सुख ले आते। कभी निताइ–गौर और रूप–सनातनादि की याद में रोते–रोते आँसुओं की झडी लगा देते। बार–बार विधाता को कोसते कि हमें उस समय जन्म क्यों नहीं दिया जब हम उनके संग और सेवा–सुख का उपभोग कर कृतार्थ हो सकते।

राधारानी की कृपा

कृष्णदास का श्यामानन्द नाम जैसे पड़ा उसका एक मनोरम वृतान्त है। कृष्णदास के मन में वासना जागी श्रीराधा और राधारमण के निकुंज–बिहार का भोग करने की। उन्होंने अपनी इच्छा जीव गोस्वामी के सामने व्यक्त की। जीव गोस्वामी ने उन्हें मानसी–सेवा में निशान्त–लीला के समय निधुवन में राधादासी रूप में झाडू–सेवा करने का आदेश दिया। वे नित्य शेष–रात्रि में निधुवन में झाडू–सेवा करने लगे। झाडू लगाते–लगाते वे कभी नृत्य करने लगते, कभी विरह में रोने लगते। इस प्रकार कई दिन बीत गये। एक दिन राधारानी की कृपा से सहसा उनका ध्यान आकर्षित हुआ निधुवन में पड़े एक नूपुर की ओर, जो अपने अलौकिक प्रकाश से

निधुवन को आलोकित कर रहा था। देखते ही उन्हें लगा कि वह प्रकाश उनके हृदय–प्रांगण में प्रवेश कर उन्हें आनंदोन्मत्त कर रहा है। वे आनंद की उस लहर को झेल न सके। मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। चेतना आने पर उन्होंने नूपुर को उठा कर मस्तक से लगाया।

नूपुर को मस्तक से लगाते ही उनके शरीर में अश्रु, कम्प, पुलक, स्तम्भादि सात्विक भावों का उदय हो आया। उनकी संविद्–शक्ति भी उसके स्पर्श से जाग गयी। उन्होंने समझ लिया कि यह राधारानी के चरणों का नूपुर है, तभी उसके स्पर्शमात्र से सात्विक भावों का उदय हुआ है। जिस वस्तु को महाभाव स्वरूपिणी राधारानी के चरण का स्पर्श मिला हो उसके स्पर्श से भावोद्गम होना स्वाभाविक है। वे नूपुर को बार–बार कभी सिर से, कभी हृदय से लगाने और कभी स्नेह की दृष्टि से देख–देख चूमने लगे। प्रेम से व्याकुल हो रो–रोकर कहने लगे–"स्वामिनी, तुमने नूपुर के दर्शन दिये, पर नुपूर सहित चरणों के दर्शन क्यों नहीं दिये, ऐसी कृपा कब करोगी जब इस नूपुर को तुम्हारे चरण–कमल में धारण कराने का सौभाग्य प्राप्त होगा? मैं जानता हूँ कि मेरे हाथ तुम्हारे चरण–स्पर्श करने योग्य नहीं। तुम्हारे चरण–कमल–स्पर्श करने की मेरी वासना बौने की आकाश के चाँद को स्पर्श करने जैसी है। पर तुम्हारी करुणा से क्या नहीं संभव है? क्या तुम्हारे चरणों के सान्निध्य में आते ही, उनकी छटा लगते ही मेरे हाथ इस योग्य न हो जायेंगे कि उन्हें स्पर्श कर सकें और स्पर्श कर हृदय से लगा सकें?

कृष्णदास इस प्रकार रोदन कर रहे थे उसी समय नित्य–लीला में राधारानी ने देखा कि उनके एक चरण में नूपुर नहीं है। तुरत ललिता को बुलाकर उन्होंने कहा–'ललिते, मेरा नूपुर कहीं गिर गया है, निधिवन में जाकर देखो वहाँ तो नहीं है।' ललिता समझ गयीं कि लीलामयी को कोई नयी लीला करनी है, तभी नूपुर निधुवन में छोड़ आयी हैं। पर बिना कुछ कहे वे निधुबन चली गयीं! प्रभात हो गया था, इसलिये एक वृद्धा ब्राह्मणी के वेश में गयीं। वहाँ कृष्णदास को देखकर कहा–'तुमने क्या यहाँ कोई नूपुर देखा है? मेरी बहू जमुना–जल लेने गयी थी। उसी समय उसके पैर से निकल पड़ा। यदि तुम्हें कहीं मिला हो तो बताओ।'

कृष्णदास ने कहा–'मुझे मिला है अवश्य। पर वह नूपुर तुम्हारा नहीं है। उसे देखते ही मैं मूर्च्छित हो गया और स्पर्श करते ही प्रेम–समुद्र में गोते खाने लगा। मनुष्य के नूपुर के स्पर्श से क्या ऐसा होना संभव है? मुझे पूरा विश्वास है कि वह नूपुर राधारानी का है, अन्य किसी का नहीं। नूपुर मैं तुम्हें नहीं दूँगा, जिसका है उसी के चरणों में पहराऊँगा।'

वृद्धारूपिणी ललिता ने कहा–'तुमने ठीक जाना है। नूपुर राधारानी का है। तुम भाग्यशाली हो जो तुम्हें मिला है। तुम्हारे ऊपर राधारानी की कृपा है। तभी तुम्हें यह मिला है। उनकी कृपा के बिना क्या

उनके नूपुर का स्पर्श छोड उसकी हवा भी किसी को लग सकती है? मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। बताओ तुम्हें क्या वर दूँ। वर द्वारा तुम्हारी वांछा पूर्णकर नूपुर ले जाऊँगी और राधारानी को दे दूँगी।'

कृष्णदास ने सोचा वृद्धा वर माँगने कह रही है और नूपुर ले जाकर राधारानीं को देने कह रही है। निश्चय ही यह राधारानी कीं कोई सखी है, जो वृद्ध ब्राह्मणी के वेश में आयी है। उन्होंने कहा–'देखो ठाकुरानी, मैं नूपुर तुम्हें ऐसे नहीं दूँगा। मैं जान गया किं तुम राधारानी की कोई हो। बताओ तुम कौन हो? अपना परिचय दो, अपने स्वरूप के दर्शन कराओ और नूपुर ले जाओ।'

तंब ललिता ने हंसकर कहा–'मैं राधारानी की दासी हूँ। मेरा नाम ललिता है।' इतना कह उन्होंने अपने स्वरूप के दर्शन कराये। दर्शन करते ही कृष्णदास मूर्च्छित हो गये। ललिता ने उन्हें चेत कराया। चेतना आते ही उन्होंने प्रणाम किया। प्रेमाश्रु उनके नेत्रों से झर–झर गिरने लगे। सर्वाङ्ग पुलकित हो उठा। कण्ठ गद्‌गद् हो जाने के कारण वे कुछ कह न सके।

लंलिता ने कहा–'वर माँगो।'

कृष्णदास ने कहा–'और क्या वर मागूँ। ऐसी कृपा करें कि आपकी दासी बन राधा–कृष्ण की सेवा करूँ।'

'तुम्हें राधा–कृष्ण प्राप्त हों' कह ललिता ने कान में मन्त्र दिया। मन्त्र देकर कहा–'इस मन्त्र का स्मरण करने से तुम्हें राधा के दर्शन होंगे।'

मन्त्र प्राप्त करते ही कृष्णदास को प्रेमोदय हुआ। प्रेमानन्द से परिपूर्ण हो वे ललिता के चरणों में गिर पड़े। ललिता ने अपना चरण उनके मस्तक पर रख दिया। फिर उठाकर आशीर्वाद दिया। नूपुर लेकर उनके माथे से स्पर्श किया और हंसकर कहा–'यह राधा का चिन्ह तुम्हारे माथे पर रहा। नूपुर–रूप में तुम्हें श्यामाजी की कृपा प्राप्त हुई, इसलिये आज से तुम्हारा नाम श्यामानन्द हुआ। यह बात तुम जीव गोस्वामी के सिवा और किसी से न कहना।' इतना कह ललिता अदृश्य हो गयीं।

ललिता के स्पर्श से श्यामानन्द का शरीर भी तेजोमय काञ्चन–वर्ण का हो गया। परिवर्तित नाम, वर्ण और तिलक को लेकर वे जीव गोस्वामी के पास गये। उनके चरणों में गिरकर राधारानी और ललिता की कृपा–प्राप्ति का सारा वृतान्त सुनाने के बाद अश्रु–गदगद् कण्ठ से कहा–'प्रभु, यह महालाभ मुझे केवल आपकी कृपा से हुआ है। मैं कब इसका पात्र था?

१. यह अंश हमने श्रीरामदास बाबाजी महाराज के 'श्रीश्रीश्यामानन्द-सूचक-कीर्तन के आधार पर लिखा है। कुछ लोगों का मत है कि श्रीहृदय चैतन्य को जब श्यामानन्द के तिलकादि परिवर्तन का पता चला तो उन्होंने पत्र द्वारा उन्हें अपने निकट बुलाकर इस परिवर्तन का कारण पूछा। श्यामानन्द ने कहा-'प्रभु आप ही की कृपा से तो यह हुआ है!' हृदयानन्द सब कुछ समझ गये। पर जगत् में गुरु-भक्ति की महिमा प्रकाश करने के लिये उन्होंने अपने हाथ से तिलक मिटाने की चेष्टा की। जितनी चेष्टा की उतना ही तिलक और उज्ज्वल होता गया। (श्रीकृष्ण चैतन्य दास गुप्त : श्रीश्रीनिवासाचार्य चरितामृत, पृ० ९६)

आपके चरणों में मेरी यही प्रार्थना है कि आपकी कृपा–दृष्टि मुझ पर बनी रहे।'

जीव गोस्वामी ने श्यामानन्द को सप्रेम आलिंगन किया और कहा–'श्यामानन्द तुम महाभाग्यवान हो, तुम्हें राधारानी की कृपा से उनका नूपुर मिला और ललिता की कृपा से मन्त्र और नया तिलक मिला।'

श्यामानन्द की शिष्य परम्परा में आज तक वैसा ही तिलक धारण किया जाता है और वह श्यामानन्दी तिलक कहलाता है। पर श्यामानन्द के तिलक को लेकर वैष्णव समाज में विवाद उठ खड़ा हुआ। असली रहस्य का तो किसी को पता न चला। पर तिलक और नाम बदला देख सबने समझा कि कृष्णदास ने गुरु त्याग कर किसी और से मन्त्र लिया है। तभी उनका नाम और तिलक बदल गया है। गुरु–त्यागी कहकर उनकी लोग निन्दा करने लगे। तब उन्होंने तिलक मिटाने की बहुत चेष्टा की। पर वे जितना उसे रगड़ते उतना ही वह और उज्ज्वल होता जाता। यह देख वे चिंता में पड़ गये। तब उन्हें देववाणी सुनाई दी–'तिलक मिटाने की वृथा चेष्टा न करो। यह राधारानी की कृपा का चिन्ह है। इसे प्राप्तकर अंपने को धन्य समझो।' तब श्यामानन्द आश्वस्त हुए।[1]

उत्कल में प्रचार

उत्कल देश की अवस्था श्रीमन्महाप्रभु के अप्राकट्य के पश्चात् बड़ी दयनीय हो गयी थी। 'रसिक मगल' ग्रन्थ के लेखक श्रीगोपीजनबल्लभदास के अनुसार मद्यपान, दस्युता, लाम्पट्य यहाँ तक कि नरहत्या से सारा प्रदेश जर्जरित था–

उत्कले सर्वजन पापे दृढ़मति।
नाहिलय हरिनाम, ना-सुने हरिकीर्त्ति।।
अतिशय दुष्टकर्म करे निरन्तर।
ब्राह्मण-वैष्णव निन्दा करये बिस्तर।।
मद्यपान मत्त हये कराये हिंसन।
दण्डधारी संन्यासी आर वैष्णव ब्राह्मण।।
धनलोभे हिंसन करये साधु जन।
वन-भूमि मध्ये करे एइ आचरण।।

(रसिक मंगल)

जीव गोस्वामी ने श्यामानन्द द्वारा उत्कल का उद्धार करने का निश्चय किया। इसलिये जब उन्होंने श्रीनिवासाचार्य और नरोत्तम ठाकुर को नवनिर्मित भक्ति–ग्रन्थों को लेकर प्रचारार्थ गौड़देश भेजा, तब श्यामानन्द को उनके साथ कर दिया। मार्ग में ग्रन्थों की चोरी के बाद श्रीनिवासाचार्य वहीं रह गये। नरोत्तम ठाकुर और श्यामानन्द को आगे भेज दिया। गौड़ में अपने घर खेतुरी पहुँचकर नरोत्तम महाशय ने कुछ लोगों के साथ उन्हें

उत्कल भेज दिया।

उत्कल जा श्यामानन्द ने सहस्त्रों शिष्य किये और महाप्रभु के प्रेम–धर्म का धुआँधार प्रचार किया। उनके प्रधान शिष्य श्रीरसिकानन्द हुए। वे प्रचार–कार्य में उनके प्रधान सहायक हुए। उनके साथ उत्कल में भ्रमण करते हुए उन्होंने अनेक दुराचारी व्यक्तियों और नृशंस हत्यारों को भक्तिपथ पर आरूढ कर उनका उद्धार किया। इस सम्बन्ध में नृसिंहपुर के भूमाधिकारी उद्दण्डराय की कहानी प्रसिद्ध है। वह ब्राह्मण–वैष्णवों का विरोधी था। उनकी हत्या कर उनके पास जो भी संपत्ति होती, उसका अपहरण कर लिया करता था। उसने अनेकों भजनानन्दी निष्किचन वैष्णवों की हत्या की थी, जिनके पास गुदड़ी आदि के सिवा और कुछ नहीं था। ऐसे ७१८ वैष्णवों की हत्याकर उसने ७१८ गुदड़ियों की प्रदर्शनी अपने घर में लगा रखी थी। श्यामानन्द के दर्शन मात्र से असुर प्रकृतिका वह व्यक्ति भी परम साधु हो गया। श्यामानन्द की शरण ग्रहण कर गुरु, कृष्ण और साधु–वैष्णवों की सेवा में ही रत रहने लगा–

बड़ई प्रतापी, बड़ असुर आछिला।
श्यामानन्द परशे परम साधु हैला।।
देखिया सकल लोके लागे चमत्कार।
गुरू-कृष्ण-साधु बिने ना जानय आर।।

–रसिक मंगल

तिरोधान

एक दिन हठात् अम्बिका कालानासे संवाद आया कि श्रीहृदय चैतन्य का अंतर्धान हो गया। श्यामानन्द विरह–सागर में डूब गये। रसिकानन्द को निकट बुलाकर कहा–'मुझसे गुरुदेव का विरह सहन न होगा। मैं अब पृथ्वी पर नहीं रहने का–

आर ना रहिब आमि अवनी मंडले।
हृदयानन्द विच्छेद अन्तर विदरे।।

–रसिक मंगल

उसी समय वे उद्दण्ड राय के घर नृसिंहपुर चले गये। चार मास विरह–व्याकुल अवस्था में वहाँ व्यतीत कर सं० १६३० की जगन्नाथदेव की स्नानयात्र–पूर्णिमा के बाद कृष्णपक्ष की प्रतिपद् नित्यधाम पधारे।



श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती का जन्म सं0 1711 में मुर्शिदाबाद जिले के अन्तर्गत देवग्राम में राढीय श्रेणी के ब्राह्मणकुल में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा देवग्राम में समाप्त कर भक्तिशास्त्र अध्ययन करने के लिये वे सैदाबाद चले गये।

उन्होंने 'संकल्प कल्पद्रुम' में अपनी गुरु–प्रणाली लिखी है। उसमें उन्होंने सैदाबाद–निवासी श्रीनरोत्तम ठाकुर की शाखा के श्रीकृष्णचरण चक्रवर्ती को अपना परम–गुरु और उनके पुत्र श्रीराधारमण को दीक्षा–गुरु लिखा है। श्रीकृष्णचरण चक्रवर्ती से ही उन्होंने श्रीमद्भागवतादि भक्ति–शास्त्रों का अध्ययन किया। यहीं उन्होंने बिन्दु, किरण, कणा आदि ग्रन्थों और 'अलङ्कार कौस्तुभ'' की अपनी टीका की रचना की।[1]

विश्वनाथ चक्रवर्ती का विवाह छोटी अवस्था में हो गया। पर छोटी अवस्था से ही उनका वैराग्य और कृष्णानुराग इतना प्रबल था कि उनका विवाहित होना अविवाहित रहने जैसा ही था। युवावस्था में ही वे वृन्दावन चले गये। केवल एक दिन के लिये गुरु के आदेश से घर आये। उस दिन रात्रि भर साध्वी पत्नी को भागवत–रसामृत पान करा दूसरे दिन गृह त्यागकर वृन्दावन लौट गये।

वृन्दावन में उन्होंने वेश ग्रहण कर लिया। वेशाश्रय के बाद उनका नाम हुआ "श्रीहरिवल्लभ।" बहुत–से भक्ति साहित्य की रचना कर उन्होंने वैष्णव समाज का बड़ा उपकार किया। महान पंडित, महान दार्शनिक, महान् रसवेत्ता और श्रेष्ठ कवि होने के साथ–साथ परम भक्त होने के कारण वे वृन्दावन से तत्कालीन वैष्णव समाज के कर्णधार स्वरूप थे। उस समय उनके नाम से यह श्लोक प्रसिद्ध हो गया था–

विश्वस्य ना पोऽसौ भक्तिवर्त्मप्रदर्शनात्।
भक्त चक्रे वर्तित्वात् चक्रवर्त्याख्ययाऽभवत्।।

अर्थात्, भक्ति भाव का प्रदर्शन करने वाले भक्तों के नाथ रूप होने के कारण और भक्त–चक्र में (भक्त समाज में) चक्रवर्ती सम्राट रूप होने के कारण उनका विश्वनाथ चक्रवर्ती नाम पड़ा।

उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे जिस खुले हुए स्थान पर बैठकर ग्रन्थ लिखते, उस पर वर्षा होती हो तो भी उनके और ग्रन्थ के ऊपर वर्षा की बूंदें न पड़तीं। यह भी प्रसिद्ध है कि उत्तर–काल में गोवर्धन के सिद्ध बाबा ने मानसी गंगा में डूबकर तीन–चार दिन बाद

१. श्रीगौड़ीय–वैष्णव जीवन–प्रथम खण्ड पृ० १३३

उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का जल–स्पर्श–शून्य अवस्था में संग्रह किया था।

अनुश्रुति है कि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती के काल में स्वकीया और परकीया भाव की उपासना को लेकर विवाद खड़ा हुआ। चक्रवर्तीपाद ने परकीया भाव की उपासना का प्रबल समर्थन किया। उन्होंने अपने अकाट्य तर्कों और श्रीमद्भागवत, पद्म, पुराण, सनत् कुमार संहिता आदि शास्त्र–प्रमाणों की सहायता से विपक्षियों को परास्त कर दिया। विपक्ष के पंडित बहुत क्षुब्ध हुए। एक दिन वे उनका प्राण–हरन् करने के उद्देश्य से उनके नित्य भ्रमण करने के स्थान पर गये। वहाँ उन्हें चक्रवर्तीजी तो दीखे नहीं, एक बालिका दीखी, जो अपनी सहचरियों के साथ पुष्प बीन रही थी। बालिका से पंडितों ने पूछा–"लाली, चक्रवर्तीजी को देख्यौ है?"

"देख्यौ तो। जाने कित कूँ चले गये" बालिका ने मन्द हास्य सहित कहा।

पंडितगण ने बालिका के हास्य, सौंदर्य–लावण्य और हाव–भाव से मुग्ध होकर फिर पूछा–"लाली तू कौन की है? कहाँ रहे?"

"मैं राधारानी की सहचरी हूँ। राधारानी जा समय श्वसुरालय में जावट में हैं। मोएँ श्रीकृष्ण के तई फूल चुनबे को भेज्यौ है।" बालिका ने उत्तर दिया।

उत्तर देने के साथ ही बालिका सहचरियों सहित अंतर्धान हो गयी। उसके स्थान पर चक्रवर्ती जी दीखने लगे। पंडितों को यथार्थ तथ्य का बोध हुआ। चक्रवर्तीजी के प्रति उनका मात्सर्य जाता रहा और उन्होंने उनके चरणों में गिरकर क्षमा माँगी। इस प्रकार की और भी कितनी किंवदंतियाँ श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती के संबंध में प्रचलित हैं।

गोविन्द–भाष्य के रचयिता श्रीबलदेव विद्याभूषण चक्रवर्तीपाद के ही शिष्य थे। उन्होंने ही उन्हें शक्ति संचार कर जयपुर भेजा था, जहाँ जयपुर–नरेश जयसिंह द्वारा बुलाई गयीं एक सभा में उन्होंने चैतन्य–सम्प्रदाय–की प्रामाणिकता सिद्धकर सम्प्रदाय की पताका फहरायी थी।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीपाद ने जिस सुविस्तृत संस्कृत भक्ति–साहित्य की रचना की उसकी तुलना नहीं है। श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद ने उनके अब तक प्राप्त ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार दी है–

1. श्रीव्रजरीति चिन्तामणि
2. श्रीचमत्कार चन्द्रिका
3. श्रीप्रेम सम्पुट
4. श्रीकृष्ण भावनामृत महाकाव्यम्
5. श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु–बिन्दुः

6. श्रीउज्ज्वल नीलमणि–किरणलेशः
7. श्रीभागवतामृत–कणा
8. श्रीरागवर्त्म–चन्द्रिका
9. श्रीऐश्वर्य कादम्बिनी
10. श्रीमाधुर्य–कादम्बिनी
11. श्रीगौरगणोद्देश–चन्द्रिका
12. श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु–टीका
13. श्रीदानकेलिकौमुदी–टीका
14. श्रीललितमाधव–नाटक–टीका
15. श्रीविदग्धमाधव–नाटक–टीका
16. श्रीउज्वलनीलमणि–टीका (आनन्द चन्द्रिका)
17. हंसदूत–टीका
18. श्रीआनन्द–वृन्दावन–चम्पू–टीका (श्रीसुखवर्तनी)
19. श्रीअलंकार–कौस्तुभ–टीक (श्रीसुबोधिनी)
20. श्रीगोपालतापनी–टीका
21. श्रीब्रह्मसंहिता–टीका
22. श्रीमद्भगवद्गीता–टीका
23. श्रीमद्भागवत–टीका (सारार्थदर्शिनी)
24. श्रीचैतन्य–चरितामृत टीका (असम्पूर्णा)
25. श्रीप्रेमभक्ति चन्द्रिका–टीका
26. क्षणदागीतचिन्तामणि (पद संकलन–ग्रन्थ, जिसमें विश्वनाथ चक्रतर्वीपाद द्वारा रचित 'व्रजवल्लभ' छाप के कुछ व्रजभाषा के पद भी हैं)
27. श्रीस्तवामृत–लहरीधृत–स्तोत्रावली

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती को कोई–कोई श्रीरूप गोस्वामी का दूसरा अवतार कहते हैं, जिन्होंने उनके ग्रन्थों की टीका लिखकर और उनका संक्षिप्तीकरण कर उन्हें सरल और सुगम बनाया है। उनकी श्रीमद्भागवत और गीता की टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती को कोई–कोई श्रीरूप गोस्वामी का दूसरा अवतार कहते हैं, जिन्होंने उनके ग्रन्थों की टीका लिखकर और उनका संक्षिप्तीकरण कर उन्हें सरल और सुगम बनाया है। उनकी श्रीमद्भागवत और गीता की टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती के ठाकुर गोकुलानन्द की आज भी राधारमण के मन्दिर के निकट गोकुलानन्द के मन्दिर में सेवा होती है। वहीं श्रीलोकनाथ गोस्वामी की समाधि के सन्निकट उनकी समाधि है।

श्रीबलदेव विद्याभूषण

श्रीश्यामानन्दप्रभु की पाँचवीं पीढ़ी में श्रीबलदेव विद्याभूषण का ज़न्म उड़ीसा के बालेश्वर जिले के अंतर्गत रेमुना के निकट किसी ग्राम में ईसा की अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। सन् १७६४ में उन्होंने श्रीरूप गोस्वामी की स्तवमाला की टीका लिखी, जिससे सिद्ध है कि १७६४ के बाद तक वे जीवित थे।

अलंकार, न्याय, वेद–वेदान्तादि शास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात् वे मध्वाचार्य के सम्प्रदाय के शिष्य हो गये। संन्यास ग्रहणकर श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में पंडितों को शास्त्रार्थ में परास्तकर वहीं मध्वाचार्य सम्प्रदाय के मठ में रहने लगे।

उसके पश्चात् उनका सम्पर्क हुआ रसिकानन्द मुरारी के प्रशिष्य श्रीराधादामोदर से।[1] उनसे षट्–सन्दर्भ का उपनयन कर वे गौड़ीय–वैष्णव–धर्म के प्रति इतना आकृष्ट हुए कि उनका शिष्य ग्रहण करने को बाध्य हुए।

कुछ समय बाद बलदेव विद्याभूषण वृन्दावन जाकर रहने लगे। वृन्दावन में उस समय गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती रहते थे। उनसे वे श्रीमद्भागवत का अध्ययन करने लगे।

उसी समय जयपुर में एक ऐतिहासिक घटना घटी, जिसके कारण उनकी ख्याति गौड़ीय–सम्प्रदाय के एक महान् पंडित और आचार्य के रूप में चारों ओर फैल गयी। जबसे गोविन्ददेव जी औरंगजेब के अत्याचार के कारण जयपुर ले जाये गये थे। गौड़ीय–सम्प्रदाय के पुजारी उनकी सेवा किया करते थे। गलता गादी के श्रीसम्प्रदायी वैष्णवों ने उनके द्वारा सेवा किये जाने पर राज–दरबार में आपत्ति उठायी। उनकी आपत्ति मुख्य रूप से इन दो बातों को लेकर थी–

1. गौड़ीय–वैष्णवगण चिरप्रसिद्ध चार सम्प्रदायों के अंतर्गत नहीं है। चार सम्प्रदाय है–श्रीरामानुज, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी और निम्बादित्य। गौड़ीय–सम्प्रदाय या चैतन्य–सम्प्रदाय कोई सम्प्रदाय नहीं है। असम्प्रदायी लोग गोविन्ददेव की सेवा के अधिकारी नहीं हो सकते।

2. गौड़ीय पुजारी मन्दिर की सेवा में गोविन्ददेव को नारायणकी अपेक्षा अधिक प्रधानता देते हैं। वे पहले गोविन्ददेव की आरती करते हैं। नारायण को गोविन्द का अंश मानकर उनकी आरती गोविन्द की आरती के पीछे करते हैं, जो शास्त्र विरुद्ध है।

---

१. श्रीबलदेव विद्याभूषण की गुरु-परम्परा इस प्रकार है-श्रीनित्यानन्दप्रभु के शिष्य श्रीगौरीदास पंडित, उनके शिष्य श्रीहृदय चैतन्य, उनके शिष्य श्रीश्यामानन्द, उनके शिष्य श्रीरसिकानन्द, उनके शिष्य श्रीनयनानन्द, उनके शिष्य श्रीराधादामोदर, उनके शिष्य श्रीबलदेव विद्याभूषण।

जयपुर महाराज ने इन प्रश्नों पर विचार करने के लिये शास्त्रज्ञ पंडितों की एक सभा बुलाई। उन्होंने घोषित किया कि यदि गौड़ीय सम्प्रदाय के पंडित अपना सम्प्रदायी होना शास्त्र–प्रमाणादि से सिद्ध नहीं कर पाते तो उन्हें जयपुर और वृन्दावन के सभी मन्दिरों की सेवा से च्युत कर दिया जायगा।

यह संवाद जब वृन्दावन पहुँचा, वहाँ गौड़ीय–वैष्णवों में खलबली मच गयी। सबने मिलकर विश्वनाथ चक्रवर्ती पाद से जयपुर जाकर इस संकटापन्न स्थिति से उनकी रक्षा करने के लिये प्रार्थना की। पर विश्वनाथ चक्रवर्ती उस समय बहुत वृद्ध थे। जयपुर जाना उनके लिये सम्भव नहीं था। उन्होंने अपने प्रधान शिष्य श्रीबलदेव विद्याभूषण को जयपुर जाकर गौड़ियों का प्रतिनिधित्व करने की आज्ञा दी।

जयपुर में सभास्थल में विचार आरम्भ हुआ। बलदेव विद्याभूषण ने पंडितों को परास्त कर दिया। पंडितों ने कहा–"जहाँ तक आपके सिद्धान्त का सम्बन्ध है, वह यथार्थ है। पर चैतन्य सम्प्रदाय को एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में स्वीकृति तब तक नहीं दी जा सकती, जब तक आप सम्प्रदाय के मतानुसार ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता के भाष्य नहीं प्रस्तुत करते। रामानुज, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बादित्य, इन सभी आचार्यों के इन तीनों ग्रन्थों के अपने–अपने भाष्य हैं। भाष्य ही सम्प्रदायरुपी अट्टालिका की नींव है, जो उसे स्थायित्व प्रदान करती है। नींव बिना अट्टालिका कैसी?" महाराज ने भी पंडितों के इस मत से अपनी सहमति प्रकट की।

बलदेव विद्याभूषण ने कहा–"श्रीचैतन्यमहाप्रभु ने श्रीमद्भागवत को ही ब्रह्म–सूत्र का भाष्य माना है, जिसकी ब्रह्म–सूत्र के रचयिता स्वयं व्यास देव ने रचना की है। इसलिये महाप्रभु ने ब्रह्म–सूत्र के किसी स्वतंत्र भाष्य की आवश्यकता ही नहीं समझी।" बलदेव विद्याभूषण के इस तर्क को नहीं माना गया। उन्हें तीनों ग्रन्थों का भाष्य उपस्थित करने के लिये तीन महीने का अवकाश दिया गया।

बलदेव विद्याभूषण ने इतने अल्प समय में तीनों भाष्य तैयार करना असंभव जान गोविन्ददेव की शरण ली। राजसभा से उठकर वे गोविन्ददेव के मन्दिर गये। कातर स्वर से उनसे प्रार्थना की "प्रभु, अब सम्प्रदाय की लज्जा आपके हाथ है। यदि आप अपने ही सम्प्रदाय की मर्यादा की रक्षा नहीं करेंगे तो कौन करेगा? मेरे लिये तो यह कार्य असम्भव ही है। क्या सचमुच आप हमें अपनी सेवा से च्युत करवाना चाहते हैं? ऐसा कौन सा अपराध हमसे हो गया है, प्रभु? हमारे अपराधों की ओर न देख हमपर दया करो दयानिधि।"

रात्रि में गोविन्ददेव ने स्वप्न में कहा–चिंता न करो। भाष्य प्रणयन करो। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।"

गोविन्ददेव के आदेशानुसार बलदेव विद्याभूषण ने वेदान्त–सूत्र

का भाष्य लिखना प्रारम्भ किया। गोविन्ददेव की कृपा से अतिशीघ्र यह भाष्य समाप्त हुआ। भांष्य के अंत में उन्होंने यह श्लोक लिखा, जिसमें गोविन्ददेव के आदेश से उसके लिखे जाने का स्पष्ट उल्लेख किया–

विद्यारूपं भूषणंमे प्रदाय ख्यातिं निन्ये तेन यो मामुदारः।
श्रीगोविन्द स्वप्न निर्दिष्ट भाष्यो राधाबन्धुर्वन्धुराङ्गः स जीयात्।।

गोविन्दजी के आदेश और उनकी सहायता से यह भाष्य लिखा गया, इसलिये इसका नाम रखा "गोविन्द भाष्य।" "गोविन्द भाष्य" के समाप्त होने पर उन्होंने भगवद्गीता और उपनिषद् के भी भाष्य लिखे। निश्चित अवधि के भीतर तीनों भाष्य तैयार कर राज्य–सभा में प्रस्तुत किये। पंडितगण भाष्यों को देख आश्चर्यान्वित हुए और बलदेव विद्याभूषण की सराहना किये बगैर न रह सके। महाराज जयसिंह ने प्रसन्न हो उनका नाम रखा 'बलदेव विद्याभूषण।' इसी नाम से वे प्रसिद्ध हुए। उनका पहले का नाम था 'दामोदर'। जयपुर की सभा में विजय लाभ करने के पूर्व उन्होंने जिन ग्रन्थों की रचना की थी, उनमें 'दामोदर विप्र रचित' लिखा मिलता है।

जयपुर से लौटने के पश्चात् बलदेव विद्याभूषण को श्रीपाट गोपीवल्लभपुर के गोस्वामीजी की आज्ञा से वृन्दावन में उनके सेव्य विग्रह श्री श्रीश्यामसुन्दर की सेवा की देख–भाल करने के लिये महन्त पद पर नियुक्त किया गया। इस कार्य को करते हुए उन्होंने अपना शेष जीवन वृन्दावन में ही व्यतीत किया और बहुत–से ग्रन्थों की रचना की।

श्रीबलदेव विद्याभूषण द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद ने 'अचिन्त्य–भेदाभेदभाव' में इस प्रकार दी है–

1. श्रीगोविन्दभाष्य, 2. सिद्धान्तरत्न, 3. वेदान्तस्यमन्तकः, 4. प्रमेयरत्नावली, 5. सिद्धान्तदर्पण, 6. साहित्यकौमुदी, 7. काव्य कौस्तुभ, 8. व्याकरण–कौमुदी, 9. पदकौस्तुभ, 10. वैष्णवानन्दिनी (श्रीमद्भागवत दशम स्कन्द की टीका), 11. गोपाल–तापनी–भाष्य, 12. ईशादि–दशोपनिषद्–भाष्य, 13. श्रीगीताभूषण–भाष्य, 14. श्रीविष्णुसहस्त्र नामभाष्य (नामार्थसुधा), 15. श्रीसंक्षेपभागवतामृत–टिप्पनी–'सारंग–रंगदा' 16. तत्व–सन्दर्भ–टीका, 17. स्तवमाला–विभूषण–भाष्य (श्रीरूप गोस्वामी की स्तवमाला का भाष्य), 18. नाटक–चन्द्रिका–टीका (दुष्प्राप्य), 19. छन्दकौस्तुभ–भाष्य, 20. श्रीश्यामानन्द–शतक–टीका, 21. चन्द्रालोक–टीका, 22. साहित्य–कौमुदी टीका, 23. श्रीगोविन्द–भाष्य–टीका–'सूक्ष्मा', 24. सिद्धान्तरत्न–टीका–'सूक्ष्मा'।

ब्रजभक्तमाल

ब्रज के रसिकाचार्य

(द्वितीय खण्ड)

श्रीश्रीभट्टदेवजी

श्री श्रीभट्टदेवजी श्रीकेशव काशमीरीभट्टजीके शिष्य थे। उनके माता-पिताके बारेमें इतना ही ज्ञात है कि वे गौर ब्राह्मण थे और जिला हिसार (हरियाणा) के निवासी थे, पर भट्टजीके जन्मके पूर्व मथुरामें आकर बस गये थे। मथुरामें ही भट्टजीका जन्म हुआ। श्रीकेशव काशमीरीके बाद वे निम्बार्क सम्प्रदायके ३४वें आचार्य हुए।

उनके उपस्थिति-कालके सम्बन्धमें विभिन्न मत है। नानपाराके पुस्तकालयमें सुरक्षित श्रीभट्टजीके ग्रन्थ 'युगल-शतक' की एक प्रतिके अन्तमें दिये एक दोहेके आधारपर निम्बार्क सम्प्रदायके विद्वानोंने 'युगल-शतक' का रचना-काल सं० १३५२ और श्रीभट्टजीका उपस्थिति-काल विक्रमकी १४वीं शताब्दी माना है। उसी दोहेके भिन्न पाठके आधारपर डा० हीरालाल जैनने 'युगल-शतक' का रचना-काल सं० १६५२ माना है, जिससे श्रीभट्टजीका उपस्थिति-काल १७वीं शताब्दी ठहरता है। परन्तु यह दोहा 'युगल-शतक' की और किसी प्रतिमें नहीं मिलता, इसलिये श्रीभट्टजीका उपस्थिति-काल निर्णय करनेका यह आधार प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

'तबकाते-अकबरी', भाग ३ में उल्लेख है कि श्रीभट्टजी शाहखाँ के शासन-कालमें काशमीरके दरबारी पण्डित थे। शाहखाँ का शासन-काल सं० १४७७-१५२७ माना जाता है। यदि जिन श्रीभट्टजीका 'तबकाते अकबरी' में उल्लेख है, वे यही श्रीभट्टजी थे, तो उनका उपस्थिति-काल १५वीं शताब्दीके अन्त और सोलहवीं शताब्दी के आरम्भमें मानना उचित होगा।'

पर विद्वानोंने 'युगल-शतक' की भाषा और उसकी प्रतिपाद्य-वस्तुके आधारपर श्रीभट्टजीकी उपस्थिति १४वीं या १५वीं शताब्दीमें मानना ठीक नहीं समझा है।[2]

आचार्यत्व - श्रीभट्टजी उत्तर भारतके प्रथम व्यक्ति थे, जो निम्बार्क सम्प्रदायके आचार्य हुए। वे निम्बार्क सम्प्रदायके प्रथम वाणीकार थे, जिन्होंने ब्रजभाषामें अपनी रचनाएँ की थी; वे ही निम्बार्क सम्प्रदायके प्रथम आचार्य थे, जिन्होंने मधुर-भक्तिरसका विशेष रूपसे प्रचार किया और राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओंके

---

१. ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास, पृष्ठ १९८
२. वही,

चिन्तन और कीर्तनको ही अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाया। नाभाजीने कहा है कि वे मधुरभावकी ललित लीलाओंका दर्शनकर कोमल-कान्त पदावलियो के माध्यमसे प्रेमरस की वर्षा करते थे। वे देशके आध्यात्मिक आकाशपर तृषित रसिको के लिए अक्षय रसकी वर्षा करनेवाले मेघके समान प्रकट हुए थे -

मधुर भाव समिलित ललित लीला सुबलित छबि।
निरखत हरषत हृदै प्रेम बरसत सुकलित कवि।।
भव निस्तारन हेतु देतु दृढ़ भक्ति सबनि नित।
जासु सुजस ससि उदै हरत अति तम भ्रम श्रम चित।।
आनन्दकन्द श्रीनन्दसुत श्रीवृषभानुसुता भजन।
श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यों अघट रस रसिकन मनमोद धन।।

- भक्तमाल, छप्पय ७६

उनकी रचनाके कुछ नमूने इस प्रकार है -

भीजत कुंजन तै दोउ आवत ।
ज्यौं ज्यौं बूंद परत चूनरी पर त्यौं त्यौं हरि उर लावत।
अति गंभीर झीनें मेघन की, द्रुमतर छिन विरमावत।।
जै श्री भट्ट रसिक रस लंपट, हिल मिल हिय सचुपावत।।

- युगल-शतक, पद सं ९१

राधा माधव राजै धाम ।
अरस परस ऐसें प्रतिबिम्बत, श्याम-श्यामा मानो श्यामा-श्याम।।
चकित चक्षु निज छवि अवलोकत, गौर श्याम मिलि भई अरुणाई।
जैसे मुख आये दरपन तट, तुरतहीं तिहीं छिन रंग पलटाई।।
अङ्गनि अङ्ग अभंग रही छवि, छाय-समीप भयो जो जाकी।
जै श्रीभट्ट निकट निरखत द्युति, नन्दनन्दन वृषभानु सुता की।।

- युगल-शतक, पद सं ५४

भींजत कब देखौं इन नैना ।
श्यामा जू की सुरंग चुनरिया, मोहन को उपरैंना।।
जुगल किशोर कूंजतर ठाड़े, जतन कियो कछु मैं ना ।
उमड़ी घटा चहूँ दिसि श्रीभट्ट घिरि आई जल सेना।।

- युगल-शतक, पद सं ८८

'युगल-शतक' में श्रीभट्टजीने व्रज-लीला और निकुञ्ज-लीला दोनोंका सरस वर्णन किया है। कहते है कि उन्होंने 'युगल-शतक' के अतिरिक्त और बहुतसे पदोंकी रचना की थी, जिनमेंसे कुछ पुराने कीर्तन संग्रहोंमें अब भी मिलते हैं।

श्रीभट्टजी आचार्यत्व ग्रहण करनेके बाद अन्त तक मथुरामें

रहे। नारद-टिलापर उनकी समाधि है।

उनके शिष्योंमें निम्बार्क सम्प्रदायके प्रसिद्ध आचार्य श्रीहरिव्यास देवाचार्य सर्वप्रधान थे। नाभाजीका कहना है कि उन्हींकी चरणरजके स्पर्श से वे इतने प्रतापी हुए थे कि सारा संसार उन्हें सिर झुकाता था-

श्रीभट्ट चरनरज परस तें सकल सृष्टि जाकों नई ।

- भक्तमाल, छप्पय ७७

सिद्धान्त

निम्बार्क सम्प्रदायके रसोपासनाके सिद्धान्तका संक्षिप्त पर सुस्पष्ट वर्णन पहलीबार भट्टजीके युगल शतक में ही मिलता है। युगल-शतकके निम्न पदमें स्पष्ट संकेत है कि सम्प्रदायका उपास्य नन्दनन्दन और वृषभानुनन्दिनीका निकुञ्जमें एकरस नित्य-विहार है -

सन्तो !सेव्य हमारे श्री पिय प्यारी वृन्दाविपिन विलासी ।
नन्दनन्दन वृषभानुनन्दिनी चरण अनन्य उपासी ।।
मत्त प्रणय वश सदा एकरस, विविध निकुञ्ज निवासी ।
जैश्री भट्ट युगल वंशीवट सेवत मूरति सब सुखरासी ।।

- युगल-शतक, पद सं ५

नित्य-विहारमें श्यामा-श्याम एक दूसरेसे पलभरको भी न्यारे नहीं होते, जैसे बिम्बसे प्रतिबिम्ब न्यारा नहीं होता। जैसे दर्पणमें नेत्र और नेत्रमें नेत्र सहित दर्पण दीखता है, वैसे ही श्यामके तनमें श्यामा और श्यामाके तन में श्याम दीखते हैं -

प्यारी तन श्याम श्यामा तन प्यारौ ।
प्रतिबिम्बित तन अरसि परसि दोऊ, एक पलक दिखियत नहि न्यारौ।।
ज्यों दर्पण में नैन नैन में नैन सहित दर्पण दिखिवारौ।
श्रीभट्ट जोट की अति छबि ऊपर, तन मन धन न्यौछाबर डारौ।।

- युगल-शतक, पद सं ६०

सर्वाभीष्ट सहित नित्य-विहारकी प्राप्ति राधा-कृष्णका नाम स्मरण करनेसे सहज ही हो जाती है। तीर्थ-व्रतादि अन्य किसी प्रकारके साधनकी नाम-स्मरण करनेवाले को आवश्यकता नहीं रहती-

मन वच राधा लाल जपे जिन ।
अनायास सहजहिं या जग में सकल सुकृत फल लाभ लह्यो तिन।।
जप तप तीरथ नेम पुण्य व्रत, शुभ साधन आराधन ही बिन।
जै श्री भट्ट अति उत्कट जाकी, महिमा अपरम्पार अगम गिन।।

- युगल-शतक, पद स० ९

श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी

उपस्थिति काल – श्रीहरिव्यास देवाचार्य मथुरा में आदि गौण ब्राह्मण कुलमें जन्में थे। वे श्रीभट्टजी के शिष्य थे और उनके पश्चात् निम्बार्क सम्प्रदायके आचार्य हुए थे। निम्बार्क सम्प्रदायमें उनका उपस्थिति काल १४वीं शताब्दीमें माना जाता है। पर अधिकतर विद्वान उन्हें सोलहवीं शताब्दी के अन्त और सत्रहवींके प्रारम्भमें उपस्थित मानते है।

निम्बार्क सम्प्रदायका विस्तार – श्रीहरिव्यासदेवने निम्बार्क सम्प्रदाय की बड़ी उन्नति की। उन्होंने ग्रन्थोंकी रचनाकर और अनेकों मठ-मन्दिर और शिष्य बनाकर सम्प्रदायका जितना विस्तार किया, उतना शायद उनके पूर्व या उनके बाद किसीने नहीं किया। उनके शिष्योंमें १२ प्रधान थे, जिनसे निम्बार्क सम्प्रदाय के १२ द्वारे (शाखाएँ) चले। वे १२ शिष्य थे – १. श्रीस्वभूरामजी, २. श्रीवोहितजी ३. श्रीमदनगोपालजी, ४. श्रीउद्धवजी (घमण्डीजी), ५. श्रीबाहुबलजी, ६. श्रीपरशुरामजी, ७.श्रीगोपालजी, ८.श्रीहृषीकेश जी, ९. श्रीमाधवजी, १०. श्रीकेशवजी, ११. श्री (लापर) गोपालजी और १२. श्रीमुकुन्दजी । इनमें श्रीस्वभूरामजी और श्रीपरशुरामजीके द्वारेका सर्वाधिक विस्तार हुआ। निम्बार्क सम्प्रदायके प्रसिद्ध सन्त नागाजी, श्रीस्वभूरामजी की परम्परामें और श्रीतत्ववेत्ताजी श्रीपरशुरामजीकी परम्परा में हुए।

देवी को दीक्षा – श्रीहरिव्यासदेवके जीवनकी एक प्रसिद्ध घटना है, जिसे नाभाजी और प्रियादासजीने भी लिखा है। घटना इस प्रकार है। एक बार वे सन्तोंके साथ विचरण करते हरियाणा-पंजाब की ओर गये। जब वे चटथावल ग्राममें पहँचे, तो वहाँ एक बागमें ठहर गये, जिसमें देवी का मन्दिर था। स्नान और नित्य-नियमादि कर रसोई बनाने की तैयारी करने लगे। उसी समय किसीने आकर देवीको बकरेकी बलि चढ़ाई। यह देख उन्हें ग्लानि हुई। उन्होंने सोचा कि यहाँ भोजन छोड़ पानी भी पीनेका धर्म नहीं है। इसलिये उन्होंने रसोई नहीं बनाई। भूखे रह गये। उस समय उनके देह से ऐसा तेज निकला, जिसे देवी सहन न कर सकी। वह नया रूप धारंणकर सन्तोंके पास गयी। उनसे रसोई बनानेका आग्रह किया। सन्तोंने रसोई न बनानेका कारण बताया। तब वह बोली – "जिसके कारण आपको इतनी ग्लानि हुई है और आपने रसोई न

बनाने का निश्चय किया है, वह देवी मैं ही हूँ। अब आप मुझपर कृपा कीजिये। मुझे अपना शिष्य बना लीजिये, जिससे फिर कभी यहाँ बलि चढ़नेका प्रश्न ही न रहे और आप रसोई बनाकर भगवानका प्रसाद ग्रहण कीजिये।"

श्रीहरिव्यासदेवजीने प्रसन्न हो देवीको दीक्षा दी। दीक्षा लेकर वह नगरकी तरफ दौड़ी। उस गाँवके मुखियाकी खाट उलट दी और उसकी छातीपर चढ़कर बोली - "मैं श्रीहरिव्यासदेवकी शिष्या बन गयी हूँ। तुम लोगोंको भी उनका शिष्य बनना पड़ेगा। यदि न बनोगे तो तुम सबको मार डालूँगी।"

देवीका आदेश पाकर उस गाँवके सब लोगोंने श्रीहरिव्यासजीसे दीक्षा ले ली। उनके पाप-ताप सब दूर हो गये। नया शरीर धारणकर भजन करते हुए वे संसार-सागरसे पार हो गये।[1]

नाभाजीने कहा है - "यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आकाश में विचरने वाली देवी मनुष्यकी शिष्य बने। पर यह बात संसारमें प्रसिद्ध है और लोग श्रीहरिव्यासजीकी इस कीर्ति का गान करते है -

खेचरि नर की शिष्य निपट अचरज यह आवै।
विदित बात संसार सन्त मुख की रति गावै।।[2]

श्रीहरिव्यासजी कई दिन तक सुखपूर्वक उस गाँव में रहे। एक दिन एक चाण्डाल उनकी शरण में आया। उसपर भी उन्होंने कृपा की और उसे भक्त बना लिया।[3]

श्रीहरिव्यासदेवजीका तिरोधान मथुरा में ही हुआ। नारद-टिला पर श्रीकेशव काशमीरी भट्टजी और श्रीश्रीभट्टजीकी समाधियोंके पास उनकी भी समाधि है।

ग्रन्थावली - हरिव्यास देवाचार्य एक प्रख्यात धर्माचार्य और उच्चकोटिके विद्वान और कवि भी थे। उन्होंने संस्कृतके कई छोटे ग्रन्थोंकी रचना की है। 'सिद्धान्त रत्नाजंलि' उनका प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ है। उसी प्रकार 'महावाणी' उनका व्रजभाषा का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'सिद्धान्त रत्नाजंलि' श्रीनिम्बार्काचार्यकी 'दश श्लोकी' की टीका है। 'महावाणी' श्रीभट्टजीके 'युगल शतक' का भाष्य माना जाता है। इसमें निम्बार्क सम्प्रदायके भक्ति-सिद्धान्त, उपासना पद्धति और

१. भक्तिरस-बोधिनी, कवित्त ३३८-३३९

२. भक्तमाल छप्पय ७७

३. भक्तिरस-बोधिनी कवित्त ३३९

उपास्य तत्वका विशद वर्णन है। यह दोहों सहित पदों में लिखा हुआ एक विशाल ग्रन्थ है, जो पाँच प्रकरणोंमें विभाजित है। पाँच प्रकरण है - (१) सेवा-सुख, (२) उत्सव-सुख, (३) सुरति-सुख, (४) सहज-सुख, और (५) सिद्धान्त-सुख।

'महावाणी' का 'महावाणी' नाम केवल इसलिये सार्थक नहीं कि यह एक विशाल वाणी-ग्रन्थ है, इसलिये भी कि यह उज्जवल-रसका महा-समुद्र है। इसमें उज्जवल रसका ऐसा गहन, गंभीर, सर्वाङ्गीण और सुललित वर्णन है कि यह पाठकके मन-प्राणको रस-सिक्तकर रसोन्मत्तकर देता है। उसे लगता है जैसे वह कबका भूखा हो और उसे अनायास राजमहलका आतिथ्य मिल गया हो, नाना प्रकारके एकसे एक स्वादिष्ट व्यंजन प्रचुर परिमाणमें उसके सामने रखे हों और उसकी समझमें न आ रहा हो किसे खाये, किसे छोड़े, किसे आगे खाये किसे पीछे। इस सारे ग्रन्थमें कहीं ऐसा नहीं लगता कि कविने इसकी रचनामें कोई प्रयास किया हो। लगता है कि वह स्वयं रसमें डूबा है और उस उलीच उलीचकर बाहर फेंक रहा है। ऐसी इसकी रसीली भाषा है और ऐसी स्वाभाविक रसमयी वर्णन शैली है।

सिद्धान्त

राधा-कृष्ण

हरिव्यासदेवाचार्यके अनुसार श्रीकृष्ण सर्वेश्वर है, सब कारणोंके कारण है। उनकी अनन्त शक्तियाँ हैं -

अनन्त शक्ति आधीस अचिंतक ऐश्वर्यादि अखिल सुखधाम।
सब कारनके कारन कर्ता नित्य निमित्त नियन्ता स्याम।।

-महावाणी, सिद्धान्त-सुख, पद सं० ३०

राधा श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति हैं -

प्रिया सक्ति अहलादिनी प्रिय आनन्द स्वरूप ।।

-महावाणी, सिद्धान्त-सुख, पद सं० २६

इस प्रकार राधा-कृष्ण दोनों एक ही स्वरूप हैं। केवल नाम-मात्रको दो हैं -

एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनन्द की अहलादिनि स्यामा अहलादिनि के आनन्द स्याम।
दरसनको ये दोय हैं, हैं एक ही सुखधाम।।

-महावाणी, सेवा-सुख, पद सं० ७७

दोनों एक होते हुए भी कृष्ण राधाके सदा अधीन है -

मोहन रस बस मोहिनी, रहत सदा आधीन ।

-महावाणी, सहज-सुख, पद सं० ३४

राधा 'लुटेरिन' ने अपने प्रेमके प्रबल प्रतापसे कृष्णका सर्वस्व लूट लिया है, अपने प्रेमकी डोरसे उन्हें ऐसा कसकर बाँध लिया है कि वे अपने छल-बलसे भी उससे छुटकारा पाने की सब आशा छोड़ बैठे हैं -

लुटेरिन लाडली लालको लयो सर्वस रस लूटि ।
बांधि कियो अपने बस कस करि क्यों हू न पावत छूटि।।
छल-बल सकल कला कुल कृति की गई आससी टूटि।
श्रीहरिप्रिया प्रबल प्रताप ते रीझि रहै रन जूटि ।।

-महावाणी, सुरत-सुख, पद सं० ८३

नित्य-विहार

नित्य-विहारके स्वरूपका वर्णन करते हुए हरिव्यासदेवाचार्यने कहा है कि यह सदा एकरस चलता ही रहता है। राधा-कृष्णकी रतिकेलिमें ऐसी चटपटी है कि वे दिन-रात उसीमें रत रहते हैं। पलभरको भी पलक नहीं मारते। जब देखो तब रस-रंगमें जागते ही रहते हैं -

अरी यह कौन चटपटी लागे रहत सदा रति रागे ।
अति कौ और न आवत कबहूँ बहुत जतन करि थागे।।
निसि बासर जागत अरु सोवत जब देखौ तब जागे।
हरिप्रिया परत नहिं कछु कहि कैसी खगनि में खागे।।

-महावाणी, सुरत-सुख, पद सं० ३८

बड़े अचम्भे की बात यह है कि सदा मिले रहते हुए भी ये अनमिले जैसे रहते हैं, जिससे इनकी परस्पर मिलनेकी चाह नित्यप्रति बढ़ती ही रहती है। इनके प्रेमकी डोर ऐसी उलझी हुई है कि सुलझनेका नाम ही नहीं लेती -

अटपटी बानी परी बलि जाऊँ दुहुनके उरमें आंनि।
सदा अनमिले मिले रहैं तऊ लागे चहनि चहांनि ।।
मैं तो निरखि अचंभित ह्वै रहि कहि नहिं परति बखांनि।
श्री हरिप्रिया प्रेम की उरझनि उरझी है गुरूझांनि ।।

-महावाणी, सहज-सुख, पद सं० १२

दोनोंके प्रेमकी बात कुछ कहते ही नहीं बनती। दोनों हर समय देह-गेहकी सुध भूलकर प्रेम-सिन्धुमें ऐसे डूबे रहते हैं कि उनके

शरीरकी द्युति ही कुछ और हो जाती है। उसे देख सहचरी रूपमें हरिव्यासदेवजी (हरिप्रियाजी) की अपनी दशा भी ऐसी हो जाती है कि उनके आँसुओंकी झड़ी नहीं रुकती -

कछु अकथ कथा है नेह की ।
भोर साँझ अरु साँझ भोर कछु सुधि नहिं आवत गेह की।
श्रीहरिप्रिया निरखि नैननि में लगिय रहै झरि मेह की ।।

-महावाणी, सहज-सुख, पद सं० ४९

सखी

सखियोंमें प्रधान आठ है- ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, रंगदेवी, सुदेवी, तुङ्गविद्या और इन्दुलेखा। यह सब यूथेश्वरी हैं, अपने-अपने यूथके साथ युगलकी सेवा-परिचर्या में लगी रहती है। इनमेंसे प्रत्येककी आठ उनमेंसे प्रत्येककी आठ, फिर उनमेंसे प्रत्येककी आठ सखी-मंञ्जरियाँ है। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। इस प्रकार सखियाँ अनन्त है।

अष्ट-सखियोंके परिकरके अतिरिक्त और किसीका नित्य-विहार में प्रवेश नहीं है। यहाँ किसीकी जोर-जबरदस्ती नहीं चलती। कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह सूईके छेदमें से निकलनेकी सामर्थ्य रखता हो, तो भी यहाँ उसकी एक नहीं चलती -

अबल सबल किन होहु कोऊ,सुई नार्कें निकलै जु।
अदल महा या नगर में, जोरावरि न चलै जु ।।

-महावाणी, सुरत-सुख, पद सं० ५३

निकुंजकी अनन्तकोटि सखियाँ सब राधारानीकी इच्छा-शक्तिका प्रकाश हैं। वे उनके अन्तरकी सब जानती हैं। उनका रुख देखकर उनकी सेवा करती हैं -

कोटिन कोटि समूह सुख रुख इच्छा सक्ति ।
प्राणेसहि प्रमुदा वहीं प्रमदावलि अनुरक्ति।।

-महावाणी, सिद्धान्त-सुख, पद सं० २६

इच्छा-शक्तिका प्रकाश होनेके कारण सखियाँ भी श्यामा-श्यामकी तरह अनादि और अनन्त है -

जब ते ए ए तबहिं ते ए ए एक अनन्त ।
श्रीवृन्दावन में सदा निति बिलास बिलसन्त ।।

-वही

सखियाँ नित्य-विहारकी आवश्यक अङ्ग. हैं। उनके विना नित्य-विहार

की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनके बिना प्रिया-प्रियतमको सरता ही नहीं। श्यामाजी स्वयं कहती हैं सखी से -

सखी री ! सुनहुँ श्रवन दे बैन ।
तू मेरी हितू सहचरी हिय की तो बिन मोहिं सरै न।।
लागति है अति प्यारी मोंको जैसे पलकनि नैन।
श्रीहरिप्रिया तोहि ते बिलसत या सुख की बिलसैन।।

-महावाणी, सहज-सुख, पद सं० १६

सखी प्रियाजीके नेत्रोंकी पुतली है, तो सखीके प्राणभी प्रियाजी में ही बसते है। उनकी रसभरी सहज-सलोनी चितवनने उसपर ऐसा जादू कर रखा है कि वह उन्हें देखे बिना एक पल भी नहीं रह सकती। अपना तन-मन उन्हें समर्पित कर दिया है -

मेरौ प्रान प्रियके बस पर्‌यौ।
सहज सलोनी हँसि चितवनि में ना जानौं कहा धो कर्‌यौ।।
निसि बासर बलि कल न परै पल बिन देखै मुख रस भर्‌यौ।
श्रीहरिप्रिया स्वामिनि सनमुख सर्व समरपन लै धर्‌यौ ।।

-महावाणी, सहज-सुख, पद सं० ४८

सखियोंका प्रेम निष्काम है। वे प्रियाजीके महलमें उनकी टहलनी बनकर रहना चाहती है। यही उनकी प्रियाजीसे माँग है-

रहों टहलनी महल में, होइ अहो निसि जाम ।
मैं माँगत हों यह सदा, जो तुम पुरवहु काम ।।

-महावाणी, सहज-सुख, दोहा ४५

वे कहती हैं - 'हम दम्पतिकी परिचर्या करती रहें, यही हमारी लालसा है। इसके आगे मोक्षका सुख भी तुच्छीकृत है -

हमें बलि बड़ौ यही है पोष।
दम्पति की परिचर्या ही करि पावैं परम सन्तोष।।
दिनहिं लाड़िली लाल लड़ावो धरि उर और न ओष।।
श्रीहरिप्रिया सुछीकृत आगे तुच्छीकृति सब मोष।।

-महावाणी, सहज-सुख, पद सं० २०

कहाँ मोक्ष-पदका निस्तरंग ब्रह्मानन्द-जलकूप, कहाँ निकुंजका सतत उद्वेलित अथाह, अनन्त रस-समुद्र, जहाँ युगलकी अद्‌भुत, अपार, रसमयी केलिका कभी अन्त ही नहीं। कुंजकुटीकी उस केलिके सम्बधमें तो कुछ कहते ही नहीं बनता -

झहरनि झूमनि दुहुन की, झकझोरनि दिन रैन ।
कुंज कुटी की केलिनी, कहा कहौं कहि बैंन ।।

–महावाणी, सुरत-सुख, दोहा ८४

निकुञ्ज के दम्पतिकी वह रस-किलोल ही सखियोंकी अनमोल सम्पत्ति है, जिसे देख और एक-दूसरेको दिखाकर वे असीम, अनिर्वचनीय सुखका निरन्तर उपभोग करती है –

कमल निकुंज की नीकी कलोलनि ।
देखि री देखि द्दगनि भरि दंपति संपति अमल अमोलनि।।
करत परस्पर अति सुन्दरबर टकटोलनि झकझोलनि।
लपटनि उर झपटनि झुक झटकनि अटकनि अतन अतोलनि।।
श्रीहरिप्रिया प्रान परिपोषत ढरि ढरि रस की ढोलनि।।

–महावाणी, सुरत-सुख, पद सं० ७४

वृन्दावन

वृन्दावन सच्चिदामन्दघन-विग्रह श्रीकृष्णका तन है –
तन वृन्दावन जगमगैं इच्छा सखी अनूप ।

–महावाणी, सिद्धान्त-सुख, पद सं० २६

इसलिये यह भी उन्हींकी तरह सच्चिदानन्द-स्वरूप है। इसे राधा-कृष्णकी 'रजधानी', उनका निज घर कहा जाता है। यह भी अनादि, एकरस, सनातन और परम अद्भुत है –

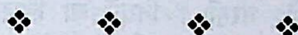
सखी री सच्चिदानन्द स्वरूप सकल सुखदायक नायक भूप ।
श्रीवृन्दावन रजधानी मनमानी परम अनूप ।।
आदि अनादि एकरस अद्भुत सदा सनातन रूप ।
श्रीहरिप्रिया सुधाकर दिनहिं बिदारन दारन धूप ।।

–महावाणी, सिद्धान्त-सुख, पद सं० २८

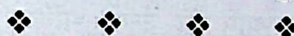
वृन्दावनकी दिव्य कंचनमयी रत्नजटित भूमि है। फल-फूलसे लदे अनेकों प्रकार के वृक्ष, जिनसे ललित लताएँ लिपटी हैं, वृन्दावनकी शोभा बढ़ा रहे है। कङ्कनाकार यमुना कल-कल करती चारो ओर बह रही है। कोकिल, कीर, चातक, चकोर उसके सुरसे सुर मिला रहे हैं ।

वृन्दावन अमित-दल-कमलके आकारका है। इसके मध्यमें अष्ट-दल-कमलके आकारकी भूमि है, जिसमें अष्ट-सखियोंके कुंज है। मध्यमें कर्णिका के स्थानपर चारों ओर दिव्य सरोवरोंसे घिरा हुआ मंजुल-मोहन महल है, जिसमें प्रिया-प्रियतम विहार करते हैं–

दिव्य कंचनमयी अवनि रवनी ।
जटित मनि बिबिध बर चित्र कबनी ।।



ऐसे निजधाम जो मध्य निति भूमि ।
अमित दल कमल आकार रही झूमि ।।
मध्य मंजुल बनी अष्टदल पांति ।
उपरि प्रिय सखिनि की कुंज सरसांति ।।
तेजमय कर्णिका अति सुदेसा ।
ताके चहुँ ओर सरवर सुबेसा ।।



यहूँ सरवरन के मध्य सोहें ।
महल अठद्वार छबिको विमोहें ।।

-महावाणी, सिद्धान्त-सुख, पद सं० ३

पर श्यामा-श्यामके नित्य विहारका स्थल यह वृन्दावन है कहाँ? इस प्रश्नके उत्तरमें हरिव्यासदेवाचार्यने कहा है कि यह न 'सूरके नीचे' है, न 'सेसके ऊपर'। इसका वर्णन करते समय बुद्धि चकरा जाती है। यह गोलोक से भी परे है -

बरनत ही बुधि होत है बौर ।
दौरत बहुत बिसाल बिपिन में जहँ लगि कहियत मन की दौर ।।
सूर के नीचे न सेस के ऊपर गोपुर हूँ ते अगोचर ठौर ।
श्रीहरिप्रिया बिराजत तहाँ जुगल किसोर सकल सिर मौर ।।

-महावाणी, सिद्धान्त-सुख, पद सं० ३९

उपासना

उपासनाका सार है राधा पद-पंकजका अनन्य आश्रय, नाम-जप और विधि निषेधका त्याग -

श्री राधे! तो पद पंकज की परछाँहो रहत सदा मन मेरौ।
करिके आस और इत उत की तकत न दाहिन डेरौ।।
सकल लोक सुख-संपति कौ सुख नाहिं सुहावत नेरौ।
श्रीहरिप्रिया निरन्तर रसना रटत नाम नित तेरौ।।

-महावाणी, सहज-सुख, पद सं० ७१

सच तो यह है कि सिद्धि साधनसे नहीं कृपासे होती है। साधन तो कृपाके मार्गमें और रोड़ा ही अटकाते हैं। इसलिये सब साधनों को छोड़ एकमात्र राधा-कृपाका ही आश्रय लेना उचित है-

एक कृपा करि होय सो होई। साधन सिद्ध रह्यौ नहिं कोई।।
नाकादिक नश्वर फल पावै। जाय आय में आयु बितावैं।।
जितने साधन उर में धरहीं। तितनैं या बिच अन्तर करहीं।।
सब तजि सदा मानव याही। औरन तै मन धरि अवग्याही।।

–महावाणी, सिद्धान्त –सुख, पद सं० ४०

श्रीचतुरचिन्तामणि (नागाजी)

निम्बार्क सम्प्रदायमें नागाजी नामसे प्रसिद्ध एक बहुत प्रभावशाली महात्मा हो गये है। उनका जन्म वृज के पैगाँवमें एक गौड़ ब्राह्मणके घर हुआ था। बाल्यावस्थामें ही उनके भक्तिके संस्कार बहुत प्रबल थे।

एक बार निम्बार्क सम्प्रदायके श्रीस्वभूरामेदवाचार्यके प्रशिष्य श्री परमानन्ददेवाचार्य भ्रमण करते हुए पैगाँवके निकट कदम्बखण्डोंमें आकर ठहरे। पैगाँवके भक्त उनके दर्शन करने जाते। नागाजी भी उनके साथ जाते। वे परमानन्ददेवाचार्यजीकी बड़े प्रेमसे सेवा करते। एक दिन उनकी चरणसेवा करते समय उन्होंने कहा, 'प्रभु, मेरी विरक्त-दीक्षा लेने की अभिलाषा है। मुझपर कृपा करें।

परमानन्ददेवाचार्यजीने उत्तर दिया, 'अभी तुम्हारी कैशोरावस्था है। अभी पढ़ो-लिखो और माता-पिता की सेवा करते हुए प्रभुका भजन करो। समय आनेपर विरक्त वेश ले सकते हो।

नागाजी चुप रहे। दूसरे दिन फिर चरण-सेवा करते समय उन्होंने कहा, 'प्रभु, शरीरका तो कुछ ठीक नहीं। यदि प्राण निकल गये अब, तो दीक्षा देगें कब?'

नागाजीकी आयु जन्म कुण्डलीके अनुसार बहुत थोड़ी थी। स्वप्नमें उनसे प्रभुने कहा था-'सन्तकी शरणागति ही जन्म-मरणसे मुक्ति पानेका एकमात्र उपाय है। तुम गुरुके शरणागत होकर संसारसे मुँह मोड़ लो। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।'

माता-पिता को जब प्रभुकी इस प्रकार की आज्ञाका पता चला तो अपने पुत्र की जीवन-रक्षाके हेतु वे भी श्रीपरमानन्ददेवाचार्य के पास पहुंचे और उसे दीक्षा देकर अपनी शरणमें ले लेनेकी प्रार्थना की। उनकी प्रार्थनापर उन्होंने नागाजीको विरक्त-दीक्षा प्रदान की। नागाजी उनके साथ हरियाणामें उनके स्थान ओली चले गये और उनकी सेवामें रहकर भगवद्-आराधना करने लगे।

वे आश्रमकी गायों को चराते और उनके लिये जंगलसे घास काटकर लाते। यह सेवा करते हुए भी वे भगवद्-चिन्तनमें निरन्तर डूबे रहते। एक दिन वे मन्त्र-जपके साथ प्रभुका ध्यान करते हुए घासका ढ़ेर सिरपर रखे आश्रमकी ओर चले आ रहे थे। चिन्तनमें ऐसा डूबे हुए थे कि सिरपर रखी घासका भी उन्हें ध्यान नहीं था। पर घासका बोझ प्रभुकी इच्छासे अपने-आप उनके सिरके ऊपर-ऊपर आकाशमें चला जा रहा था। लोग यह देखकर आश्र्चर्यचकित हो रहे थे।

गुरुदेवको जब इसका पता लगा, उन्होंने समझ लिया कि नागाजीका प्रभुके प्रति आत्म-समर्पण सच्चा है, वे सचमुच हर समय सांसारिक कार्य करते हुए भी प्रभुके ध्यानमें मग्न रहते हैं, उन्हींके पादपद्मोंसे सतत् संयुक्त रहते है। ऐसे भक्तोंका भार और उनका योग-क्षेम प्रभु स्वयं वहन करते है - 'तेषां सतत युक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम्।' इसीलिये उन्होंने नागाजी पर इस प्रकार की कृपा की है। उन्होंने नागाजीको निकट बुलाया और कहा, 'वत्स, तुम अब श्रीधाम वृन्दावन चले जाओ और वही रहा करो। प्रभु तुमसे प्रसन्न है, तुम्हें आदर्श रूपमें सामने रख अपनी भक्तिका प्रचार करना चाहते है।'

गुरुदेवकी आज्ञानुसार नागाजी वृन्दावन चले गये और अपने भक्ति भावसे तृषित भक्तों को तृप्त करने लगे। नाभाजी ने उनके सम्बन्ध में जो छप्पय लिखा है, उसमें व्रजमण्डलके भक्तों और सन्त-महन्तोंको इस प्रकार सुखी करनेकी बातका विशेष रूपसे उल्लेख किया है-

सदा जुक्त अनुरक्त भक्त-मण्डल को पोषत।
पुर मथुरा व्रजभूमि रमत सबहीं को तोषत।।
परम धरम दृढ़ करन देव श्रीगुरु आराध्यौ।
मधुर बैन सुठि ठौर-ठौर हरिजन सुख साध्यौ।।
संत महंत अनंत जन जस बिस्तारत जासु नित।
श्रीस्वामी चतुरो नगन मगन रैन दिन भजन हित।।

(-भक्तमाल, छप्पय १४८)

अर्थात्, नागा चतुरदासजीका अनुराग उन्हें प्रभुके चरणोंसे सदा युक्त रखता। वे उनके ध्यानमें सदा डूबे रहते। व्रजभूमि में भ्रमण करते हुए भक्त मण्डलीका अपनी भक्तिसे पोषण करते। उन्होंने गुरुकी आराधना कर अपनी भक्तिको दृढ़ कर लिया था। भक्तिके प्रभावसे

उनकी वाणी अत्यन्त मधुर हो गयी थी। वे जगह-जगह प्रभुका गुणगान कर भक्तोंको सुख पहुंचाया करते। सन्त-महन्त सब उनका यशगान करते। वे दिन-रात भजनमें लीन रहते।

प्रियादासजीने 'भक्तमाल' की 'भक्ति-रस बोधिनी' टीका में व्रजमें नागाजीके दैनिक कार्यक्रमका इस प्रकार वर्णन किया है-

श्रीगोविंद चन्द जू कौ भोर ही दरस करि,
केसव सिंगार, राजभोग नन्दग्राम में।
गोवर्धन राधाकुण्ड ह्वै कैं आवै वृन्दावन,
मन में हुलास, नित करैं चारि जाम मैं।।

अर्थात्, वे प्रातः वृन्दावनमें गोविन्ददेवकी मंगला-आरतीके दर्शन करते, मथुरामें श्रीकेशवदेवजी की श्रृङ्गार-आरतीके दर्शनकर, राजभोगकी आरती नन्दग्राममें करते। उसके पश्चात् गोवर्धन, राधाकुण्ड होते हुए संध्या होते-होते वृन्दावन लौट जाते। इस प्रकार उनके चारों प्रहर आनन्द में व्यतीत होते।

कदाचित् नागाजी अयाचक वृत्तिसे रहा करते। मांगते किसी से कुछ नहीं। प्रियादासजीने लिखा है कि एक पावन सरोवर पर उन्हें तीन दिन निराहार रहना पड़ा। तब प्रभुको स्वयं मनुष्यके रूपमें उनके लिये दूध लेकर आना पड़ा। दूध पीने के पश्चात् उन्होंने उनसे थोड़ा पानी माँगा। वे पानी लेने गये, पर लौटकर न आये। स्वप्नमें उन्होंने नागाजीसे कहा "रात को दूध मैं ही दे गया था।"

रहे पुनि पावन पै भूखे दिन तीन बीते, आये दूध लै प्रवीन,
एऊ रंगे स्याम में।
माँग्यौ नेक पानी लावौ, फेर वह प्रानी कहाँ?
दुःख मति सानी निसि कही "कियौ काम मै।।"

पानी न दे जानेका कारण बताते हुए प्रभुने कहा-" पानी क्यों पियो? व्रजमें दूध बहुत है। घर-घर माँगकर पी लिया करो।" नागाजीने कहा-" प्रभु, व्रजवासी दूध के उपासी हैं, दूध उन्हें इतना प्यारा है। भला वे दूध मुझे क्यों देंगे?" प्रभुने कहा " देंगे, तुम निश्चिंत रहो"-

"पानी सौ न काज, व्रजभूमि मैं विराज दूध,
पीवौ घर-घर" यह आज्ञा प्रभु दई है।
"ए तौ ब्रजवासी सब क्षीर के उपासी,
कैसे मोको लैन देहै?" कही "देहै" सुनी नई है।।
(भक्ति-रस-बोधिनी, कवित्त ५६६)

नागाजी प्रभुको आज्ञानुसार, घर-घर गोपिकाओंसे दूध माँगकर पीने लगे। प्रारम्भमें कुछ गोपियोंने दूध देनेमें आना-कानी की। तब प्रभुने (स्वप्नमें) नागाजीका परिचय देकर उन्हें राजी किया। कुछ ही दिनोंमें सबको नागाजीके स्वरूप और प्रभुकी उनके प्रति दूध माँगकर पीने की आज्ञाका पता चल गया और वे प्रेमसे उन्हें दूध देने लगीं। पर कभी-कभी कोई गोपी विनोदमें दूधका पात्र छिपाकर कही रख देती। तब नागाजी घर में घुसकर उसे ढूँढ़ लाते। इस प्रकारकी रसमयी लीलाएँ करते हुए नागाजी व्रजमें रहा करते-

डोल धाम-धाम श्याम कह्यौ जोई मानि लियौ,
दियौ परचे हूँ, परतीति तब भई है।
कहाँ जा छिपावै पात्र, बेगि आप ढूंढ़ि ल्यावै अति
सुख पावैं, कीनी लीला रसमयी है।।

(वही)

एक दिन नागाजी ध्यान-मग्न अवस्थामें व्रज परिक्रमा कर रहे थे। अचानक उनकी लम्बी-लम्बी जटाएँ एक हींसके पेड़ में उलझ गयी। कदाचित् उन्हें स्फूर्ति हुई कि विनोदीश्यामसुन्दर ने उन्हें उलझा दिया है। वे यह प्रणयहठ करके खड़े रह गये कि जिसने जटायें उलझाई है वही सुलझायेगा भी। बस भक्त और भगवान दोनोंमें छिड़ गयी। भगवान् ने भक्तकी परीक्षा लेना चाहा कि वह कबतक अपने संकल्प पर दृढ़ रहता है। भक्तने भगवान्की परीक्षाकी ठान ली। इस प्रणय-युद्धमें तीन दिन और तीन रात बीत गये। नागाजी समाधिस्त अवस्थामें एक ठड़ेश्वरी तपस्वीकी तरह उसी स्थानपर खड़े रहे। आखिर भगवान् की हार हुई और भक्तकी जीत। भगवान्को जटा सुलझानेके लिए आना पड़ा।

पर उन्होंने जैसे ही जटाको हाथ लगाया, नागाजीकी समाधि भङ्ग हो गयी। उन्होंने सामने श्यामसन्दर को खड़े देखा। पर जटाको हाथ लगाने से मना कर दिया। पूछा, "आप कौन है?"

'देख नहीं रहे मैं श्यामसुन्दर हूं?' श्यामसुन्दरने तमककर कहा।

'देख तो रहा हूं। पर मैं कैसे जानूँ कि श्यामसुन्दरके वेश में आप श्यामसुन्दर ही है, या कोई और? श्यामसुन्दर तो सदा किशोरीजीके साथ रहते है। उन्हींसे उनकी पहचान होती है। उनके बगैर न वे पहचाने जाते है, न शोभा पाते है" नागाजी ने उत्तर दिया।

किशोरीजी अन्तरालसे सब सुन रही थी। नागाजीकी बातसे प्रसन्न

१.डा. मीतल : व्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास. पृ. ३५३

हो . वे तत्काल प्रकट हो गयी। श्यामसुन्दर और किशोरीजी दोनोने मिलकर उनकी जटा सुलझायी। अपने उपास्य लाड़िली-लालकी अनुपम रूप-छटा का दर्शन करते-करते नागाजी बेसुध हो गये।

इस घटनाका उल्लेख नाभाजी या प्रियादासजीने नहीं किया है। पर यह व्रजमें इतनी प्रसिद्ध है कि किसी और प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखती।

अन्तिम कालमें नागाजी वृन्दावनमें विहार-घाटपर रहने लगे थे। वहीं उनकी समाधि और चरण-चिन्ह हैं। व्रजके कई स्थानों में उनके स्मारक और देवालय है। भरतपुर के किलेमें उनके उपास्य ठाकुर श्रीबिहारीजीका मन्दिर है, जिसे राजा सूरजमलने बनवाया था। उसी मन्दिरमें उनकी गूदड़ी और माला भी सुरक्षित है। इनका प्रदर्शन आश्विन कृ० ७ को उनके पुण्य दिवसके अवसर पर किया जाता है।

श्रीविट्ठलनाथजी और अष्टसखा

श्रीविट्ठलनाथ श्रीबल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म सं० १५७२में पौष मासकी कृष्ण नवमीको हुआ था। उनकी शिक्षा काशीमें हुई थी। अल्पावस्थामें ही वे वेद-पुराणादि शास्त्रोंमें व्युत्पन्न हो गये थे। श्रीबल्लभाचार्य की तरह वे भी प्रकाण्ड विद्वान थे। अपने बड़े भाई गोपीनाथ जीके पश्चात सं० १६०७में उन्होंने पुष्टि सम्प्रदायका आचार्यत्व ग्रहण किया था। पुष्टि सम्प्रदायका प्रचार और प्रसारकर उसका सांगोपांग विकास करने का श्रेय उन्हींको है। उनके दो विवाह हुए थे, जिनसे ७ पुत्र और ४ पुत्रियों का जन्म हुआ। उन सात पुत्रोंसे ही सम्प्रदायको सात गद्दियोंकी परम्परा चली थी, जो आज तक चली आ रही है।

आचार्य-गद्दीके उत्तराधिकारका प्रश्न – श्रीवल्लभाचार्यके तिरोधान के पश्चात् सं० १५८७ में उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी पुष्टि सम्प्रदायके आचार्य हुए। पर कुछ ही दिन बाद उनका भी तिरोधान हो गया।[१] तब आचार्य-गद्दीके उत्तराधिकारीका प्रश्न उठा। नियमानुसार गोपीनाथजीके एकमात्र पुत्र श्रीपुरुषोत्तम गद्दी के अधिकारी थे। उनकी आयु उस समय केवल १२वर्ष की थी। इसलिये सम्प्रदायके अनेक लोग श्रीबल्लभाचार्यके द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथजीको आचार्य

---

1. श्री गोवर्धननाथ के प्राकट्यकी वार्ता में उनका निधन सं० १५९० में लिखा गया है। पर डा० मीतलके अनुसार उनका निधन सं० १६०६ में हुआ था। (व्रजके धर्म-सम्प्रदायोंका इतिहास, पृ० २४९)

बनाना चाहते थे। वे इसके योग्य भी थे। गोपीनाथजीके समयसे ही सम्प्रदायके कार्यों की देख-भालकर उन्होंने आचार्यत्वके लिए अपना योग्यताका भरपूर परिचय दिया था।

वे सम्प्रदायके आचार्य-पदके लिए गोपीनाथजी से भी अधिक उपयुक्त समझे जाते थे। उनके विचार और उनकी भाव-भक्ति पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त से पूर्णतया मेल खाते थे। गोपीनाथजी की निष्ठा जगन्नाथजीमें थी और वे उनके दर्शनके लिए जगन्नाथपुरी जाया करते थे। विट्ठलनाथजीकी निष्ठा बचपनसे ही श्रीनाथजीमें थी और वे उनकी सेवा-पूजा के लिए गोवर्धन जाकर महीनों रहा करते थे, जबकि उनके माता-पिता और सारा परिवार प्रयाग के पास अडैल ग्राम में रहते थे। गोपीनाथजी मर्यादा मार्गी थे, विट्ठलनाथजी पुष्टिमार्गी।

पर गोपीनाथजीकी विधवा पत्नी अपने पुत्र पुरुषोत्तमजीको गद्दीपर बैठाकर स्वयं सम्प्रदायका दायित्व सँभालनेको उत्सुक थी। उन्हें श्रीनाथजी के मन्दिरके प्रभावशाली अधिकारी श्रीकृष्णदास और कुछ अन्य लोगोंका समर्थन प्राप्त था।

कुछ दिन विट्ठलनाथजी पूर्ववत् सम्प्रदायकी देख-भाल करते रहे। पर उन्होंने अपनेको आचार्य घोषित नहीं किया। आचार्य बनने के लिए उनकी इच्छा भी नहीं थी। जब पुरुषोत्तमजी की आयु १८ वर्ष की हुई, उनके समर्थकों ने उन्हें आचार्य बनाने के लिए आन्दोलन छेड़ा। फलतः सम्प्रदाय दो विरोधी गुटों में बट गया। वातावरण विषाक्त हो गया। कुछ अप्रिय घटनायें घटी। श्रीकृष्णदास अधिकारी की ओर से विट्ठलनाथजीका श्रीनाथजीके मन्दिरकी ड्योढ़ी के भीतर प्रवेश बन्द कर दिया गया।

विट्ठलनाथजी को अपने प्राण-सर्वस्व श्रीनाथजी के दर्शन न कर सकने के कारण हार्दिक कष्ट हुआ। पर उन्होंने कृष्णदासका विरोध नहीं किया। वे गोवर्धन चले गये और वहाँ से कुछ दूर पारसौली ग्राम के चन्द्रसरोवर पर रहने लगे। श्रीनाथजीके विरह में उन्होंने अन्न त्याग दिया और केवल दुग्धाहार पर रहने लगे।

इस बीच उन्होंने अपनी विरह-वेदना व्यक्त करने के लिए जिस काव्य की रचना की वह पुष्टि सम्प्रदायकी अमूल्य निधि बन गया। 'विज्ञप्ति' के नामसे उसकी प्रसिद्धि हुई। उनका एक-एक श्लोक उनके हृदय की व्यथा के सजीव चित्रों को श्रीनाथजी के समक्ष प्रस्तुत करता जान पड़ता है। 'चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता' में 'कृष्णदासजी वार्ता' प्रसंग में लिखा है कि विट्ठलनाथजी 'विज्ञप्ति'

के श्लोकोंको फूल-मालाओंमें छिपाकर रामदास मुखिया द्वारा श्रीनाथजी के पास भेजा करते थे।

श्रीनाथजी और कबतक अपने प्रिय भक्तको इस प्रकार रोते-बिलखते देख सकते थे? उन्होंने उनके पुत्र गिरिधरजी को मथुराके हाकिमसे फरियाद करने की प्रेरणा दी और हाकिमको प्रेरणा दी कृष्णदासको गिरफ्तार कर कारागार में डाल देने की। कृष्णदास गिरफ्तार हो गये। गिरिधरजी विट्ठलनाथजी के मन्दिर में प्रवेश करनेकी राजाज्ञा ले परासोली गये। पर विट्ठलनाथ जी ने कहा- " हम अधिकारी कृष्णदासकी आज्ञा बिना मन्दिर में प्रवेश नहीं करेंगे।" उन्हें जब पता चला कि कृष्णदास कारावास में हैं, तो उन्हें दुःख हुआ, कि उनके कारण उन्हें कारावास भोगना पड़ रहा है। उन्होंने निश्चय किया कि जब तक कृष्णदास कारावाससे मुक्त न होगे वे अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे। उनका ऐसा निश्चय जान मथुरा के हाकिमने कृष्णदासको मुक्त कर दिया। कारागार से मुक्त हो जब कृष्णदास गोवर्धन पहुंचे। विट्ठलनाथजी ने उनका अधिकारी के रूप में स्वागत किया। कृष्णदासपर इसका उचित प्रभाव पड़ा। उन्होंने विट्ठलनाथजीसे क्षमा याचना की और सदाके लिये उनके मित्र बन गये।

यह तो स्पष्ट ही है कि श्रीनाथजी की इच्छासे ही यह सारी घटना घटी। श्रीनाथजीने आखिर यह लीला क्यों की? इसलिये कि वे बड़े रसिक और कौतुकी है। रासलीला में जब वे अदृश्य होनेके बाद गोपियोंसे फिर मिले थे और गोपियोंने उन्हें उलाहना दिया था तो उन्होंने कहा था - "मैं अन्तर्धान हो गया था तुम्हारा विरह आस्वादन करनेके लिये, तुम्हारे प्रेमका उत्कर्ष जगत् को दिखाने के लिये, तुम्हारी उत्कण्ठा बढ़ानेके लिए और उत्कण्ठा की चरम अवस्थामें मिलनका परमोत्कर्षमय सुख आस्वादन करने के लिये और कराने के लिये।"

श्रीनाथजी की इस लीलाका भी उद्देश्य यही था। यदि विट्ठलनाथजी का मन्दिरमें प्रवेश बन्द न किया गया होता तो उन्हें उनके उपालभ्य भरे श्लोकोंका आस्वादन कैसे होता? तो विज्ञप्ति की रचना कैसे होती? जगत्‌को उनके उत्कृष्ट प्रेमका पता कैसे चलता? उनकी उत्कण्ठाकी वृद्धि कैसे होती और मन्दिरमें प्रवेश मिलनेके बाद श्रीनाथजीके दर्शनके परमोत्कृष्ट सुखका आस्वादन भी उन्हें कैसे होता?

विट्ठलनाथजी और श्रीनाथजी के बीचकी सारी बाधाएँ अब दूर हो गयी। भक्त और भगवान् दोनों स्वच्छन्द मिलनके इस परिवर्तित वातावरण को प्राप्तकर अत्यन्त सुखी हुए।

मिलनके और भी निबिड़ और निर्बाध होनेकी स्थिति बन गयी जब कुछ ही दिन बाद पुरुषोत्तमजीका अकस्मात् निधन हो गया और विट्ठलनाथजी के आचार्य-गद्दीपर बैठनेको एकमात्र बाधा दूर हो गयी। सं० १६०७ में उन्होंने आचार्यत्व ग्रहण किया।

मथुराका निवास - आचार्यत्व ग्रहण करनेके बाद उनकी पत्नीका देहान्त हो गया। गोडवानाकी रानी दुर्गावती उनमें विशेष श्रद्धा रखती थी। उनके आग्रहसे उन्होंने सं० १६२० में एक सजातीय तैलंगभट्टकी पुत्री पद्मावतीजी से दूसरा विवाह किया।

सं० १६२३ में वे व्रज में स्थायी रूपसे निवास करने के लिए मथुरा आ गये। मथुरामें रानी दुर्गावतीने उनके और उनके छः पुत्रोंके रहने के लिए सात घरों वाले एक बड़े भवनका निर्माण किया, तो 'सतघरा' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। वह भवन तो अब नहीं रहा, पर उसके आस-पासका स्थान अब भी सतघरा मोहल्ला कहलाता है।

सतघरामें रहते समय एक बार श्रीनाथजीको गोवर्धनसे वहाँ लाया गया। चैतेन्य-चरितामृतमें उल्लेख है कि श्रीनाथजीका ऐसा करुण स्वभाव था कि जब कोई भक्त उनके दर्शन करना चाहता था, पर गोवर्धनके प्रति अपने भक्तिभावके कारण उसपर नहीं चढ़ सकता था, तो वे मुसलमानोंसे भयका बहानाकर नीचे किसी ग्राम में आ जाते थे, जहाँ वह उनके दर्शन कर कृतार्थ होता था। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी उनके दर्शन करने की इच्छा हुई थी। तब वे गाँठुलि ग्राम आ गये थे और वहाँ महाप्रभु ने उनके दर्शन किये थे और प्रेमावेशमें उनके सामने नृत्य-कीर्तन किया था। इसी प्रकार, जब विट्ठलनाथ जी मथुरा में रहने लगे श्रीरूप गोस्वामीके मनमें श्रीनाथजीके दर्शनकी स्पृहा जागी। तब उन्हें म्लेक्षोंके आतङ्क के कारण मथुरा ले जाया गया। उस समय रूप गोस्वामीने श्रीगोपालभट्ट, श्रीरघुनाथदास, श्रीरघुनाथभट्ट, श्रीलोकनाथ और श्रीजीव आदि बहुतसे भक्तोंके साथ मथुरा जाकर उनके दर्शन किये।[१]

चैतन्य-चरितामृतके अनुसार श्रीनाथजी एक मांस मथुरामें रहे,

१. चै.च. २/१८/२७/४७

२. वही २/१९/४८

फिर गोवर्धन चले गये। एक मास तक बराबर श्रीनाथजी की नित्य नयी झाँकियाँ और नये उत्सव होते रहे। गौड़ीय गोस्वामीगण भी विट्ठलनाथजी के आग्रह और श्रीनाथजी के प्रति अपने प्रेम के कारण इस बीच बराबर मथुरा में ही ठहरे रहे।

गोकुलमें स्थायी निवास - सं० १६२७ में विट्ठलनाथजी स्थायी रूप से सपरिवार गोकुल में रहने लगे। गोकुल वल्लभाचार्यजी के समयसे ही गोवर्धनकी तरह पुष्टिमार्ग का प्रधान केन्द्र बन गया था। पर विट्ठलनाथजीके प्रयास से वहाँ नयी बस्ती बसाई गयी, नयी हबेली और मन्दिरोंका निर्माण किया गया। सं० १६३८ तक गोकुल और गोवर्धन में पुष्टिमार्ग के उपास्य सातों स्वरूपोंके मन्दिर बन गये और विट्ठलनाथजीके सातों पुत्र पृथक्-पृथक् रूपसे उनके सेवाधिकारी बन गये।

पुष्टि सम्प्रदायके वार्ता साहित्यसे पता चलता है कि सम्राट अकबर विट्ठलनाथजीका बड़ा आदर करता था और उसके द्वारा प्रदान की गयी कई प्रकार की राजकीय सुविधाओं के कारण विट्ठलनाथजी अपने सम्प्रदायका विस्तार करने में समर्थ हुए थे। जिन फरमानों द्वारा यह सुविधाएं प्रदान की गयी थी उनका उल्लेख डॉ० मीतलने इस प्रक़ार किया है -

" एक फरमान सं० १६३४ (सन् ९८५हिजरी) का है, जिसमें श्रीविट्ठलनाथजीको निर्भय होकर गोकुलमें निवास करने की सुविधा प्रदान की गई है। उसके द्वारा सम्राट अकबरने अपने कर्मचारियों तथा अन्य सभी व्यक्तियोंको आदेश दिया है कि वे विट्ठलनाथजी व उनके सेवकोंके साथ न तो किसी तरह की छेड़-छाड़ (मुजाहमत) करें और न उनसे कभी कुछ माँगें। .... दो फरमान सं० १६३८ (९८९ हिजरी) के है, जिनमें एक सम्राट अकबरका और दूसरा बेगम हमीदा बानू का है। सम्राट ने उक्त फरमान द्वारा गोसाईजी को गायोकी बिना रोक टोक कहीं भी चरनेकी सुविधा प्रदान की है। हमीदाबानूके फरमानमें महाबन के 'करोड़ी' एवं अमलादारों को आदेश दिया गया है कि वे विट्ठलनाथजीकी गायों का खालसा अथवा जागीरकी किसी भी जमीनमें चरनेसे न रोकें । .... दो फरमान सम्राट अकबरके और हैं, सं० १६५१ (१००१ हिजरी) के हैं। उनके द्वारा गोसाई विट्ठलनाथजी और उनके वंशजों को जतीपुरा गाँव, जहाँ श्रीनाथजीका मन्दिर था, और गोकुल गाँव, जहाँ

१. व्रजके धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, पृष्ठ २६०-२६१

विट्ठलनाथजी अपने परिवार सहित निवास करते थे, माफीमें दिये गये थे।[१]

ठाकुर–सेवाका विस्तार – विट्ठलनाथजीने ठाकुरजीके नित्योत्सवों और वर्षोत्सवों का विस्तार किया और उनका क्रम निर्धारित किया, जो पुष्टिमार्गके मन्दिरमें आजतक प्रचलित है। उन्हों ने श्रीबल्लभाचार्य के समय से चली आ रही पुष्टिमार्गीय सेवाके तीनों अंगों- श्रृगांर, भोग और रागका विस्तार किया, श्रृंगार के उपकरणों, वस्त्राभुषणादि में वृद्धिकी और बदलती हुई ऋतुओंके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्राभुषणों को धारण करानेकी विधि निर्धारित की। भोग में अगणित प्रकार के पदार्थों को ठाकुरकी सेवामें अर्पण करने केलिए एक समुन्नत पाक-कलाका अविष्कार किया। विशाल अन्नकूट और छप्पन-भोगकी प्रथा भी सम्प्रदायमें उन्होंने ही चलाई। रागकी सेवा में उनका योगदान विशेष महत्वका था। उन्होंने श्रीनाथजीकी आठों झांकियों में समय और ऋतुके रागों द्वारा कीर्तन करने का विधान किया और उसके लिये आठ सर्वश्रेष्ठ गायकों और कवियोंकी मंडली का संगठन किया। यही 'अष्टछाप' के कवि था 'अष्टसखा' कहलाये ।

'अष्टछाप' के आठ कवि हैं - १. कुंभनदास, २. सूरदास, ३. कृष्णदास, ४. परमानन्दास, ५. गोविन्द स्वामी, ६. छीत स्वामी. ७. चतुर्भुजदास, ८. नंददास। इनमें से प्रथम चार बल्लभाचार्यजी के शिष्य थे और बाकी विट्ठलनाथजीके। अष्टसखा श्रेष्ठ संगीतज्ञ और कवि होने के साथ-साथ उच्चकोटि के भक्त भी थे। पुष्टिमार्गकी मान्यताके अनुसार वे श्रीनाथजीके नित्य अंतरंग सखा थे और उनके प्राकट्यके साथ भूतलपर प्रकट हुए थे। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्णके जिन ग्यारह सखाओं का उल्लेख है, उनमें से 'कृष्ण' सूरदासके रूपमें, 'तोष' परमानन्ददास के रूपमें, अर्जुन कुंभनदासके रूपमें, 'ऋषभ' कृष्णदासके रूपमें, 'श्रीदामा' गोविन्ददासके रूप में, 'सुबल' छीत स्वामी के रूप में, 'विशाल' चतुर्भुजदासके रूपमें, और 'भोज' नन्ददासके रूपमें प्रकट हुए थे।

हरिरायजी का मत है कि अष्टसखा ठाकुरजीके अंग-स्वरूप है। वे उनकी अंतरंग लीलामें हर समय रहते है - दिन में कृष्णके

---

१. श्रीहरिरायजी विट्ठलनाथजी के द्वितीय पुत्र गोविन्दरायजीके पौत्र थे। बल्लभवंशीय गोस्वामियोंमें उनका स्थान ऊँचा है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'भाव प्रकाश' में यह मत व्यक्त किया है।

सखारूपमें, रातमें स्वामिनीजीकी सखी रूपमें। सखी रूपमें सूरदास चम्पकलता है, परमानन्ददास चन्द्रभागी हैं, कुम्भनदास विशाखा हैं, कृष्णदास ललिता हैं, गोविन्द स्वामी भामा हैं, छीत स्वामी पद्मा है, चतुर्भुजदास विमला या रंगदेवी है और नन्ददास चंद्रलेखा या सुदेवी हैं।

ठाकुर-सेवाको श्रीविट्ठलनाथजीने ऐसा भव्य रूप दिया कि वह पुष्टि मार्ग में लोगोंके आकर्षणका एक विशेष कारण बन गया। फलस्वरूप गोकुलके वातावरणमें महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। नाभाजीने भक्तमालमें लिखा है कि गोपोंका वह गाँव ऐसा वैभवशाली हो उठा कि इन्द्रके मनको भी मोहित करने लगा, और कलियुगमें द्वापरके वातवरणकी सृष्टि हो गयी। विशेष बात यह थी कि श्रीविट्ठलनाथजी ठाकुर के राग-भोग आदि की सेवामें स्वयं तत्पर रहते। ठाकुरका श्रृङ्गार अपने हाथसे करते, उन्हें वस्त्र और आभूषण धारण कराते, उनकी शय्या संवारते, और नित्य नये उत्सव नित्य नये राग-रंग द्वारा भांति-भांतिसे उन्हें लाड़ लड़ाते। इसके कारण उनका घर द्वापरयुगके नन्दजी के घरके समान शोभा देता -

राग भोग नित, विविध रहत परिचर्या तत्पर।
सय्या, भूषन, बसन रचित रचना अपने कर।।
वह गोकुल, वह नन्द-सदन दीक्षित को सोहै।
प्रगट विभव जहँ घोष देखि सुरपति मन मोहै।।
वल्लभ सुत बल भजन के कलियुग में द्वापर कियो।
विट्ठलनाथ व्रजराज ज्यों लाड़ लड़ाय कै सुख लियो।।

(भक्तमाल, छप्पय - ७९)

नाभाजी ने गोकुल में श्रीविट्ठलनाथके सदनकी द्वापर युगके नन्द-सदन से तुलना केवल उसके वैभवके कारण ही नहीं की। श्रीविट्ठलनाथजीका भाव भी गोपाल और वृषभानुनन्दिनी के प्रति वैसा ही था जैसा नन्दबाबा का। इसकी पुष्टि एक मधुर अनुश्रुतिसे होती है, जो बहुत दिनोंसे चली आ रही है। एकबार एक मनिहारन आयी श्रीविट्ठनाथजी के घर चूड़ी पहराने। विट्ठलनाथजीने कहा- "भीतर चली जा। सब बहुओं को पहनाकर पैसे ले जा।"

उस समय विट्ठलनाथजीके सात पुत्रोंसे छ:का विवाह हो चुका था। इसलिए उनकी सात बहुएँ थीं। मनिहारन चूड़ी पहनाकर आयी तो बोली -" सातों बहुओंको पहना आयी।"

श्रीविट्ठलनाथजीने कहा- "बहुएँ तो छः है। तू सातोंको कैसे पहना आयी?"

मनिहारन समझी गोसाईजी हँसी कर रहे है। उसने भी हँसकरकहा- 'गोसाईजी, मैं तो सात को पहनाकर आयी हूं। आप पैसे छः के देना चाहें तो आपकी मरजी।

'अरी, झूठ काहे को बोले है। पैसे अधिक लेने हों तो वैसे ही मांग ले। तुझे सात तक गिनती नहीं आती क्या?" गोस्वामीजीने फिर हँसकर कहा।

पर मनिहारन बोली -"मुझे गिनती खूब आती है। मैं गोसाईजी झूठ नहीं बोलती! सातको पहनाकर आयी हूँ, सातको, आप जाकर देखलें।"

गोस्वामीने सोचा कि मनिहारनसे सिर मारने से क्या लाभ? उसे सात बहुओंको चूड़ी पहरानेके पैसे दिलवा दिये।

रात्रि में राधारानीने स्वप्नमें कहा- " मै तुम्हारी बहू नहीं हूं क्या?"

प्रातःकाल सेवा करते समय राधारानीके हाथोंमें चूड़ियाँ देख उनके नेत्र सजल हो गये। अश्रु, कम्प और पुलकसे उनका सारा शरीर व्याप्त हो गया। वे एक अनिर्वचनीय भाव-समाधिमें डूब गये।

प्रकृतिस्थ होने पर भी उन्होंने उस मनिहारनको बुलवा भेजा। उससे कहा-"मनिहारन! गिनती में भूल मैंने ही की थी। तू बड़ी भाग्यवान् है। मैं जिंस बहूको भूला हुआ था, उसने तेरे हाथ से चूड़िया पहनीं और मुझे अपनी याद दिलानेके लिये तुझे माध्यम बनाया। मैं तेरा चिरकृतज्ञ हूँ।" यह कह उन्होंने बहुत-सा बहुमूल्य प्रसादी उपहार देकर उसे विदा किया।

ठाकुर श्रीविट्ठनाथजीकी सेवासे बहुत प्रसन्न रहते और उनके साथ बाल-चापल्यभरी रसमयी लीलाएँ करते। एकबार जब विट्ठलनाथजीने श्रीनाथजी को दूध का भोग लगाया तो वे बोले - ' दूधमें मीठा अधिक है, पिया नहीं जाता।

दूसरी बात कम मीठा डालकर भोग लगाया, तो बोले- 'इसमें तो मीठा बिल्कुल नहीं है, यह कैसे पिया जाये?

तब विट्ठलनाथजीने मिश्री और दूध अलग-अलग उनके सामने रख दिये और कहा- जितना अच्छा लगे मीठा डाल लो।'

श्रीनाथजीने तब कहा - 'मैं मिलाना नहीं जानता।'

'मिलाना नहीं जानते तो स्वाद कैसे बताते हो?' कह विट्ठलनाथजी ने उन्हें निरुत्तर किया और अपने आप मिश्री मिलाकर दूध पीनेको विवश किया।

श्रीविट्ठलनाथजी और अष्टसखा

एक बार विट्ठलनाथजी श्रीनाथजीकी शय्या संवार रहे थे। श्रीनाथजीने कहा- यह बिछावन ठीक नहीं है। इसपर मैं नहीं सोऊंगा।

विट्ठलनाथजी ने दूसरी बिछावन बिछाई। वह भी उन्हें न भायी। जैसे-तैसे तीसरी बिछावन पर उन्हें सोने को राजी किया। तब उन्होंने कहा-'आप भी हमारी शय्या पर सोइये।'

विट्ठलनाथजी ने पूछा - 'क्यों?'

तो बोले -'आपके साथ नींद अच्छी आती है।'

श्रीविट्ठलनाथजीने श्रीनाथजीकी सेवा को जो भव्य-रूप प्रदान किया, वह आज भी देखनेको मिलता है। आज भी उनकी सेवा-परिचर्या उसी प्रकार की जाती है और उसमें विपुल धनराशि का व्यय होता है।

श्रीनाथजीकी सेवाके कारण श्रीविट्ठलनाथजी को कभी-कभी ऋण भी लेना पड़ता। ऋणको शोध करनेके लिये धन जुटानेके उद्देश्यसे तथा सम्प्रदायका प्रचार करनेके उद्देश्य उन्हें दूर-दूर की यात्रा करनी पड़ती।

'श्रीगोपीनाथजीके देहावसानके बाद उन्होंने अपनी प्रथम यात्रा सं० १६०० में आरम्भ की थी। उस यात्रामें वे गुजरात-सौराष्टका पर्यटन करते हुए द्वारका तक गये थे। सं. १६१० में उन्होंने मध्य प्रदेश की और सं. १६१४ में गौड़ प्रदेशकी यात्रा की थी। उन्होंने अपने जीवनकाल में ६ बार द्वारका की और कम से कम ३ बार ब्रजमंडल की यात्राएं की थी।"[१]

विट्ठलनाथजीको घोड़े की सवारी का बड़ा शौक था। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में 'बीरबल की बेटी की वार्ता' प्रसंग में उल्लेख है कि एक बार सम्राट अकबर उनके दर्शन करने गोकुल गया था और उस समय उसने उन्हें एक बहुत कीमती घोड़ा भेंट किया था। उस घोड़े पर चढ़कर ही वे गोवर्धन जाया करते थे। अनुमान किया जाता है कि दूर देशोंकी अपनी यात्रामें भी वे घोड़ोंका ही प्रयोग करते थे।[२]

विट्ठलनाथ और माधुर्य भावकी भक्ति - पुष्टि मार्ग में इसके प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्यके समयसे ही वात्सल्य भावसे ठाकुरकी

---

1. व्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास, पृष्ठ २६३
2. वही, पृ० २६२

सेवाका विधान रहा है। पर विट्ठलनाथजीके समयमें माधुर्यभावकी भत्तिको विशेषरूपसे अपनाया जाने लगा। उन्होंने पुष्टि मार्ग की साधनामें इस नये विधान की घोषणा की -

"सदा सर्वात्मना सेव्यो, भगवान् गोकुलेश्वर:"
स्मर्तव्यो गोपिकावृन्दै:, क्रीडन वृन्दाबने स्थित:।।

अर्थात, भगवान् गोकलेश्वर सर्वात्मभाव से सेवनीय है और गोपिकावृन्दके साथ वृन्दावनमें क्रीड़ारत वृन्दावन बिहारी स्मरणीय है।

इसके अनुसार साधनाके सेवा अंग में वात्सल्य भावकी सेवाकी परिपाटी बनी रही, पर स्मरण अंगमें माधुर्य-भावकी लीलाओंके स्मरण को प्रोत्साहन मिला। श्रीविट्ठलनाथने 'श्रृगांरस मंडन' स्वामिनी स्तोत्र' ग्रन्थोंकी रचना कर और श्रीचैतन्यमहाप्रभुकृत 'प्रेमामृत रसायन स्तोत्रत्- पर टीका लिखकर भी माधुर्य-भावकी भक्तिका प्रचार किया।[१]

पर पुष्टिमार्गमें माधुर्य-भावकी भक्तिकायह प्रचार बिल्कुल नया नहीं था। इसका बीजारोपण श्रीवल्लभाचार्य के समयमें ही हो गया था, यद्यपि व्यापक रूपसे इसका प्रचार तब नहीं हुआ था। कुछ लोगों का मत है कि श्रीबल्लभाचार्य में इसका संक्रमण श्रीचैतन्यमहाप्रभुके संगसे हुआ था। संभव है कि इसका अंकुर उनके हृदय में स्वत: ही फूटा हो। पर ऐतिहासिक द्दष्टि से श्रीचैतन्य महाप्रभु से उनके प्रभावित होने की संभावनाको दुराया नहीं जा सकता। महाप्रभु

१. 'प्रेमामृत स्तोत्रम्' की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ काशी सरस्वती विद्यापीठ, श्रीभागवचार्य पाठबाड़ी (बराहनगर, कलकत्ता), काशी नगरी प्रचारिणी सभा, तथा गोस्वामी श्रीमधुसूदन सार्वभौम (वृन्दावन) और श्रीवनमाली लाल गोस्वामी (वृन्दावन) के ग्रन्थागारों में सुरक्षित है और उनमें सबमें श्रीकृष्णचैतन्यदेव कृत लिखा है। गोस्वामी श्रीमधुसूदन सार्वभौम के ग्रन्थागारमें जो प्रति है, उसमें श्री विट्ठलनाथजी की व्याख्या भी दी हुई है। व्याख्याके प्रारम्भमें 'अब श्रीकृष्ण चैतन्यचन्द्रमुखपद्मविनिसृत निजप्रेमामृतं लिख्यते" और अन्त में- "इति श्रीमच्छी कृष्णचैतन्यचन्द्रमुखपदाद्धिनिसृतं निजप्रेमामृतं व्याख्या समाप्तम्" लिखा है। श्रीविट्ठलनाथजी की व्याख्या सहित यह ग्रन्थ सं. १९७५ में बम्बईके श्रीमूलचन्द तेलीवाला और श्रीधैर्यलाल सांकिया द्वारा और सं० २०२४ में कुसुमसरोवरवाले बाबा कृष्णदास द्वारा प्रकाशित हो चुका है। 'साधन-दीपिका, सप्तम् कक्षा, पृ० २०३-२०४ में उल्लेख है कि गदाधर पंडित विरचित इस स्वराजकोदेख महाप्रभु ने इसके अंत में अपना नाम लिख दिया था, इसलिये इस स्तोत्रके रचयिता गदाधर पंडित भी हो सकते है।

अपनी वृन्दावन-यात्रासे लौटते समय प्रयाग में रुके थे। श्रीवल्लभाचार्य ने प्रयाग जाकर उनके दर्शन किये थे। वे आग्रह पूर्वक उन्हें अपने घर अड़ैल ले गये थे और जिस प्रकार उन्होंने उनकी सेवा-परिचर्या की थी, उससे स्पष्ट है कि वे उनमें भगवत्-बुद्धि रखते थे।[1]

निजवार्ता में भी उल्लेख है कि श्रीबल्लभाचार्यको महाप्रभुके शरीर में श्रीकृष्णके दर्शन हुए थे और उन्होंने असमर्पित वस्तुमें से सामग्री देकर उन्हें जिमाया था।[2] श्रीबल्लभाचार्य ने श्रीधामपुरी की यात्रा की थी और कुछ दिन वहाँ रहकर महाप्रभु और उनके परिकरोंका संग किया था। उस बीच भी दो बार परिकरों सहित महाप्रभुको अपने निवास-स्थान पर भोजन करने के लिए आमन्त्रित किया था।

श्रीविट्ठलनाथजी के भी अन्य सम्प्रदायोंसे प्रभावित होनेकी संभावनाको एकदम अस्वीकार करना ठीक नहीं लगता। उनके समयमें तो व्रज में माधुर्य भावकी भक्ति की बाढ़ ही आयी हई थी। गौड़ीय सम्प्रदाय के गोस्वामियों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायके महात्माओंका भी उसमें योगदान था।[3] गौड़ीय सम्प्रदायके गोस्वामियोंसे श्रीविट्ठलनाथजी का निकट का सम्बध था, जो मथुरामें श्रीनाथजीके उत्सवों में सम्मिलित होने के लिए लगातार एक मास तक उन सबके रहने की उपरोक्त घटना से सिद्ध है, और इससे भी कि श्रीरघुनाथदास गोस्वामीने अपने श्रीगोपालराज स्तोत्रमें गोपाल (श्रीनाथजी)

---

१. चै.च. २/१९/८५-९०

२. बंग देश तें श्रीकृष्णचैतन्य वृन्दावन आवत अड़ेलमें आपको निवास सुनिके श्रीआचार्यके पास आये।। तिनके शरीरमें श्रीकृष्णको निवास देखि आप श्रीआचार्यजीने बिनकों असमर्पित वस्तुमें सु सामग्री दे जिमाये।।" (गो. श्रीगोकलनाथजी कृत श्रीआचार्यजी महाप्रभु (श्रीवल्लभचार्यजी) की निज वार्ता, घरु वार्ता तथा चौरासी बैठकनकी वार्ता, प्रकाशक एन.डी मेहताकी कम्पनी, कालबादेवी रोड, बम्बई, सं. १९५९, वार्ता प्रसंग ३४ पृ. ६८)

३. बल्लभ सम्प्रदायके प्रसिद्ध विद्वान सेठ श्रीगोविन्ददासके कल्याण, भाग ३०, संख्या ५ में प्रकाशित 'महाप्रभु बल्लभाचार्य' नाटकमें भी उल्लेख है कि श्रीबल्लभाचार्य ने महाप्रभु अनिवेदित द्रव्य खानेको दिया था, जिसका भगवानको छोड़ और किसी को दिया जाना अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति उनके सम्प्रदायमें भी निषिद्ध है।

को श्रीविट्ठल प्रेमपूतः और "श्रीविट्ठलस्योरुसख्यैः" कहा है।

ग्रन्थ रचना– श्रीविट्ठलनाथजी अपने पिता श्रीवल्लभाचार्यकी ही तरह प्रकाण्ड विद्वान थे। यह इस बात से स्पष्ट है कि उन्होंने उनके 'अणुभाष्य' की पूर्ति की, 'सुबोधिनी' पर टिप्पणी और उनके 'न्यासादेश' आदि कई ग्रन्थोंपर विवृत्ति लिखी।

उन्होंने सब मिलाकर कोई ५० ग्रन्थोंकी रचना की। उनके स्वतंत्र ग्रन्थोंमें तीन मुख्य हैं–'विद्वनमंडन', 'भक्तिहंस, और श्रृङ्ग.ारस्य मंडन'। विद्वनमंडन में शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का 'भत्तिहंस में पुष्टिमार्गीय भक्ति सिद्धान्तका और 'श्रृङ्गाररस मंडन' में पुष्टिमागीर्य रस–सिद्धान्त का विवेचन किया गया है।

तिरोधान– पुष्टि सम्प्रदायकी मान्यता के अनुसार श्रीविट्ठलनाथजी के तिरोधानकी तिथि सं०– १६४२ की फाल्गुन कृष्ण सप्तमी है। वही तिथि अष्टछापके श्रीगोविन्द स्वामी, श्रीछीत स्वामी और श्रीचतुर्भुजदासके तिरोधान की है। अष्टछापके अन्य पाँच सखाओं का निधन पहले ही हो चुका था। तीन जो बच रहे थे वे भी श्रीविट्ठलनाथजी के साथ नित्य–लीलामें प्रविष्ट हो गये।

पुष्टिमार्ग की सांगोपांग उन्नतिका श्रेय तो श्रीविट्ठलनाथजीको है ही, व्रजकी संस्कृति, भाषा और साहित्यको, समुन्नत करने में भी उनका जितना हाथ है, उसका अनुमान लगाना कठिन है।

श्रीविट्ठलनाथजीने तिरोधानके पूर्व अपने सेव्य –श्रीविग्रहका बटवारा अपने सात पुत्रोंमें कर दिया। सातों पुत्रोंने अपने–अपने हिस्सेमें आये श्रीविग्रह की पृथक् सेवा आरम्भ की। इस प्रकार पुष्टि सम्प्रदायके 'सप्त गृह' की परम्परा पड़ी। यही सप्त गृह पुष्टि सम्प्रदायकी सात गद्दियों के रूप में माने गये।

अष्ट सखा (अष्टछाप)

अष्टछाप कवियोंका वृतान्त हमें वल्लभ–सम्प्रदायके ग्रन्थ' ८४ वैष्णवन की वार्ता' और '२५२ वैष्णवन की वार्ता में मिलता है।

---

१. डा. दीनदयालु गुप्तने लिखा है– "गोस्वामी विट्ठलनाथके राधाभाव सम्बन्धी विचारों पर माध्व सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु तथा श्रीहित हरिवंशके विचारों का प्रभाव माना जा सकता है।" (अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, पृ. ५२७-५२८)

डा. रामकुमार वर्मा ने सम्पूर्ण वार्ता साहित्यक को अप्रामाणिक बतलाया है।[1] पं. रामचन्द्र शुक्लने लिखा है कि़ ये वार्ताएं साम्प्रदायिक गौरवको बढ़ाने के लिए गढ़ी गई कपोल कल्पनायें है। चौरासी वैष्णवकी वार्ता' के लिये उन्होंने लिखा है कि "यह वार्ता गोकुलनाथजीके पीछे उनके किसी गुजराती शिष्यकी रचना जान पड़ती है।"[2] पर डा. दीनदयालु गुप्तने लिखा है कि ८४ और २५२ वार्ताएं थी-गोकुलनाथजी द्वारा ही कथित हैं, इसलिए वे उनके कर्ता कहे गये हैं। 'ये वार्ताएं गोकुलनाथजीके हाथ से नहीं लिखी गयी, इनको उनके शिष्योंने लिखा है और समय-समय पर इनकी प्रतिलिपियाँ होती रही है।[3]

"श्रीगोकुलनाथजीके बाद श्रीहरिरायजीने ८४ तथा २५२वार्ताओं पर कुछ प्रसंग बढ़ाकर उनके भावका स्पष्टीकरण किया, जो गोस्वामी श्रीहरिरायजी की भावनाओं की वार्तायें कही जाती हैं और ऐसी वार्ताओं पर हरिरायजीके भावप्रकाशका उल्लेख है।..... उपलब्ध २५२ वार्ताओंकी प्रतियाँ हरिरायजी द्वारा ही सम्पादित और परिवर्धित हैं। मूल २५२ वार्ता, सम्भव है, कहीं छिपी पड़ी हो।" पर गुप्तजीका कहना है कि "श्रीहरिरायजी वल्लभ सम्प्रदाय के एक बहुत बड़े विद्वान आचार्य, भारी लेखक और बहुत अनुभवी व्यक्ति थे। उन्होंने बहुत-सी यात्रायें की थीं। उन्होंने जो कुछ लिखा है, लेखकका अनुमान है, वह अधिकांशमें विश्वस्त सूत्रसे सूचना लेकर लिखा होगा।"[5]

अष्टछापके भक्त कवियोंके जीवन-वृतांतका वार्ता साहित्यके अतिरिक्त और कोई आधार उपलब्ध न होनेके कारण हम गुप्तजी द्वारा वार्ताओं के आधारपर जो कुछ लिखा गया है, उसीके सहारे उनका संक्षिप्त परिचय देनेकी चेष्टा करेंगे।

सूरदासजी

डा० दीनदयालु गुप्तने श्रीहरिरायजीकृत भाव प्रकाशवाली ८४ वैष्णवकी वार्ता के आधार पर सूरदासजीका जन्म स्थान गुड़गाँव के

---

१. हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, पृ ६४९
२. हिन्दी साहित्यका इतिहास, सं. १९९७ संस्करण, पृष्ठ २११,१९६
३ अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, पृ. १३८
४. वही, पृ. १३६ तथा १३८
५. वही, पृ. १४०

अन्तर्गत सीही ग्राम माना है। पं० रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० श्यामसुन्दरदासने उनका जन्मस्थान आगरासे मथुरा जानेवाली सड़कपर रुनकता गाँव माना है। उनकी जन्म-तिथि सं० १५३५, वैसाख सुदी पंचमी निर्धारित की गयी है।

सूरदास अंधे थे। कुछ लोगों का मत है कि वे जन्मांघ नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओंमें प्राकृतिक सौंदर्यका जैसा वर्णन किया है, उससे लगता है कि प्रारंभिक जीवनमें उनकी दृष्टि-शक्ति अवश्य रही होगी। पर ८४ वैष्णवोंकी वार्ता में उनकी दिव्य दृष्टिकी बात कही गयी है और उसका एक दृष्टान्त इस प्रकार दिया गया है। सूरदास नवनीत प्रियजीके दर्शन करने गोकुल जाया करते थे और नवनीत प्रियजीके श्रृंगार का ज्यों का त्यों वर्णन अपने कीर्तनमें कर दिया करते थे। एक दिन श्रीविट्ठलनाथजीके सबसे बड़े पुत्र श्रीगिरिधरजीने उनकी परीक्षा करने के उद्देश्यसे नवनीतप्रियजीका अद्भुत श्रृंगार किया। उन्हें वस्त्र नहीं पहनाये। पर मोतियों के आभूषण पहना दिये। श्रृंगार के दर्शन खुलनेपर उन्होंने सूरदासजी को बुलाया और श्रृंगारका कीर्तन करनेको कहा। उस समय उन्होंने यह पद गाया

देखे री हरि नंगम नंगा।
जल सुत भूषन अंग विराजत बसनहीन छबि उठत तरंगा।।
अंग अंग प्रति अमित माधुरी निरषि लजति रति कोटि अनंगा।
किलकत दधि-सुत मुष ले मन भरि सूर हँसत ब्रज जुवतिन संगा।।

हरिरायजी के अनुसार सूरदासजीके माता-पिता निर्धन सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके तीन पुत्र और थे। सूरदासके अंधे होने के कारण वे उनकी ओर से उदासीन रहते थे। इसलिये सूरदास १८ वर्षकी आयुमें सीही गाँवसे चार कोस दूर एक तालाब के किनारे जाकर रहने लगे। वहीं उन्होंने गान-विद्या सीखी औरपद रचना आरम्भ की। वाक्सिद्धि भी उन्हें वहीं हो गयी। इसलिये उनका प्रभाव और

१. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, भाग १, पृ. १९९
२. हिन्दी साहित्यका इतिहास, सं. १९९० संस्करण, पृष्ठ १५५
३. हिन्दी भाषा और साहित्यका इतिहास, सं. १९९४ संस्करण, पृष्ठ ३२२
४. डा. गुप्तके अनुसार सुरदास कुछ दिन बाद सीही ग्रामसे आगरा और मथुरा के वीच गऊ घाटपर जाकर रहने लगे थे जो 'रेणका'(प्राचीन रुनकता) से एक मील दूर है। (अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय पृ. १९९)
५. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय भाग १, पृ. २१२

वैभव शीघ्रता से बढ़ गया। उनके बहुत से शिष्य हो गये और वे स्वामी कहलाने लगे। तब उनके मनमें वैराग्य आया। उन्होने गाँवसे अपने माता-पिता को बुलवाया और घर-सम्पत्ति उन्हें सौंपकर रुनकता के पास गऊघाट पर जाकर रहने लगे।

८४वैष्णवोंकी वार्ता के अनुसार गऊघाटमें ही सूरदासकी श्रीवल्लभाचार्यसे भेंट हुई और उन्होंने उनसे दीक्षा लेकर वल्लभ सम्प्रदायमें प्रवेश किया।

सूरदासके श्रीवल्लभाचार्य से दीक्षित होने के प्रमाणमें उनका जो पद उद्धृत किया जाता है, वह इस प्रकार है-

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।

श्रीवल्लभ-नख-चन्द्र-छटा बिन सब जग माँझि अंधेरो।

साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरो।

सूर कहा कहे दुबिध आँधरो बिना मोल को चेरो।।[1]

सूरदासको आचार्य जी गोवर्धन ले गये और श्रीनाथजीके सामने कीर्तन करने की सेवा उन्हें सौंप दी।

हरिरायजीने लिखा है कि सूरदासने लक्षावधि पदों की रचना की। पर इतनी अधिक संख्यामें सूरदासके पद उपलब्ध नहीं हैं। वार्ताकार श्रीगोकुलनाथजीका कहना है कि सूरदासने केवल सहस्रावधि पद बनाये। वार्ताकारका यह भी कथन है कि उनके पदोंमें उनके जीवन-कालमें ही मेल हो गया था और लोग सूरदासके नामसे पद बनाकर गाते थे।[1] डॉ० जनार्दन मिश्रका मत है कि सूरदास के पदों में जो सरस्याम और सूरजदासजीकी छापके पद सम्मिलित हैं, वे उनके नहीं है।[2] डॉ० दीनदायलु गुप्तने हरिरायजीके मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि सूर, सूरदास, सूरजदास और सूरस्याम इन चारों छापोंके पद सूरदासके ही पद है।[3]

सूरदासके प्रामाणिक और मुख्य ग्रन्थ तीन माने गये हैं- सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य-लहरी। सूरसागर उनकी अमर कृति है। यह श्रीमद्भागवत के आधारपर लिखी गयी है।

सूरदासजीका गोलोकवास विट्ठलनाथजीके गोलोकवासके पूर्व सं० १६३८ अथवा सं० १६३९ में उनकी भजनस्थली परासौली में

---

1. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ. २१०
२. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, पृ. २०५

हुआ। श्रीहरिरायजीने लिखा है कि जिस दिन उनका देहावसान हुआ उस दिन वे श्रीनाथजीकी मंगला आरतीके दर्शनकर परासौली चले गये और श्रृंगार आरतीके समय कीर्तनमें नहीं गये। विट्ठलनाथजीको जब इस बातका पता चला तब वे समझ गये कि आज सूरदासके जीवन का अंतिम दिन है। उन्होंने वैष्णवों से कहा-" पुष्टि मारगको जहाज जात है सो जाकों कछु लेनों होय सो लेउ।"

विट्ठलनाथजी राजभोगकी आरती कर चतुर्भुजदास, कुम्भनदास आदिको साथ ले परासौली पहुंच गये। सूरदासजी उस समय अचेत पड़े थे। विट्ठलनाथजी ने उन्हें पकड़ कर सचेत किया। तब चतुर्भुजदासने उनसे पूछा- आपने लक्षावधि पद किये, परन्तु आचार्यजीकी यश-वर्णन नहीं किया। तब सुरने उत्तर दिया- मैंने तो सब यश उन्हीं को वर्णन किया है। मैं उन्हें कृष्ण भगवान् से अलग नहीं देखता।" उसी समय उन्होंने उपरोक्त पद भरोसों दृढ़ इन चरनन केरो। का गान किया।

सूरदासजीकी कविताकी प्रशंसा करते हुए नाभाजीने कहा है कि यह अनूठी चमत्कारिक और सारगर्भित उक्तियों से परिपूर्ण है। सुन्दर काव्यकी सभी कसौटियों पर यह खरी उतरती है। अपनी दिव्य दृष्टिसे भगवान् की लीलाओंको हृदयमें प्रत्यक्षकर उन्होंने जन्म-कर्म, रूप-गुण आदि का वर्णन किया है। जो उनके द्वारा गाये गये भगवान् के गुणों को सुनता है, उसकी बुद्धि निर्मल हो जाती है। ऐसा कौन है, जो उनकी कविता सुन झूमने नहीं लगता-

'सूर कवित सूनि कौन कबि जो नहिं सिर चालन करै?

(भक्तमाल, छप्पय ७३)

सूरदासने अपनी कविताओंमें वात्सल्यरसकी अपेक्षा मधुररसका अधिक वर्णन किया है। मधुररसमें भी सम्भोगकी अपेक्षा विप्रलम्भ का गान अधिक किया है। उन्होने प्रेम की परिपक्वता विरह से ही होती मानी है, जैसा कि उनके इस पद से स्पष्ट है-

ऊधौ विरहौ प्रेम करे।
ज्यो बिनु पुट पट गहै न रंगहिं, पुट गहे रसहि परै।
जौ आवैं घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।

---

१. डा. जनार्दनमिश्र : सूरदास, पृ. ७
२. वही
३. वही, पृ. २१९

जौ धरि बीज देह अंकुर चिरि तौ सत फरनि फरै।
जौ सर सहत सुभट समुख रन तो रवि रथहि सरै।
सूर गोपाल प्रैम पथ जलते कोऊ न दुखहिं डरै।

(भ्रमरगीत सार, पद १७१)

कृष्णके मथुरा चले जाने पर व्रजकी विरह दशाका वर्णन सूरदासने इस प्रकार किया है-

कहाँ लौं कहिए व्रज की बात।
सुनहु स्याम तुम बिन लोगनि, जैसे दिवस बिहात।।
गोपी ग्वाल गाइ गोसत वैं, मलिन बदन कृस गात।
परम दान जनु सिसिर-हिमीहत अम्बुजगन बिन पात।।
जो कहुँ आवत देखि दूर ते सब पूछति कुसलात।
चलन न देत प्रेम आतुर उर, कर चरनन लपटात।।
पिक चातक बन बसन न पावहिं, बायस बलिहि न खात।
सूर स्याम सन्देसन के डर, पथिक न वहि मग जात।।



कोऊ ब्रज बांचत नहिंन पाती।
कत लिखि-लिखि पठवत नंद-नंदन, कठिन विरह की काती।
नयन सजल, कागद अति कोमल, कर अंगुरी अति ताती।
परसत जरै बिलोकत भीजति, दुहुँ भाँति दुख छाती।।
सूरदास के कुछ संभोग के पद इस प्रकार है -
राधा-माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट-भृङ्ग.गति होई जो गई।
माधव राधा के रंग रांचे, राधा माधव-रंग रई।
माधव-राधा-प्रीति निरन्तर, रसना कहि न गई।
विहँसि कह्यो हम-तुम नहिं अन्तर, यह कहि ब्रज पठई।।
सूरदास प्रभु राधा-माधव, ब्रज-बिहार नित नई-नई।।



संग राजति वृषभानु कुमारी।
कुञ्ज सदन कुसुमनि सेज्या पर दंपति सोभा भारी।
आलस भरे मगन रस दोऊ, अंग-अंग प्रति जोहत।
मानहुँ गौर-स्याम कैरव-ससि, उत्तम बैठे सनमुख सोहत।

१. बिताते है
२. कौआ

कुञ्ज भवन राधा-मनमोहन चहुँ पास ब्रजनारी।
'सूर' रही लोचन इकटक करि डारत तन-मन वारी।

गहि बहियाँ लै चले स्यामधन, सघन कुञ्ज के द्वार।
पहले सखी सबै रचि राखीं, कुसुमिनि सेज संवार।
नाना केलि सखीन संग विहरत नागर नन्दकुमार।
आलिंगन चुम्बन परिरंभन, भेंटत भरि अंकवार।
श्रम जल बिदु इन्दु-आनन पर, राजत अति सुकूमार।
मानौं विविध भाव मिलि बिलसत, मगन सिन्धुरस सार।
कुञ्ज-रंध्र अवलोक सहचरी, अपनौ तन मन बारै।
निरखि-निरखि दंपति नेत्रन सुख तोरि-तोरि तृन डारैं।।

मानके पदोंका भी सूरदासने गान किया है, जिनमें राधाके प्रति कृष्ण की अधीनता का सुन्दर चित्रण है-

प्यारी, प्रीतम आरति करतु।
तुम्हरे कारन कुमरि राधिका, मेरे पांयनि परतु।
वरही मुकट लुठत अवनो पर, नाहिं न निज भुज भरतु।
बार बार रहंटिके घट ज्यों, भरि भरि लोचन ढरतु।
अति आधीन मीन ज्यों जल बिनु, नाहिन धीरज धरतु।
'सूर' सुजान सखी सुन तुम बिनु मनमय पावक जरतु।

इस पद में कृष्ण राधाका चरण स्पर्श कर राधा का मान मनाते हैं-

सुनहु स्याम तुम हो रससागर । रूप सील-गुन-प्रीति उजागर।
तुम ते प्रिया नैकु नहिं न्यारी । एक प्रान द्वै देह तुम्हारी।।
प्यारी में तुम तुम में प्यारी । जैसे दरपन छांह विहारी।
रस में परै विरस जहँ आई । होई परत तहै अति कठिनाई।
अबकें हम सब दैति मनाई । परसौ प्यारी चरन कन्हाई।
अब रुठाइहौं जोगिरिधारी । राम-राम तो बहुरि हमारी।
जब परसे प्यारी चरन, परम प्रीति नन्दनन्द।
छुट्यौ मान हरसौ प्रिया, मिट्यौ विरह-दुख-दन्द।
हरसि मिले दोउ प्रीतम प्यारी। भई सखी सब निरखि सुखारी।

(सूर सागर, ११९५)

परकीयारसके पदों का भी सूर में अभाव नहीं है। एक पद यहाँ प्रस्तुत है। यशोदा गोपियों से कह रही हैं-

मैं तुम्हारे मन की सब जानी।
आपु सबै इतराति फिरति है, दूषन देति स्याम कौं आनी।
मेरौ हरि कहँ दसहिं बरसकौ, तुमरी जीबन-मद उमदानी।।
लाज नहीं आवति इन लंगरिनि, कैसे धौं कहि आवति बानी।
आपुहिं तोरि हार चोलो-बन्द, उन नख-घात बनाइ निसानी।
कहाँ कान्ह की तनक अंगुरियाँ, यह कहि बार-बार पछितानी।
देखहु जाइ और काहुकौं, हरिपर सबहि रहसि मँडरानी।
सूरदास-प्रभु मेरौ नान्हौं, तुम तरुनी डोलति अठलानी।
-सूरसागर, ५१६

ऊपर के कुछ पदों से स्पष्ट है कि सूरदासजीकी उपासना मधुरभाव के अन्तर्गत सखीभाव की थी। उन्होंने अपने बहुत-से पदोंमें 'सूर-सखी' की छाप भी दी है। पर उनका सखीभाव चैतन्य सम्प्रदायके सखीभावके समान है, हरिदासी या राधावल्लभ सम्प्रदायके सखीभाव के समान नहीं। राधा-कृष्ण की जिन लीलाओंका उन्होंने गान किया है, उनका क्षेत्र वृज-वृन्दावन है, 'नित्य-विहार' का वृन्दावन नहीं। उनमें संभोगके साथ विरह और मान और स्वकीयाके साथ परकीयारसकी लीलाएं भी सम्मिलित है, जो नित्य-विहारमें सम्भव नहीं है। सूरदास के पदोंका मुख्य आधार पौराणिक है, जिसे राधावंल्लभ और हरिदासी सम्प्रदायोंने त्याग दिया है।

परमानन्ददासजी

'चौरासी वैष्णवकी वार्ता' के अनुसार परमानन्दासका जन्म सं. १५५० में कन्नौज में एक निर्धन कान्यकुब्ज ब्राह्मणके घर हुआ। कविता करने और गानेका शौक उन्हें बचपनसे था। पर उनका अधिकाशं समय साधु संग में बीतता था। उन्होंने विवाह नहीं किया। उनकी कविता और कीर्तनके कारण युवावस्था में ही उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी।

२६ वर्षकी अवस्था में एक बार वे गंगा-स्नान करने प्रयाग गये। तभी उन्होने प्रयागके निकट अड़ैलमें वल्लभाचार्यजीके निवास-स्थान पर उनके दर्शन किये और उनके शरणागत हो गये।

वे अड़ैल में ही रहकर नवनीत प्रियंजीके कीर्तन सुनाते रहे। कुछ दिन बाद उन्होंने वल्लभाचार्यजीके साथ ब्रज के लिये प्रस्थान किया। रास्तें में कन्नौज पड़ा। वहाँ वे वल्लभाचार्यजी और उनके भक्तोंको अपने घर ले गये और उनका आदर-सत्कार किया। '८४ वैष्णवकी वार्ता' के अनुसार वहाँ उन्होंने वल्लभाचार्यको विरहका यह पद सुनाया-

हरि तेरी लीला की सुधि आवै।
कमल नैंन मन मोहनी मूरति मन मन चित्र बनावैं।
एक बार जाहिं मिलत मया करि सौ कैसे बिसरावै।
मुख मुसकानि बंक अवलोकनि, चाल मनोहर भावै।
कबहुँक निबड़ तिमर आलिंगित कबहुँक पिक स्वर गावै।
कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि संज्ञ.हीन उठि धावै।
कबहुँक नैन मुंदि अंतरगति मनि माला पहिरावै।
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे विरह गमावै।
हरि तेरी लीला की सुधि आवै।

कहते हैं कि इस पदको सुन वल्लभाचार्यजी तीन दिन ध्यानावस्थित रहे।"[१]

विरहका उनका एक और पद इस प्रकार है।

जिय की साधु जु जियहिं रही।
बहुरि गुपाल देखि नहिं पाये विलपत कुंज अहीरी।।
इक दिन सो जु सखी यदि मारग बेचन जात दही री।
प्रीति के लिए दान मिस मोहन मेरी बाँह गही री।।
बिनु देखै छिनु जात कलप सम विरहा अनल दही री।
परमानन्द स्वामी बिनु दरसन नैनन नदी बही री।

एक पदमें उन्होंने व्रजके प्रति अपनी अनन्य निष्ठा इस प्रकार व्यक्त की है -

कहा करौ वैकुंठहि जाय।
जहाँ नहिं नन्द जहाँ न यशोदा जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और कदंमनि की नहिं छाय।
'परमानंद' प्रभु चतुर ग्वलिनी ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।

व्रजमें ले जाकर वल्लभाचार्यजीने परमानन्ददासको भी गोवर्धन में गोवर्धननाथके समक्ष कीर्तनकी सेवा दे दी।

परमानन्ददासकी प्रामणिक रचना केवल परमानन्द-सागर है। उनके अधिकांश पद श्रीकृष्णकी बाल-लीला, गोपी-प्रेम, गोपी-विरह और भ्रमर गीतसे सम्बन्धित हैं। मान, खण्डिता और रासादिके भी कुछ पद उन्होंने लिखे है।[१]

अष्टछापके कवियोंमें सूरदास और परमानन्ददास इन दो को ही प्रधान माना गया है। वार्ताकारने इन दो को ही 'सागर' कहा है, क्योंकि इनके पदों की संख्या नहीं है।[३]

1. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, पृ. २२३

श्रीविट्ठलनाथजी और अष्टसखा

परमानन्ददास गोवर्धननाथके कीर्तनकी सेवा अन्त तक करते रहे। उनका गोलोकवास उनके स्थायी निवास-स्थान सुरभि-कुण्ड पर सं. १६४० के लगभग हुआ।[२]

श्री कुम्भनदासजी

डा० दीनदयालु गुप्तने वार्ताओके आधार पर कुम्भनदासजीका जन्म सं. १५२५में, श्रीवल्लभाचार्यसे शरणागत होना सं. १५४९ में और निधन सं. १६३२ में माना है। वार्ताकार के अनुसार उनका जन्म गोवर्धन पर्वतसे कुछ दूर जमुनावती गाँव में हुआ था। परासौलीमें उनके खेत थे और वहाँ रहकर वे खेती कराया करते थे। वहीं से श्रीनाथजीके मन्दिर में समय-समय पर कीर्तन करने जाया करते थे।

कुम्भनदासजीके कुटुम्बमें उनकी पत्नी, उनके सात पुत्र, उनकी स्त्रियाँ और एक विधवा भतीजी थी। खेती पर ही निर्भर रहकरवे किसी प्रकार कुटुम्बका पालन करते थे। उनके पुत्रों में केवल चत्रभुजदास पूर्णतः उनके मनोनुकूल थे। कृष्णदास नामके एक और पुत्र, जो श्रीनाथजीकी गाये चराते थे उनसे भी वे प्रसन्न थे। बाकी पाँच पुत्र उनके मनोनुकूल नहीं थे। इसलिये उन्हें उन्होंने अलग कर दिया था। एक बार वल्लभाचार्यजीने उनसे पूछा-'कुम्भनदास, तुम्हारे कितने पुत्र है?' उन्होंने उत्तर दिया- महाराज डेढ़ पुत्र है। चत्रभुजदास मेरा बेटा है और कृष्णदास आधा।"

वल्लभाचार्यने कहा- तुम सच कहते हो। जो भगवदीय है, वही सच्चा बेटा है।'

कुम्भनदासजी बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे। पर वे पद-रचना करते थे और कीर्तन भी अच्छा करते थे। इसलिये वल्लभाचार्यजीने उनहें श्रीनाथजीके मन्दिरमें कीर्तनकी सेवा दे दी।

कुम्भनदासजी श्रीनाथजीको छोड़ कहीं नहीं जाना चाहते थे। उनको आर्थिक दशा दयनीय थी। इसलिये एक बार विट्ठलनाथजीने उन्हें अपने साथ द्वारका ले जाना चाहा, जिससे वहाँके भक्तोंकी भेंट से उनका कष्ट दूर हो जाय। गुरुदेव की आज्ञाका वे उल्लंघन न कर सके। उनके साथ चले तो गये। पर पहले ही पड़ाव पर उन्हें श्रीनाधजी की याद आयी। आँखोंसे अश्रुधार बह चली। निम्न पद

---

2. वही, पृ. ३१०-३११
3. वही २३०

बनाकर उन्होंने विट्ठलनाथजीको सुनाया -

के ते ह्वै जुगगे बिन देखें ।
तरुन किसोर रसिक नंदनंदन कछुक उठत मुख रेखें ।
वह सोभा वह कांति बदन की कोटिक चन्द बिसेखें ।
वह चितवन वह हास्य मनोहर वह नटवर वपु भेखें ।।
स्यामसुंदर संगमिल खेलनकी आवत जिय अपेखें ।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर बिन जीवन जन्म अलेखें ।।

कुम्भनदासकी यह दशा देख विट्ठलनाथजीने उन्हें वापस गोवर्धन भेज दिया।

कहते है एक बार अकबर बादशाहके बुलाने पर कुम्भनदासको सीकरी जाना पड़ा। तब उन्होंने यह पद गाया-

भक्तन कौ कहा सीकरी काम ।
आवत जात पन्हैयाँ टूटीं, बिसर गयौ हरिनाम ।।
जाकौं मुख देखै दुख लागै, ताकौ करन परी परनाम ।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर बिन, यह सब झूठौ धाम ।।

श्रीकृष्णदास अधिकारीजी

डा० दीनदयालु गुप्तके अनुसार श्रीकृष्णदास अधिकारीका जनम सं:१५५२ के लगभग गुजरातमें राजनगर (अहमदाबाद) राज्यके चिलोतरा नामक गाँवमें 'कुनबी'[1] पटेल कुल में हुआ।

श्रीहरिरायकृत भाव प्रकाशवाली वार्तामें लिखा है कि १३ वर्षकी अवस्थामें इन्हें अपने पिताके असत्य आचरण के कारण घर छोड़ना पड़ा। कुछ दिनके पर्यटनके पश्चात् वे गोवर्धन गये और वल्लभाचार्यके शिष्य हो गये।[2]

घर पर इनकी थोड़ी ही शिक्षा हुई थी। पर वल्लभ-सम्प्रदाय में आनेके पश्चात् इन्होंने बड़ी योग्यता प्राप्त करली और ब्रजभाषा में कविता भी करने लग लगे। हिसाब-किताबमें ये बहुत निपुण थे और व्यावहारिक बुद्धि भी इनमें बहुत थी। वार्ताकारने लिखा है कि इसलिये वल्लभाचार्यजीने इन्हें मन्दिरका अधिकारी बना दिया।[3]

डा० गुप्तने वार्ताओं के आधार पर लिखा है कि कृष्णदासने

१. 'कुनबी' डा. गुप्तके अनुसार शूद्र जाति है, क्योंकि वार्तामें कई बार कृष्णदासको शूद्र कहा गया है। (अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, पृ.२४५)
2. वही, पृ. २५३
३. वही, पृ. २४७

श्रीनाथजीके बंगाली सेवकोंको निकाल दिया। उन्हें निकालनेमें उन्होंने बड़ी चालाकी और कठोर हृदयतासे काम लिया। "इस घटनासे उनकी अधिकारकी उचित क्षमता, कूटनीतिज्ञता और व्यवहार-कौशल अवश्य प्रकट होते ही, परन्तु साथ ही इस षटचक्रके कारण कृष्णदास एक उच्च कोटिके भक्त के पदसे कुछ नीचे भी उतर जाते है।"[१]

दो अन्य घटनाओंके कारण गुप्तजीने कृष्णदासजीके चरित्रपर संदेह व्यक्त किया है। उन्होंने लिखा है -"एक बार आगरे के बाजार में कृष्णदास एक मुग्धा वेश्या पर मोहित हो गये। इन्होंने सोचाकि इसे श्रीगोवर्धननाथजीके पास ले चलें। रात्रिको इन्होंने उस वेश्याको अपने ठहरने के स्थान पर १००रु. देकर बुलाया और उसका रात को गाना सुना। दूसरे दिन उस वेश्याको वे अपने साथ गोवर्धन ले गये। वहाँ श्रीनाथजीके समक्ष नाचते-नाचते वह परलोक को चली गयी।[२]

दूसरी घटना जिसका उन्होंने उल्लेख किया है गंङ्गाबाई से सम्बंधित है। कृष्णदासकी क्षत्राणी "गंङ्गाबाई से बहुत मित्रता थी।" गोस्वामी विट्ठलनाथजी उसे अच्छी द्रष्टिसे नहीं देखते थे। एक बार उन्होंने कृष्णदासके गंङ्गबाईसे सम्बन्धको लेकर उनपर एक व्यंग्य कसा।कृष्णदासने गोस्वामीजी से बदला लेनेके लिये अपने अधिकारसे उनका मन्दिरमें आना बन्द कर दिया। हम पहले कह आये हैं कि इस घटना-चक्रका परिणाम यह हुआ कि कृष्णदासजीको जेलखानेमें जाना पड़ा।

पर श्रीहरिरायजीने समझानेकी चेष्टाकी है कि यह घटनाएं कुछ अलौकिक पूर्व घटनाओंसे सम्बध रखती थी और प्रभुकीप्रेरणा से हुई थी। कृष्णदास स्वयं एक उच्चकोटिके भक्त थे और उनका इनमें कोई दोष नहीं था। नाभाजीने भी कृष्णदासजी की उच्चकोटिके भक्तोंमें गणनाकी है और उन्हें 'भजन-सागर' गुण-आगर कहा है।

इससे जान पड़ता है कि कृष्णदासजी एक स्वतंत्र प्रकृतिके निर्भीक व्यक्ति थे। वे उन भक्तोमें से थे, जिनके क्रिया-कलापको समझना साधारण बुद्धिके लोगोंके लिये संभव नहीं है।

जिस प्रकार कृष्णदासजीका निधन हुआ, उससे उनके चरित्रकी जटिलता और अधिक बढ़ जाती है। उसका वर्णन करते हुए गुप्तजी ने लिखा है -"किसी वैष्णवने श्रीनाथजीका कुआँ बनवाने के लिये

---

१. वही, पृ. २४७-२४८

२. वही, पृ. २४८

कृष्णदास को ३०० रु. दिये थे। उन रुपयोंमें से सौ रुपये कृष्णदासने छिपा लिये और दो सौ रुपयों से कुआँ बनवाया। एक दिन वे अधूरे कुएं को देखने गये। वहाँ उनका पैर फिसल गया। लोगोंने उनको निकालनेका प्रयत्न किया, परन्तु उनका शरीर भी लोगोंको नहीं मिला। वार्ताकारका कहना है कि वे फिर प्रेत बन गये। प्रेतरूपमें ही उन्होंने एक दिन गोपीनाथ ग्वालसे कहा कि अमुक जगह सौ रुपये गड़े हैं। उन्हें लेकर गुसाईंजी अधूरे कुएंको बनवा दें तो मेरी प्रेत योनि छूटे। गोस्वामीने ऐसा ही किया और फिर कृष्णदासका उन्होंने श्राद्ध किया।"[१]

कृष्णदास पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त पक्षके अच्छे ज्ञाता और पुष्टिमार्गीय रीति-नीतिका पालन करने में बड़े पक्के थे। वार्ताके अनुसार एक बार ये भेंटियाकी हैसियत से द्वारिका गये। वहाँ से लौटते समय मीराबाईके गाँव उनके घर गये। मीराबाईने उन्हें ठहरनेको कहा और ११ मोहर भेंट में दी। इन्होंने मोहरें फेरते हुए कहा-" हम न तो अन्य मार्गीय के यहाँ ठहरते हैं और न अन्य मार्गीय से भेंट लेते है।" इसी तरह एक बार वृन्दावनमें उन्हें ज्वर आ गया और प्यास लगी। वृन्दावनके अन्य मार्गीय वैष्णवोंका जल पीनेसे इन्होंने मना कर दिया, पर एक पुष्टि-मार्गीय भंगीके घरसे जल मंगवा कर पी लिया।[२]

कृष्णदासजी एक महान कवि भी थे। उनके कवित्वकी प्रशंसा नाभाजीने भी की है। वे नित्य एक पद बनाकर श्रीनाथजीको सुनाया करते थे। उनके नामसे कहीं जाने वाली रचनाएं बहुत हैं। पर डा० दीन दयाल गुप्त ने वल्लभीय केन्द्रों में हस्तलिखित तथा छपे कीर्तनरूपमें पाये जाने वाले संग्रहों से उनके कुल २०० पद छांटे है, जिन्हें वे प्रामाणिक मानते हैं।

श्रीनन्ददासजी

२५२ वार्तामें नन्ददासजी को रामचरित मानसके रचयिता तुलसीदासजीका भाई कहा गया है। उनके जन्म-स्थानके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। वार्तामें उनका वृतान्त काशी से प्रारम्भ किया गया है।

एक बार वे काशीसे रणछोरजी (द्वारिकाजी) के दर्शनके लिये चले। मार्ग भूलकर 'सीहनँद' नामक एक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक

---

१. वही, पृ. २५०

२. वही, पृ. २५०-२५१

क्षत्राणी को देख उसपर मोहित हो गये। वे नित्य एकबार उसको देखने जाने लगे। यह बात स्त्रीके पतिको मालूम हुई तो उसने नन्ददाससे कहा कि आप ऐसा न किया करें, क्योंकि इससे हमारी हंसी होती है। नन्ददास ने कहा- मैं किसी से कुछ कहता हूं, न किसी से कुछ माँगता हूँ। केवल एक बार यहाँ हो जाता हूँ। यहाँ आना मैं नहीं छोड़ सकता। यदि आप अधिक कहेंगे तो यही प्राण त्याग दूंगा। आपको ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। किसी प्रकार भी वह क्षत्री नन्ददासका हठ न छुड़ा सका। यह बात सारे गाँव में फैल गयी। तब क्षत्री के पिता ने उस गाँव को छोड़ देने का निश्चय किया।[१]

एक दिन वह बेटे-बहुको लेकर गोकुलकी ओर चल दिया। नन्ददास भी उनके पीछे हो लिये। गोकुल के निकट एक गाँव में पहुंचे, जहाँ से जमुना पार कर गोकुलको जाना था। ये लोग तो नाव द्वार जमुना पार उतर गये, पर मल्लाह को कुछ द्रव्य देकर नन्ददास को पार उतारने से रोक दिया। ये गोकुल में विट्ठलनाथजी के दर्शन करने गये। विट्ठलनाथजी ने राजभोग के बाद इनके लिये प्रसाद की चार पत्तलें धरवाई। क्षत्री ने पूछा- महाराज, चौथी पत्तल किसके लिये?' गोस्वामीजी ने कहा, उस ब्राह्मण के लिये, जिसे तुम यमुना पार छोड़ आये हो। इस पर ये लोग बहुत चिंचित हुए और सोचने लगे कि यहाँ भी नन्ददाससे मुक्ति नहीं मिली। तब गोस्वामीजी ने उन्हें धैर्य देते हुए कहा- वह ब्राह्मण अब तुम्हें दुःख नहीं देगा। एक सेवक को नाव पर भेजकर उन्होंने नन्ददासको बुलवा लिया।[२]

गोस्वामीजी के दर्शन कर और उनका उपदेशामृत पान कर नन्ददास का मोह जाता रहा। वे उनके शरणागत हो गये। उनके हृदयमें रूपरसिकता कातरत, विह्वलता और विरहानुभूतिकी जो धारा सांसारिक विषयोंकी ओर निरन्तर बह रही थी, उसकी दिशा अब बदल गयी। वह कृष्ण-प्रेम-पयोधिमें जा समानेके लिये व्यग्र हो उठा और उससे फूट निकल भक्तिरसकी काव्य-धारा, जिसने उनकी कीर्ति को अमर कर दिया। उन्होंने उसी समय नवनीत प्रियजीके दर्शन कर यह पद गाया-

बाल गोपाल ललन कों मोद भरि जसुमति हुलरावति ।

१. वही, पृ. १४२
२. वही, पृ. १४२-१४३

मुख चुंबत देखत सुन्दर तन आनन्द भरि भरि गावति।
कबहूँ पलना मेलि झुलावति कबहूँ अस्तन पान करावति।
'नन्ददास' प्रभु गिरिधर कों रानी निरषि निरषि सुख पावति।

तब से उन्होंने अपना सारा जीवन पद रचना करनेमें और नवनीत प्रियजी तथा श्रीनाथजीके सामने उन पदोंको गाने में बिताया।

यह पद उन्होंने श्रीनाथजीके प्रथम दर्शनके समय गाया था -

राग गौरी

हाथ लकुटिया गाइन के पाछें ढोटा जसमुति कौ री।
मुरली अधर धरें मनसोहन मानों लगी ठगोरी।
या ही ते कुल कान हरी हैं ओढ़ें पीत पिछोरी।
ब्रज की बधु अटन चढ़ि निरखत रूप देखि भई बौरी।
'नन्ददास' जिन हरि मुख निरख्यो तिनको भाग बड़ौरी।

यह उनके मान-लीलाके पद है -

राग अड़ानो

तेरी भौंह की मरोर ते ललित त्रिभंगी भये,
अंजन दै चित्तए तबै भयै स्याम बाम री।
तेरी मुसकानि हिए दामिनी सी कौधिं जात,
दीन ह्वै है जात राधे आधौ लीने नाम री।
ज्योंहि ज्यों नचावैं बाल त्योंही त्योंही नाचे लाल,
अब तो मया करि चलि निकुंज सुख धाम री।
नन्ददास प्रभु तब बोलै तो बलाई लेहुँ,
उनको तो कलप बीतै तेरें धरी जाम री।

राग आड़ानो

तुम पहिले तो देखौ लाल आई मानिनी की सोभा,
पाछे तो मनाई लीजो प्यारे हो गोविन्द।
कर पै धरे कपोल रही री नैन मूँदि,
कमल बिछाइ मानों सोयो सुख सों चन्द।
रिस भरी भौंह तो पै भंवर से अरबरात बैठे,
इन्दुतर आयो मकरन्द भर्‌यो अरविन्द।
नन्ददास प्रभु ऐसो कांहे को रुसैये वलि,
जाको मुख निरखें ते मिटत सकल दुख द्वन्द।

यह उनका रस मंजरी का प्रसिद्ध दोहा है -

यदपि अगम ते अगम अति, निगम कहत हैं ताहि।
तदपि रंगीले प्रेम तें, निपट निकट प्रभु आहि।

२५२ वार्ता में लिखा है कि नन्ददासका देहावसना सं. १६३९ के लगभग मानसी गङ्गापर अकबर के सामने हुआ।

देहावसानकी घटना की वृतांत वार्तामें इस प्रकार है। एक बार अकबर बादशाहने मानसी गंगा पर डेरा डाला। उनके साथ उनकी लौंडी रूप मंजरी थी। नन्ददासकी उससे मित्रता थी। नन्ददास उससे मिलने गये। उस समय वह एक वृक्ष के नीचे रसोई बना रही थी। दोनों में भगवद्चर्चा होने लगी। भगवद् चर्चा रात में बीत गयी। रूप मंजरी ने नन्ददास से कहा -मानसी गंगा बहुत सुन्दर स्थान है। हम दोनों यहीं रहें तो अच्छा है। अब इन आँखों से लौकिक देखना ठीक नहीं।

प्रात: काल नन्ददास श्री नाथजी के मन्दिर लौट गये। उसी रात तानसेनने अकबर के सामने नन्ददासका यह पद गाया-

देखो देखो री नागर नट निर्तत कालिन्दी के तट,
गोपिन मध्य राजे मुकट लटक।
काछनी, किंकिनी कटि पीताम्बर की चटक,
कुण्डल किरन में रवि-रथ की अटक।
ताथेई ताथेई सब्द सकल उघटत।
उरप तिरप मानो पद की पटक।
रास में श्री राधे राधे, मुरली में याही रट,
'नन्ददास' जहाँ गावे निपट निकट।

यह पद सुनकर अकबरने नन्ददासको बुलवाया और पूछा - आपने इस पदमें गाया है 'नन्ददास जहाँ गाये निपट निकट'तो बताइये आप- 'रासके निकट कैसे पहुँचे?' नन्ददासने उत्तर दिया-'आप अपनी लौंडीसे पूछिये' । बादशाहने डेरेमें जाकर उससे पूछा। उसी समय वह मुर्छित हो गिर पड़ी और उसके प्राण छूट गये। नन्ददासका शरीर भी उसी समय छूट गया।

नन्ददासजीका अध्ययन गंभीर था। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान थे और हिन्दी भाषापर भी उनका पूरा अधिकार था। यह बात इससे सिद्ध है कि उन्होंने श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्ध का संस्कृतसे हिन्दी में रूपान्तर किया था। उन्होंने बहुत-से ग्रन्थोंकी रचना की।

उनके प्रामाणिक ग्रन्थोंकी तालिका इस प्रकार है-

१. रस मंजरी २. अनेकार्थ मंजरी ३. मान मंजरी ४. दशम स्कन्ध ५.श्याम सगाई ६. गोवर्धन लीला ७. सुदामा-चरित्र८. विरह -मंजरी ९. रूप मंजरी १०. रूक्मिणी-मंङ्गल ११. रासपंचाध्यायी १२.भंवरगीत १३. सिद्धांत पंचाध्यायी

श्रीचतुर्भुजदासजी

श्रीचतुर्भुजदासजी श्रीकुम्भनदासजी के पुत्र थे। इनका जन्म व्रजके जमुनावती गाँव में सं. १५९७ में हुआ था। जन्में के ४१ वे दिन ही इन्हें विट्ठलनाथजी के शरणागत करा दिया गया था।

इनकी शिक्षा इनके पिता और श्रीविट्ठलनाथजीकी देखरेख में हुई थी। अपने पिताकी तरह यह भी गृहस्थ थे। पर इनका गृहस्थीसे मोह नहीं था। इनका सारा समय पदरचना और श्रीनाथजीके सामने कीर्तन करनेमें व्यतीत होता था। इन्होंने संवत् १६४२ में ४५ वर्ष की अवस्थामें ही श्रीविट्ठलनाथजीके गोलोकवास के बाद उनके विरह में विरहके कीर्तन करते-करते प्राण छोड़ दिये।

डा० दीनदयालु गुप्तने चतुर्भुजदासके नामपर आरोपित रचनाओंमें केवल काँकरौली तथा नाथद्वारा में प्राप्त होनेवाले पद-संग्रह तथा वल्लभसम्प्रदायी छपे कीर्तन-संग्रहोंमें प्राप्त पदोंको ही उनकी प्रामाणिक रचना माना है।[1]

श्रीगोविन्द स्वामीजी

श्रीगोविन्द स्वामी का जन्म सं०.१५६२ के लगभग भरतपुर राज्यके आँतरी ग्राम में सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ। संवत् १५९२ में ये श्रीविट्ठलनाथजीकी शरणमें आये। उसके पूर्व इनका विवाह हो गया था और सन्तान भी थी। कवीश्वर और गायनाचार्यके रूप में इनकी ख्याति चारो ओर फैल चुकी थी। बहुतसे शिष्य इनके पास गान-विद्या और काव्य-कला सीखने आया करते थे और ये 'स्वामी' कहलाने लगे थे। वल्लभ-सम्प्रदायमें दीक्षित होने के पूर्व ही यह महाबन चले आये थे। सम्प्रदायमें आनेके बाद यह गोकुल और महाबन के टीलोंपर बैठकर कीर्तन किया करते थे। कुछ समय गोकुल में रहने के बाद गोविन्द स्वामी गोवर्धन चले गये। वहाँ गिरिराजकी कदमखण्डी में रहने लगे और अन्त समयतक वहीं रहकर श्रीनाथजीको कीर्तन सुनाते रहे और पद रचना करते रहे।[1]

१. वही, पृ. ३८५

वल्लभ-सम्प्रदायमें आनेसे पहले ही गोविन्द स्वामी शुद्धा-भक्तिमें विश्वास रखते थे। इसका पता इस बातसे चलता है कि वे जब प्रथमबार श्रीविट्ठलनाथजीसे मिले, उस समय वे यमुना-तट पर सन्ध्या बन्दन कर रहे थे। यह देख उन्हें शङ्का जागी कि शुद्धा-भक्तिका प्रचार करनेवाले श्री श्रीविट्ठलनाथजी सन्ध्या वन्दनादि वेदोक्त कर्मकाण्डमें क्यों उलझे है? एक दिन उन्होंने विट्ठलनाथजीके समक्ष अपनी शङ्का व्यक्त की। उन्होंने उत्तर दिया-"भक्ति-मार्ग फूलके समान है और कर्मकाण्ड काँटोके समान। फूलकी रक्षा के लिये काँटोकी बाड़की आवश्यकता होती है।"

गोविन्द स्वामीका श्रीकृष्णके प्रति संख्य-भाव था और वे बड़े विनोदशील व्यक्ति थे। एक बार उन्होंने श्रीनाथजीको कङ्कड़ी मारी। श्रीविट्ठलनाथजीने उनसे ऐसा करनेको मना किया, तो बोले -"वाह महाराज! अपनो सो पूत, परायो ढठींगर, मोकों इनने तीन कांकरी मारी है।"[२]

दोनों सखाओंके बीच ऐसी ही एक लीलाका प्रियादासजी ने उल्लेख किया है। एक बार गोविन्द स्वामी अपने सखा। श्रीनाथजीसे गुल्ली-डण्डा खेल रहे थे। श्रीनाथजीने अपना दाँव ले लिया। पर जब गोविन्द स्वामीका दाँव आया तो भागकर मन्दिरमें जा बैठे। गोविन्द स्वामी पीछे-पीछे भागे। जगमोहनसे उन्होंने श्रीनाथजीको गुल्ली खींचकर मारी। मन्दिरमें बैठे कुछ साधुओंने उन्हें अपराधी जान धक्का देकर बाहर निकाल दिया। वे मन्दमति कैसे समझ सकते थे दोनोंके बीचकी इस प्रेम लीला को?-

खेलत ही लाल संग, गयौ उठि दाव लै के, मारी खींच गिल्ली
देखि मन्दिर में स्याम है।
मानि अपराध साधु धक्का दें निकारि दियौ, मति सो अगाध,
कैसे जाने वह बाम है।।

(भक्तिरस बोधिनी, ४१०)

गोविन्द स्वामी एक कुडंके किनारे बैठ गये। कहने लगे-" बन में तो इसी रास्तेसे जायेगा। तब धक्का मारनेका मजा चखाऊँगा इसे।"इधर श्रीनाथजीके आगे भोग रखा गया, तो उन्होंने नहीं आरोगा। गोसाईंजीसे कहा- "साधुओंने बिन समझे उसे धक्का देकर

---

१. वही, पृ. २६७-२७२

२. वही, पृ. २७०, अष्टछाप काँकरौली, पृ.२७६-२७७ से उद्धृत ।

निकाल दिया। उसे मुझसे दाँव लेना था, इसी लिये गुल्ली मारी थी। अब वह मेरा बनका रास्ता रोके कुंडपर बैठा मुझे गालियाँ दे रहा है। मैं बनकों जाऊँगा कैसे? तुम जबतक उसे मनाकर नहीं लाओगे, मैं कुछ नहीं खाऊँगा।[१]

गोस्वामीजी दौड़े-दोड़े गोविन्द स्वामीके पास जाकर बोले-"तुम्हारे सखा भोजन नहीं कर रहे हैं। उन्होंने कहलाया है कि जबतक तुम नहीं आओगे वे भोजन नहीं करेंगे। तुम्हारे आनेपर तुम्हारे गले लगेंगे और तुम्हारे साथ ही बैठकर भोजन करेंगे।" बहुत अनुनय-विनय करनेके बाद गोस्वामीजी गोविन्द स्वामीको चलनेके लिये राजीकर सके। जब वे श्रीनाथजीके पास पहुँचे, वे उनसे गले मिले और उनके साथ भोजन किया।

एक और लीलाका प्रियादासजीने इस प्रकार उल्लेख किया है। एक दिन पुजारी श्रीनाथजीके लिये सुन्दर-सुन्दर भोग मन्दिरमें ले जा रहे थे। मार्ग में गोविन्द स्वामी बैठे थे। उन्होंने कहा पुजारियोंसे । पहले भोग हमें दे जाओ। पुजारी ऐसा कैसे कर सकते थे? उन्होंने भोग देनेसे मना किया। गाविन्द स्वामी ने आग्रह किया। तब पुजारियोंने गोस्वामीजी से जाकर शिकायत की। गोस्वामीजी आये और गोविन्द स्वामी से पूछा - "गोविन्द स्वामी, क्या बात है?" गोविन्द स्वामी ने कहा-बात कुछ नहीं। रोज-रोज आपका लाला पहले खाकर बन को चला जाता है। मैं पीछे रह जाता हूँ। मुझे हमे कहाँ-कहाँ ढूंढना पड़ता है।" यह सुन गोस्वामीजी प्रेम से गद्-गद् हो गये। उन्होंने आज्ञा की कि नित्य मन्दिरमें भोगका थाल जाते ही गोविन्द स्वामी को भी खानेको दे दिया जाया करें।

गोविन्द स्वामी उच्चकोटिके भक्त और कवि तो थे ही, वे सिद्ध संगीतकार भी थे। २५२ वैष्णवोंकी वार्तामें उल्लेख है कि तानसेन उनके पास संगीत सीखने आया करते थे।

वार्ताके अनुसार गोविन्दस्वामीने सहस्रावधि पदोंकी रचना की थी। पर उनके २५२ पदों के संग्रह की प्रतियाँ ही पाई जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ स्फुट पद भी मिलते है।

श्रीछीत स्वामीजी

छीत स्वामी मथुराके चौबे थे। उनका जन्म सं. १५६७ के आस-पास माना गया है। वार्ताके अनुसार वल्लभ सम्प्रदायमें आने के

---

१. वही, पृ. २७३

पहले ये कवि और गायक थे और स्वामी कहलाते थे। इन्हें बीरबलका पुरोहित बताया गया है। पर यह भी लिखा गया है कि ये बड़े मसखरे और लम्पट थे और मथुराके पाँच प्रसिद्ध गुण्डे चौबों में सबसे प्रसिद्ध छीतू नामसे जाने जाते थे।[२]

एक बार ये अपने साथी चार गुण्डो के साथ एक खोटे रुपये और खोटे नारियालकी भेट लेकर श्रीविट्ठलनाथजी से मसखरी करने गये। पर उनका स्वरूप देखकर ऐसे प्रभावित हुए कि इनकी चंचलता जाती रही। ये विट्ठलनाथजीके शरणागत हो गये।

उसी समय छीत स्वामी ने यह पद गाया-

भई अब गिरिधर सों पहिचान।
कपट रूपधरि छलिबे आये, पुरुषोत्तम नहीं जान।।
छोटौ बड़ौ कछु नहिं जान्यौ, छाय रह्यो अज्ञान।
छीत स्वामी देखत अपनायौ, विट्ठल कृपा निधान।।

उसके पश्चात् छीत स्वामीने अपना सारा जीवन श्रीनाथजीककी सेवा में व्यतीत किया। एक भक्त-कवि और कीर्तनकार के रूप में इनकी ख्याति हुई। विट्ठलनाथजीके निधनका जब इन्हें संवाद मिला, तब इन्हें मुर्च्छा आ गयी और दूसरे ही दिन इनके भी प्राण पखेरू उड़कर उनसे जा मिले।

छीत स्वामीकी रचनाओं के बारेमें हिन्दी साहित्यमें कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती। वल्लभ-सम्प्रदायी कीर्तन-संग्रहोंमें उनके कुल ६४ पद मिलते है।

---

१. वही, पृ. २७१
२. वही, पृ. २७४

श्रीहितहरिवंश गोस्वामी

वृन्दावनके आध्यात्मिक आकाश पर अबतक एक-एक कर अनेकों ज्योतिर्मय नक्षत्र उदित हो चुके थे। इनमें से प्रत्येकने त्याग, तितिक्षा, वैराग्य और प्रेम-साधना का अपना कीर्तिस्तम्भ वृन्दावनमें स्थापित किया था। प्रत्येकने अभीष्ट-प्राप्तिके हेतु संसार त्यागकर डोर-कौपीनधारी विरक्त वैष्णवका वेष ग्रहण किया था। क्या त्याग और वैराग्यकी इतिनी मूर्तियोंका एक साथ वृन्दावनमें उदय होना आकस्मिक ही था? नहीं, इनमें जीवोंके प्रति सतत् दयामय श्रीभगवानका एक उद्देश्य निहित था। उन्हें व्रज-भक्ति और परमोज्जल व्रज-रसकी उज्वल किरणों का विस्तार कर संसार के मोहान्ध और तापत्रस्त जीवोंको रसोपासनाके सुखमय समुद्रमें निमज्जित करना था। रसोपासनाकी संसिद्धि त्याग और वैराग्यके बिंना सम्भव नहीं है। त्याग और वैराग्यकी इन मूर्तियोंके माध्यमसे रसोपासना का मार्ग प्रशस्त करना ही भगवान्का चरम उद्देश्य था।

पर रसोपासना वैराग्य-वेष ग्रहण करके ही की जा सकती हो, सो नहीं, त्याग आभ्यन्तरिक होना चाहिए, सच्चा होना चाहिए, केवल दिखावे का नहीं। यदि संसारका त्याग हृदयसे कर दिया जाय, तो बाहरसे त्याग किये बिना गृहस्थमें रहकर भी रसोपासनाकी जा सकती है, इसमें संदेह नहीं। इसका भी कोई आदर्श स्थापित करना प्रभुके लिए आवश्यक था। उसकी स्थापना उन्होंने की गोस्वामी हितहरिवंशजीके परम पुनीत चरित्रके माध्यम से। वे भी एक दिन देववनमें चल पड़े थे त्याग-वैराग्यमय जीवन व्यतीत करते हुए रसोपासनामें निमग्न रहनेकी बेगवती आकांक्षाको हृदयमें लेकर। पर वृन्दावन पहुंचनेके पूर्व मार्गमें ही उनकी परमाराध्या श्रीराधाने उसे एक दूसरा मोड़ दे दिया। उन्होंनें स्वप्नमें उनसे कहा-"आगे चिरथावल ग्राम में एक ब्राह्मण रहता है। वह तुम्हें अपनी दो कन्याएं देगा। उनसे विवाह कर लेना। श्रीराधावल्लभका एक श्रीविग्रह भी वह तुम्हें देगा। उन्हें और नव-विवाहिता दोनों पत्नियोंको साथ लेकर वृन्दावन जाना।"

यह कैसा आदेश? भजन करनेके लिए वृन्दावन जानेकी यह कैसी रीति? भजनके उद्देश्यसे वृन्दावन जाना सार्थक है, यदि कोई संसार छोड़कर जाये, या बसे हुए संसारको यथा सम्भव समेट कर जाये। पर जाये भजन करने और वहाँ जाकर नयां संसार बसाये,

या पुरानेका विस्तार करे, यह क्या दो नावों में एक-साथ पैर रखकर चलने जैसा नहीं था, जिसमें दोनोंको उलट जानेका भय था? फिर उस समयके वृन्दावनकी स्थिति पर दृष्टि डाली जाय तो क्या यह तरह-तरहकी आपदों-विपदोंको आमंत्रित करना नहीं था? उस समयका वृन्दावन क्या किसी सभ्रांत व्यक्तिके परिवार के साथ वास करनेका स्थान था? वह हिंसक पशुओंके रहनेके स्थान था, या लुटेरोके लूट-पाट करनेका स्थान था, या उन लंगोटी वाले परम विरक्त महात्माओंके भजन करनेका स्थान था, जो व्रजवासियोंके टूक खाकर, या बनके कंद मूल ख़ााकर और आवश्यकता पड़ने पर कई-कई दिनतक निराहार रहकर भी जीवन यापन कर सकते थे। ऐसी स्थिति में हरिवंशजी को दो नव-विवाहिता पत्नियों के साथ लेकर और राधावल्लभी की सेवाका भार लेकर वृन्दावनमें रहनेकी आज्ञा करना उन्हें कितना अस्थिर और भयभीत कर देनेवाली बात थी।

पर क्या हितहरिवंशजी एक क्षण भरके लिए भी अस्थिर हुए? उन्होंने राधारानी का आदेश सहर्ष स्वीकार किया। उन्हें चिंता किस बातकी थी? राधारानीने राधाबल्लभको भी उनके साथ भेजनेकी बात कह कर उनकी सारी परेशानी दूर कर दी थी। वह कोई हरिवंशजीका अपना संसार था, जिसे वे वृन्दावनमें बसाने जा रहे थे? वह तो श्रीराधावल्लभका संसार था। उन्हें संसारी रहकर वृन्दावनमें भजन करनेका आदेश अवश्य था। पर मायाके संसारका ससांरी होकर रहने का नहीं, राधावल्लभके संसारका संसारी होकर। राधावल्लभके संसार में क्या माया झांक सकती थी? हितहरिवंशजी के लिए क्या उसमें किसी प्रकार की आपद-विपद या विघ्न बाधाकी आशंका करने की गुंजाइश हो सकती थी?

उन्होंने उन दोनों कन्याओंसे विवाह किया। उन्हें और श्रीराधावल्लभ कोलेकर वृन्दावन में प्रवेश किया। अन्ततक वहाँ रहकर भक्तिमय गृहस्थ जीवनका आदर्श प्रदर्शित किया, पाँच आरती और सात भोग वाली राधा-वल्लभकी सेवाकी नयी परिपाटीका आविष्कार किया और राधा-चरण प्रधान, विधि निषेध रहित भजनकी रसमयी रीतिका अपना पृथक् कीर्तिमान स्थापित किया, जिसका नाभाजी ने भक्तमाल के इस छप्पय में विशेष रूपसे उल्लेख किया -

राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पती तहाँ की करत खवासी।।

सर्वस महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी।।
व्यास सुबन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानि है।
श्रीहरिवंश गुसाई भजन की रीति सकृत कोई जानि है।।

(भक्तमाल,९०)

श्री हित हरिवशंजीका जीवन चरित्र उनके समसामयिक किसी लेखक द्वारा नहीं लिखा गया। सर्वप्रथम उनका चरित्र 'श्री हरिवंश चरित्र' के नाम से उनके अन्तर्धानके लगभग १३५ वर्ष बाद राधावल्लभ सम्प्रदाय के श्रीउत्तमदासजी ने लिखा। उत्तमदासजी द्वारा लिखित 'हरिवंश चरित्र' और भगवत मुदितजी के 'रसिक अनन्यमाल' के अनुसार हित हरिवंशजीका जनम सं. १५५९ (सन् १५०२)[1] में मथुरा से ५ मील दूर बाद ग्राम में हुआ। उनके पिता श्री व्यासमिश्र यजुर्वेदीय गौड़ ब्राह्मण थे और सहारनपुर जिलेके देववन ग्राम में रहत थे। वे एक अच्छे ज्योतिषी और समृद्धिशाली व्यक्ति थे। तत्कालीन किसी बादशाहने उनकी ज्योतिष विद्यासे प्रभावित हो

1. इधर कुछ दिनोंसे कुछ लोग हरिवंशजी का जन्मकाल संवत् १५३० मानने लगे है। पर अधिकांश विद्वान सम्प्रदायके प्राचीन ग्रन्थो के आधारपर उनका जन्म काल १५५९ ही मानते हे।
डा. विजयेन्द्र स्नातकने जन्म संवत् १५३० ठहरानेकी मनोवृति के कारण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है –
" वृन्दावन के एक चैतन्य सम्प्रदायनुयायी गोस्वामी से हित चौरासी के तीन-चार पदोंको सूरदास लिखित बताया, यद्यपि उनका सूरदास को अभिव्यंजना शैली, भाषा तथा विषयवस्तुसे साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं है। इस चेष्टासे विचलित होकर राधावल्लभीय लेखकों की ओरसे यह प्रयत्न हुआ कि हितहरिवंशजीको सूरदाससे पहले उत्पन्न होना सिद्ध किया जाय। सूरदास तथा बल्लभाचार्यसे पहले सिद्ध करनेकी भावनाके कारण ही कदाचित् जन्म-संवत्को १५५९ के स्थानपर १५३० लिखा गया। इस तथ्य की पुष्टिमें हमें कई सज्जनोंने मौखिक रूपसे उस समयकी विचार-धारा तथा साम्प्रदायिक खीचा-तानी का वर्णन सुनाया है।"
डा. स्नातकने इस प्रसंग में यह भी लिखा है कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्य भाषा पुस्तकालयमें सुरक्षित रसिकमालकी एक प्रतिमें जिसका लिपिकाल सम्वत् १८३७ है कि किसी महानुभावने हलकी-सी हरताल और काली स्याही लगाकर हितहरिवंशजीका जन्मकाल " पन्द्रह सौ उनसठि" मिटाकर "पन्द्रह सौ तीन" बनानेका प्रयास किया है।
–राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ९०-९१

उन्हें अपने दरबारमें नियुक्त कर लिया था। वह जहाँ कहीं जाता था उन्हें अपने साथ ले जाता था।

एक बार बादशाह आगरा जा रहा था। व्यास मिश्रजी और उनकी पत्नी श्रीमती ताराराची उसके साथ थे। ताराराची गर्भवती थी और प्रसव काल निकट था। इसलिए मिश्रजी बादशाह का साथ छोड़ मार्गमें बाद ग्राम में रुक गये । वहीं हितहरिवंशजी का जनम हुआ।[१]

जन्मके पश्चात् हितहरिवंशजीका शैशव और वृन्दावन आनेसे पूर्व का सारा जीवन देववन में ही बीता। डा. स्नातकने लिखा है कि जन्मके पश्चात् छह मास तक उनके पिता उन्हें लेकर व्रजमण्डल रहे।[२]

डा. स्नातक ने जिस आधार पर यह लिखा उसका उल्लेख नहीं किया। डा. स्नातकने यह भी लिखा है कि " व्रजयात्राके समय श्री हरिवशंजी अबोध शिशु ही थे, किन्तु ऐसी किम्बदन्ती है कि उसी अल्पायुमें आपके श्रीमुखसे संस्कृत भाषामें श्रीराधासुधानिधि का प्रादुर्भाव हुआ।"[३]

श्रीललिताचरण गोस्वामीने हरिवशंजीके चरित्र में लिखा है कि उनका बाल्य-काल देववनमें ही व्यतीत हुआ। जन्म के बाद छः मास उनके व्रजमें रहनेकी बात उन्होंने नहीं लिखी है। न ही छः मासकी अल्पावस्थामें राधा सुधानिधिके उनके द्वारा गान किये जानेकी बातका उन्होंने उल्लेख किया है कि "ग्रन्थकी अन्तरंग परीक्षासे यह निष्कर्ष निकलता है कि इसके अधिकांश श्लोकोंकी रचना देववनमें हुई है। कुछ श्लोक वृन्दावन आनेके बाद बने हैं और दोनोंको मिलाकर ग्रन्थ का संकलन हुआ है।"[४]

चाचा वृन्दावनदासने लिखा है कि जब हरिवंशजी पाँच वर्ष के हुए, एक दिन अपने पिताके बगीचेमें खेलते समय उन्हें प्रेरणा हुई कि वहाँ कुएं के भीतर एक श्रीविग्रह है। उसी समय वे कुएं में

---

1. कुछ लोग हितहरिवंशजी का जन्म-स्थान देववन मानते हैं। पर राधावल्लभ-सम्प्रदायके प्राचीन ग्रन्थ 'सेवक-वाणी' में, जिसे हरिवंशजीकी रचनाओं को छोड़कर सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है, उनका जन्म स्थान बाद ही लिखा है।
2. राधाबल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य पृ. ९२
3. वही
4. वही, पृ. ४२

कूद पड़े और श्रीविग्रहको अंकमें भर कर ले आये। उसका नाम उन्होंने श्रीरंगीलाल रखा और घरके मन्दिरमें स्वामिनीकी गादी के साथ उनकी प्रतिष्ठा कर अपनी पद्धति से उनकी सेवापूजा करने लगे।[१]

इस प्रकार की अलौकिक घटनाओंसे हरिवंशजीके बालपनेमें ही उनका स्वरूप प्रकट होने लगा। लोग जान गये कि वे साधारण बालक नहीं, कोई दिव्य विभूति है, जो किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए संसार में प्रकट हुए है। राधावल्लभ सम्प्रदायमें उन्हें श्रीकृष्णकी बंसीका अवतार माना जाता है।

बालपनेमें ही एक अलौकिक रीतिसे हरिवंशजीको श्रीराधासे गुरु-मंत्र की प्राप्ति हुई। राधारानीने एक दिन स्वप्नमें उनसे कहा- 'तुम्हारे घरके बाहर पीपलके पेंड़की सबसे ऊँची डालपर एक अरुण वर्णके पत्ते पर जुगलमंत्र अंकित है। उसे अपने दीक्षा-मंत्रके रूपमें ग्रहण करो।" हरिवंशजीने पेड़ पर चढ़ कर उस मंत्र को ग्रहण किया। इस घटनाका उल्लेख उत्तमदास जी ने रसिकमाल में किया है।[१] इसलिए राधावल्लभ सम्प्रदायमें श्रीराधाको ही सम्प्रदाय का आदिगुरु माना जाता है। हरिवंशजीके अन्य किसी गुरुका राधावल्लभ सम्प्रदायके किसी ग्रन्थमें उल्लेख नहीं है।

पर ग्राउसने लिखा है कि हरिवंशजी पहले माध्व सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त थे,[२] जो इस बातका संकेत है कि राधारानीको कृपा प्राप्त करनेके पूर्व उनका गुरु माध्व सम्प्रदायका कोई व्यक्ति था। इस सम्बन्ध में ग्राउसने कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया है। कदाचित् उन्होंने बहुत दिनोंसे चली आ रही कि किम्बदंती के आधार पर ऐसा लिख दिया, जिसका श्रीललिता चरण गोस्वामी और डा. स्नातक दोनोंने अपने

---

१. पाँच वर्ष के भये जबहि श्री व्यास दुलारे।
तब उपवन चलि जाय खेल नाना विस्तारे।।
पिता बाग मधि कूप तहाँ श्रीविग्रह जान्यौ।
धाइ परै जल कूद आपु सौ भुज भरि आन्यौ।।
प्रभु श्री रंगीलाल स्वामिनी गादी थोपी।
रीक्षि लड़ैती कुँवरि आपनी पद्धति ओपी।।
—श्रीहित हरिवंश सहस्रनाम, १०७-११२

२. एक दिवस सोवत सुख लह्यौ, श्रीराधे सुपने में कह्यौ।
द्वार तिहारे पीपर जो है, ऊँची डार सबन में सोहे।
तामें अरुण पत्र इक न्यारौ, जामें जुगल मंत्र है मारो।
लेहू मन्त्रा तुम करहू प्रकास, रसिक जनन की पुरवहु आस।

ग्रन्थोंमें खंडन किया है। किम्वदंती यह है कि हितहरिवंशजी पहले माध्व-गौड़ीय सम्प्रदायके श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी के शिष्य थे। इस सम्प्रदायमें अन्य वैष्णव सम्प्रदायोंकी तरह एकादशी के दिन व्रत रखने की विधि है और पान खाना निषिद्ध है। दैवयोगसे एक एकादशी के दिन हरिवंशजीको राधारानीकी पान की प्रसादी बीड़ी प्राप्त हुई। हरिवंशजीकी राधारानीके चरणों में दृढ़ रागमयी भक्ति थी, जिसके कारण वे शास्त्रीय विधि-निषेधके बंधनों को उतना नहीं मानते थे। उन्होंने उस एकादशीके दिन भी पान की बीड़ी खाली। गोपालभट्टने श्रीचैतन्य महाप्रभु की आज्ञासे वैष्णव-स्मृति शास्त्रकी रचना की थी और उन्हें तथा अन्य गौड़ीय-गोस्वामीयोंको सर्वसाधारणके लिए वैष्णवीय आचार-विचारका आदर्श उपस्थित करना था। वे कैसे अपने ही शिष्यकों उसका उलंघन करते देख सकते थे? उन्हें जब इसका पता चला तो उन्होंने हरिवंशजी को फिर कभी ऐसा न करनेकी आज्ञा दी। हरिवंशजीने राधारानीके प्रसादके प्रति अपनी अनन्य निष्ठाके कारण उनकी आज्ञा स्वीकार नहीं की। रूप गोस्वामी के समक्ष इस मसले को रखा गया तो उन्होंने निर्णय देते हुए कहा-"हरिवंशजी ऊँचे अधिकारी है। उनका एकादशी के दिन पान खाने से भलेही कुछ न बिगड़े। पर उन्हें देखकर दूसरे लोग भी उन्हीं की तरह शास्त्रों के विधि-निषेध का उंलघन करने लगेंगे, तो उनका अनिष्ट होगा। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।" तब गोपाल भट्टजीने हरिवंशजीको त्याग दिया और हरिवंशजी ने एक नये सम्प्रदायकी सृष्टिकी, जिसे उन्होंने विधि-निषेधोके बन्धन से मुक्त रखा। श्रीशिशिर कुमार घोष और इतिहासकार श्रीसतीशचन्द्र मित्र ने एक एतिहासिक तथ्यके रूपमें इस किम्बिदंती में वर्णित पूरी घटना का उल्लेख किया है।[१]

इस किम्बदंतीने क्यों और कैसे एक व्यापक रूप धारण किया इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका सबसे प्राचीन उल्लेख नित्यानन्द प्रभुकी पत्नी माँ जान्हवाके शिष्य नित्यानन्ददासके ग्रन्थ 'प्रेम विलास' में मिलता है जिसकी रचना सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुई। उल्लेख इस प्रकार है -

गोपाल भट्टेर शिष्य जार जेइ नाम ।

---

३. Originally he had belonged to the Madhvacharya Sampradaya and from him and the Nambarks, who also claim him, his doctrine and ritual were projessdly derived:.
- Mashura, a District Nemoir, A 3rd Ed. p. 200

कोन देशे कार बास शनह आख्यान ।
श्री निवासाचार्य गौरे हरिवंश व्रजवासी ।
गोपीनाथ पुजारि हय बड़ गुणराशि ।।
श्रीराधारमण सेवा जारे समर्पिल ।
एइ तिन शिष्य भट्टेर आख्याने कहिल ।
गुरु-आज्ञा ना मानिया गेल हरिवंश ।
आछिल अनेक गुण सब हैल ध्वंस ।
(प्रेम-विलास,१८,पृ०२७५)

इन पंक्तियों में हरिवंशजीका गोपालभट्टके शिष्य होने का और उनकीं आज्ञा न मान सकने के कारण उन्हें छोड़ जाने का उल्लेख है। इसका दूसरा उल्लेख अठारहवीं शताब्दीमें लिखे गये लालदासके बंगला भक्तमालमें मिलता है।[२] इन दोनों ग्रन्थोंको छोड़कर और किसी प्राचीन ग्रन्थमें इसका उल्लेख नहीं है। सतीशचन्द्र मित्र ने 'प्रेम-विलास' को ही आधार बनाकर इसे ऐतिहासिक पुट दिया है।

पर प्रेम विलासकी प्रामाणिकता पर विद्वानोंको भारी संदेह है। डा० विमान बिहारी मजूमदारने इसका भली प्रकार परीक्षण कर और इसमें लिखी बहुत-सी बातोंका दृष्टान्त देकर लिखा है कि सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भागकी रचना होते हुए भी यह ग्रन्थ विश्वसनीय नहीं है। "नित्यानन्ददास ने विशेष अनुसन्धान किये बिना ही इसमें बहुत-सी बातें लिखदी हैं और इसके ऊपर बहुत दिनों से प्रक्षेपकारियोंका अत्याचार होता रहा है। दूसरे प्रामाणिक ग्रन्थोंका समर्थन प्राप्त किये बिना, केवल प्रेमविलासके ऊपर निर्भर कर किसी सिद्धान्त पर पहुंचना निरापद नहीं है।"[१]

लालदासने भी लगता है प्रेम विलासका अनुसरण करके ही हित हरिवंशजीको गोपालभट्ट गोस्वामी का शिष्य लिख दिया है।

इसलिए यह किम्वदंती एक किम्वदंती ही है। इसका कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है। लगता यह है कि हरिवंशजीका नाम गोपीनाथजीके साथ गोपालभट्ट गोस्वामी के शिष्योंमें किसी प्रकार इसलिए जुड़ गया कि जब गोपाल भट्ट गंडकी नदी से शालिग्राम लाने के लिए जाते समय देववन में ठहरे थे और गोपीनाथजी को मन्त्र-दीक्षा दी थी, उस समय हरिवंशजी भी देववन में थे। सम्भव है कि देववनमें

1. शिशिरकुमार दोष : श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ओ श्रीगोपालभट्ट, पृ. ८२
सतीशचन्द्र मिश्र : सप्तगोस्वामी, पृ २८३- २८४
2. वंगला भक्तमाल, बीसवीं माला।

हरिवंशजीका गोपालभट्ट गोस्वामी के सत्संग के नाते घनिष्ट संबंध हो गया हो, जो किसी सैद्धांतिक मत भेद के कारण बाद में छूट गया।

सोलह वर्ष की आयु में हरिवंशजी का रुक्मिनी देवी से विवाह हुआ। वैवाहिक जीवन में एक सद्गृहस्थकी तरह व्यतीत करते हुए रंगीलालजी की सेवा में तल्लीन रहे। परिवार के प्रति उनकी न तो अनुरक्ति थी, न विरक्ति। जो भी आसक्ति-अनुरक्ति थी वह रंगीलालजी के प्रति थी।

रूक्मिनी देवी से हरिवंशजके तीन पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ, प्रथम पुत्र वनचंद्रजी का सं. १५८५ में, द्वितीय कृष्णचन्द्रजी सं. १५८७ में, तृतीय श्रीगोपीनाथजी का सं. १५८८ में और पुत्री साहिब देवी का सं. १५८९ में।

हरिवंशजीकी माता तारारानी को सं. १५८९ में निकुंज प्राप्ति हुई। सं. १५९०में श्रीव्यास मिश्रजीने भी निकुजं में प्रवेश किया। पिताके अंतर्धानके पश्चात् बादशाहने हरिवंशजीको अपने दरबार मे उनके स्थान पर नियुक्त करना चाहा, पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उन्हें अब व्रजभूँमिका विशेष आकर्षण होने लगा था। अतः सं. १५९० में उन्होंने व्रजभूमिकी ओर प्रस्थान किया।

मार्गमें राधारानीकी इच्छासे राधावल्लभजीके श्रीविग्रह को प्राप्त कर और कृष्णदासी और मनोहरी नामकी दो ब्राह्मण कन्याओंसे विवाह कर वे अपने नये संसार के साथ वृन्दावन पहुँचे। वहाँ यमुना-तटपर एक ऊँचे स्थानपर श्रीराधावल्लभजी का मन्दिर स्थापित किया। सं. १५९१ में कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को बड़ी धूम-धामसे राधावल्लभजी का पाटोत्सव किया और पाँच आरती सात भोग वाली नयी पद्धतिसे उनकी सेवा-पूजा की व्यवस्था की।

स्थानीय व्रजवासियोंने हरिवंशजीके भक्तिभावसे प्रभावित हो उन्हें आवश्यक भूमि प्रदानकी। कहते हैं कि उन्होंने उनके हाथमें तीर-कमान देकर कहा-“आप राधावल्लभके मंदिर से तीर छोड़िए। जिस स्थापन पर आपका तीर गिरेगा मन्दिरसे उस स्थान तक की भूमि हम आपको दे देंगे।” हरिवंशजी ने तीर फेंका, जो चीरघाटपर जाकर गिरा। तीर गिरने की जगह उन्होंने रासमण्डल का निर्माण किया, जो आज भी विद्यमान है। सं. १६८३ में[1] दिल्ली के श्रीसुन्दरदास भटनागर ने राधावल्लभजी का लाल पत्थरका मन्दिर बनवाया, जिसमें राधावल्लभजी सं. १७२६ तक विराजमान रहे। सं. १७२६ में औरंगजेब के आतंक

1. श्रीचैतन्यचरितेर उपादान, पृ. ५१४-५१५

के भयसे उन्हें कामबन ले जाया गया। उसके बाद मंदिर के पार्श्व भावको औरगंजेब ने ध्वंसकर दिया। आज लाल पत्थर का वह मंदिर पुरातत्व विभागके संरक्षण में है। राधावल्लभके वर्तमान मंदिर का निर्माण उसके बगल में सं. १८४२ में कराया गया और राधावल्लभ को ११६ वर्ष बाद फिर कामवन से वृन्दावन लाकर उसमें विराजमान कराया गया।

वृन्दावन आकर श्रीहितहरिवंशजी रात-दिन श्रीराधावल्लभकी रसमयी सेवामें लीन रहने लगे। उनकी इष्ट सेवा-निष्ठा का पता एक घटना से चलता है जो उनके शिष्य श्रीनाहरमलजी के साथ घटी थी। नाहरमलजी देववनके रहनेवाले एक सम्पन्न व्यक्ति थे। वे कभी-कभी हित प्रभुको दर्शन करने वृन्दावन आया करते थे। एक बार हित प्रभुको श्रीराधावल्लभकी रसोई के लिए बनमें ईंधन बीनते देख उन्होंने कहा -"आप इस छोटी से कार्य के लिए इतना परिश्रम क्यों करते है? मै कल से इसके लिए एक धीमर नियुक्त कर दूंगा।"

हित प्रभु ने रोष में भरकर कहा-"इष्टसेवाके इस कार्यकों तुम छोटा समझते हो। तुम अपराधी हो। आजसे मै तुम्हारा त्याग करता हूँ।"गुरूभक्त नाहरमलजी को बड़ा पश्चाताप हुआ। उन्होंने उसी समयसे अन्न-जल तबतक के लिए त्याग दिया जब तक गुरूजी प्रसन्न नहीं हुए।

हितजी भाँति-भाँति से राधावल्लभकी सेवा किया करते।वे कोमलकान्त पदावलियोंमें उनके गुण-लीलादिका वर्णन करते और रात-दिन गा-गाकर उन्हें रिझानेकी चेष्टा किया करते, जैसे उनका और कोई काम ही न रहा हो।

प्रियादासजीने उस समयकी उनकी स्थितिका इन शब्दोंमें वर्णन किया है-

निसि दिन गान रसमाधुरी कौ पान उर अन्तर सिहान
एककाम स्यामा स्याम कौ।
गुन सो अनूप कहि, कैसे कै सरूप कहै, लहै मन मोद,
जैसे और नहीं नाम कौ।।
(भक्तिरस बोधिनी, ३६६)

हरिवंशजीने जमुनाके उस पार मानसरोवर नामके एक रमणीक स्थानको भी अपनी भजनस्थली बनाया। वे कभी-कभी वहाँ निर्जन में

1. This was built by one of his disciples, a kayastha named Sunder Das, who held the apointment of treasurer at Delhi, One of the pillars in the front gives the date as Sambat 1683.
Growse : A District Memoir, 3rd Ed, p. 202

जाकर भजन किया करते ।

इस समय जो एक विशेष घटना घटी वह थी दस्यू नरवाहनका उद्धार। नरवाहन वृन्दावनसे तीन मील दूर भेगाँव के निवासी थे। वे डाकुओं के सरदार थे। सारे व्रज प्रदेश में उनका आतङ्क था। बड़े-बड़े राजा भी उनसे भय खाते थे। वे यमुना नदीके मार्गसे व्यापार करनेवाले लोगों से कर वसूल करते थे। जो कर नहीं देता था, उसे लूट लेते थे ।

नरवाहन भैगाँव निवासी । वार-पार में एक मवासी।।
जाकी आज्ञा कोई न टारें । जो टारै तो चढ़िकै मारै।
बस कर लियौ सकल व्रजदेस । तासों डरपै बड़े नरेस।।
पातसाहके वचनहि टारै । मन आवै तौ दगरौ मारै।।

(रसिक-अनन्यमाल)

नरवाहनके आतङ्क के कारण उस समय वृन्दावनमें वास करना निरापद नही था। पर हित हरिवंशजीके दर्शनामात्रसे उनके स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया। वे उनके शिष्य हो गये। वृन्दावनवासी, जो उनके आतंकसे पीड़ित रहते थे, अब उनकी संरक्षता में सुखसे जीवन व्यतीत करने लगे।

एक बार एक जैन बनियाँ कई नावों में बहुमूल्य सामग्री लेकर यमुना के मार्गसे जा रहा था। उसके बहुतसे सिपाही थे जो हथियारों से लैस थे। उसने नरवाहनको कर देनेसे मना कर दिया। नरवाहनने उसे परास्त कर कैद कर लिया। उनकी तीन लाखकी सम्पत्ति जप्त कर ली और कहा-"इतनी ही सम्पत्ति घरसे और मंगवाकर दो तब तुम्हारी मुक्ति होगी।"

बनियाँ ऐसा न कर सका। नरवाहनने उसे फाँसी देनेका निर्णय कर लिया। नरवाहनकी एक दासीको दया आयी। जिस दिन फाँसी दी जाने वाली थी, उसके एक दिन पूर्व रात्रि में वह कारागृहमें उनके पास गयी। उससे कहा-"कल तुम्हें फाँसी दी जानेवाली है। उससे बचनेका एक ही उपाय है। तुम रात्रि भर उच्च स्वर से "श्रीराधावल्लभ-श्रीहरिवंस" नामका गान करो। यह बात सुनकर राजा भागा आयेगा और तुम्हें मुक्त कर देगा।"

बनियेने ऐसा ही किया। नाम-ध्वनि सुन राजा नरवाहन भागकर आये और कारागृहका दरवाजा खुलवाकर उसके चरणों में गिर पड़े। उससे कहा-"मेरा अपराध क्षमा करो। मैंने तुम्हें बहुत दुःख दिया है। मैं नहीं जानता था तुम मेरे गुरुभाई हो। तुम्हारे मुखसे "श्रीराधावल्लभ -श्रीहरिवंश" नाम न सुनता तो कल तुम्हें फाँसी देकर और भी जघन्य

अपराध का भागी बनता।"

दूसरे दिन नरवाहनजी ने बनियेंकी सारी सम्पत्ति लौटा दी और सम्मानपूर्वक अनेक अनुचरोंके साथ उसे विदा किया। बनियाँ उसी समय हित प्रभुके पास पहुंचा। अपनी सारी सम्पत्ति उन्हें भेंटकर उनसे शिष्य बना लेनेकी प्रार्थना की। हित प्रभुने उसे शिष्य तोकर लिया, पर उसका द्रव्य स्वीकार नहीं किया।

हितहरिवंशजी नरवाहनकी भक्ति और सेवाभावसे इतना प्रसन्न थे कि उन्होंने 'हित चौरासी' के ११ और १२ संख्यक पदोंके 'नरवाहन' छाप देकर उनके प्रति अपनी कृपा प्रदर्शित की।

निकुञ्जगमन

आचार्य रामचन्द्र शुक्लने 'हिन्दी साहित्यके इतिहास' में[1] और श्री वासुदेव गोस्वामीने 'भक्त-कवि व्यासजी' में हितहरिवंशजीका निकुंजगमनकाल सम्वत् १६२२ के पश्चात् माना है। पर राधावल्लभ सम्प्रदायमें सम्प्रदायके वाणी ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके विन्दु-परिकर तथा पुत्रों के गद्दीपर बैठने की तिथि के आधारपर उनका निकुंजगमन सम्वत् १६०९ की शारदीय पूर्णिमा के दिन माना है।[2]

हितहरिवंशजीके निधनपर श्रीहरिराम व्यास ने लिखा है-

हुतौ रस रसिकनि को आधार ।
बिनु हरिवंसहि सरस रीति कौ कापै चलि है भार।
कौ राधा दुलरावै गावै वचन सुनावै चार ।
वृन्दावन की सहज माधुरी कहि है कौन उदार ।
पद रचना अब का पै ह्वै है, निरस भयौ संसार।
बड़ो अभाग्य अनन्य सभा को, उठिगो ठाठ सिंगार।
जिन बिनु दिन-छिन सतजुग बीतत सहज रूप आगार।
व्यास एक कुल कुसुम बन्धु बिन उड़गन जूठो थार।
(भक्त कवि व्यास,सिद्धांत, २४)

इससे स्पष्ट है कि श्रीहित हरिवंशजी अपने समयके रसिक समाज के सर्वप्रिय और सर्वमान्य नेता थे।

ग्रन्थावली

श्रीहित हरिवंशका मुख्य ग्रन्थ 'हित चौरासी' है। राधावल्लभ

1. हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ. २०२-२०३
2. श्रीललिताचरण गोस्वामी : श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. ५१
डा. विजयेन्द्र स्नातक : राधाबल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य पृ. ११७

सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ भी यही है। यह हरिवंशजीके व्रज भाषामें लिखे चौरासी गेय पदों का संग्रह है। इन पदों में राधामें अनन्य निष्ठा, राधा-कृष्णके नित्य-विहार, रास, सूक्ष्म-मान, रूप-श्रृङ्गारादिका सुन्दर वर्णन है। काव्य-सौष्ठव और उज्जवल मधुर-रसके वर्णन की दृष्टि से यह पद अद्वितीय है। इनकी तुलना अकसर जयदेवकी पदावलियों से की जाती है।

उदाहरण-स्वरूप कुछ पद यहाँ उद्धृत हैं -

जोई-जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै,
भावै मोई जोंई, सोई-सोई करै प्यारे।
मोको तौ भावती ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे।।
मेरे तन मन प्रानहू ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मोसौं हारे।
हित हरिवंश हंस-हंसिनी साँबल गौर,
कहौ कौनकरै जल तरंगनि न्यारे।।

हित-चौरासी, पद सं०-१

आजु निकुञ्ज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी।
अति अनुपम अनुराग परसपर सुनि अभूत भूतल पर जोरी।।
विद्रुप फटिक विविध निर्मित घर नवकर्पूर परागं न थोरी।
कोमल किशलय शयन सुपेशल तापर श्याम निवेशित गोरी।
मिथुन हास परिहास परायन पीक कपोल कमल पर क्षोरी।
गौर श्याम भुज कलह मनोहर नीवी बंधन मोचत डोरी।।
हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मानयुत भोरी
चिबुक सुचारु प्रलोई प्रबोधत पिय प्रतिबिम्ब जनाय निहोरी।।
नेति नेति वचनामृत सुनि सुनि ललितादिक देखत दुरि चोर।
हित हरिवंश करत करधूनन प्रणय कोप मलावलि तोरी।

(हित चौरासी, पद सं० ७)

कहा कहौ इन नैननि की बात।
ये अति प्रिया बदन अम्बुज रस अटके अनत न जात।
जब जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात।
लम्पट लव निमेष अन्तरते अलप कलप सत सात।
श्रुति पर कंज, दृगंजन कुच विच मृग मद ह्वै न समा।
हित हरिवंश नाभि सर जलचर जांचत सांवल गात।।

(हित चौरासी, पद सं० ६०)

चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख निधान
रास रच्यौ श्याम तट कलिन्द नन्दिनी।
निर्तत युवती समुह रागरंग अति कुतूह
बाजत रसमूल मुरलिका अनन्दिनी।।
वंशीवट निकट जहाँ परम रमनि भूमि तहाँ
सकल सुखद मलय बहै वायु मन्दिनी।।
जाती ईषद विकास, कानन अतिशय सुवास
राका निशि शरद मास विमल चन्दिनी।।
नर वाहन प्रभु निहार लोचन भरि घोष नारि
नख शिख सौन्दर्य काम दुख निकन्दनी।
दिलसहिं भुज ग्रीव मेलि भामिनि सुख सिन्ध झेलि।
नव निकुञ्ज श्याम केलि जगत वन्दिनी।।
(हित चौरासी, पद सं० १२)

रुचिर राजत बधू कानन किशोरी।
सरस षोडस किये, तिलक मृगमद दिये,
मृगज लोचन उवटि, अंग शिर खोरी।
गंड पंडीर मण्डित चिकुर चन्द्रिका,
मेदिनी कबरि गूंथति सुरंग डोरी।।
श्रवनं ताटंक के चिबुक पर बिन्दु दै।
कसुंभि कंचुकी दुरै उरजफल कोरी।
सुभग जमुन स्थली क्वनित किंकिनी भली,
कोक संगीत रस सिन्धु झकझोरी।।
(हित चौरासी, पद सं० ६७)

राधावल्लभ-सम्प्रदायमें हितहरिवंशजीको श्रीकृष्णकी बंसी का अवतार माना है। संगीतात्मकताकी दृष्टिसे भी उनके यह पद उनके स्वरूप के अनुरूप है।

'स्फुट वाणी' के नाम से प्रसिद्ध हितहरिवंश के२७ प्रकीर्णक पद और भी है, जिनका सम्बन्ध हित चौरासी की अपेक्षा राधावल्लभीय सिद्धान्त से अधिक है। राधावल्लभ सम्प्रदायमें 'हित चौरासी' के बाद 'स्फुट वाणी' का दूसरा स्थान है।

इनके अतिरिक्त 'यमुनाष्टक' और 'राधासुधानिधि' दो संस्कृत रचनाएं भी राधावल्लभ सम्प्रदायमें श्रीहितहरिवंशकृत मानी जाती है। 'राधासुधानिधि' या 'राधारससुधा निधि' २७०-२७२ श्लोकों का स्तोत्र-काव्य है, जिसमें राधानिष्ठाका अपूर्व वर्णन है। इसके कर्ताके सम्बन्धमें

श्रीहितहरिवंश गोस्वामी

बहुत दिनोंसे जो विवाद चला आ रहा है उसका उल्लेख हमने प्रबोधानन्द सरस्वतीपादके चरित्रमें किया है। कर्ता के सम्बन्धमेंहम कोई निर्णय नहीं ले सके है। परकर्ता जो भी हो, यह सत्य है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में इस ग्रन्थको जो स्थान प्राप्त है, वह इसे और किसी सम्प्रदायमें प्राप्त नहीं है। राधावल्लभीय भक्तोंका यह कण्ठाहार है।

राधावल्लभ सम्प्रदायमें हितहरिवंशजी की वाणी का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। इसे श्यामा-श्यामसे अभिन्न माना गया है। सेवकजी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है-

नाम बाणी जहाँ, श्याम-श्यामा तहाँ।

सम्प्रदायकी मान्यताके अनुसार श्रीहरिवंश ही परात्पर प्रेम-तत्व या हित तत्व हैं। हित स्वरूप हरिवंश ही राधा, कृष्ण सहचरी और वृन्दावन, इन चार रूपोंमें प्रकट होकर अपने ही आराध्य स्वरूपकी आराधना करते है।[1]

उपासना-पद्धति

हित हरिवंश प्रभुकी उपासना-पद्धति बड़ी सरस है। उसके सम्बन्ध में नाभाजीका यह छप्पय उल्लेखनीय है -

श्री राधाचरण प्रधान हृदं अति सुदृढ़ उपासी।
कुञ्जकेलि दंपति तहाँ की करत खवासी।।
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिध ताके अधिकारी।
विधि निषेध नहिं, दास अननि उत्कट व्रतधारी।।
व्यास सुवन पथ अनुसरे, सोई भले पहिचानि है।
(श्री) हरिवंश गुसाई भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है।।

इसमें हित हरिवशंजीकी उपासना की जिन विशेषताओंका संकेत है, वे इस प्रकार है-

(१) राधाचरण-प्राधान्य
(२) अनन्यता
(३) नित्य विहार में सहचरी रूपसे युगल की सेवा
(४) विधि-निषेध राहित्य
(५) महाप्रसाद में सर्वस्व बुद्धि

राधाचरण-प्राधान्य- हितहरिवंशजीकी उपासना पद्धतिमें राधाका स्थान सर्वोपरि है। राधा ही इष्ट है, आराध्या है। श्रीकृष्ण भी उनकी कृपादृष्टि

---

१. श्रीललिताचरण गोस्वामी, श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और सिद्धान्त, पृ.९२

की कामना करते है। श्रीकृष्ण आराधक है, वे आराध्या है। श्रीकृष्ण सेवक है, वे सेव्या हैं। श्रीकृष्ण उनके चरणों में विलुण्ठित होते है, उनकी चाटुकारी करते है, उनके आदेश-निर्देशका पालन करनेमें तत्पर रहते है, उन्हींके नामका जप करते है, उन्हींका ध्यान करते है -

तेरौई ध्यान राधिका प्यारी गोवर्द्धनधर लालहि।

-स्फुट-वाणी, पद- १७

'श्रीहित चतुरासी' में श्यामसुन्दर ने अपने देहको राधापद-पंकजका मन्दिर कहा है -

तव पद-पंकज कौ निजु मन्दिर पालय सखि मम देह।

-श्रीहित चतुरासी, पद सं०-६६

श्रीकृष्ण भी उपास्य हैं, पर स्वतन्त्र रूपसे नहीं, राधाके आराधक और उनके प्रिय होने के कारण, आनुषंगिक रूप से ही।

अनन्यता-अनन्यताका अर्थ है अपने इष्टको छोड़ और किसी देवी-देवता की अपेक्षा न रखना। हितहरिवंशजीकी अनन्यता उनके इस पद से स्पष्ट है -

रहौ कोऊ काहू मनहिं किये।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा सपथ करौं त्रण छिये।।
जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिये।
तेऊ उमगि तजति मर्यादा वन विहार रस पिये।।
खोये रतन फिरत जे घर-घर कौन काज ऐसे जिये।
(जै श्री) हित हरिवंश अनत सचु नाहीं बिन या रजहिं लिये।।

-स्फुट वाणी, पद सं० २०

नित्य-विहार - नित्य-विहार के विधायक अंग है। नित्य धाम वृन्दावन, नित्य किशोरी राधा, नित्यकिशोर श्रीकृष्ण और नित्यकिशोरी सहचरी। नित्य-विहारका वृन्दावन यही वृन्दावन है, जो भूतलपर स्थित है। यह राधा का रूप है। राधा का रूप होने के कारण यह प्रेमरूप है, रसरूप है। हमें जड़ जैसा दीखता है। हमारे जड़ चक्षुओं के कारण इसका विशेष गुण है राधामाधव को क्रीड़ा स्फुरण कराना। राधा माधव इसके अधीन रहकर नित्य नृत्य, गान, सुरत केलि आदि की रसमयी क्रीड़ाओंमें संलग्न रहते हैं। यह क्रीड़ाएँ नित्य-संयोगात्मक हैं। इनमें न स्थूल विरह है, न स्थूल मान। न ही इनमें स्वकीया परकीया का कोई प्रश्न है। पर सूक्ष्म विरह और मानकी युगपद स्थिति इनमें बनी रहती है। इसका कारण

यह है कि राधा-कृष्ण एक ही प्रेम-तत्व के दो विग्रह हैं, क्रीड़ा या विलासके लिये प्रेम उन्हें दो रूप धारण कराता है। तत्वत: एक होने के कारण लीला-विलासमें भी दोनों एक-दूसरेमें समाकर एक हो जाने के लिये स्वभावत: उत्कण्ठित और उन्मादित रहते है,[१] पर प्रेम लीलारस आस्वादन करानेके हेतु उन्हें एक नहीं होने देता। प्रेमोंन्माद के कारण एक-दूसरके निकट होते हुए भी, एक दूसरेसे आलिंगित होते हुए भी, उनके मन, प्राण, देहका पार्थक्य उन्हें विरह का अनुभव कराता है, जिससे प्रियको देखकर भी लगता है, जैसे देखा नहीं। यह वही स्थिति है, जिसे रूपगोस्वामीने 'प्रेम वैचित्य' की संज्ञा दी है।[२] विरह में देखते हुए भी न देखने जैसी प्रतीति प्रिया-प्रियतम को एक-दूसरेकी छबि का नये रूपमें दर्शन कराती है। प्रति पल लगता है जैसे एक दूसरे को पहले कभी देखा ही नहीं -

न आदि न अन्त, विहार करैं दोऊ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नयी-नयी भांति नयी छबि कान्ति नयी नवला नव नेह निहारी।।[१]

वृन्दावनके नित्य-निकुंजमें श्यामा श्यामका नित्य-विहार ही है श्रीहित हरिवंशका उपास्य। वृन्दावन व्रजमें होते हुए भी व्रजसे सर्वथा पृथक है। इसमें राधा-कृष्ण और सखी-सहचरियोंको छोड़ और किसीका प्रवेश नहीं है। राधा-कृष्णके माता-पिता और कृष्णके सखा भी इससे परिचित नहीं है। उनका स्थान केवल व्रज में है। इसलिये व्रजकी गोचारण आदि लीलाएं भी यहाँ नहीं होती। व्रजके विरह, मान और परकीया रसको भी यहाँ कोई स्थान नहीं है।

वृन्दावनकी भूमिका ही व्रजकी भूमिकासे भिन्न है। वृन्दावन प्रेम-तत्वकी प्रथम प्रगट भूमिका है, व्रज उसकी दूसरी प्रगट भूमिका है। इसलिये वृन्दावन-रस भी व्रज-रस से भिन्न है।❖

पर 'हित चौरासी' और 'स्फुट-वाणी'[१] में व्रज-लीलाके भी कुछ पद देखने को मिलते हैं, जैसे आनन्द आजु नन्दके घर'[२] 'चलौ वृषभानु गोप के द्वार,''[३] 'दान दै री नवल किसोरी,'[४] 'आज तू ग्वाल गोपाल सो खेल री,'[५] 'मैं जु मोहन सुन्यो वेणु गोपाल कौ,'[६] 'मानुषकौ तन पाय भजौ व्रजनाथको,'[७] इन्हें देख लोग शंका करते हैं कि व्रज-लीला भी

१.'देखत-देखत कल नहिं भाई, चाहत प्रान में प्रान समाई।"

२.उज्जवलनीलमणि, प्रेमवैचित्य, ५७

श्रीहित हरिवंशजीकी उपासना का अंग अवश्य रही होगी।

इसके समाधान में राधावल्लभ सम्प्रदायके श्रीललिताचरण गोस्वामीने ध्रुवदासजी को उद्धृत करते हुए कहा है कि 'महापुरुषोंकी' रचनाओं में उनकी मूल भावनाको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये और उस भावनाके विरूद्ध जो उक्तियाँ दिखाई दें, उन्हें महत्व नहीं देना चाहिये।[८] उनके कहने का तात्पर्य यह है कि हितहरिवंशजी की रचनाओं में व्रज-लीला सम्बन्धित उक्तियाँ है, तो भी उनका हार्द वृन्दावन-लीला या नित्य-विहार ही है और लगता है कि यह ठीक भी है।

सहचरी - सहचरी 'हित' या प्रेमकी मूर्ति है। वह सदा युगल के हित की चिंता करती है, भांति-भांतिसे उन्हें लाड़ लड़ाती है, श्रृंगार की नयी-नयी सामग्री तैयार कर भांति-भांति से उन्हें सजाती है। उनका मिलन कराती है, मानमोचन कराती है और उनके सुख के लिये जब जैसी सेवाकी आवश्यकता होती है करती है।

उसका प्रेम उन व्रज-गोपियोंके प्रेम से बहुत ऊंचा है, जिनका कृष्णके प्रति कान्ता-भाव है। उसमें कृष्ण के प्रति रतिभावका नितान्त अभाव है। वह कृष्णसे मिलन, आलिंगन, चुम्बनादि की आकांक्षा नहीं रखती। यदि कृष्ण उसके प्रति इस प्रकार का भाव व्यक्त भी करें तो उनकी उपेक्षा करती है। उसका तत्सुखी भाव है, स्वसुखकी इच्छका लेश भी उसमें नहीं है। तत्सुख ही उसका स्वसुख है।

उसका स्वाभाविक धर्म है श्यामा-श्यामकी रति-क्रीड़ा सम्पन्न कराना और निकुंज-रंध्रोमें से उसका दर्शन कर अनिर्वचनीय आनन्दकी उपलब्धि करना।

विधि-निषेध -श्रीहित हरिवंशकी उपासना पद्धति सहज प्रेममयी है। उसमें विधि निषेध का कोई स्थान नहीं है। योग, यज्ञ, ज्ञान,ध्यान, तप, श्राद्ध, तर्पणादि राधा-कृष्णकी एकान्तिकी भक्ति में बाधक माने जाते हैं।

---

१. ध्रुवदास, ब्यालीस लीला, पृ. १०२
* वही, पृ. ११-१३
२. स्फुट वाणी, पद सं. १६
३. वही, पद सं. १६
४. श्रीहित चौरासी, पद सं. ५१
५. स्फुट वाणी, पद सं. १४
६. वही, पद सं. १३
७. वही, पद सं. ९

महाप्रसाद – महाप्रसादमें अनन्य श्रद्धाके कारण एकादशीकेदिन उपवास रखना भी इस पद्धतिमें महाप्रसादका अनादर करना जैसा माना जाता है।

श्रीसेवकजी (दामोदरदासजी)

श्रीसेवकजीका चरित्र बड़ा रहस्यमय है। उन्होंने श्रीहित हरिवंशजी का कभी साक्षात्कार नहीं किया, पर वे उनके सबसे बड़े कृपा-पात्र थे। उन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण नहीं की, पर वे उनके मन्त्र शिष्य थे। उन्होंने उनके मुखसे उनके उपदेश नहीं सुने, पर वे उनके सिद्धान्तके सबसे बड़े जानकार और उनकी वाणीके सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता थे। वे वृन्दावनमें केवल १० दिन रहे, पर राधावल्लभ सम्प्रदायमें उन्हें जो स्थान प्राप्त है, वह श्रीहित हरिवंशजीके शिष्य-प्रशिष्योंमें किसीको नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि उनकी वाणी आजतक स्वयं श्रीहित हरिवंशजीकी वाणी 'श्रीहित-चौरासी' के साथ लिखी और पढ़ी जाती है।

श्रीसेवकजी के चरित्रका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। रसिक अनन्यमाल' में भगवत मुदित तथा उत्तमदासजी द्वारा संकलित किम्वदंतियों के आधार पर ही उनके चरित्रका वर्णन किया जाता है। प्रियादासजीने परम्परागत किसी अनुश्रुतिके आधार पर अपने 'सेवक-चरित्र' में एक स्वप्न का उल्लेख किया है, जिसके आधार पर उनका जन्म संवत् कुछ लेखकों ने सं. १५७७ के लगभग माना है।[१]

गोंडवाना प्रदेश (वर्तमान जबलपुर) में गढ़ा नामक एक गाँव था। भगवत मुदितजी के अनुसार वहीं एक ब्राह्मण परिवार में सेवकजी का जन्म हुआ। बाल्यकाल से ही वे अपूर्व भक्तिभाव सम्पन्न थे और भगवत्-सेवा-पूजा में सर्वदा लीन रहते थे।

उसी परिवारमें उत्पन्न श्रीचतुर्भुजदास नामक एक व्यक्ति थे, जो उन्हीं के समान निष्ठावान और भक्तिपरायण थे। दोनों में सहज प्रेम था। दोनों भक्ति-साधना में संलग्न रहते हुए योग्य गुरूकी खोजमें थे। भाग्यक्रमसे श्रीहितहरिवंशजकी शिष्य कुछ साधु भ्रमण करते हुए गढ़ा पहुंचे। वहाँ उन्होंने एक समाज का आयोजन किया, जिसमें हित हरिवंशजी के राधा-कृष्ण के केलिसे संबंधित मधुर पदोंका गान

१. श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. २१८

किया। पद सुनकर सेवकजी और चतुर्भुजदासजी बहुत प्रभावित हुए। वृन्दावन जाकर श्रीहितहरिवंशजीसे दीक्षा लेनेका उन्होंने निश्चयकर लिया। पर दुर्भाग्यसे उनके वृन्दावन जाने के पूर्व ही हितजीने नित्य-निकुंज में प्रवेश किया। उनके अंतर्धानका संवाद पाकर सेवकजी अत्यंत मर्माहत हुए।

चतुर्भुजदासजी ने तब हित हरिवंशजीके ज्येष्ठ पुत्र आचार्य बनचन्द्रजी से दीक्षा लेने का विचार किया। सेवकजी से भी उन्होंने यही प्रस्ताव किया। पर सेवक जी ने कहा-"मैं हितहरिवंशजी को अपना गुरु मान चुका हूं। दूसरे किसीसे दीक्षा लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। हितजी ही दीक्षा देगे तो लूँगा नहीं तो प्राण विसर्जन कर दूँगा।"

चतुर्भुजदासजीने बहुत चेष्टाकी सेवकजी से अपना हठ छुड़वानेकी पर वे सफल न हुए। अतः उन्होंने अकेले ही वृन्दावन की यात्रा की। कुछ दिन बाद जब वे श्रीवनचन्द्रजी से दीक्षा लेकर लौटे तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सेवकजी उसी मन्त्र का प्रेमपूर्वक जप कर रहे है जो वनचन्द्रजी ने उन्हें दिया था।

सेवकजी पर हितजीकी कृपा हो गयी थी। उन्होंने स्वप्न में स्वयं मन्त्र देकर और दिव्य वृन्दावनके दर्शन कराकर उन्हें कृतार्थ किया था। अनन्य भक्ति और एक निष्ठतामें कितना बल है, यह उन्होंने अपने उदाहरण से सिद्ध कर दिया था।

मन्त्र प्राप्त करते ही सेवकजी हृदय-ग्रंथि खुल गयी, उनकी बुद्धि परिष्कृत हो गयी और 'हित चौरासी' के पदोंका गूढ़ अर्थ उनकी समझ में अपने आप आने लगा। हित हरिवंशजीकी रसोपासना के सिद्धान्तका कुछ भी उनसे छिपा न रहा। उन्होंने १६ प्रकरणों में हित हरिवंशजी की वाणी की रहस्योद्‌घाटन करनेवाले सिद्धान्त सूचक पदों का सृजन किया, जो 'सेवक-वाणी' के नाम से प्रसिद्ध हुए। भक्तसमाज में सेवक-वाणी का बड़ा आदर हुआ। हित चुतरासीके भाष्य के रूपमें उसकी मान्यता हुई। जब वह वाणी वृन्दावन में श्रीवनचन्द्रजी के पास तक पहुंची, तो उन्होंने आज्ञा की वह हित-चतुरासी के साथ ही लिखी और पढ़ी जाया करे।

वृन्दावन चन्द्रजी उस वाणी से इतना प्रभावित हुए कि सेवकजी को देखनेकी उनकी उत्कंठा दिनोदिन बढ़ती गयी। उन्होंने सेवकजी को वृन्दावन आने के लिए निमन्त्रण भेजा। किम्बंदती है कि निमन्त्रण भेजने के साथ-साथ उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया

कि जिस दिन सेवकजी वृन्दावन आयेगे उस दिन वे उनके आगमन की खुशी में श्रीराधावल्लभजी का सारा वैभव लुटा देंगे। सेवकजी वनचन्द्रजी के निमन्त्रणकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। वे स्वयं भी वृन्दावन जाकर श्रीराधावल्लभजी के दर्शन करनेको उत्सुक थे। इस निमन्त्रणको उन्होंने श्रीराधावल्लभजीका ही निमन्त्रण माना। पर जब उन्हें वनचन्द्रजी के इस निश्चय का पता चला कि वे उनके वहाँ पहुँचने पर राधा-वल्लभजी का सारा वैभव लुटा देगे, तब वे संकटमय द्विधा में पड़ गये। अंतमें उन्होंने वेश बदलकर जाने का निश्चय किया, जिससे वे पहचानमें न आये और उनके कारण श्रीराधावल्लभकी किसी प्रकार की क्षति न हो।

पर वृन्दावन पहुँच कर जब वे श्रीराधावल्लभजी के मन्दिर गये श्री वनचन्द्रजीने उनकी भावभंगिमा देख उन्हें पहचान लिया और आनन्दोत्फुल्ल हो उन्हें प्रेमालिंगन प्रदान किया। सेवकजी को भय हुआ कि कहीं वे अपने निश्चय के अनुसार श्रीराधावल्लभका वैभव लुटाना न आरम्भ कर दें। उन्होंने करजोड़ उनसे प्रार्थनाकी कि वे ऐसा कुछ न करे। वनचन्द्रजीको अपना निश्चय बदलना पड़ा। उन्होंने सेवकजी के उपलक्ष्य में केवल प्रसादी पदार्थो का ही वितरण किया।[१]

सेवकजी कुछही दिन वृन्दावनमें रह सके । कहते है कि एक दिन, जब श्रीहितहरिवंशजी के अप्राकट्य कोएक ही वर्ष हुआ था। वो रासमंडलमें एक वृक्षके नीचे ध्याना-वस्थित अवस्था में बैठै-बैठे निकुंज-लीलामें प्रवेश कर गये।

श्रीचतुर्भुजदासजी

चतुर्भुजदासजी का जन्म सं. १५८५ के लगभग और देहावसान सं. १६८६ के लगभग माना जाता है। उनका जन्म मध्यप्रदेश के गढ़ा नामक स्थानमें एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। वे सेवकजी के पड़ोसी और मित्र थे। उन्हींके समान पंडित और भक्त भी थे। हितहरिवंशजीके अंतर्धानके पश्चात् उन्होंने वृन्दावन जाकर श्रीवनचंद्रजीसे दीक्षा ले ली थी। राधावल्लभ सम्प्रदायके प्रचारमें उन्होंने प्रमुख भूमिका निभाई थी। नाभाजीने लिखा है कि वे सदा प्रेमरसमें डूबे रहते थे और उन्होंने

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ३३५-३३६

अपनी भक्ति के प्रभावसे गोंड प्रदेश में भक्तिकी गंगा बहाकर उसे तीर्थके समान कर दिया था -

सत्संग महा आनन्द में प्रेम रहत भीज्यौ हियौ।
हरिवंश चरन बल चतुरभुज गौंड देश तीरथ कियौ।।

ध्रुवदासजीने चतुर्भजदासकी प्रशंसा में लिखा है -

स्वामी चतुर्भुजदास की बानी अति गम्भीर।
परम भागवत अति भये भजन माहिं दृढ़ धीर।।

-भक्त नामावली लीला, पृ० ३१

प्रियादासजीने भक्तमालकीअपनी टीकामें चतुर्भुजदासजीकी वाणीके प्रभावके रूपमें कही जानेवाली एक किवदंतीका उल्लेख किया है। एक चोर कहीं से चोरीकर के आया और चोरी के माल सहित चतुर्भुजदासजी की कथामें बैठ गया। कथासे वह ऐसा प्रभावित हुआ कि चोरी का धन उसने उसी समय साधु-सन्तोंमें बांट दिया।

प्रियादासजीने ही एक और घटना का उल्लेख किया है, जो चतुर्भुजदासजीके गृहस्थाश्रम के समय की है। एकबार संतोंकी एक समाज उधर आ निकली, जिधर चतुर्भुजदासजीकी गेहूं और चने की फ़सल पकी खड़ी थी। संत गेहूँकी बालें और चने के बूटे तोड़कर खाने लगे। रखवालेने मना किया और कहा यह खेत चतुर्भुजदासजी का है। चतुर्भुजदासजी अपने भक्तिभाव और संतसेवाके लिये प्रसिद्ध थे। उनका नाम सुनते ही संतोने कहा- तब तो खेती अपनी ही है, और बालें और बूटे तोड़ना बन्द नहीं किया। रखवाले ने चतुर्भुजदासजीसे जाकर शिकायत की। चतुर्भुजदासजी ने कहा- बड़े भाग्य की बात है, जो मेरा खेत साधुओंके काम आया। उसी समय वे खेतपर गये। साधुओंको अपने घर लिवालाये और उनका अतिथि-सत्कार किया।

चतुर्भुजदासजी की भक्ति और संत-सेवा से प्रसन्न हो श्यामा-श्यामने उन्हें दर्शन दिये, इसका संकेत उन्होंने अपने एक पदमें इस प्रकार किया है-

मैं मोहन बिहरत बन पाये।
मंजुल कुंज पुंज वर वीथिनि दम्पति करत मोद मन भाये।
उपजत गति जबचलत मुदित अति अंशनि पानि परस्पर नाये।
जनु धन दामिनि इन्दु उभैरवि उड्डगन सहित एक मिलि आये।

चतुर्भुजदासजीकी रचना 'द्वादश यश' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अंतर्गत द्वादश यशों (अध्यायों) के नाम हैं - शिक्षा सकल समाज यश,

धर्मविचार यश, भक्ति-प्रताप यश, संत-प्रताप यश, शिक्षा-सार यश, हितोपदेश-यश, पतित पावन यश, मोहिनी-यश, अनन्य-भजन यश, श्रीराधा-प्रतापयश, मंगलसार-यश और विमुख-मुख-भजन यश। इनके कुछ फुटकर पद भी हैं। बधाई का एक पद देखिये, जो इस प्रकार है -

सब मिलि आवौ मंगल गहगहै मृदङ्ग बजावौ।
घर घर कहत सकल नारी नर चन्दन आंगन लिपावौ।
मोतिन चौक पुरावौ विप्रनि विविधि दान सनमान करावौ।
जनम द्योस वनचन्द गुसाई द्वारनि वन्दन माल बँधावौ।।
कदली खम्ब रुपाइ दीपावलि चित्रित कलस धरावौ।
जै-जै शब्द करत सुरनर मुनि कुसुमावलि बरसावौ।।
फूले फिरत सकल लोकन जन दुन्दुभि धुनि करवावौ।
गोवर्धन हित चन्द बधाई वृन्दावन के माँझ बसावौ।।

श्रीध्रुवदासजी

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदायके विपुल वाणी-साहित्यमें सेवकजी के बाद दूसरा स्थान श्रीध्रुवदासजी का है। एक दृष्टि से ध्रुवदासजीका महत्व सेवकजी से भी अधिक है। सेवकजी हितहरिवंशजीकी 'हित-चौरासी' के अधिकारी भाष्यकार हैं, तो ध्रुवदासजी समूचे राधावललभीय सिद्धान्त और रसरीतिके मूर्धन्य व्याख्याता है। राधावल्लभीय सिद्धान्त समझने के लिये उनकी वाणी का अनुशीलन करना आवश्यक है।

ध्रुवदासजी राधावल्लभीय नित्य-विहार का सुन्दर, सजीव चित्र उपस्थित करने के लिये विशेष-रूपसे प्रसिद्ध है। नित्यविहारके वर्णनमें उनकी यह पंक्तियाँ न जाने कितनी बार दोहराई जाती हैं-

न आदि न अन्त विलास करै दोऊ लाल प्रिया से भई न चिन्हारी।
है नई भांति नई छबि कान्ति नई नवला नव नेह विहारी।।[१]

युगलके नित्य नवनवायमान रूप, नित्य नये स्नेह और नित्य नयी उत्कण्ठाका इससे सुन्दर वर्णन और क्या हो सकता है? दोनों की विलास-माधुरी और विलास-सुखकी प्रतिफल वर्धमान वासनाकी यह अभिव्यंजना भी कैसी अनोखी है -

ज्यौं ज्यौ करत विहार दोऊ बाढ़त चाह विलास।
जल पीवत है प्यास कौ सोई जल भयौ प्यास।।[२]

१.भजन श्रृड़गार सत लीला-तृतीय श्रृंखला, पृ.१०३
२.सुख मंजरी, २२

❖ ❖ ❖

प्रेम चाह रस सिन्धु में मगन रहत दिन रैन।
उरसौ उर अधरनि अधर जुरै नैन सौं नैन।।
रस समुद्र गहरे परे तृतिप होत तऊ नाहिं।
नैंन मीन ललितादिकनि तिरति फिरति तिहि माहिं।।[२]

नवल रंगीले लाल रस में रसीले अति,
छबि सों छबीले दोऊ उर धुरि लागे हैं।
नैननि सौ नैंन कोर मुख मुख रहे जोर,
रूचि कौन ओर छोर ऐसे अनुरागे हैं।।
परै रूप सिन्धुमाँक्ष जानत ने भोर सांझ,
अंग अंग मै न रंग मोद मद पागे हैं।
हित ध्रुव विलसत तृपित न होत कैहूँ,
जद्यपि लड़ैति लाल सब निसि जागे है।।[1]

❖ ❖ ❖

प्रेममय नित्य-निकुंजमें प्रेम-मिलनका यह चित्र देखिये-

प्यार की ही कुञ्ज और प्यार की ही सेज रची,
प्यार ही सौं प्यारे लाल प्यारी बात करहीं।
प्यार ही की चितवनि, मुसकानि प्यार ही की,
प्यार ही सौं प्यारी जु कौं प्यारे अंक भरहीं।
प्यार सौं लटकि रहे प्यार ही सौं मुख चहै,
प्यार ही सौं प्यारी प्रिया अंक भुज भरिहीं।
हित ध्रुव प्यार भरी प्यारी सखी देखैं खरी,
प्यारे प्यार रह्यौ छाइ प्यार रस ढरहीं।।

(आनन्ददास)

और नित्य-मिलन में नित्य-विरह का यह चित्र कितना मार्मिक है, जिसमें विरहकी प्यास बुझानेवाला जल भी प्यास बन जाता है -

जब ही उरसौ उर लपटाहीं, तब नैना विरही ह्वै जाही।
छूटै जब ही छबि देख्यौ करै, विरह आनि अङ्ग.नि संचरै।।
अटपटी भांति कौ विरह सुनि भूलि रह्यौ सब कोई।
जल पीवत है प्यास कौ प्यास भयौ जल सोई।।[1]

❖ ❖ ❖

१. आनन्द दसा- २७-२८
२. सभामण्डल

नेक कुंवरि मुरि सखी सौं बात कही लगि कान।
पिय की गति और भई कोटिक विरह समान ।।[२]

❖ ❖ ❖

रूप-श्रृगांर के इन पदों में प्रियाजीका रूप देखते ही बनता है -

रूप जल में तरंग उठै कटाछनि के,
अंग अंग भौरनि की अति गहराईहै।
नैननि कौ प्रतिबिम्ब परयौ है कपोलनि में,
तई भये मीन तहाँ ऐसी उर आई है।।
अरुन कमल मुसकानि मानौ फबि रही,
थिरकनि बेसरि के मोती की सुहाई।
भयौ है मुदित सखी लाल को मराल मन,
जीवन जुगल ध्रुव एक ठांव पाई है।।[३]

❖ ❖ ❖

सारी हरी ने हर्‍यौ मन लाल को,
मोहिनी सोहनी के तन सोहै।।
अंगिया लाल सरंग बनी,
लहि गातहि रंग खरौ मन मोहै।।
रूप की रासि सबे गुन आगरि,
या छबि की उपमा कहौ को है।
राजत है 'ध्रुव' कुंज बिहारिनि,
सो छबि लाल पलौपल जो है।।[४]
बड़े-बड़े उज्जवल सुरंग अनियारे नैना,
अंजन की रेख हरे हियरौ सिरात हैं।
चपलाई खंजन की अरुनाई कंजन की,
उपराई मोतिन की पानिप लजात है।
सरस सलज्ज गये, रहत है प्रेम भरे,
चंचल न अंचल में कैसे हूँ समात है।
हित ध्रुव चितवनि छटा जेंही कोट परै,
ते ही और बरषासी रूप की ह्वै जात है।[१]

इन पदों को पढ़कर ऐसा बिलकुल नहीं लगता कि कवि

---

१. रहस्य मंजरी, ३७-३८, ६३

२. रंग-विहार, ४०

३. श्रृड़गार सत, प्रथम श्रृंखला, २७

४. वही, १४

कल्पना जगत् में विचर रहा है। लगता है कि वह प्रिया-प्रियतम और उनके नित्य-विहार के साक्षात् दर्शन कर उनका वाणी में यथा संभव निरूपण करनेको मचल रहा है। बात है भी ऐसी ही। ध्रुवदासजीकोई साधारण कवि नहीं थे। चाचा वृन्दावनदासने उन्हें निकुंज लीलाकी अंतरंग सखी माहिली कहा है। वे जन्मसे भक्तिके संस्कार लेकर आये थे और अल्पावस्थामें सिद्ध हो गये थे। नित्य-विहार के दर्शन उन्हें प्रारम्भ से ही होने लगे थे।

खेद है कि श्रीध्रुवदासजीका भी प्रामाणिक जीवन-वृत्त नहीं मिलता। भगवतमुदितजी के रसिक अनन्यमाल और श्रीजतनलालकृत रसिक अनन्यसार में दी गयी। किम्वंदतियों के आधारपर ही उसका निरूपण किया गया है।

ध्रुवदासजी का जन्म देवबन्द में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। श्रीवियोगी हरि ने उनका जन्म संवत् १६५० माना है।[२] पर डा. स्नातक ने उनका जन्म-संवत् उनकी कुछ रचनाओं के आधारपर, जिनमें रचनाकाल दिया है १६३० ठहराया है।[३] डा. शीलाग्रोवर ने उसी आधारपर उनका जन्म्-संवत १६१० माना है। ध्रुवदासजीने रसानन्द ग्रन्थ में उसका रचना केवल सं. १६५० लिखा है। डा. स्नातकने बिना किसी आधार के माना है कि इसकी रचना ध्रुवदासने २० वर्ष की अवस्थामें की शीलाजी की मान्यता है कि यह ग्रन्थ ध्रुवदासजीके वृन्दावन आगमन के पश्चात् लिखा गया और उनका वृन्दावन आगमन ३५ या ४० वर्ष की अवस्था में हुआ। पर इन मान्यताओं का कोई ठोस आधार उन्होंने भी प्रस्तुत नहीं किया है।

ध्रुवदासजीके ग्रन्थोंके अंत:साक्ष्यसे सिद्ध है कि वे प्रौढ़ावस्थामें वृन्दावन आये, जब उनके 'तिय, सुत, नाती, नातिनी' हो चुके थे। मन-शिक्षा में उन्होंने सब त्यागकर वृन्दावन जाने की अपनी तीव्र लालसा प्रकट की है -

रे मन अरु सब छांड़ि कै, जो अटके इक ठौर।
वृंदावन धन कुंज में, जहाँ रसिक शिरमौर।।

(मन-शिक्षा, छंद सं. ७)

इसी ग्रन्थमें उन्होंने तिय, सुत, नाती, नातिनसे घिरे रहने के

१. भजन श्रृंगार सतलील, प्रथम श्रृंखला, ८३
२. वियोगी हरि, व्रजमाधुरीसार, पृ. १५९-१६०
३. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ४१२

लिये राधावल्लभलाल को दोषी ठहराया –

तिय सुत नाती नातिनी, तिनही तन चित दीय।
श्रीराधावल्लभलालजी, नेकु न आने हीय।।

'भजन-सत्' में जिसकी रचना शीलाजीके अनुसार ध्रुवदासजी के वृन्दावन आनेसे पहले की गयी होगी, उन्होंने लिखा है –

बहु बीती थोड़ी रही, सोऊ बीती जाई।
हितध्रुव बेरि बिचारि कै, बसि वृन्दावन जाई।।

इन सब तथ्योंसे स्पष्ट है कि ध्रुवदासजीकी अवस्था कम से कम ५० वर्ष की रही होगी, जब वे वृन्दावन आये।

'रसानन्द में ध्रुवदासजीने रचना-काल के साथ रचना-स्थल का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने जिन पाँच ग्रन्थोंमें रचना-कालका उल्लेख किया है, उनमें केवल 'प्रेमावली लीला'में रचना-स्थल वृन्दावन लिखा है। इससे अनुमान होता है कि यही पहना ग्रन्थ है, जिसकी रचना उन्होंने वृन्दावन आनेके बाद की। इसका रचना-काल सं. १६७१ है-

हित ध्रुव भई प्रेमावली, सुनत जुगल दरसाहि।
सोलह सै इकहत्तरा, श्रीवृन्दावन माहि ।।

(प्रेमावली, छंद सं.१३०)

इसके अनुसार, यदि ध्रुवदासजीका वृन्दावन आगमन ५० वर्षकी अवस्थामें माना जाय तो उनका जन्म-संवत् १६२१ ठहरता है और यदि ३५ या ४० वर्षकी अवस्थामें माना जाय, जैसा शीलाजी का अनुमान है, तो १६३१ या १६३६ ठहरता है।

डा. स्नातकने जनश्रुति के आधारपर लिखा है कि 'ध्रुवदासजी परम्परासे राधावल्लभी भी थे, अतः जन्मगत संस्कारों के अभावके कारण शैशव में ही विरक्त हो गये और दस वर्षकी अल्पायुमें वृन्दावन चले आये।[१] न जाने डा. स्नातक ने जनश्रुति के आधार पर ध्रुवदासजीको १० वर्ष की आयुसे ही विरक्त क्यों लिखा, जब इस बातके प्रचुर अन्तःसाक्ष्य है कि वे गृहस्थ थे, उनके नाती-पोते थे और वे प्रौढ़ावस्थामें वृन्दावन आये थे।

ध्रुवदासजी वृन्दावन चले आये तबसे एक दिनके लिए भी वृन्दावन की सीमाके बाहर नहीं गये।[२] वृन्दावनमें उनकी अनन्य निष्ठा थी, यह उनके पदोंसे प्रामाणित है। वृन्दावनके माहात्म्य का वर्णन

करते हुए उन्होंने कहा है-

वृन्दावन वैभव जितौ, तितो कह्यौ नहिं जात।
देखत सम्पत्ति विपिन की, कमला हू ललचात।।
वृन्दावनकी लता सम, कोटि कल्पतरू नाहिं।
रज की तुल' वैकुण्ठ नहिं, और लोक किहि माँही।।
वृन्दावन के वासको, जिनके नहिं हुलास।
माता-मित्र सुतादि तिय, ध्रुव तिनको पास।।
वृन्दावनमें जो कबहूँ, भजन कछु नहिं होय।
रज तौ उड़ि लागै तनहिं, पीवै जमुना तोय।।
न्यारौ चौदह लोक तै, वृन्दावन निज भौन।
तहाँ न कबहूँ लगत है, महा प्रलयकी पौन।।[३]

वृन्दावन आनेके पूर्व ही ध्रुवदासजीने गोस्वामी गोपीनाथजी से दीक्षा ले ली थी। वृन्दावनमें वे बन-बिहारमें एक कुटियामें रहने लगे। कहते है कि युगलकिशोर जब संध्या समय वन-विहारको निकलते तो ध्रुवदासजीकी कुटियापर होते जाते। ध्रुवदासजीने भी अपने एक पदमें इसका संकेत किया है -

देखि विपिन जमुना पुलिन ढरै कुटीकी ओर।
शोभा आवनि चलनि फिरि जो ध्रुव कहै सु थोर।।

-वनिविहार लीला, दोहा सं. ५४

ग्रन्थ-रचना

अल्पावस्थामें ही ध्रुवदासजीके मनमें राधा-कृष्णकी श्रृंगाररसमयी लीलाओं से सम्बंधित पदोंकी रचना करने की इच्छा जागी। डा० स्नातकने एक किम्वदंती के आधार पर लिखा है कि इसके लिये उन्होंने राधारानीकी अनुमति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे वृन्दावनके गोविन्दघाट के रासमण्डलपर तीन दिन और तीन-रात राधा-नामका जप किया। राधारानीने प्रसन्न हो दर्शन दिये और पद रचना के लिये अनुमति प्रदान की।[१] यह किम्वदंती उस किम्वदंती के साथ जोड़े जानेपर ही ठीक बैठती है, जिसके अनुसार ध्रुवदास १० वर्षकी अवस्थामें वृन्दावन चले आये थे।

---

१. राधावल्भ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ४१३
२. राधावल्भ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ४१३
३. वृन्दावन सतलीला पृ. ४०

ध्रुवदासजीने मुक्तक काव्यमें बयालीस ग्रन्थोंकी रचनाकी, जो 'बयालीस-लीला'के नामसे जाने जाते हैं। इन ग्रन्थोंको 'ग्रन्थ' कहनेकी और इनके प्रतिपाद्य विषयको 'लीला' कहने की परिपाटी सम्प्रदायमें है, पर न तो इनमें सबमें लीलाका वर्णन है और न यह 'ग्रन्थ' कहे जाने योग्य हैं, क्योंकि कोई-कोई इतने छोटे है कि आठ दोहों में ही समाप्त हो गये हैं। काव्य सौष्ठव और रसात्मकता की दृष्टिसे यह अनुपम हैं।

अन्तकाल

श्रीवियोगीहरिने ध्रुवदासजीका देहावसान सम्वत् १७४० के लगभग माना है, डा० स्नातकने सम्वत् १७०० के लगभग सं. १७०० ही ठीक लगता है, क्योंकि ध्रुवदासजी के अंतिम ग्रन्थ 'रहस्य मंजरी' में रचना काल १६९८ दिया है।

श्रीनेहनागरीदासजी

नेहनागरीदासजी ने अपना परिचय अपने एक सवैयामें इस प्रकार दिया है-

सुन्दर श्री बरसानौ निवास और बास बसौ श्रीवृन्दावन धाम है।
देवी हमारै श्रीराधिका नागरी गीत सौ श्रीहरिवंश कौ नाम है।।
देव हमारे श्रीराधिका वल्लभ रसिक अनन्य सभा विश्राम है।
नाम है नागरीदासि अली वृषभानुलली की गलीकौ गुलाम है।।

नागरीदासजी वृषभानु ललीकी गलीके ऐसे गुलाम थे कि दूसरी गली में झाँकना तक पसंद नहीं करते थे। वे इस गलीके ही अनन्य भक्त थे। उनकी इस गलीकी अनन्यताके सम्बन्ध में एक किंवदंतीका उल्लेख श्रीललिताचरण गोस्वामीने किया है।

किंवदती इस प्रकार है। उन दिनों श्रीवनचन्द्र गोस्वामीके पुत्र श्रीनागरवर गोस्वामी राधावल्लभजी के मन्दिर में भगवतकी कथा कहते थे। नागरीदासजी कथा सुनने नहीं जाते थे। जाते तो वृषभानुलली की गली छोड़ अन्यान्य गलियोंका चक्कर जो काटना पड़ता । एक दिन नागरवरजीने उनसे कहा -'आजकल दशम स्कन्धकी कथा चल रही है। उसे आपको अवश्य सुनना चाहिये।

१. श्रीराधावल्भ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ४१४-४१५

गुरू-आज्ञा मान वे चले गये। पर गये शरीरसे ही । मन वृषभानुलली की गली में पड़ा रहा। उस समय कथामें धेनुका-बधका प्रसंग चल रहा था। पर नागरीदासका मन हित हरिवंशजीके एक पद[१] के माध्यमसे श्यामसुन्दर द्वारा मानवती राधाकी चिबुक सहलाकर मान मनाने की लीलामें लीन था। कथा कहते-कहते जैसे ही नागरवरजीने कहा कि श्यामसुन्दरने धेनुकके पैर पकड़कर उसे पृथ्वीपर दे मारा, वैसे ही वे कथासे उठकर चल दिये। जिन हाथोंसे श्यामसुन्दर श्रीराधाकी चिबुक सहला रहे थे, उनमें गदहे के पैर देख क्या वे स्थिर रह सकते थे? उन हाथोंमें क्या गदहे के पैर शोभा देते थे?-

चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत,
तिन कर गदहनि पग क्यों सोभत?

नागरवर गोस्वामी नागरीदासजी का भाव देखकर प्रसन्न हुए। पर अन्य लोग मत्सरता के कारण भागवत-विरोधी कह उनकी निन्दा करने लगे। इसलिये वे वृन्दावन छोड़ बरसाने में जा बसे।[1]

नागरीदासजी ने बरसानेमें गहवर बनपर अपनी कुटी बनाई, जो आज मोरकुटीके नाम से प्रसिद्ध है। "एक दिन इसी स्थानपर उन्हें सखियों सहित श्रीराधाके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। नागरीदासजी प्रेम और सौदर्य की उस परात्पर सीमाको सामने उपस्थित देखकर मुर्च्छित हो गये। उस स्थितिमें श्रीराधाने उनसे कहा, 'हम नित्य-प्रति यहाँ खेलने आती हैं। हमें अर्धरात्रिमें भूख लगती है।इस समय यदि हमें कुछ भोजन कराओ तो शान्ति हो।

भूखे हैं हम आधी रैन, या बिरियाँ स्वाबै तब चैन।

नागरीदासजीने परम हर्षित होकर उसी समय श्रीराधा को भोजन कराया और उसी दिनसे अर्धरात्रिके समय खीर और पूड़ियोंका भोग रखने लगे।"[२]

नागरीदासजीका जन्म अनुमानतः सं. १५९० के लगभग हुआ और वे सतरहवीं शताब्दी के मध्यतक जीवित रहे।[३] स्वामी चतुर्भुजदासजी के संग से राधावल्लभ सम्प्रदायमें उनकी निष्ठा हुई। तभी से वे श्रीवनचन्द्र गोस्वामी से दीक्षा लेकर वृन्दावनमें रहने लगे। कुछ दिन बाद उपरोक्त घटनाके कारण वे बरसाने चले गये

---

१. चिबुक सुचारू प्रलोइ प्रबोधित, प्रिय प्रतिबिम्ब जनाइ निहोरी ।
(हित चौरासी,७)

और अन्त तक वहीं रहे। श्रीहित हरिवंश और श्रीराधामें उनकी अनन्य निष्ठा थी। अपने राधाष्टकमें उन्होंने कहा है-

रसिक हरिवंश सरवंश श्रीराधिका, सरवंश हरवंश वंशी।
हरिवंश गुरु शिष्य हरिवंश प्रभावली हरिवंश धन धर्म राधा प्रंशसी।
राधिका देह हरिवंश मन, राधिका हरिवंश श्रुतावतंशी।
रसिकजन मननि आभरन हरिवंश हितहरिवंश आभरन कल हंस हंसी।

नागरीदासजीकी बाणोंमें इस अष्टकको छोड़ और सभी रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित हैं। उनकी कुछ सुन्दर रचनाओं के उद्धरण श्रीललिताचरण गोस्वामीने दिये हैं, जिनमें से दो हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं-

प्यारी जोर करत तन मोरत ।
बंक विशाल छबीले लोचन भ्रुव विलास चितचोरत।
कनक लता सी आगे ठाड़ी मन अरु दृष्टि अगोरत।
उधरी वर कुच-तटी-पटी ते छबि मर्जादहि फोरत।
अति रस विवस पियहिं उर लावत केलि-कलोल झकोरत।
नागरिदास ललितादिं निरखिं सुख लै बलाइ तृन तोरत।

आजु सखि अद्भुत भांति निहारि।
प्रेम सुदृढ़ को ग्रंथि परि गई गौर-श्याम भुज चारि।
अबही प्रात पलक लागी हैं मुख पर श्रमकन वारि।
नागरीदसि रस पिवहु निकट ह्वै अपने बचन बिचारि।।

श्रीचाचा वृन्दावनदासजी

चाचा वृन्दावनदासजीके जीवन-वृत्तके बारेमें हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। हम उन्हें जानते है केवल एक विशाल साहित्यके रचयिता के रूपमें। कहते है कि उन्होंने सवा लाख पदोंकी रचना की। यह संख्या अधिक है, तो भी इसे मान लेनेको हम बाध्य है, क्योंकि

१. श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. ४१८-४१९
२. वही, पृ. ४१९
३. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ४६१

चाचा वृन्दावनदासके जितने ग्रन्थों की जानकारी हमें अभी प्राप्त हुई है, उन्हींकी संख्या लगभग २०० है। डा. स्नातकने उनके ९८ ऐसे ग्रन्थोंकी तालिका दी है, जिन्हें उन्होंने स्वयं देखा है।[१] ८० दूसरे ग्रन्थोंकी सूचना हमें 'साहित्य रत्नावली' से मिलती है। इनके अतिरिक्त उनके छोटे-छोटे और भी बहुतसे संग्रह हैं।[२]

चाचा वृन्दावनदासके सबसे बड़े ग्रन्थ ७ हैं, जो 'सागर' कहलाते हैं। इनमें 'व्रज प्रेमानन्द-सागर' और 'लाड़-सागर' अधिक प्रसिद्ध हैं। व्रज प्रेमानन्द सागर में ६१४७ छन्द (दोहे-चौपाई) हैं। इसमें चाचाजी ने राधा-कृष्ण की व्रज-लीलाओंका विस्तारसे वर्णन किया है। लाड़-सागरमें उन्होंने राधा-कृष्ण की बाल-लीलाओंका, विशेष रूपसे राधाजी की बाल्य लीलाओंका, और श्रीकृष्ण के साथ उनके विवाह का वर्णन किया है। राधावल्लभ सम्प्रदायमें राधा-कृष्णके बीच नित्य नूतन दाम्पत्य की मान्यता है। इसके अनुसार निकुंज में सखियाँ नित्य विवाह की रचना करती रहती हैं। इसे 'निकुंज का विवाह' कहते हैं। पर चाचा वृन्दावनदासने लाड़-सागरमें 'व्रज के विवाह' का वर्णन किया है, जिसमें राधा-कृष्णका समस्त परिवार और पुरजन सम्मिलित होते हैं। इन दोनों ग्रन्थोंसे स्पष्ट है कि चाचाजीने जिन लीलाओंका वर्णन किया है, उनकी पृष्ठभूमि निभृत-निकुंज तक ही सीमित नहीं है।

चाचाजीने चौदह अष्टयाम लिखे हैं। इनमें उन्होंने शुद्ध निकुंज लीलाका वर्णन किया है। उन्होंने अनेक छद्म, अष्टक, बेलि, इतिहास एवं चरित्र की रचनाएँ भी की हैं, जिनका विस्तारमें वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है।

डा. मीतलने चाचाजी की रचनाओंका मूल्यांकन इन शब्दोंमें किया है-

"चाचाजीका समस्त साहित्य एक विस्तृत वनके समान है। उसमें राधा-कृष्णकी दिव्य केलि-क्रीड़ाओंके अनेक सुवासित पुष्पयुक्त उपवन है, और लोक-जीवनसे सम्बन्धित स्वाभाविक रचनाओंके अन्य तरु-लतायुक्त कुंज भी है। उसमें ऐतिहासिक उल्लेखोंके हरित तृणयुक्त सुरम्य मैदान है, विनय, वैराग्य एवं सिद्धांत विषयक मार्मिक कथनोंके छोटे-बड़े नद-नाले भी है। इस प्रकार उनका साहित्य विविध विषयोंसे विभूषित और नाना रूपरंगों से सुशोभित है, जिसमें सर्वत्र उनकी प्रतिभाका प्रकाशन हुआ है।"

---

१. राधा वल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ५०७-५११

२. श्रीकिशोरीशरण 'अलि' द्वारा प्रकाशित राधावल्लभ सम्प्रदायके ग्रन्थोंका सूची-पत्र, जिसमें चाचाजीके छोटे-बड़े १५८ ग्रन्थोंके नाम दिये है।

"उन्होंने जहाँ सिद्धांतकी चर्चा की है वहाँ राधावल्लभीय गूढ़ भक्तितत्वके मर्मका उद्घाटन कर दिया है, जहाँ इतिहास और चरित्रका प्रसंग आया है, वहाँ उसे भी प्रामाणिक रूपमें प्रस्तुत किया है। जब पांडित्य प्रदर्शन करने की इच्छा हुई, तो इतनी जटिल रचना कर डाली, जिसने पंडितों की बुद्धिको भी चकरा दिया। जब लोक-साहित्य निर्माणकी उमंग उठी, तो ख्याल, रसिया और गारियोंका समा बाँध दिया। लोकोक्तियों और कहावतों के वर्णनकी धुन उठी, तो उनके भी कई ग्रन्थ रच डाले। हास्य-विनोदकी लहर आई, तो तदनुसार कई रोचक रचनाएँ कर डाली। इस प्रकार भक्तिसाहित्यकी सीमाओंका उन्होंने अपने ढंगसे बहुत विस्तार किया है। उनके काव्य की यह विशेषता है कि विविध विषयोंकी रचनायें होते हुए भी उन्हें सदैव भक्तिसे ही सम्बन्धित रखा गया है। इस प्रकार वे धारावाहिक रूपमें अहर्निश काव्य रचना करते हुए भी अपने मूल उद्देश्यसे कभी विचलित नहीं हुए है। उनका भक्ति-काव्य व्रजभाषा साहित्यका श्रृङ्गार है।

चाचाजीके काव्यकी एक विलक्षणता उसकी सहजता और स्वाभविकता है। काव्य भी श्वास-प्रश्वासकी तरह उनके जीवनका स्वाभाविक अंग था। उन्हें इसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। यह उनके अन्तस्थलसे स्वतः फूट पड़ता था। वे हर समय लीला-चिन्तनमें डूबे रहते थे। राधा-कृष्णकी लीलाके नये-नये चित्र उनके प्रेमांजन-लसित मानसिक नेत्रोंके सामने आते रहते थे। उनके कारण उनके हृदयमें जो भावका उद्रेक होता था, वह काव्यके रूपमें बहिर्गत होनेको मचल उठता था। वे काव्यकी रचना नहीं करते थे, काव्य उनके हृदयसे निकल पड़ता था। उनके पास केलिदास नाम के एक लिपिक सदा बने रहते थे। जब काव्यका स्रोत फूटनेको होता था, वे कहते थे-'केलिदास वाणी आयी। तभी वे वाणीका गान करने लगते थे और केलिदास उसे लिपीबद्ध कर लिया करते थे। लेखिया केलिदासका नाम उनकी बहुत-सी रचनाओंमें मिलता है।

चाचा वृन्दावनदासजीके काव्य-रचना कालका आरम्भ सम्वत् १७९५ के लगभग माना जा सकता है, क्योंकि उनकी सम्वत् उल्लेख सहित सर्वप्रथम रचना सम्वत् १८०० की है। इसके आधार पर डा. स्नातकने उनका जन्म सम्वत् १७६० माना है। हमारे विचारसे उनका जन्म सं. १७६५ या १७७० में मानना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि जिस विपुल साहित्यका उन्होंने सृजन किया उसे देखकर उगता है कि उन्होंने काव्य-रचना अपेक्षाकृत अल्पावस्थामें ही आरम्भ कर दी होगी।

उनकी अन्तिम रचना सं. १८८४ की है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि उन्होंने १८८५ के लगभग शरीर छोड़ा होगा।

'आर्त पत्रिका' में 'जन्मसे सेई व्रज-रस' के चाचाजीके उल्लेखसे स्पष्ट है कि उनका जन्म व्रज के ही किसी स्थानमें हुआ। उन्होंने गोस्वामी रूपलालजी से राधावल्लभ सम्प्रदायकी दीक्षा ली, यह भी उनकी रचनाओंसे स्पष्ट है। 'सम्वत् १७९४ में वे वृन्दावन में थे और इससे पूर्व गोस्वामी हित रूपलाल जीसे दीक्षा ले चुके थे, इस तथ्यका वर्णन उन्होंने 'श्रीहित रूपचरित्र बेलि' में स्वयं किया है।[1]

चाचाजीकी रचनाओंमें उनके परिवारका कहीं किसी प्रकारका उल्लेख नहीं मिलता। इससे अनुमान है कि वे विरक्त थे। वे विरक्त महात्माओंके रूपमें कभी सेवाकुंज में रहते थे, कभी गुरु गृहमें रहते समय गोस्वामी बालक उन्हें 'चाचाजी' कहकर पुकारा करते थे। इसलिये लोग भी उन्हें 'चाचाजी' कहने लगे थे।

श्रीहरिराम व्यासजी

रागानुगा भक्ति और बिधि-निषेध-

पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्तमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके आवर्भावके साथ भारतके सामाजिक जीवनमें एक विप्लव का सूत्रपात हुआ। प्रेमा-भक्ति की एक ऐसी बन्या आयी कि पुरानी रूढ़ियोंके सभी बाँध, जिनके कारण भारतीय जन-जीवनकी सरिता एक ही दिशामें, एक ही सीमाके भीतर बहती आ रही थी, टूटने लगे। विधि-निषेधकी जंजीरे, जो सदियोंसे उसे जकड़े हुए थीं, ढ़ीली पड़ने लगीं। जातीयता वैष्णवताके आगे और शुचि-अशुचि, कर्म-अकर्म आदि की अनेकों शास्त्रीय मान्यताएँ भगवत-प्रसाद और भगवन्नामादि के प्रति भक्तोंकी श्रद्धाके आगे झुकने को विवश हुई।

श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके पार्षदोंके जीवनमें इस विप्लवाक्रान्त प्रवृत्ति के अनेकों उदाहरण देखनेको मिलते हैं। महाप्रभुके अभिन्न विग्रह श्री अद्धैताचार्यने यवन भक्त हरिदासको अपने पिताके श्राद्धके समय श्राद्धपात्र देकर और यह कहकर कि हरिदासको भोजन कराने से कोटि-कोटि ब्राह्मणोंको जिमानेका फल मिलता है, वैष्णवताको ब्राह्मणत्वके ऊपर प्रतिष्ठित किया।

१. श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ४९७

बादशाह हुसेनशाहने सुबुद्धिरायको मुसलमानी करुयेका जल पिलाकर उनकी जाति नष्ट कर दी। काशीके पण्डितोंसे सुबुद्धिरायने प्रायश्चितका उपाय पूछा, तो उन्होंने तप्त घृत पानकर प्राण त्याग देना ही इसका एकमात्र उपाय बताया। इसके विरूद्ध महाप्रभुने वृन्दावन जाकर हरिनाम करनेका उपदेश किया और कहा–

"एक नामाभासे तोमार पाप दोष जाबे।
आर नाम लइते कृष्ण चरण पाइबे।।
आर कृष्ण नाम लै ते कृष्ण स्थाने स्थिति।
महा पातकेर हय एइ प्रायश्चित्ति।।
(चै०च० २/२५/१९२-१९३)

–एक नामाभास मात्रसे तुम्हारा पाप जाता रहेगा। और नाम लेने से श्रीकृष्ण-चरण प्राप्ति होगी। और भी अधिक नाम लेने से कृष्णके निकट कृष्ण-धाममें स्थिति होगी। महापातकी हो तो भी उसके लिए इससे अच्छा प्रायश्चित दूसरा नहीं है।"

अद्वैतमतावलम्बी, महापंडित श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य एक नैष्ठिक ब्राह्मण थे। वैदिक रीति-नीति और विधि-निषेधका श्रद्धापूर्वक पालन करते थे। महाप्रभु की कृपासे उन्हें कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो गयी। तब एक दिन महाप्रभु अरुणोदयके समय जगन्नाथजीका प्रसाद लेकर उनके घर गये। उसी समय वे शय्यासे उठे। महाप्रभु के प्रसाद देते ही उन्होंने बिना स्नान, संध्यादि किये बासी मुंह उसे पा लिया और पद्मपुराण के यह श्लोक पढ़े–

शुष्कं पर्य्युषितं बापि नीतं वा दूरदेशतः?
प्राप्तिमात्रेण भोक्तव्यं नात्रकालविचारणा।।
न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
प्राप्तमन्नं द्रुतं शिष्टै भोक्तव्यं हरिरवतीत।।

– महाप्रसाद शुष्क हो चाहे बहुत दिन पूर्वका पकाया हुआ और चाहे दूर देशसे लाया हुआ, उसे बिना समय-असमय का विचार किये मिलते ही खा लेना चाहिये। शिष्ट लोगोंको श्रीकृष्ण का अन्न प्रसाद प्राप्त होते ही खा लेनेकी स्वयं भगवान् ने आज्ञा की है। इसमें देश-कालका कोई नियम नहीं।

यह देख महाप्रभु अति आनन्दित हुए, सार्वभौम को आलिंगन कर नृत्य करने लगे और बोले-

"आजि कृष्ण-प्राप्ति योगय हैल तोमार मन।
वेद-धर्म लण्धि केले प्रसाद भक्षण।।

(चै. च. २/६/२३४)

-तुमने वेद धर्म लांघकर प्रसाद भक्षण किया, तो समझो तुम्हारा मन अब कृष्ण-प्राप्ति के योग्य हुआ।"

रागानुगा भक्तिकी इस बाढ़ने वैदिक वर्णाश्रम-धर्मकी श्रृंखलाओंको छिन्न-भिन्न कर दिया। रागमयी भक्तिका लक्षण है श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवाका लोभ। लोभ का लक्षण है शास्त्र के विधि-निषेधकी अपेक्षा न रखना

शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति।

(चै.च.२/२२/१४८)

इसलिए रूपगोस्वामी आदि वैष्णव आचार्योंने घोषणा कि वर्णाश्रम धर्म और उसके विधि-निषेध शुद्धा-भक्ति के अंग नहीं है।[१]

पर रागमयी भक्तिका शास्त्रीय विधि -निषधोंको लंघन करनेकी प्रवृत्ति कहीं उच्छृंखलता और स्वेच्छाचारिताको जनम न दे, इसलिए श्रीचैतन्यमहाप्रभुने श्रीमदभागवतमें श्रीकृष्णकी इस आज्ञा पर विशेष बल दिया -

'तावत् कर्माणि कुवीर्त न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।

(भा. ११/२०/९)

-कर्म के सम्बन्धमें जितने भी विधि निषेध है, उनके अनुसार तबतक कर्म करने चाहिये जबतक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्तनादि में श्रद्धा न हो जाय।"

संसारसे पूर्ण वैराग्य और कृष्ण-लीला कथा श्रवण-कीर्तनमें श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना शास्त्रकी उपेक्षा कर मनमाने ढंग से भजन करने को रूप-गोस्वामी ने उत्पात कहा है-

स्मृति श्रुति पुराणादि पञ्चरात्र विधि बिना।
आत्यन्तिकी हरिभक्तिरूत्पातयैव कल्पते।।

(भ०र०सि०१/२/४६)

वृन्दावनके रसिकाचार्यागण सभी वैराग्यकी साक्षात् मूर्ति थे। कृष्ण-लीला-स्मरण कीर्तन ही उनके जीवनका एकमात्र अवलम्ब था।

पराभक्तिके उच्च शिखरपर वे आसीन थे, इतने उच्च शिखर पर कि शास्त्रीय विधि-निषेधोंकी वहाँतक पहुँच ही न थी। इसलिए विधि-निषेध उन्हें अपने-आप छोड़ गये थे।

विधि-निषेध और हरिराम व्यास

रसिकाचार्य श्रीहरिराम व्यासका चरित्र इसका ज्वलंत उदाहरण है। विधि-निषेध सम्बन्धी उनका यह पद प्रसिद्ध है-

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा बरसानौ खैरो व्रजवासिन सौं पाति।।
गोप गुपाल जनेऊ माला, शिखा शिखण्डि हरि मंदिर भाल।
हरिगुन गान वेद धुनि सुनियत मूँज पखावत कुश करताल।
साखा जमुना हरि लीला षट्कर्म प्रसाद प्राण धन रास।
सेवा विधि निषेध जड़ संगति वृत्ति सदा वृन्दावन वास।।
सुभुति भागवत कृष्ण-नाम संध्या तर्पन गायत्री जाप।
वंषी रिषि जजमान कल्पतरु व्यास न देत असीस सराप।।

(भक्त कवि व्यास, सिद्धान्त, ९३)

इसमें व्यासजीने वैदिक परम्परासे सम्बन्धित सभी वस्तुओंकी उपेक्षा कर उनकी जगह उन वस्तुओंको दी है, जो हरिभक्तिसे संबंधित है। ब्राह्मण होते हुए भी 'रसिक अनन्य' अपनी जाति बतायी है, हरिनाम-जप की मालाको अपना जनेऊ, हरि गुण-गानको वेद-ध्वनि, औरं कृष्ण-नाम जप को संध्या, तर्पण, और गायत्री जप कहा है।

इस पदका सम्बन्ध विशेषरूपसे जाति और जनेऊ से संबंधित उनके जीवनकी दो प्रसिद्ध घटनाओंसे जान पड़ता है।

एक बार वे गोविन्दजीके मन्दिर दर्शन को जा रहे थे। मार्गमें सुना कि राजभोगकी आरती हो गयी और दर्शन बन्द हो गये। उन्हें बड़ा खेद हुआ, क्योंकि राजभोगकी आरतीके दर्शनकर महाप्रसादका कणिका लेनेका उनका नियम था। उसी समय उन्होंने एक भंगिनको देखा डलियामें गोविन्दजीका महाप्रसाद ले जाते । उन्होंने डलियामें-से एक पकौड़ी निकाल कर अपने माथे से लगायी और मुखमें डाल ली। वृन्दावनमें हलचल मच गयी कि व्यासजीने भंगिनकी पकौड़ी खायी। उनके इस कार्यकी सर्वत्र कटु आलोचना होने लगी। पर उन्होंने इसकी तनिक भी चिंता न की। उलटे अपनी वाणियोंमें इस दृढ़ विश्वासको व्यक्त किया कि महाप्रसादके सम्बन्धमें जाति-पाँति और छुआछूत का विचार करना अपराध है और ऐसा न मानने वालों की निन्दा की-

१. भ.र.सि. पूर्वभाग २/११८ की श्रीजीव गोस्वामीकी टीका

हमारी जीवन मूरि प्रसाद ।
अतुलित महिमा कहत भागवत मेटत सब प्रतिवाद।।
जो षटमास ब्रतन के कीन्हैं एक शीत के स्वाद।
दर्शन पावत साथ खात मुख परसत हरत विषाद।।
लेत देत जो करत अनादर सो नर अधम गवाद।
श्रीगुरु सुकल प्रसाद व्यास यह रस पायौ अनहद।।

(वही, २९)

'व्यास' रसिक रसिक जन ते बड़े व्रज तजि अनत न जाँय।
वृन्दावन के स्वपच लौं, जूठनि मागै खाँय।।
'व्यास' मिठाई विप्र की तामें लागे आग।
वृन्दावन के स्वपच की जुठन खाइये माँग।।

(वही, साखी २४-२५)

व्यासहि ब्राह्मण जिन गनौं हरिभक्तन को दास ।

(वही, २६)

एक बार व्यासजी रास-लीलाके दर्शन कर रहे थे। रासमें नृत्य करते समय राधारानीके चरणोंका एक नूपुर निकल गया। उन्होंने शीघ्र उसे बांधना चाहा। बांधनेको और कुछ न मिला तो अपना जनेऊ तोड़ डाला। उससे नूपुर बांध दिया। वैदिक धर्म और रीति-नीतिके प्रतीक उस जनेऊ को राधारानी के चरणोंमें समर्पित करनेमें उन्होंने तनिक भी संकोच न किया।

व्यास की उपाधि

श्रीहरिराम व्यासका जन्म सम्वत् १५६७ (सन् १५१०) में तत्कालीन बुंदेलखण्डकी राजधानी ओरछामें एक संभ्रत सनाढ्य ब्राह्मण परिवारमें हुआ। उनके पिता का नाम था श्रीसमोखन शुक्ल, माता का श्रीमती देविका। समोखन शुक्ल धनवान और वैभवसम्पन्न तो थे ही, भक्त भी उच्चकोटिके थे। उन्होंने हरिराम की शिक्षाकी उत्तम व्यवस्था की। हरिराम बड़े मेघावी थे। अल्पकाल में ही व्याकरण, वेद, पुराणादि शास्त्रोंमें व्युत्पन्न हो गये।

श्रीवृषभानुजीके पुरोहित की वंश-परम्परा में उत्पन्न बरसाना निवासी दयारामजी की गोपी-नामकी कन्यासे उनका विवाह हुआ। तीन पुत्र और एक कन्याका जन्म हुआ।[1]

अवस्थाके साथ एक महान् पंडित के रूपमें हरिरामजी की ख्याति चारों ओर फैलने लगी। काशी जाकर उन्होंने शास्त्रार्थ में बहुत-से पंडितोंको परास्त किया और उनसे विजय-पत्र लिखवा लिये। कहते है

कि विश्वनाथजी ने स्वप्न में उन्हें वाद-विवाद में व्यर्थ समय न खोकर भजन करनेकी प्रेरणा दी। तब उन्होंने विजय पत्र विश्वनाथजी को समर्पण कर दिये और एकान्त में भजन करने का निश्चय किया। काशीके पंडित इससे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने एक सभामें उन्हें 'व्यास'[2] की पदवी प्रदान की। तभी से हरिराम व्यास कहलाने लगे।[3]

राधा-कृष्ण के दर्शन

ओरछा लौटकर व्यासजी वेत्रवती नदीके तटपर तुङ्गारण्यमें एक आश्रम बनाकर रहने लगे और राधा-कृष्णकी उपासनामें रत हो गये। कालान्तर में उनकी उपासना सफल हुई और जुगलने उन्हें दर्शन दिये।

व्यासजीजी रात-दिन जुगलकी भावनामें तल्लीन रहते। शरद्-पूर्णिमा की रास रजनीमें सारी रात जागकर नृत्य-कीर्तन करते। एक बार इसी अवसर पर अर्धरात्रि में जब वे सपत्नीक नृत्यमें रत थे ओरछा के महाराज मधुकर शाह महारानी के साथ उनके दर्शन करने आये।

महाराज मधुकर शाह व्यासजीके शिष्य थे। उनकी गुरु-भक्ति अनुपम थी। गुरुदेवके चरण स्पर्श करने का उनका नित्यका नियम था। उस दिन उनके आनेपर रासोत्सवमें जो अपूर्व घटना घटी उसका श्रीलाड़ली किशोर गोस्वामीने इस प्रकार वर्णन किया है।

"उसी प्रेम-विवश दशामें राजा और रानी दोनों ने श्रीगुरुदेवके दर्शन किये। दृष्टि पड़ते ही दोनों ऐसे मुग्ध हुए कि स्वयं प्रेमावेश में नृत्यमें रत हो गये। इस अपूर्व उत्सव कोदेवताओंने दखेकर जयकार सहित पुष्प-वृष्टिकी। भक्त-हृदयकी तल्लीनता देखकर स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने प्रिया सहित प्रकट होकर दर्शन दिये। पुष्प भूमिपर गिरते ही सुवर्णमय हो गये। अद्यावधि ओरछाकी गद्दीपर राज्याभिषेक के समय महाराजाओंको उन पुष्पोंके दर्शन कराये जाते है।"[१]

महाराज मधुकर शाह पर कृपा

मधुकर शाहकी गुरु-भक्तिसे व्यासजी बहुत प्रसन्न थे। उनकी कृपासे वे सिद्ध हो गये थे। वे बाहर से संलगन रहते राजकाज में, भीतरसे राधा-कृष्ण की मानसी सेवा-पूजा में। उनके सम्बन्धमें दो घटनाएँ प्रसिद्ध है :-

---

१. वासुदेव गोस्वामी : भक्त-कवि व्यासजी, पृ. ५०-५२

२. आचार्य श्रीराधाकिशोर गोस्वामी द्वारा प्रकाशित 'व्यास वाणी' में श्रीहरिराम व्यास वंशीद्भव आचार्य श्रीलाड़लीकिशोर गोस्वामीका प्राक्कथन, पृ. ७

३. 'व्यास' उनकी परम्परागत उपाधि भी हो सकती है, क्योंकि उनके पूर्वज पुराण-वक्ता थे और व्यास कहलाते थे। देखिये डा. बंसल चैतन्य सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य, पृ. २५२

एक बार वे अकबर बादशाहके अश्वारोहियोंमें उनके साथ कहीं जा रहे थे। उनकी मानसी पूजा उस समय भी चल रही थी। उन्हें देख बादशाहके एक सेवक ने बादशाहसे कहा - "ओरछा नरेश घोड़ेपर ऊँघते जा रहे है, यदि इस समय किसी घटना के कारण उन्हें अपना पौरुष दिखानेकी आवश्यकता पड़ी तो वे क्या करेंगे"?

बादशाहने पास जाकर मधुकर शाहको पुकारा। उनका ध्यान भंग हो गया। ध्यान भंग होते ही उनके वस्त्रों और घोड़ेपर बेसन फैल गया। बादशाहने चकित हो कारण पूछा, तो मधुकर शाह ने कहा- मैं श्रीजी की अमनियाँके लिए कढ़ी सिद्ध कर रहा था। आपने ध्यान भंग कर दिया। इसलिए अमनियाँ में विघ्न पड़ गया।

अकबर बादशाह यह देख सुन कर अवाक!

एक दिन मधुकर शाह अकबरके दरबारमें उपस्थित थे। अकस्मात वे अपनी हथेलियाँ मलने लगे। हथेलियाँ काली पड़ गयी। अकबरने कारण पूछा तो बतानेमें आनाकानी की। उनके आग्रह करने पर बोले- "जगन्नाथपूरी में जगन्नाथजीके वस्त्रों में आग लग गयी थी, उसे बुझा रहा था।"

अकबर को विश्वास न हुआ। उन्होंने उसी समय एक अश्वारोही द्वारा जगन्नाथपुरी पत्र भेजकर घटनाका पता किया। वहाँसे समाचार आया कि उस तिथिको उसी समय जगन्नाथजीके जांमें में आग लग गयी थी। उस समय कोई पुजारी जगन्नाथजी के निकट नहीं था। मधुकर शाह वहाँ पहुंचे और आग बुझाकर चले आये।

वृन्दावनवासकी तीव्र उत्कण्ठा

व्यासजीके उस समयके कुछ पदोंसे आभास मिलता है कि उनकी पारिवारिक स्थिति और ओरछाका वातावरण राधा-कृष्णके प्रति उनकी अनन्य भक्ति के अनुकूल नहीं था। एक पदमें उन्होंने अपनी बेटीके विवाहमें गणेश पूजा कराने और शाक्तोंको भोजन कराने पर अपने मनकी खीजको इस प्रकार व्यक्त किया है -

मरैं वे जिन मेरे घर गनेस पुजयौ ।
जो पदारथ सन्तन के काजे ते सारे सकतन ने खायौ।।
व्यासदास कन्या पेटहि क्यों न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायौ।।

(भक्त-कवि व्यासजी, खण्ड २, सिद्धान्त, २८९)

लगता है कि शाक्तोंका उस समय बुन्देलखण्ड में विशेष प्रभाव था और उनमें भ्रष्टाचार फैला हुआ था। इसलिए उनपर प्रहार करनेमें

१. वही, पृ. ९

व्यास जीने कोई कसर न रखी, यहाँ तक कि उन्हें 'सूकर' 'कूकर' के समान और चण्डालसे भी गये बीते कह डाला।

साकत सूकर, कूकरा, इनकी मति है एक।
कोटि जनम परबोधियै, तऊ न छोड़ै टेक।।
(वही, साखी, १४१)

साकत बामन जिन मिलौ, वैष्णव मिली चंडाल।
जाहि मिले सुख पाइयै, मनौ मिले गोपाल।।
(वही, १३९)

अपने घरके सम्बन्ध में उन्होंने कहा -

झूठ मसखरी मन लग्यौ, हरि भजिवे को झेर।
'व्यासदास' की पौरिते, भक्ति गयी दै टेर।।
(वही, १३१)

हमारे घर की भक्ति घटी।
उपजो नाती-पूत बहिर्मुख, बिगरी सबै गटी।।
(वही, सिद्धान्त, २८८)

ऐसे वातावरणमें भला उनका रहना कब सम्भव हो सकता था? वे तो श्यामा-श्यामके अनन्य भक्त थे। वृन्दावन-वास करते हुए श्यामा-श्यामकी सेवामें रत रहना ही उनके लिए उचित था। साधु होकर अन्यत्र असाधुओं के बीच रहना दुःखों का पहाड़ ढ़ोना नहीं तो और क्या था? इसी प्रकार का मनोभाव उन्होंने अपने इस पदमें व्यक्त किया -

सइयौ, श्यामा-श्याम वृन्दावनवासी ।
रसिक अनन्य कहाय अनत रहि, विषै-बयाल विपुलहिं सहि हासी।।
साधु न बसत असाधु संग मंह, जब-तब प्रीति-भंग दुखरासी।
देह, गेह, संपति, सुत, दारा, अधर, गंड, भंग, उरज उपासी।।
पूतन के हित मूत पियत हैं, भूत-विप्र कर कासी।
तिन सों ममता करि हरि बिसरे, जानत मंदन, तिनहिं बिसासी।।
स्वारथ-परमारथ पथ छुट्यौ, उपजी खाज कोढ़ में खासी।
देह बूड़ बूड्यों बंस 'व्यास' कौ, बिसयौं कुंज-निकुंज-निवासी।।
(वही,२९२)

वृन्दावन-वास और वृन्दावन के रसिक महात्माओंकी-सी रहनी के लिए उनका मन उत्कण्ठित हो पड़ा और उन्होंने हरि से प्रार्थना करना आरम्भ किया -

ऐसो मन कब करिहौं हरि मेरौ ।
कर करवा कामरि काँधे परि कुंजनि माँझ बसे रौ ।।

ब्रजबसिन के टूँक भूँख में घर घर छाछि महेरौ।
भूख लगे जब माँगि खैंऊंगो, गनौं न सांझ सबेरौ।।
रास बिलास वृत्ति कर पाऊँ मेरे खूंटन खेरौ।
'व्यास' विदेही वृन्दावन में हरि भक्तन को चेरौ।।

(वही, २६३)

प्रभुने उनकी सुनली और उनका मन ठीक वैसा ही कर दिया। उन्होंने निश्चय कर लिया कि -

अब न और कछू करनै, रहनै है वृन्दावन ।
हौ नौ होइ सो होइ किंनि, दिन-दिन आयु घटति झूठे तन ।।

(वही, २५८)

और एक दिन दारा, सुत-सम्पत्ति और राज-गुरु होने के नाते अपने अतुलनीय गौरव-गरिमा का त्यागकर वे वृन्दावन चले आये।

वृन्दावनमें

उनके वृन्दावन चले आने पर घरके लोगों के पास पछतावे के सिवा और कुछ न रहा। उन्होंने उन्हें वापस ले जाने की बहुत चेष्टा की। पर उन्होंने कह दिया -

रे भैया हो, व्यास कों, मति कोऊ पछिताय ।
हरि सों हेत न छूटि है, जिस बछरा तित गाय ।।

(वही, १३०)

महाराज मधुकर शाह ने भी उन्हें वापस ओरछा ले जानेकी बहुत चेष्टा की। पर उन्होंने उनकी भी एक न सुनी। इसकी साक्षी भरते हुए प्रियादासजीने लिखा है -

आए गृह त्याग वृन्दावन अनुराग करि,
गयौ हियौ पाग होइ न्यारौ तासों खीजिये ।
राजा लेन आयौ पै जाइयौ न भायौ
श्री किसोर उपझायौ मन सेवा मति भीजियै ।।

(भक्तिरस-बोधिनी टीका, ३५९)

मधुकर शाहकी तो वे तब सुनते, जब उनकी वृन्दावनको निष्ठामें कुछ न्यूनता होती और वे ब्रजवासियोंकी अपेक्षा राजा-महाराजाओंको अधिक महत्व देते होते। उनकी दृष्टि में तो वृन्दावनका सूप बेचने वाला भी वृन्दावनके बाहर के किसी भूपसे बड़ा था -

वृन्दावन कौ चूहरौ, बेचि खात है सूप।
ताकौ सरवर ना करै, आन गाँव कौ भूप।।

(भक्त-कविव्यास, साखी, २९)

उनकी वे तब सुनते जब ओरछासे उन्हें कुछ लेना-देना बाकी रहा होता। वे तो अब वहाँ आ गये थे, जहाँ उनके सारे दुख-द्वन्द दूर हो गये थे, जहाँ आकर उनका भजन-साधन सब पूरा हो गया था और 'कुँवर' के भरोसे पाँव पसार कर सोनेके अतिरिक्त और कुछ करना नहीं रह गया था। तभी उन्होंने उद्‌घोषणा कर दी थी-

काहू कें बल भजन कौ, काहू कें आचार।
'व्यास' भरोसे कुँवरि के, सोवत पाउँ पसार।।

(वही, ४२)

वृन्दावन-वासमें व्यासजी की अटूट निष्ठाा का प्रमाण उनकी उन वाणियों से बढ़कर और क्या हो सकता है, जिनमें उन्होंने कहा है

कनक, रतन, भूषन, बसन, मिथ्या अनत विलास।
बेटी हाट सिंगारिकै, बस वृन्दावन 'व्यास'।

(वही, ८०)

धनि-धनि वृन्दावन की धरनि।
अधिक कोटि वैकुण्ठ लोक तें, सुक नारद मुनि वरनि।।

(भक्त-कवि व्यास, सिद्धान्त, ४०)

व्यासजी वृन्दावन कब आये ?

व्यासजी वृन्दावन ठीक किस समय आये, इस सम्बन्धमें मतैक्य नहीं हैं। श्रीललिता चरण गोस्वामी[1] और डा. विजयेन्द्र स्नातक[2] का मत है कि वे सं. १५९१ में आये, डा. ग्रियर्सन तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि वे सं. १६१२ में आये।

'भक्त कवि व्यासजी' के लेखक श्रीवासुदेव गोस्वामीने दोनों मतोंका समन्वय यह कह कर किया है कि वे प्रथम बार वृन्दावन सं. १५९१ में आये और दूसरी बार सं. १६१२ में, जब वे स्थायी रूप से यहाँ रह गये। सं. १६१२ में प्रथमवार व्यासजीके वृन्दावन आकर बस जानेकी बात व्यासवाणी के अंतः साक्ष्य से मेल नहीं खाती। व्यासजीने रूप-सनातनके निधनपर लिखा है-

करुनासिधु कृष्ण चैतन्य की कृपा फली दुहुँ भ्रातन।
तिन बिनु 'व्यास' अनाथ भये, अब सेवत सूखे पातन।।

(भक्त-कवि व्यास, सिद्धान्त, २७)

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने रूप सनातन का संग किया और रूप सनातनने उन्हें इसतरह आत्मसात किया कि उनके अंतर्धानके पश्चात् उन्हें लगा जैसे वे अनाथ हो गये। रूप-सनातनका अंतर्धान सं. १६११ में हुआ। यदि माना जाय कि व्यासजी सं. १६१२ में वृन्दावन आये तो यह भी

मानना होगा कि रूप-सनातन के उन्हें दर्शन तक नहीं हुएं।

अतः मानना होगा कि व्यासजीका वृन्दावन आगमन सं. १६१२से पूर्व हुआ। सं. १५९१ में उनका आगमन ठीक इसलिये लगता है कि तभी उनका रूप सनातन और श्रीहितहरिवंशसे दीर्घकालीन संग संभव हो सकता है, जो व्यास-वाणी के अंतः साक्ष्य से सिद्ध है। पर १५९१ में वृन्दावन आकर वे स्थायी रूपसे यहां बस गये हों ऐसा उनके इस पदसे नहीं लगता, जिसमें उन्होंने 'हरिवंसी' और हरिदासी' सखी-सहेली से मिलनेकी लालसा व्यक्त की है -

हम कब होहिंगे ब्रजवासी ।
ठाकुर नन्दकिसोर हमारे, ठकुराइन राधा सी ।।
सखी-सहेली कब मिलि है, वे हरिबंसी-हरिदासी ।।

(वही, २५६)

इससे तो यही लगता है कि वे कम से कम एक बार वृन्दावन आकर ओरछा चले गये और स्थायी रूपसे यहाँ रहनेको पीछे आये। वृन्दावन आये बिना और श्रीहरिवंश और श्रीहरिदास का संग किये बिना ओरछामें रहते सखी सहेली रूपमें उनसे फिर मिलने की लालसा करना नहीं बनता। पर १५९१ में एक बार आकर फिर २१ वर्ष बाद १६१२ में आनेकी बात भी नहीं जंचती। वृन्दावन और वहाँ के महात्माओंका प्रबल आकर्षण होते हुए वे इतने दिन वृन्दावनको भूले रहें यह संभव नहीं जान पड़ता । निश्चय ही वे १५९१ के बाद बीच-बीच में तब तक वृन्दावन आते रहे जब तक यहाँ आकर स्थायी रूपसे नहीं बस गये।

व्यासजीकी दीक्षा

कुछ लोगों का मत है कि वे वृन्दावन आने के पश्चात् व्यासजी ने श्रीहितहरिवंशजी से दीक्षा ग्रहण की। पर व्यासजी की दीक्षा के सम्बन्ध में भी विवाद बहुत रहा है। बहुत दिनोंसे कुछ लोग उन्हें हितहरिवंशजी का शिष्य मानते रहे है और कुछ उनके पिता श्रीसमोखन शुक्ल का। दोनों अपने-अपने पक्ष को पुष्टि में व्यास-वाणी से प्रमाण प्रस्तुत करते रहे हैं। दोनों अपना मत उचित ठहराने के लिए प्रतिपक्ष को व्यास-वाणी में तोड़-मरोड़ करने का दोषी बताते रहे हैं। इसमें दोष किसी का नहीं यदि है तो व्यासजीकी उदारता और उनके दैन्यका, जिसके कारण उन्होंने हितहरिवंश और श्रीसमोखन शुक्ल के प्रति ही नहीं, साधु मात्र के प्रति गुरुभाव व्यक्त किया है-

१. श्री हितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. ३९१-३९२
२. राध वल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ३६४

सन्त सबौ गरुदेव हैं, व्यासहिं यह परतीति ।

(वही, साखी, २)

पर इस विवादका सबसे बड़ा कारण यह रहा है कि व्यास-वाणी में व्यासजी के दीक्षा-गुरुके रूपमें कोई स्पष्ट उक्ति नहीं है और व्यासजी का संस्कृत ग्रन्थ, जिसमें उन्होंने अपनी गुरु परम्परा दी है, अभी कुछ दिन पूर्व तक दोनोंमें से किसी पक्षको देखनेको नहीं मिला। डा. व्रजेन्द्र स्नातकने अपने ग्रन्थ 'राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य' में हितहरिवंश द्वारा व्यासजी की दीक्षा का जोरदार समर्थन किया है। पर उन्होंने स्वीकार किया है कि व्यासजीका एक ग्रन्थ 'नवरत्न' भी है, जो उपलब्ध नहीं हो सका और जिसकी विषय-वस्तुका उन्हें कुछ पता नहीं।[1] इसी प्रकार श्रीवासुदेव गोस्वामीने अपने ग्रन्थ 'भक्त-कवि व्यासजी' में श्रीसमोखन शुक्ल द्वारा व्यासजीकी दीक्षा सिद्ध करनेका प्रबल प्रयास किया है। पर उन्होंने भी लिखा है कि 'नवरत्न' की कोई प्रति उन्हें देखनेको नहीं मिली।[2]

इस ग्रन्थ में व्यासजीने जो गुरु-परंपरादी है, उसमें उन्होंने अपने पिता के गुरु और श्रीचैतन्य महाप्रभु के गुरु भाई श्रीमाधवदासजी को अपना दीक्षा-गुरु बताया है। गुरु परपंरा इस प्रकार है-

"निजा सा यथा -

श्रीकृष्णो भगवान् ब्रह्मा नारदो बादरायणः ।
श्रीमध्वः पद्मनाभश्च नृहर्रिर्माध्वश्च सः ।।५।।
अक्षोभ्यो जयतीर्थश्च ज्ञानसिन्धुर्दया निधिः ।
विद्यानिधिश्च राजेन्द्रो जयधर्म्ममुनिस्ततः ।।६।।
पुरुषोत्तमो ब्रह्मण्यो व्यासतीर्थश्च तस्य हि ।
लक्ष्मीपतिस्ततः श्रीमान् माधवेन्द्र यतीश्वरः ।।७।।
ईश्वरस्तस्य माध्वश्च राधाकृष्णप्रियोऽभवत् ।
तस्याहं करुणापात्रं हरिरामाभियोऽभवमिति ।।८।।

-इति श्रीगुरुप्रणालिकोद्देशः।

'नवरत्न' का प्रकाशन बाबा कृष्णदासने सं. २००९ में किया था। डा. नरेशचन्द्र बंसलने बाबा कृष्णदास द्वारा संग्रहीत इस ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतिसे उपरोक्त परपंरा को अपने ग्रन्थ 'चैतन्य सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य' में पृ. २४४ पर उद्धृत किया है। यदि यह ग्रन्थ प्रामाणिक है तो इससे व्यासजीकी गरुपरंपरा से सम्बन्धित विवाद मिट जाना चाहिए। अभीतक किसीने इसकी प्रामाणिकतामें संदेह नहीं किया है।

पुलिन बिहारी दत्तने अपने बंगला ग्रन्थ 'वृन्दावन-कथा'में[1] और लालदासने बंगला भक्तमाल[2] में व्यासजीको श्रीमाधवदास द्वारा ही माध्व

संप्रदायमें दीक्षित किया जाना लिखा है।

पर डा. स्नातकका कहना है कि वृन्दावन आने के पूर्व व्यासजीने कोई दीक्षाली हो तो भी मानना पड़ेगा कि श्रीहितहरिवंशजीसे उनका दीक्षागुरु का ही सम्बन्ध था। "वृन्दावन आनेपर वे शुद्ध राधा वल्लभीय होकर ही उपासना करते रहे। अत: उन्हें हितहरिवंशजी से पुन: दीक्षा-मन्त्र लेना आवश्यक प्रतीत हुआ।"[१]

डा. स्नातकका यह अनुमान ठीक नहीं। वैष्णवोंमें एक गुरुसे दीक्षा लेकर दूसरेसे फिर लेना महान अपराध समझा जाता है। केवल कुछ विशेष परिस्थितियोंमें जब गुरु अवैष्णव या दुराचारी हो, दूसरा गुरु करनेका विधान है। व्यासजीने पहले अपने पितासे दीक्षा ली हो, जैसा डा. स्नातक संभव मानते है, तो भी दूसरी दीक्षा लेनेका कोई कारण नहीं जाना पड़ता । व्यासजी जैसे द्दढ़ निष्ठावान् व्यक्तिके सम्बन्ध में, जो अपनी वाणियोंसे अपने परम भक्त पिताकी गुरु-रूपमें वन्दना करते और उनके प्रति आभार प्रकट करते नहीं अधाते, ऐसी कल्पना करना असंगत तो है ही, व्यासजी के व्यक्तित्व को लघु करना भी है। स्वयं व्यासजीने एक गुरुके बाद दूसरा करने की तीखे शब्दों में निन्दा की है। उन्होंने कहा है कि जो ऐसा करता है, वह व्यवहार से भी च्युत होता है, परमार्थ से भी, वह उस गणिकाके पुत्रके समान है जो पिताको पिंड देता है, पर पिताका नाम नहीं जानता।

सिगेर बिगरे अगनित गुरु करि, सबकौ जूठौ खायौ।
इत व्यौहार न उत परमारथ, बीचहिं जनम गमायौ।।
खौं खोदी ऊसर बैबे कों, चोड़ भैंस लै साँढ़ मुल्यायौ।
गनिका को सुत पितहिं पिंडदै, काकौ नाम लिवायौ।।

(भक्तकवि, सिद्धान्त, १३९)

डा. स्नातक और राधावल्लभीय कुछ विद्वानों का जो श्रीहितहरिवंश को व्यासजी का दीक्षा-गुरू सिद्ध करनेका आग्रह है, उसका एक विशेष कारण है। व्यासजीकी कुछ वाणियाँ ही ऐसी हैं, जिन्हें देख उनका यह आग्रह स्वाभाविक जान पड़ता है, जैसे-

(१) व्यास भक्ति को फल लह्यौ श्रीवृन्दावन धूरि।
हित हरिवंश प्रतापते पाई जीवन मूरि।।

(भक्त-कवि व्यास, साखी, १०५)

(२) उपदेस्यौरसिकनि प्रथम, तब पाये हरिवंस ।।

१. राध वल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ३६७
२. भक्त कवि व्यास, पृ०. ६५

जब हरिवंस कृपा करि, मिटे 'व्यास' के संस।।

(वही, १००)

(३) श्रीहरिवंस-कृपा बिना, निमिष नहीं कहुँ ठौर।
'व्यासदास' की स्वामिनी, प्रगटी सब सिरमौर।।

(वही, १०३)

(४) राधावल्लभ 'व्यास' कौ, इष्ट, मित्र, गुरू, देव।
श्रीहरिवंस प्रगट कियौ, कुंज-महल रस-भेव।।

(वही, ९९)

(५) मोह मया केफंद बहु 'व्यास' हि लीनों घेरि।
श्रीहरिवंस कृपा करो, लीनों मोकों टेरि।।

(वही, १०१)

(6) व्यासहि 'गुरु हरिवंस' बताई, अपनी जीवन मूर।

(राधावल्लभीय व्यासवाणी, पृ०ज)

पाठान्तर -

व्यासहि गुरु हरिवंश बताई, अपनी जीवन मूरि।।

इन वाणियोंके रहते कौन कह सकता है कि श्रीहितहरिवंश व्यासजी के गुरु नहीं थे? हमें हितहरिवंशजीको उनका दीक्षा-गुरु माननेमें भी कोई आपत्ति न होती, यदि उनका अपना ही साक्ष्य इसके विपरीत न होता। 'नवरत्न' में उनकी अपनी ही दी हुई गुरु-परम्परा के अनुसार हमें उनका दीक्षा-गुरु श्रीमाधवदासको ही मानना होगा। पर शिक्षा-गुरुके रूपमें श्रीहितहरिवंश और श्रीसमोखन शुक्ल दोनोंको स्थान देना होगा।

जहाँ तक हितहरिवंशजीका सम्बन्ध है उन्हें व्यासजीका शिक्षा-गुरु कहना भी व्यासजीके शिष्यत्वके संबंध में उन्हें कुछ कम महत्व देने जैसा लगता है। वासुदेव गोस्वामी ने उन्हें व्यासजीका 'सद्गुरु' कहा है।[१] यही यथार्थ जान पड़ता है। कभी-कभी दीक्षा-गुरुसे शिष्यका सम्बन्ध एक औपचारिक सम्बन्ध मात्र हुआ करता है। उसका वास्तविक गुरु वह सद्गुरु होता है, जो सत्यकी अनुभूतिमें उसका प्रेरक और सहायक होता है। व्यासजीके दीक्षा-गुरु श्रीमाधवदास श्रीहितहरिवंशकी तरह ही एक सिद्ध महापुरुष थे। पर उनका संग उन्हें बहुत कम मिला। श्रीहितहरिवंशका संग उन्हें अधिक मिला और उन्हींकी कृपा की दृष्टि उनके ऊपर अधिक हुई। व्यासजीके

१. वृन्दावन-कथा, पृ. १३९

२. भक्तमाल (बंगला) पृ. ७२१

३. राध वल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ. ३६३

अपने शब्दोंमें उन्होंने ही उन्हें 'मोह-माया' के फंद से छुड़ाया और अपने निकट टेरि' बुलाया, उन्होंने ही उनके सब 'संस' मिटाये और वही उन्हें अपनी 'जीवन-मुरि' तक ले आये, उन्हींकी कृपाके बिना उन्हें 'निमिष नहीं, कहुं ठौर' उन्हीं की कृपासे उनके समक्ष " प्रगटो उनकी स्वामिनी सब सिरमौर।"

व्यासजी और साम्प्रदायिकता

व्यासजी पर हितहरिवंशजीका प्रभाव सिद्ध करने के लिए और उन्हें राधावल्लभीय ठहराने के लिए डा. स्नातक ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि उनकी उपासना पूर्णतय: राधावल्लभीय थी, जो माध्व सम्प्रदायकी उपासना से मेल नहीं खाती और उसके सभी अंश उनहें हितहरिवंशजी से प्राप्त हुए थे अन्य किसी से नहीं। पर जिन तर्कोंकी सहायतासे उन्होंने इस मतको खड़ा करनेकी चेष्टा की है, वे इसके बोझ सम्हालनेमें सक्ष्म नहीं जान पड़ते।

डा. स्नातकने व्यासजी द्वारा इष्टकी 'राधावल्लभ' संज्ञाके प्रयोगपर अधिक बल दिया है। पर व्यासजीने 'राधारमण' संज्ञाका भी कई बार प्रयोग कियाहै। उससे भी कहीं अधिक श्रीहितहरिवंशजी ने 'राधारवण' शब्द का प्रयोग किया है। राधावल्लभ शब्दके प्रयोगसे यदि व्यासजी राधावल्लभ सिद्ध होते हैं, तो 'राधारमण' शब्दके प्रयोग से उनकी अनन्यता में दाग पड़ता है, जिसे कोई स्वीकार नहीं करता।

व्यासजीकी निकुंज-विहार की भावना डा. स्नातकके अनुसार उन्हें श्रीहितहरिवंशजी की ही देन है, पर श्रीस्वामी हरिदास, श्रीरूप और श्रीसनातन, जिनका व्यासजीको संग मिला, क्या निकुंज-विहार के उपासक नहीं थे? हरिदासजीको व्यासजीने नित्य बिहारमें हरिबंसजीके समकक्ष ही रखा है, जैसा कि उनकी इन वाणियों से स्पष्ट है -

हरिबंसी, हरिदासी जहाँ । मोहि करुना करि राखौ तहाँ ।
नित्य-बिहार अधार है।
(भक्तकवि व्यास, रास पंचाध्यायी, ३०)

श्रीहरिवंस से रसिक, हरिदास से अनन्यनि की, को बपुरा
अब करि सकै सारी ।
(भक्तकवि व्यास, सिद्धान्त, १३)

सखी-सहेली कब मिलि हैं, वे हरिबंसी हरिदासी।।
(वही, २५६)

---

१. भक्त कवि व्यास जी, पृ. ६९

और इस पदमें तो व्यासजीने स्वामी हरिदासको नित्यविहारके उपासक सभी रसिकों से ऊपर उठा दिया है -

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास ।
श्रीकुंजबिहारी सेये बिनु, जिन छिन न करी काहूँ की आ ।।
सेवा सावधान अति जान, सुधर गावत दिन रास ।।
ऐसो रसिक भयौ ना ह्वै है,भुवमण्डल आकास ।।

(भक्तकवि, सिद्धान्त, १२)

इसी प्रकार रूप-सनातकको उन्होंने 'साधु-सिरोमनि' प्रेम-सुधाके कूप' भक्त-सभाके भूप' और अपने प्राण तक कहा है। उनके निधन पर अपने को अनाथ' और रसके अभावमें सूखे पत्ते चबाते रहने की बात कही है-

तिन बिनु 'व्यास' अनाथ भये, अब सेवत सूखे पातन ।।

(वही, २७)

साथ ही उनके अहर्निशि 'कुंजकेलि' में रमे रहने की बात कही है-

सब तजि कुंज-केलि भज अहनिसि, अति अनुराग सदा तन।।

(वही)

तो क्या वे इन महानुभावोंके प्रभावसे बिल्कुल अछूते रहे होगे?

यह ठीक है कि व्यासजीकी उपासना का मांध्व सम्प्रदायकी उपासनासे मेल नहीं खाती। पर सभी जानते है कि माध्वेन्द्रपुरीके समय से माध्व-सम्प्रदायकी उस शाखामें, जिसमें व्यासजीके गुरु और श्री चैतन्यमहाप्रभु थे, एक नया मोड़ आया, जिसका पर्यवसान सम्प्रयोगात्मक-केलियुक्त निकुंज-उपासना में हुआ। चैतन्य-चरितामृत में इसका स्पष्ट उल्लेख है -

रात्रि-दिन कुञ्जो क्रीड़ा करे राधा-संगे ।
कैशोर-वयस सफल कैल क्रीड़ा-रंगे ।।

(चै.च. २/८/१८८)

इसलिए इस तर्कका कोई मूल्य नहीं कि माध्य-सम्प्रदायसे व्यासजीको उपासना का मेल नहीं है। माध्व-गौड़ीय सम्प्रदायकी उपासना और सिद्धान्त दोनों माध्व-सम्प्रदायसे भिन्न है।[1]

व्यास-वाणों में व्रज-लीला, परकीयारस और मानादि के अनेक पद हैं, जो उनपर रूप-सनातन के माध्व-गौड़ीय सम्प्रदायका प्रभाव सिद्ध करते है। इन्हींका कारण बतानेके लिए डा.स्नातकको व्यासजी के दो दीक्षा-गुरुओंकी कष्ट-कल्पना करनी पड़ती है। इनके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है-

जो भावै सो लोगनि कहन दै ।
अवनि पिछौड़ौ पाँव न दीजै, न्याय मेटि प्रीति निबहन दै ।।
हौं जोबन मदमाती सखी री, छतियाँ पर मोहन रहन दै ।
नव-निकुंज पिय अंग सङ्ग मिलि, सुरति-पुंज रससिन्धु वहन दै ।
या सुख कारन 'व्यास' आसकैं, लोक-वेद उपहास सहन दै ।।

(भक्तकवि, सिद्धान्त, ७०३)

भूली, भरन गई ही पानी ।
गैल बतावहि छैल छबीलौ, तू न परति पहिचानी ।।
मेरी सासु त्रास करिई घर, मेरौ पति अभिमानी ।
कुल की नारहिं गारि चढ़ै, जो बन में रैन बिहानी ।।

(वही, ७१६)

ललिता, राधाहिं नैकु मनाई दै।
हौ-बलि जाउ नाम तेरे की, परदुःख में सुखहिं जनाइ दै।।

(वही, ७३९)

बतरस कति नौरावति मान दुरावति मेरौ ।
सुमुखी तुहीं दुख पावत रूसै, प्रान-खन विलपत री तेरौ।।
तेरौई चरन सरन सुन्दर कौ, विरह-सिंधु तरिबे कहं बेरौ।
कामहि स्यामहिं कठिन परी सखी, तोही तें अब होत निबेरौ।
हा राधे! हां प्रान-वल्लभा! रटतु कुँवर कुंजनि करि फेरौ।
'व्यास' स्वामिनी रहसि विहँसि मिली, रसिक कियौ बिनु दामनि चेरौ।।

(वही, ७४२)

व्यासजी एक स्वतंत्र प्रकृतिके महात्मा थे। एक सम्प्रदायमें दीक्षित होते हुए भी वे किसी सम्प्रदायसे नहीं बंधे। उन्होंने सभी भक्तोंका संग किया। जिससे जो मिला उसे ग्रहण किया। भक्तोंमेंही अपना माता-पिता, देवी-देवता, गुरु, परमेश्वर सब कुछ माना -

मेरे भक्त है देई-देऊ ।
भक्ति जानौ, भक्तनि मानौ, निजजन मोहिं बतेऊ।।
माता, पिता, भैय्या मेरे भक्त-दमाद, सजन, बहनेऊ।
सुख-संपति परमेश्वर मेरै, हरिजन जात जनेऊ।।

(वही, २२)

एक पदमें उन्होंने श्रीहरिवंश, श्रीरूप, श्रीसनातन और श्रीहरिदाससे लेकर धना, पीपा, कबीर और रैदास तकको अपना कुटुम्बी बताया है।[1]

उनका कोई साम्प्रदायिक आग्रह कभी नही रहा, यह इस बातसे भी सिद्ध

१. भक्तकवि व्यासजी, पृ. ६९

है कि उन्होंने अपने पुत्र किशोरदासको स्वामी हरिदाससे दीक्षित करवाया [२] और उनके शिष्य मधुकर शाहने अपने एक पुत्रको राधावल्लभ सम्प्रदायकी और एक को माध्व-गौड़ीय सम्प्रदायकी दीक्षा दिलवायी।[३]

पर यह सब होते हुए भी इसमें संदेह नहीं कि व्यासजीके सर्वस्व श्रीहितहरिवंशजी ही थे। वे अपने पदोंमें श्री हरिदास, श्रीरूप, श्रीसनातन आदि सबको भूल जाते है, पर श्रीहितहरिवंशजी को नहीं भूल पाते। उनका मन सदा उने चरणकमलोंका ही मधुप बनकर रहना चाहता है।

इष्ट–सेवा

वृन्दावनमें व्यासघेरे में व्यासजीने अपने इष्टदेव श्रीजुगलकिशोरजी का लाल पत्थरका एक सुन्दर मन्दिर बनवाया, जिसका भग्नावशेष आज भी विद्यमान है। वे जुगलकिशोरकी सेवा–पूजामें हर समय लीन रहते। उन्हें तरह–तरहसे लाड़ लड़ाते। जुगलकिशोर भी उनके साथ भाँति–भाँतिकी लीला करते।

एकबार व्यासजी जुगलकिशोरको जरकसीकी पगड़ी पहना रहे थे। पगड़ी बार–बार उनके मस्तक से फिसल जाती थी। अंतमें उन्होंने कहा– "बंधवा लीजिये, नहीं तो अपने–आप बांध लीजिये। फिर भी उन्होंने पगड़ी नहीं बंधवाई, तो वे झुंझला गये। पगड़ी छोड़कर मन्दिरके बाहर चले गये। थोड़ी देर बाद लौटे तो देखा कि पगड़ी बड़े सुन्दर ढंगसे बंधी हुई है। यह देख वे बोले, "वाह! कैसी सुंदर बांधी है! फिर भला मेरी बांधी क्यों पसंद आती।" भक्तमाल की भक्तिरसबोधिनी टीका, कवित्त संख्या ३५९ में इस लीलाका उल्लेख है।

एकबार व्यासजी ठाकुर को सोनेकी बंसी धारण करा रहे थे। बंसी कुछ मोटी थी। धारण कराते समय ठाकुरकी उंगली छिल गयी। दो–एक रक्त–बिंदुभी झलक आये। यह देख व्यासजीने बंसी अलग पटक दी। कपड़ा गीलाकर उंगली पर बांध दिया। दिन भर दु:ख के मारे कुछ न खाया–पिया। संध्या समय आरती के लिए मंदिरका दरवाजा खोला, तो यह देखकर उनके आनंदकी सीमा न रही कि बंसी ठाकुरने स्वयं धारण कर ली है।

साधु–सेवा

हम कह चुके है कि व्यासजी भक्तोंको भी अपना इष्ट, देई–देऊ, और 'परमेश्वर' मानते थे।[१] वे जितना जुगलकिशोरकी सेवामें तल्लीन रहते उतना ही भक्तकों की सेवामें। प्रियासदासजीने उनकी संत–सेवासे सम्बन्धित कई आख्यानों का वर्णन किया है। एक

---

१. भक्तकवि व्यास, सिद्धान्त, २९

कवित्तमें उन्होंने कहा है कि अपनी कन्या के विवाह में उन्होंने बारातियोंके लिए बनाये गये पकवानको साधु-मंडलीको बुलाकर खिला दिया और जो बचा उसे पोटली बांध-बाँध उनके कुंजोमें भेज दिया -

सुता कौ विवाह भयौ, बड़ौ उत्साह किये,
नाना पकवान सब नीके कै बनाई हैं।
भक्तनि की सुधि करी, खरी अखरी मति,
भावना करत भोग सुखद लगाइ हैं।।
आय गये साधु सो बलाय कही पावो जाय,
पोटिन बँधाई चाउ कुंजनि पठाइ है।

(भक्तिरस बोधिनी, ३६१)

एक और कवित्तमें उन्होंने वर्णन किया है कि एक बार वे साधुओंकी, पंक्ति में बैठे प्रसाद पा रहे थे। उनकी पत्नी परोस रही थीं। दूध परोसते समय संयोगसे ऊपरकी मलाई व्यासजीके पात्र में गिर गयी। व्यासजीने समझा कि उन्होंने जानबूझकर दूसरे साधुओसे बचाकर मलाई उन्हें दी है। और तत्काल साधुसेवा से उन्हें अलग कर दिया। साधु-सेवा छूट जानेका उन्हें बहुत दुःख हुआ। तीन दिनतक उन्होंने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया।

दूसरे साधुओंके बहुत समझानेपर व्यासजीने कहा कि यदि वह अपने सारे आभूषण बेचकर साधु सेवा करे तो मैं समझूंगा कि उसका कोई दोष नहीं था और वह सचमुच साधु सेवा के योग्य है। उनकी पत्नीने ऐसा ही किया। तब उन्होंनें उसे साधु-सेवाका अधिकार दिया।[१]

एक बार एक महंत व्यासजी की साधु-निष्ठाकी परीक्षा करनेके उद्देश्य से उनके पास पहुंचे और बोले-"बहुत भूखा हूँ! कुछ खानके दो।"

व्यासजी अभी ठाकुर का भोग नहीं अर्पण कर सके थे।

---

१. भक्तकवि, व्यास, सिद्धान्त, १३८

२. वही, पृ. १३९-१४०

३. वासुदेव गोस्वामी ने भक्तकवि व्यासजी (पृ.८७) में लिखा है कि जुगल किशोरजीके श्रीविग्रहका आविर्भाव माघ शुक्ला ११ संवत् १६२० में हुआ और आजकल यह मूर्ति विध्यप्रदेश में है। 'गुरु-शिष्य वंशावली' नामकी लगभग संवत् १९२६ की एक हस्तलिखित पुस्तकके अनुसार, जो राजकीय पुस्तकालय दतियामें है. इसे व्यासजीको हुए एक स्वप्नके पश्चात् सेवाकुंजके समीप १४ हाथ गहरे भूमि के नीचे पाया गया था (पृ. ११६)

इसलिए उन्होंने कहा - "थोड़ा रूक जाइये। भोग लगाकर आपको देता हूँ।"

महंतजी कब मानने वाले थे? वे आग-बबूला हो गये और लगे गालियाँ बरसाने। व्यासजी भी उनकी गालियोंसे कब क्रुध होने वाले थे? वे संतोंकी गालियोंको अपना श्रृंगार जो मानते थे-

'व्यास' बड़ाई और की, मेरे मन धिक्कार।
सन्तन की गारी भली, यह मेरौ श्रृङ्गार।।

उन्होने झट ठाकुरजी को भोग अर्पण किया और एक पत्तल परोस कर महंतजी के सामने रख दी। महंतजी दो ही चार ग्रास खाकर पेट में दर्दका नाटक करते हुए उठ दिये। व्यासजीने उनकी जूठी पत्तल को मस्तक से लगाया और उसका एक-एक कण खा गये।

व्यासजी के साधु-संग के लोभकी एक विनोद भरी लीलाका महाराज रघुराजसिंहने अपनी 'रामरसिकावाली' में किया है। एक भक्त-मंडली व्रज से बाहर जाने लगी। व्यासजीका व्रजमें रहजानेका आग्रह उन्होंने अस्वीकार कर दिया। तब व्यासजीको उन्हें व्रजमें रखनेके लिए एक अनोखी युक्ति का सहारा लेना पड़ा। साधु अपने ठाकुरको एक संपुट में रखा करते थे। व्यासजीने चुपके से ठाकुर निकाल कर उनकी जगह एक पक्षी संपुट में रख दिया। फिर साधुओं से कहा-"यदि आपं मेरी अनुमति के बिना व्रजसे बाहर जायेगे तो ठाकुरं उड़कर यही चले आयेगें।" साधुओं ने उनकी सुनी-अनसुनी कर दी। कुछ दूर जाकर साधुओंने स्नान किया और ठाकुर की पूजा करनेके लिए उन्हें संपुट से बाहर निकालना चाहा, तो संपुट खोलते ही पक्षी उड़ गया। साधुओंको व्यासजी की बात याद आयी। उन्होंने समझा कि ठाकुर पक्षी का रूप धारण कर व्यासजीके पास उड़ गये। उसी समय वे वृन्दावन लौट गये। उनके लौटने पर व्यासजी बहुत प्रसन्न हुए और उनके ठाकुर उन्हें देकर संतों की प्रेमसे सेवा करने लगे।[1]

नृत्य और संगीत

व्यासजी एक अच्छे गायक थे और भजन-साधन में नृत्य और संगीत को प्रमुख स्थान देते थे। नृत्य-गीतके माध्यम से वे अपने इष्टको रिझाया करते थे-

मेरौ मन मानत नाँचै-गाये।
एक प्रेम भक्ति को फल है, मोहन लाल रिझायै ।।

(भक्त कवि व्यास, २२५)

---

१. नाभाजीने व्यासजी पर अपने छप्पयमें कहा है-"उत्कर्ष तिलक अरु दाम कौ भक्त इष्ट अति व्यास के"।

उनके अनुसार ध्यान-धारणाकी अपेक्षा नृत्य और संगीतके माध्यम से भगवान् को पालेना अधिक सहज है-

नैन न मूँदे ध्यान कों, किये न अंगन न्यास।
नाँच-गाय रासहिं मिले, बसि वृन्दावन 'व्यास'।।

१. इक दिन साधु बहुत घर आये । सादर तिनको व्यास टिकाये।।
जान लगे तब बोले व्यासा । व्रत तजि करहु अनत कत बासा।
साधु कहे रहिहैं हम नाहीं । हमरे राम अनत अब जाहीं।।
रमे राम व्रज महँ कह व्यासा । तदपि साधु नहिं टिके अबासा।।
तब तिनको ठाकुर ले लीन्हों। सम्पुट महिं विहंग धरि दीन्हों।।
बहुरि व्यास कह साधुन काहीं। उड़ि ऐहैं ठाकुर ब्रज मांही।।
साधु जाय कछुं दूर नहायौ । खोलत सम्पुट खग उड़ि आयौ।
मुरिकें साध मानि विस्वासा । अचल कियौ तुलसी बनवासा।।
-राम रसिकावली, पृ- ७७१

प्रियादासजीने भी भक्तिरस बोधिनी, कवित्त ३७० में इन शब्दोंमेंइस घटना का संकेत किया है-

"सन्त संपुट में चिरिया दै हित सों बसाए है ।"

गाना और नाचना अपने-आप में व्यासजीको अभीष्ट नहीं है। गाना-नाचना वही सार्थक है, जो प्रभुके लिए किया जाय, जिसमें चित बराबर उनके चरणोंमें लगा रहे -

गावत मन दीजै गोपालहिं।
नाँचत हरि पर चितु दीजै, तौ प्रीति बढ़ै प्रतिपालहिं।।
(वही, २५१)

ऐसे नाचने-गानेसे प्रभु सुखी होते है -

नाँचत-गावत हरि सुख पावत ।
नाँचत गन गंधर्व देवता, 'व्यासहि' कान्ह जगावत ।।
(वही, २४३)

संगीत शास्त्र पर व्यासजीका 'रागमाला' नामका एक ग्रन्थ है, उससे भी उनका संगीत से प्रेम सिद्ध है।

अन्तर्धान

संवत् १६६३ में, जब व्यासजीकी आयु १०२ वर्ष की थी, उनका अंतर्धान हुआ। उस समय जुगलकिशोरके यहाँसे निकट चले आनेका 'समाचार' आया। तभी उन्होंने सबसे बिदा माँगी और चले गये वहाँ,

१. भक्तिरस बोधिनी टीका, कवित्त संख्या ३६०
२. भक्तिरस बोधिनी, ३६३

जहाँ सब भक्त जाते हैं, पर जहाँसे लौट कर कोई नहीं आता -

जहाँ भक्त सब जात, वहाँ ते अजहूँ कोऊ न आयौ।
व्यासहिं बिदा करौ क़रुना करि, समाचार ले आयौ।।

(भक्तकवि व्यास, सिद्धान्त,१५९)

जाने के पूर्व व्यासजीने अपनी संपत्तिका विभाजन अपने तीनों पुत्रों में जिस अनोखे ढंगसे किया, उसका विवरण प्रियादासजीने भक्तिरस-बोधिनी टाकामें, कवित्त संख्या ३६४ में दिया है। उसके अनुसार उन्होंने अपनी संपत्ति के तीन भाग किये -

(१) जुगल किशोरजीकी सेवा,
(२) धन और मकान
(३) छाप तिलक और माला

दो पुत्रोंके हिस्से में जुगलकिशोर की सेवा, धन और मकान आया, तीसरे श्रीकिशोरदासके हिस्से में माला और तिलक। इसलिए उन्हें व्यासजीने स्वामी श्रीहरिदासजीका शिष्य कराया। वे स्वामी श्रीहरिदासजीके प्रसिद्ध बारह शिष्योंमें से एक हुए।

ओरछा नरेश वीरसिंह देवने वृन्दावनमें किशोरवनमें व्यासजीकी समाधिका निर्माण करवाया।

व्यासजीके ग्रन्थ

व्यास-वाणी- व्यासजीका मुख्य ग्रन्थ 'व्यास-वांणी' है। यह उनके ७५७ पद, १४८ दोहों और ३० छंदों का संग्रह है। इसमें कुछ स्तुतियाँ और सिद्धांन्तके पद है। पर बाहुल्य राधा-कृष्णसे संबंधित श्रृगांर-रस के पदो का है, जिनमें निकुंज-लीला और व्रज लीला का वर्णन है।

व्यासजीकी भाषा सरस और लचीली है। श्रृगांर रस के सुन्दर और सजग चित्र उपस्थित करनेकी उसमें पूरी क्षमता है। रचनाशैली और भाव-योजना में उनके पद जयदेव कवि की मधुर रचनाओं की याद दिलाते है।

दो-एक पद यहाँ उद्धृत है-

बन महं कुंजनि-कुंजनि केलि।
जमुना पुलिन कमल मण्डल मंह, रहे रास रस झेलि।।
बीथिन बर विहार गहवर गिरि, लीला ललित सुबेलि।
खोरि खरिक प्रति रचना सखी री, जानि बहु गल मेलि।।
रस सरिता झिरना सौरभ-जल, अवगाहत पग पेलि।
'व्यास स्वामिनी विरमित छिनु-छिनु, निसदिन पिय संग खेलि।

१. भक्तकवि, व्यास, पृ. १०४

(भक्त-कवि व्यास, ६३१)

आज कछु कुंजनि में बरषा सी।
बादल दल में देख सखी री, चमकति है चपलासी।।
नान्ही-नान्ही बूंदनि कछु धरवा से, पवन बहे सुखरासी।
मंद-मंद गरयनि सी सुनियतु, नांचति मोर-सभा सी।।
इन्द्रघनुष बग-पंगति डोलति, बोलति कोक-कला सी।
इन्द्रबधू छबि छाइ रही, मनु गिरि पर अरून घटा सी।।
उमंगि महीरुह सी महि फूली, भूली मृग-माला सी।
रटत 'व्यास' चातक ज्यों रसना, रस पीवत हू प्यासी।।

(व्यास कवि ६८६)

व्यासजीकी साखीके दोहे साधकोंके लिए बहुमूल्य उपदेशोंसे परिपूर्ण हैं। उनके कुछ उपदेश यह है -

'व्यास न साधन सकल सम, हरि सेवा सम तूल।
पत्रनि-पत्रनि जल भिदै, सीचत तरूवर मूल।।

(भक्तकवि व्यास,साखी, ८५)

'व्यास विभौके मीत सब, अन्तकाल कोउ नाँहि।
ता में तुम हरि कों भजौ, जम न गहैंगे बाँहि।।

(वही ७०)

'व्यास' न कथनी काम की, करनी है एक सार।
भक्ति बिनापण्डित वृथा, ज्यों खर चन्दन भार।।

(वही ५८)

'व्यास' कनक अरु कामिनी, ये लाँबी तरवारि।
निकसे हे हरि भजन कों, बीचहिं लीने मारि।।

(वही १२३)

'व्यास' नाम सम नाम है, नाम समान न कोय।
नामी ते प्रगट्यो विदित, तद्पि गरुवौ होय।।

(वही ६८)

राग-माला-राग-माल संगीत शास्त्र पर दोहा-छंदोंमें एक शास्त्रीय ग्रंथ है। इसमें ६०४ दोहे हैं। इससे जान पड़ता है कि व्यासजी संगीत-शास्त्र के धुरंधर विद्वान थे और अपने समयके एक अच्छे गायक। ध्रुपद शौलीसे उन्हें विशेष प्रेम था।

नवरत्न- यह ग्रन्थ संस्कृत में लिखा है। इसका दूसरा नाम स्वधर्म पद्धति है। इसमें व्यासजी ने अपनी गुरु परप्परा दी है और आचार्य मव्वद्वारा स्वीकृत नौ प्रमेयोंका उल्लेख करते हुए उनमें अपना विश्वास प्रकट किया है।

अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदासजी

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास।
श्रीकुंजबिहारी सेये बिन जिन,
छिन न करी काहू की आस ।।
सेवा सावधान अति जानि,
सुधर गावत दिन रस रास ।।
ऐसौ रसिक भयौ नहिं हवै है,
भुव मण्डल आकास ।।

इस पदमें स्वामी हरिदासके सत्संगी रसिक-कुलभूषण श्रीहरिराम व्यासने उन्हें 'अनन्य नृपति' की छाप दी है और कहा है कि उनका जैसा रसिक न हुआ न होगा।

कहा जा सकता है कि व्यासजीके दृष्टिपथ पर तो जब जो आया वही उन्हें इतना ऊँचा दीखा कि उसकी तुलना में और कोई रहा ही नहीं। उन्होंने हरिदासजीके उपस्थिति कालमें ही रूप सनातन के निधनपर लिखा-

साधु-सिरोमनि रूप सनातन
सब तजि कुंज केलि भज अहनिसि अति अनुराग सदा तन।।
तिन बिनु व्यास अनाथ भये सब सेवत सूखे पातन ।।

जैसे रूप-सनातन के निधनसे रसका साम्राज्य ही उठ गया और केवल सूखे पत्ते चबाना ही बाकी रह गया।

ऐसे ही श्रीहितहरिवंशजीके निधन पर उन्होंने लिखा-

हुतौ सुख रसिकनि कौ आधार ।
विनु हरिबंसहि सरस रीति कौ कापै चलि है भार।।
बड़ो अभाग अनन्य सभा कौं उठिगो ठाठ सिंगार।।

पर उनके सत्सङ्गी श्रीहरिराम व्यासकी बात छोड़ियो। अन्य महापुरुषोंने भी उनकी प्रशंसा कम नहीं की है। व्यासजीने उन्हें 'अनन्य नृपति' की छाप दी है तो नाभाजीने 'रसिक' की छाप दी है -

आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की ।

श्री रामानन्द सम्प्रदायके अग्रदासजीने और भी आगे बढ़कर उन्हें रसिक रिझवार प्रेमावतारी कहनेमें संकोच नहीं किया है-

नमो नमो श्रीहरिदास वृन्दाविपिन वास, वर प्राण सर्वस बांकेबिहारी।
श्याम-श्यामा जुगल माधुर्य के, रसिक रिझवार प्रेमावतारी।।

इससे स्पष्ट है कि उनकी रसरीतिमें कोई विशेषता अवश्य थी,

जिससे ये सभी महापुरुष इतना प्रभावित थे। श्रीगोविन्द स्वामीने उनकी रस रीतिके सम्बन्धमें लिखा है कि बड़े-बड़े मुनियों, यहाँ तक कि वेदोंकी भी पहुंचके वह बाहर है-

जा पथ को पथ लेत महामुनि मूँदत नैन गहै नित नांको।
जा पथ के पछतात है वेद लहै नहिं भेद रहै जकि जाको।।
सो पथ श्रीहरिदास लह्यौ रस-रीति की प्रीति चलाय निशांको।
निसाननि बाजत गाजत 'गोविन्द' रसिक अनन्यनि को पथ बांको।।

खेदका विषय हैकि ऐसे रसिकाचार्यके जीवन वृत्त के संबंध में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। और तो और उनका उपस्थिति-काल, उनके माता-पिता के नाम, उनकी जाति, उनका सम्प्रदाय और उनका जन्म-स्थान तक विवादका विषय बने हुए है। इसके कई कारण हैं। एक तो उनके जीवन वृत्तके सम्बन्ध में उनके समकालीन किसी व्यक्ति के द्वारा कुछ नहीं लिखा गया। जो भी लिखा गया वह उनके ढाई सौ वर्ष के बाद उनकी विरक्त शिष्य परम्परा के श्रीकिशोरदास द्वारा 'निजमत सिद्धांत' में अप्रामाणिक ढंगसे लिखा गया। दूसरा कारण यह है कि उनके सम्प्रदायमें दो शाखाएं चली आ रही हैं। एक उनके विरक्त शिष्योंकी, दूसरी उनके गृहस्थ वंशजों की। दोनों में उपरोक्त सभी विषयों पर मतभेद है। दोनों अपनी-अपनी मान्यताओंकी पुष्टि में जो तर्क उपस्थित करते है। उनसे स्थिति बहुत उलझ गयी है। तीसरा कारण है 'हरिदास' नाम। इस नामके उस कालमें कई संत थे। नामकी समानताके कारण उनके जीवनकी कुछ बातें एक-दूसरेके जीवन में इतना घुलमिल गयी हैं कि कभी-कभी यह निश्चय करना मुश्किल हो जाता है कि कौनसी बात किससे सम्बन्धित है।

हरिदासी सम्प्रदायपर दो शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुए है - एक डा. गोपाल दत्त द्वारा 'स्वामी हरिदासजीका सम्प्रदाय ओर उसका वाणी-साहित्य के नाम से, दूसरा डा. शरण बिहारी गोस्वामी द्वारा "कृष्ण भक्ति काव्यमें सखी भाव" के नाम से। दोनों में स्वामी हरिदास की रसोपासना के सिद्धान्त पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। पर उनके जीवन-वृत्त से सम्बन्धित उपरोक्त विषयों पर दोनों ने परस्पर विरोधी दृष्टिकोण अपनाया है। डा. गोपाल दत्त स्वामीजीकी विरक्त 'शिष्य परम्पराका पक्ष लेते जाने पड़ते हैं और डा. शरण बिहारी स्वामीजीके उपस्थिति-काल को छोड़ अन्य सभी विषयों पर स्वामीजीकी

---

1 सर्वेश्वर के भक्तमाल विशेषांक पृष्ठ ५७६ पर उद्धृत (उद्धरण जिस पथसे है उसका नाम नहीं दिया है)

वंशपम्पराका। डा. मीतलने दोनों पक्षों का तटस्थतासे अध्ययन कर इन विषयोंपर जो विचार-व्यक्त किये हैं, वह संतुलित है। हम मुख्यरूपसे उन्हीं का अनुसरण कर स्वामीजीके जीवन चरित्रका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेगे।

जन्म संवत् - स्वामी हरिदासके जन्म-संवत् के बारे में जितने मतोंका डा. शरण बिहारीने उल्लेख किया है, उनमें १४३ वर्ष तक का अन्तर है।[१]

'भक्ति-सिन्धु' ग्रन्थके लेखकने, जिसका उल्लेख ग्राउजने किया है, लिखा है कि स्वामी हरिदासका जन्म सं. १४४१ में हुआ और वे सं. १५३७ तक जीवित रहे। ग्राउजने लिखा है कि भक्ति-सिन्धु की रचना हरिदासी सम्प्रदायकी दो शाखाओं में उत्पन्न उस मतभेदों के कारण हुई जो मथुरा मेमायर्स के लिखे जाने के लगभग ५०. वर्ष पूर्व हुआ था। इस झगड़ेमें भक्त सिन्धुके लेखक ने जो पक्ष ले रखा था उसीकी पुष्टिके उद्देश्यसे उन्होंने इसमें कुछ नये तथ्य और सन्-संवत् उपस्थित किये थे। ग्राउजने इस मतको यह कहकर बिल्कुल निराधार सिद्ध किया है कि 'भक्ति सिन्धु' में अकबर बादशाहके स्वामी हरिदाससे मिलने का उल्लेख है, और अकबर गद्दीपर सं. १६१२ में बैठा था, जब भक्ति-सिन्धु के अनुसार स्वा. हरिदासको अप्रकट हुए ७५ वर्ष हो गये थे।[१]

स्वामी हरिदास की विरक्त परम्परा के श्रीकिशोरदासने स्वामीजी का उपस्थिति काल अपने ग्रन्थ 'निजमत सिद्धान्त' में सं. १५३७ से सं. १६३२ तक माना है। इस मतकी स्थापना स्वामीजी के लगभग २५० वर्ष बाद हुई और इसका कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया गया। डा. शरण बिहारी गोस्वामीने स्वामीका उपस्थिति काल इससे मिलता-जुलता सं. १५३५-१६३५ स्थिर किया है। इसे उन्होंने कुछ बाह्य तथ्योंके आधार पर लगाया अपना अनुमान कहा है। साथ ही कहा है कि निभ्रान्त आधारपर किसी एक (संवत्) को ठीक मान लेनेका उनके पास कोई साधन नहीं है।[२]

ग्राउजने लिखा है कि "सभी तथ्यों पर विचार करने के पश्चात हम एक निर्विवाद सत्य के रूपमें यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि स्वामी हरिदास ईसाकी सोलहवीं शताब्दी के अंत और सत्रहवीं के प्रारम्भमें अकबर और जहाँगीर के शासनकाल में वर्तमान थे।"[३]

ग्राउजने यह भी लिखा है कि मुझे सम्वत् १८२५की एक हस्तलिखित पोथी प्राप्त हुई है, जिसमें स्वामी हरिदासकी परम्परा के महन्तोंकी उस समय

---

1 कृष्ण भक्तिकाव्यमें सखीभाव पृ. ४३६

तककी पुरी तालिका दी है।तालिका इस प्रकार है-'स्वामी हरिदास, बिठलं विपुल, बिहारिणिदास, नागरीदास, सरसदास, नवलदास, नरहरिदास, रसिकदास और ललित किशोरी। यदि इनमें से प्रत्येक का महन्ताई का समय अवसतन २० वर्ष माना जाय, जो एक ऊँचा अवसत है, क्योंकि वयस्क व्यक्ति को ही महन्त निर्णीत किया जाता है, तो स्वामी हरिदास के देहावसान का सम्वत् १६६५ से पीछे नहीं जाता।"[१]

पर स्वामी हरिदास के ठाकुर बिहारीजीके गोस्वामियोंकी परम्परामें प्रचलित मत के अनुसार स्वामीजीका जन्म-संवत् १५६९ है। इसकी श्रीसुदर्शनसिंह चक्र ने अकबर के शासन काल में पूरा किये गये 'मिराते सिकंदरी' नामक ग्रन्थ के एक उल्लेखसे पुष्टि की है। यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इसलिये इसका आधार प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। पर कुछ अन्य विद्वानोंने ऐतिहासिक दृष्टिसे किये गये अपने अनुसन्धानके बलपर इसी संवत् को उचित ठहराया है। डा. मीतलने लिखा है कि " ऐतिहासिक घटनाओंकी संगतिसे स्वामीजी का जन्म और वृन्दावन आगमनने के सं.१५६९ और सं. १५९४ ठीक बैठते है।"[२]

वंश परम्परा और सम्प्रदाय – स्वामीजीकी विरक्त शिष्य-परम्पराके महात्मा श्रीगंगाधर को उनका पिता मानते हैं, जो सनाढय ब्राह्मण थे। इसका कोई प्राचीन प्रामणिक आधार उनके पास नहीं है। गोस्वामी परम्पराके लोग मथुरा के तन्नू चौबेके पुत्र चीते चौबेकी एक सनद के आधार पर आशुधीरजी को उनका पिता मानते हैं, जो सारस्वत ब्राह्मण थे। सनदमें स्वामीजीके छोटे -भाई श्रीजगन्नाथजीके नामका उल्लेख है। जगन्नाथजी बिहारीजीके पुजारी थे। इसलिये जगन्नाथजीके वंशज बिहारीके पुजारी गोस्वामी अपनेको स्वामीजी का वंशज मानते हैं।

स्वामीजीके विरक्त शिष्योंकी परम्परा के अनुसार आशुधीरजी स्वामी जीके गुरु थे। गोस्वामी परम्पराके अनुसार वे पिता और गुरु दोनों थे। इसलिए स्वामीजी के सम्प्रदायका सम्बन्ध दोनों परम्पराओंके अनुसार आशुधीरजीसे है। पर विरक्त शिष्य परम्परामें आशुधीरजीको निम्बार्की माना गया है और गोस्वामी परम्परामें उन्हें विष्णु स्वामी सम्प्रदायके अंतर्भुक्त माना गया है। कोई ठोस प्रमाण किसी मान्यताके पक्षमें नहीं

१. मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेयायर पृ. २२१

२. कृष्ण भक्ति काव्य सखी भाव, पृ० ४३६-४४०

३. On all grounds we may fairly conclude as an established fact that he flourished at the end of the 15the end the beginning of the 17th century A D., in the reigns of the Emperor Akbar and Jahangir.
-District Memboirs of Mathura,p .22

है। डा. मीतलका निष्कर्ष यह है कि " श्री आशुधीरजी निम्बार्कीय थे और स्वामी हरिदासजी को भी उनकी बाल्यावस्था में संभवत: इसी सम्प्रदायकी दीक्षा दी गयी थी। किन्तु जब वे विरक्त होकर वृन्दावन आ गये, तब सम्प्रदायवादके बन्धन से मुक्त हो गये थे।[१] डा. शरण बिहारीका कहना है कि "संभव है आशुधीर जी या स्वामीजी पहले विष्णुस्वामी सम्प्रदाय से सम्बन्धित हों परन्तु उनके द्वारा प्रवर्तित सखी-सम्प्रदाय अपने-आप में पूर्ण स्वतंत्र है।"[२]

जन्म स्थान – विरक्त शिष्य परम्पराके अनुसार स्वामीजी का जन्मस्थान वृन्दावनके निकट राजपुर ग्राम है। गोस्वामी परम्पराके अनुसार उनका जन्म स्थान अलीगढ़के निकट हरिदासपुर ग्राम है। पहली मान्यताकी पुष्टिकारक कोई अनुश्रुति राजपुरमें प्रचलित नहीं है। दूसरी मान्यता की पुष्टि इस अनुश्रुतिसे होती है कि हरिदासपुर ग्राम का नाम पहले कोल था पीछे उसका नाम स्वामीजीके नाम पर हरिदासपुर रखा गया।

भक्ति और वैराग्य – स्वामी हरिदासके जीवनमें भक्तिका अंकुर प्रारम्भ में ही फट निकला था। वे युवावस्थामें ही गृह त्यागकर वृन्दावन चले आये थे। उन्होंने विवाह किया या नहीं, इस सम्बन्ध में भी निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। उनकी विरक्त परम्पराके लोगों का मत हैकि वे बाल-ब्रह्मचारी थे। गोस्वामी परम्पराके लोगोंका मत है कि उन्होंने विवाह किया था। डा. शरण बिहारी गोस्वामी का कहना हैकि "उनके काव्यमें श्रृंगार शोभाका जैसा वर्णन है, यह बताता है कि उन्हें गृहस्थीका अनुभव अवश्य था।"[१] स्वामीजीने विवाह भले ही किया हो, पर इस आधार पर उनके विवाहकी कल्पना कर लेना ठीक नहीं लगता। उन्होंने प्रिया-प्रियतम् की श्रृगांर-शोभा का वर्णन अपने दिव्य अनुभवोंके आधार पर किया न कि किसी लौकिक आधार पर।तभी न नाभाजी ने उनके सम्बधमें कहा है-

"अवलोकत रहैं केलि, सखी सुख के अधिकारी।'

कहा जाता है कि उनके जीवनका सबल करुआ कौपीन और कंधे के सिवा और कुछ नहीं था। वे अपने ठाकुरको नाना प्रकार के व्यजंनोका भोग लगाते, पर स्वयं केवल चना खाकर रह जाते। भोग की सामग्री मोर-बन्दरों और मछली कछुओंको खिला देते। उनके वैराग्य की छाप उनकी परम्पराके करुआ-कौपीनधारी विरक्त महात्माओं पर

१.व्रजके धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास, पृ. ४४०

२.व्रजके धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास, पृ. ४४४

आज भी देखने में आती है।

संगीत साधना – स्वामी हरिदासकी प्रतिष्ठा जितनी रसोपासनाके क्षेत्र में है उतनी ही संगीत के क्षेत्र में भी। नाभाजीने उन्हें 'गान-कला-गंधर्व' कहा है। वे व्रजकी ध्रुपद-धमार शैलीके गायनमें अग्रगण्य माने जाते हैं। उन्होंने ध्रुपदमें श्रृंगार-रसके बहुत-से पदोंकी रचना की है। उनके संगीतकी धूम उनके समयमें भारत में चारों ओर मची हुई थी। किंवदंती है कि तानसेन और बैजूबावरा उनके शिष्य थे और अकबर बादशाह उनका संगीत सुनने वृन्दावन आया था। किस प्रकार तानसेन स्वामीजीका शिष्य बना और अकबरने उनसे भेंट की इसका वृतान्त डा. गोपाल दत्तने 'निजमत सिद्धांत के अनुसार इस प्रकार दिया है –

" तानसेनने एक बार अकबर की सभा में दीपक राग गाया, रागकी गर्मीसे उसका शरीर जल गया पीड़ासे व्याकुल तानसेन उपचार की खोजमें जहाँ-तहाँ भटकता रहा। ओरछा नगरमें एक स्त्रीने उसका रोग पहचान मलार राग गाकर उसके तापको शान्त किया। तानसेनने उससे वह राग सिखा देनेकी प्रार्थना की। स्त्रीने इस सम्बन्ध में असमर्थता प्रकटकी और उससे कहा कि राग सीखना हो तो वृन्दावन में स्वामी हरिदासजी के पास जाओं। तानसेने वृन्दावन जाकर स्वामीजीका दर्शन किया और और उनसे वह राग सिखानेकी प्रार्थनांकी। स्वामीजी की कृपा से उसे अनेक राग-रागिनियाँ सिद्ध हो गयी। तानसेन जब फिरसे अकबरके दरबारमें पहुंचा तो सम्राट् उसकी राग-सिद्धि देख चकित रह गये। उन्होंने स्वामीजीके दर्शन करने तथा उनका संगीत सुननेका आग्रह किया। तानसेन ने कहा कि स्वामीजी राजपुरुषोंसे नहीं मिलते और न उनके सामने गाते हैं। बहुत हठ करनेपर तानसेन सम्राट के साथ वृन्दावन की ओर चला। सम्राट ने तानसेनके सेवक का वेश धर उसका तंबूरा हाथ में ले लिया। स्वामीजीके समक्ष पहुंच तानसेनने मेघमलार राग गाया और जानबूझकर रागमें भूल कर दी। स्वामीजी ने उसी रागको शुद्ध करके गाया और इस प्रकार अकबरको स्वामीजीका संगीत सुनने का अवसर मिल गया। संगीत क्या था, राग मुर्त्तिमान हो गया था। स्वामीजी का मेंघगम्भीर स्वरसुन मेघ जल बरसने लगे। अकबर ने गद्‌गद्‌ हो स्वामीजीको प्रणाम किया। स्वामीजी तो जान ही गये थे कि यह सम्राट अकबर है। वे तानसेनसे बोले –'तू इसे क्यो

१.व्रजके धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास, पृ. ४३६

२.व्रजके धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास, पृ. ४२५

लाया? हम विरक्त है, राजा या राज-पुरुषोंके आनेसे हमारी साधनामें विघ्न पड़ता है। अकबरने अनेक प्रकारसे स्वामीजी का वन्दना की तथा कुछ सेवा करनेके हेतु आज्ञा देने की प्रार्थना की। बहुत हठ करने पर स्वामीजीने आदेश दिया – जाओ, यमुना-पुलिन पर घाटकी सीढ़ीका एक कोना टूट गया है, उसे बनबादो। अकबरने जाकर देखा तो सारा घाट रत्नोंसे मण्डित शिलाओंसे बना था। यह चमत्कार देख वह स्तब्ध हो गया और लौटकर स्वामीजीसे बोला – 'कई जन्म तक सम्राट बने रहनेके बाद भी मेरी सारी संपत्ति इतनी नहीं होगी कि इस सीढ़ीको बना सकूँ। मेरे योग्य कुछ सेवा बताइये। तब स्वामीजीने आज्ञा दी कि वृन्दावके बन्दरोंको सौ मन चना नित्यप्रति डलवाओ और आज्ञा प्रचारित कर दो कि वृन्दावनके पशु-पक्षियोंको कोई सता न सके। और अधिक सेवाकी इच्छा प्रकट करनेपर स्वामीजीने कहा- अब जाओ और जब तक मैं न बुलाऊँ तब तक न आना।"[१]

तानसेनके स्वामी हरिदासका शिष्य होनेकी बात सत्य हो सकती है, यद्यपि यह कम समझ में आता है कि संगीत को मात्र श्यामा-श्यामकी सेवाका साधन माननेवाले हरिदासजीने संगीतकी स्वतंत्र रूपसे या अपनी जीविका के साधन रूपसे अपनानेवाले तानसेनको संगीत सिखाना अंगीकार किया हो।[२]

अकबर द्वारा स्वामी हरिदाससे भेट करने और उनका संगीत सुनने की बात भी सत्य हो सकती है। पर स्वामीजीने अकबरको यमुना पुलिन पर भेज वृन्दावनके दिव्य रत्न जटित घाटोके दर्शन कराये यह बात भी समझमें नहीं आती। हम पहले कह आये हैं कि इसी प्रकारकी किंवदंती अकबर बादशाहकी सनातन गोस्वामी से भेंट के सम्बन्ध में है, जिसका ग्राउज ने उल्लेख किया है। पर श्रीस्वामी हरिदासहो या श्रीसनातन गोस्वामी, उन्होंने अकबर को वृन्दावनके दिव्य दर्शन का अधिकारी समझा और दिव्य वृन्दावनके दर्शन कर अकबर वैसा ही बना रहा, उसके व्यक्तित्व में आमूल परिवर्तन नहीं हुआ, यह बात पारमार्थिक दृष्टिसे ठीक नहीं लगती।

जैसा हमने ऊपर कहा है स्वामीजी संगीत को श्यामा-श्यामकी सेवा का साधन मानते थे। वे अपने ध्रुपदके पदोंको गा-गाकर श्यामा-श्यामको रिझाते थे। श्यामा-श्याम रीझकर उन्हें शाबासी देते थे और पुरस्कार में अपने वस्त्राभूषण प्रदान करते थे। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है नागरी देवजीके शिष्य श्रीकृष्णदास का यह पद-

अंग संग श्रीहरिदास बिहार करावहीं।

मननि लियें अनुसार सहज दिन भावहीं ।।
सुख सम्पति रहैं साजि समयोपाय सुगावहीं ।
तान तरंग मधुर सर राग सुनावहीं ।।
तान तरंग सुनाइ मधुर सुर -कुंवर कुंवरि सुख पावहीं ।
रीझि-रीझि साबासि कहि हंसिहार बसन पहिरावहीं ।।

स्वामी हरिदासकी उपासना संगीतमय थी, क्योंकि उनके उपास्य श्यामा-कुंज बिहारी स्वयं संगीत-संगी थे। निशिदिन नृत्य गानके नये-नये रंगमें रंगे रहना ही उसका स्वभाव था।

रसद बिहारी बंदे बल्लभा राधिका,
निस-दिन रंग रंगी ।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा -
कुंजबिहारी संगीत संगी ।।

-केलिमाल, ९४

बिहारीजी का प्राकट्य- स्वामी हरिदास वृन्दावनमें निधिवनमें रह कर भजन किया करते। वहीं उन्हें एक दिन बांके बिहारीके श्रीविग्रह प्राप्त हुए। यदि स्वामीजीका जन्म-संवत् १५६९ ठीक है और वे वृन्दावन २५ वर्ष की आयु में आये, जैसा साधारण रूपसे माना जाता है, तो बिहारीजी का प्राकट्य सं. १६०० के लगभग हुआ होगा। [1] डा. गोपालदत्तने बिहारीजीके प्राकट्यका विवरण निजमत सिद्धान्त और अन्य साम्पप्रदायिक ग्रन्थोंके आधार पर इस प्रकार दिया है -

"स्वामी हरिदासजी निधिवन में वृक्षोंके तले बैठे मानसी उपासनामें लीन रहते तथा कुंजबिहारी-विहारिणीकी केलिका मानस दर्शन करते। वे प्रतिदिन प्रात:काल स्नान कर निधिवनमें एक स्थानपर जाकर शिरसा प्रणाम करते। श्रीवीठल विपुल आदि शिष्योंको यह ज़ाननेकी उत्सुकता हुई कि स्वामीजी किस उपास्य को प्रणाम करते है। पूछनेपर स्वामीजीने बताया कि यहाँ एक विवर में श्रीकुंजविहारी तथा विहारणी एक ही श्याम-विग्रह का रूप धर का विराजते हैं तथा हम उन्हीं को प्रणाम करते हैं। श्रीवीठल-बिपुल के प्रार्थना करने पर स्वामीजीने उन्हें उस

---

१. स्वामी हरिदास का सम्प्रदाय और उनका वाणी-साहित्य, पृ. १४३-१४४

२. यह भी कहा जाता है कि 'तानसेन ने मुहम्मद गौस नामक ग्वालियर के प्रसिद्ध सूफी सन्तसे संगीत-विद्या सीखो। इन्हीं मुहम्मद गौसकी समाधिके पास तानसेन की समाधि है।

-वही, पृ. १४५

श्रीविग्रह को विवर से निकालनेकी आज्ञा दे दी। मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमीको विहारीजी प्रकट हुए। वृन्दावनके सभी रसिक उनके दर्शनों को आये और स्वामीजी से बोले कि मूर्तिकी प्राण प्रतिष्ठा कराकर इसे स्थापित कीजिये। स्वामीजीने अपने विग्रहकी नासिकाके सामने थोड़ी सी रुई रखदी जो विहारीजी की श्वाससे तुरन्त उड़ गयी। सभी उपस्थित गण इस चमत्कार को देख दंग रह गये। उनहोंने जान लिया कि स्वामीजीके उपास्य विग्रह तो साक्षात् प्राणवत हैं, इनका प्राण-प्रतिष्ठा की आवश्यकता नहीं।"

भक्त विज्ञानीकी कथा - प्रियादासजीने भक्तमालकी अपनी टीकाके कवित्त संख्या ३६७ में हरिदासजी और लाहौरके एक क्षत्रियसे सम्बन्धित एक चमत्कारपूर्ण घटनाका सूत्र रूपमें वर्णन किया है। क्षत्रिय का नाम था विज्ञानी। उसने हरिदासजी की प्रशंसा सुन रखी थी और वह उनका दर्शन करनेको उत्सुक था। वह उनके दर्शन करने वृन्दावन की ओर चल पड़ा। अपने साथ एक बहुत कीमती इत्रकी शीशी विहारीजीकी सेवाके लिये स्वामीजी को भेट करनेको ले चला। वह जब वृन्दावनमें स्वामीजीके निकट पहुंचा, वे मानसी ध्यानमें प्रिया-प्रियतमको होली खिला रहे थे। उसने उन्हें प्रणाम किया और इत्रकी शीशी उनके सामने रखदी। स्वामीजीने शीशी यमुना पुलिनकी बालुकामें उड़ेल दी। विज्ञानी यह देखकर बहुत दुखी हुआ। उसने सोचा कि स्वामीजी ने भेंट स्वीकार नहीं की। उसे दुःखी देख स्वामी जीने अपने किसी शिष्यसे कहा- इसे बिहारीजीके दर्शन करा लाओ। विज्ञानी जब मंदिर पहुंचा तब वह यह देखकर दंग रह गया कि उसी इत्र की महक सारे मंदिर में फैल रही थी और बिहारीजीका श्रीविग्रह सिरसे पैर तक इत्र से तराबोर हो रहा था। वापस आकर वह स्वामीजीके चरणों में गिर गया। इस घटना का रहस्य पूछा तो स्वामीजी ने कहा कि जब उसने इत्र की शीशी उनके सामने रखी वे प्रिया-प्रियतमको होली खिला रहे थे। होलीमें प्रियाजी का पक्ष लेते हुए उन्होंने इत्र की शीशी लालजी के सिरपर उड़ेल दी थी।

पारस-परित्याग करने की कथा - प्रियादासजीने भक्तमालकी अपनी भक्तिरस-बोधिनी टीकामें स्वामीजी द्वारा पारस पत्थरके परित्यागकी एक घटनाका भी विवरण दिया है। घटना इस प्रकार है ।

जसरोटो (पंजाब) के दयाराम नामके एक सारस्वत ब्राह्मण ने तपस्या

१.व्रजके धर्म-सम्प्रदाय, पृ. ४४८

२.स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, पृ.१३९-४०

से ऋक्षराजको प्रसन्न कर एक पारस पत्थर प्राप्त किया। ऋक्षराजने कहा 'बारह वर्ष तक हो यह पत्थर तुम्हारे पास रह सकेगा। दस वर्ष पारस-पत्थर द्वारा प्रदत्त संपत्ति का उपभोग करनेके पश्चात दयारामने सोचा कि दो वर्ष बाद तो यह मेरे पास रहेगा नहीं, इसलिये उसके पूर्व ही किसी को दान में इसे देकर पुण्य का भागी क्यों न बना जाय। यह वृन्दावनमें स्वामीजीके पास गया और पारस-मणि चरणोमें रखकर उनसे दीक्षाकी प्रार्थना की। स्वामीजीने कहा- "मणि को यमुना में फेंक आओ और यमुना-स्नान कर दीक्षा के लिये मेरे पास आओ। दयारामने ऐसा ही किया। दीक्षा के बाद उसका नाम दयालदास हुआ। दीक्षा के कुछ दिन बाद दयालदासजीके मन में पारस पत्थर का लोभ फिर जागा। स्वामीजीने यह जान लिया। एक दिन जब दयालदासजी यमुना-स्नानको जा रहे थे, उन्होंने कहा- एक अंजलि भर यमुना की रज लेते आना" ।

स्नानके पश्चात् जैसे ही दयालदासजीने यमुनाकी रज अंजलिमें भरकर निकाली तो अंजलि अनेक प्रकारके पारस-मणियोंसे भरी थी। उसी समय पारसके प्रति उनका लोभ जाता रहा । वे समझ गये कि सच्चे पारसमणि तो वृन्दावन के रसिक जन है। उनका संग और श्याम-श्यामका गुणगान करने में ही जीवनकी सफलता है।

रचनाएं - स्वामी हरिदासजी की रचनाओं में केलिमाल और सिद्धांत के पदके नाम से प्रसिद्ध कुछ पद है। केलिमाल में ११० पद है सिद्धान्त के पद में १८ । केलिमाल में राधा-कृष्ण के नित्य विहार की श्रृंगार संपूर्ण क्रीड़ाओं का सरस वर्णन है। सिद्धान्त के पद किसी दार्शनिक सिद्धान्त के निरूपणका प्रयास न होकर उपासना के सिद्धान्तों का निरूपण करते है।

काव्यकी दृष्टि से स्वामी हरिदासके पद कुछ लोगों को उबड़-खाबड़ से लगते है। पर वास्तविकता यह है कि वे काव्यकी दृष्टि से लिखे ही नहीं गये। वे ऐसे निकुंज महल की सरस माधुरी की सहज, सरल और अविकल अभिव्यक्ति है, जिसमें चलना ही नृत्य है, बोलना ही संगीत है और से रसाद्रता से उन्मेषित ऐसे हृदयक उद्‌गार हैं, जिसका कुछ कहना ही काव्य है। इसलिए उनमें रस काव्य पर शासन करता है, काव्य रस पर नहीं। वे काव्यके साधारण बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त है। वे काव्यगत संस्कारोंसे पीड़ित व्यक्तियों के आस्वादनकी वस्तु ही नहीं, रसिकों के आस्वादन की वस्तु है। रसकी दृष्टि से वे भक्त भ्रमरों की व केलि-कुंज है, जिसके महा-मधुर रस से परिपूर्ण ताल-तलैयो में

खिले पुष्पों का रस पी कर वे उन्मत्त रहते है।

गौरव-गरिमा की दृष्टि से केलिमल और सिद्धान्त के पद हरिदासी सम्प्रदाय के भक्तों के लिए वेद-वाणी के समान है। उन्हें प्रमाणित करने के लिए किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं, वे स्वयं ही अपना प्रमाण है। सम्प्रदायकी उपासना में उनका विशेष स्थान है, उनका नित्य-पाठ आवश्यक है।

रस-सिद्धान्त

श्री स्वामी हरिदासका रस-सिद्धान्त भी श्रीहितहरिवंश के रस-सिद्धान्त की तरह किसी दार्शनिक भित्तिपर आधारित नहीं है। उनके रस-सिद्धान्त के मूल तत्वों के सूत्र उनकी वाणियों में यत्र-तत्र मिलते है। उनके प्रशिष्य स्वामी बिहारिणि देवने और उनके पश्चात् हरिदासी सम्प्रदाय की टट्टी-स्थान वाली शाखा के प्रवर्तक स्वामी ललित किशोर देवने उनके आधार पर स्वामी हरिदासके रस-सिद्धान्त का विस्तार किया है।

श्रीहितहरिवंशकी तरह स्वामी हरिदासके रस-सिद्धान्त का भी मूलाधार है नित्य-विहार पर उनके नित्य विहार का स्वरूप हितहरिवंशजी के नित्य-विहार से भिन्न माना गया है। स्वामी हरिदासके नित्य विहारके विधायक तत्व वही है, जो श्रीहितहरिवंशके नित्य विहारके है-श्यामा, कुंजविहारी सखी और वृन्दावन और दोनों के अनुसार ये परात्पर प्रेम तत्व के ही चार प्रकाश है। पर हरिदास सम्प्रदायमें इनका स्वरूप कुछ भिन्न कहा गया है।

श्यामा कुंजविहारी-स्वामी के उपास्य श्यामा-कुंज विहारी नन्द और वृषभानुके पुत्र-पुत्री नहीं है। वे अजन्मा है उनकी जोड़ी अनादि अनंत है -

माई री सहज जोरी प्रकट भई रंग की गौर श्यामघन दामिनी जैसे।
प्रथम हू हुती अब हूँ आगे हूँ रहि है न टहि तैखे।

-केलिमाल

घन-दामिनीकी उपमा की ध्वनि है कि यह दोनों अलग होते हुए भी एक है। ललित किशोरी देवजीने इनके पारस्परिक सम्बन्ध को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह अलग होते हुए भी सूक्ष्मरूपसे उसी प्रकार एक है, जिस प्रकार पृथ्वी और गंध-

ज्यौं पृथ्वी में गंध है सूछम धरैं स्वरूप।
यौं गौर श्याम में मिल रह्यौ भिन्न न कहिये रूप।।

-सिद्धांत के दोहा

ललित किशोरजी ने नित्य-विहार के श्रीकृष्णके सम्बन्ध में लिखा

है कि वे सब ईशोंके ईश, सब अवतारों के अवतारी है

सकल ईश के ईश है अंश कला अवतार।
श्रा कुंजविहारी मुकुटमणि अवतारी अवतार।।

-सिद्धांतकी साखी

पर प्रश्न है कि क्या स्वामी हरिदासजी ने उन्हें इस रूपमें देखा है? हरिदासीके उपास्य श्यामाकुजं विहारी तो प्रेमकी दी पुतलियाँ मात्र है, जो नित्य-विहार में रत रहते है। और हरिदासजी उनकी सहचरी के रूपमें नित्य-विहार के दर्शन सुख में डुबे रहते हैं। वे उन्हें दोनोंको अपने लाडले और लाडली कुंज बिहारी और कुंजबिहाहरिनके रूप में जानते हैं, ठाकुर-ठाकुराइन के रूप में नहीं। वे स्वयं भी अपनेको ठाकुर-ठकुराइन नहीं मानते।

पर कुंजविहारी सब अवतारो के अवतारी और समस्त विश्व ब्राह्मण्ड के स्वामी और शासक हों तो भी वे श्यामाजी के अधीन है। अधीन क्यों न हों? उनमें अपना है ही क्या? उनमें जितनी भी 'सुधराई' है चतुराई है और सुन्दरताई है, वह सब उनहोंने उन्हीं की छांह के स्पर्श से न पायी है -

सुधर भये बिहारी याहीं छांह तैं।
जे-जे गटी सुधर सुर जानपने की,
ते-ते याही बाँह तै।
हुते तो अधिक बड़े सबही तैं,
पै इनकी कास न खटात याँह तै।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा-
कुंजविहारी जकि रहे चाह तै।।

-केलिमाल, २४

तभी तो वे क्षण भरके लिये भी उन्हें भूल नहीं पाते। उन्हीं के ध्यानमें सदा मग्न रहते हैं। उनके वियोग से पीड़ीत होते है, संयोग से सुखी होते हैं -

नील लाल गौर के ध्यान बैठे कुंजबिहारी।
ज्यों-ज्यों सुख पावत नाहीं,
त्यौं-त्यौं दुख भयो भारी।
अरबराइ प्रगट भई जु,
सुख भयो बहुत हिया री।
श्रीहरिदासके स्वामी श्यामा-
कुंजबिहारी, करि मनुहारी।।

-केलिमाल, २८

सखी - सखीका स्वरूप स्वांग सुन्दर है। वह प्रियाजीके प्रेममें इतनी पगी है कि उन्हें सर्वदा अपने अंतर में देखती है। और अपने को उनके अंतर में। श्यामा-श्यामकी तरह उसके भी न माता-पिता है, न पति-पुत्र। वह केवल प्रिया प्रियतम के नित्य विहार की अंगभूता, लीला-सहकारिणी, लीला विस्तारिणी, लीला-आस्वादिनी, लीला-स्वरूपा है। उसका और कोई व्यावहारिक परिचय नहीं है।

वह खाडलो के महलकी खवासी करने में लगी रहती है। भाँति-भाँति से लाड़ली की सेवा करती है। उनका श्रृंगार करती है उनका यश गान करती है, उन्हें रसकी बातें सुनाती है, उनसे रसकी बातें सुनती है। उनका मान मानती है, लालजी से उनका मिलन कराती है और जब जैसे आवश्यकता होती है उनकी सेवा करती है। उसका तत्सुखी भाव है। इसलिये वह लाडली सुख पहुंचाने के प्रयत्नमें सदा लगी रहती है। अपने सुखकी कामना उसे बिल्कुल नहीं है।

प्रियाजीकी कृपा और उनका स्नेह उसे प्राप्त है। बस यही उसके लिये सब कुछ है। इसके कारण वह बिल्कुल बेपरवाह रहती है, कुंज बिहारीतक की परवाह वह नहीं करती। उनसे भी अकड़कर चलती है।

दियौ नहिं लैहिं मांगै क्यौ बरने गुण कौन तिहारिन के।
कियै रहैं ऐंड़ विहारी सों हम बेपरवाह विहारिनि के।।[1]

वृन्दावन- वृन्दावन भी उसी रस-तत्व की एक अभिव्यक्ति है, जिसकी मूर्तियाँ स्वयं प्रिया-प्रियतम और सखियाँ है। यह प्रिया-प्रियतम के नित्य-विहारकृ आधार है। इसकी स्थिति बैकुण्ठमें या उसके ऊपर नीचे कहीं नहीं है। यह भूतलपर ही है।

वनराज हमारे प्यारे हैं।
नित्य सदा भूतल पर राजत महा प्रेमरस भारे हैं।।[2]

यह भूमि हमारे नेत्रों को जड़-सी दिखाई देते हुए भी चिन्मय है। यहाँ के पशु-पक्षी, लता-पता सब चिन्मय है। सब प्रिया-प्रियतमकी रसमयी लीलाओं के उपादान और उसके सहायक है।

स्वामी हरिदासका यह वृन्दावन भूतलपर होते हुए भी व्रजसे सर्वथा भिन्न है। व्रजके माता-पिता सखादिके भी श्रीकृष्णके साथ होनेके कारण उनका निरवधि राधाके साथ विहार सम्भव नहीं है। वृन्दावनमें केवल सखियाँ है और युगल है।

नित्य-विहार - नित्य-विहार का अर्थ है कि प्रिया-प्रियतम, जो नित्य-किशोर नित्यकिशोरी हैं, निरवधि विहार में रत रहते हैं। वे न

---

१. स्वामी विहारिणदास, सवैया 111

सोते हैं, न जागते हैं, न स्नान आहारादि करते है। रसमें रमे, प्रेममें पगे वे काम-क्रीड़ा के आवर्त्त में सदा डूबे रहते है-

सेज भाव निसि दिन रहै काम केलि रस भोय।
भोजन भाव निरस जहाँ तनु मन प्राण समोय।।
कित श्रृङ्गार अस्नान है नहिं जागै नहिं सोय।
मनसिज रंग विहार सौं अँगनि अंग समोय।।[१]

नित्य-विहार एकरस है। एक ही प्रकारसे सब समय चलता रहता है। एकरस होते हुए उसमें कभी शिथिलता नहीं आती। उसकी सरसता सदा प्रथम समागम की-सी बनी रहती है, क्योंकि प्रिया-प्रियतम को क्षण-क्षण पर लगता है जेसे वे प्रथम मिले हों। तभी लालजी लाडली से कहते है।

(१) प्यारी जू जब-जब देखौं तेरौ मुख तब-तब नयौ नयौ
लागति ऐसौ भ्रम होत मैं कबहूँ देखी न री।
(२) यह कौन बात जु अबहिं और अबहिं और अबहुँ औरे।
देव नारि नाग नारि औरौ नारि ते न होहिं और की औरौ।।[२]

प्रिया-प्रियतम के प्रेमकी इस विलक्षणता का कारण यह है कि उनके प्रेम-मिलनमें सूक्ष्म विरहका समावेश रहता है। विरह ही उन्हें मिले रहते हुए अमिलेका सा बोध करता रहता -

कहा कहूँ या मिलन कौ जो मिलिवौ जिय होय।
तनु मन सौं प्रीतम मिलौ तऊ मिलन की षोय।।
परम नेह की बात यह मोपै कही न जाय।
तनु मन सौं प्यारी मिली तऊ लाल अकुलाय।।[१]

हरिदासी सम्प्रदायकी मान्यता के अनुसार नित्य-विहार में स्वामी हरिदासका स्थान सबसे ऊँचा है। यहाँ ठाकुर ठकुराइनके प्रेम के अधीन हैं, तो ठाकुर-ठकुराइन दोनों हरिदासके प्रेमके अधीन है। श्रीहरिदासको सम्प्रदायमें ललिता सखीका अवतार माना जाता है। श्यामा-कुंजविहारीका विहार उन्हीं के सहारे चलता है। विहारके रस-सागर में वे उन्हीं की बाँह के सहारे तैरते हैं।

विहारिणि देवजी के अनुसार स्वामीजी उस वृक्ष के मूल हैं, जिसकी विहारी-विहारिणी दो स्कंध है -

एक मूल स्थूल लौ द्वै स्कंध सब वैस।
सेवत सखी सधन सबै जान समौ जो जैस।[४]

१. स्वामी विठल विपुलजी, रसके पद, २४
२. स्वामी ललितकिशोर देव, साखी, ८४८-८४९

विहारी-विहारिणि और स्वामी हरिदास तीनों भिन्न होते हुए भी एक हैं, जैसे एक छिलके में तीन चना। बिहारी-विहारिणि के विहार का स्थल ही है हरिदासरूपी उनकी दासी का हृदय-

तीन चना एक छीलका ऐसै अर्थ विचार।
श्रीविहारी विहारिणि दासी उर अचंल बीच विहार।।[१]

इसलिये नित्य विहार की कुंजी श्रीस्वामी हरिदास ही है। उनकी कृपा के बिना नित्य विहार की प्राप्ति नहीं होती ।

उपासना मार्ग

उपास्य श्रीविहारी-विहारिणि को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है अनन्य भक्ति। स्वामी हरिदासजीने अनन्यता का चरम आदर्श उपस्थित किया है, इसीलिये व्यासजीने उन्हें, अनन्य-नृपति' कहा है।

हरिदासी सम्प्रदायके उपासक के भावकी एक विशेषता यह है कि वह हरिको उपास्य मानते हुए भी उनके प्रति उपास्य-उपासक जैसे भाव नहीं रखता, जो उपासक और उपास्य में दूरी पैदा करता है। वह उनमें ममत्व बद्धि रखता है। उन्हें अपना और अपनेको उनका प्राण मानता है, उन्हें और अपनेको समान जानता है-

हरि हमरे हम हरि के प्रान।
हरि हम दोऊ एक समान।।
तन-मन बिछुरन की है आन।
जानै कोई रसिक सुजान।।[२]

अनन्यतामें विधि-निषेध भी बाधक होते है। इसलिये दस मार्गका पथिक वैदिक कर्मकाण्ड और विधि-निषेधक झगड़े में नहीं पड़ता। वर्णाश्रम धर्म की भी वह परवाह नहीं करता। भक्तों में जाति-पाति का भेद करने वालों को वह 'नारकी' मानता है।

क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये, इस बातकी उसके पास एक ही कसौटी है, और वह है उपास्य श्रीहरिकी प्रसन्नता। जिसमें वह प्रसन्न हों वही वह करता है।

नाम-जपसे हरि प्रसन्न होते है, इसलिये नाम-जप हरिदासी सम्प्रदाय की उपासना एक महत्वपूर्ण अंग है। युगलका नाम ही सबसे बड़ा नाम है। पर इस सम्प्रदायमें हरिदास नामका भी उतना ही महत्व माना गया

---

१. केलिमाल, ३४

२. वही; ५४

३. स्व० ललितकेशोरदेव, साखी, ८१२-८१३

४. साखी, ११३

है, जितना युगल-नामका। ललित किशोरजी ने तो युगल-नामसे भी 'हरिदास' नामको कहीं अधिक महत्व दिया है। जो लाख बार युगल नाम लेने का फल होता है, वह एक बार 'हरिदास' नाम लेने से मिल जाता है -

लाष बार हरि-हरि कहै एक बार हरिदास।
अति प्रसन्न श्रीलाडिली सदा विपुन कौ वास।।[2]

श्रीवीठल विपुलदेव जी

श्रीवीठल विपुलदेवजीके जीवन-वृत्त का भी एकमात्र आधार महन्त किशोरदासजीकृत 'निजमत सिद्धांत' ही है, जिसका रचना-काल सम्वत १८२० के लगभग बताया जाता है। निजमत सिद्धान्त के अनुसार वीठल विपुलजी स्वामी हरिदास से आयु में ५ वर्ष बड़े थे और उनके अन्तर्धानके पश्चात केवल ७ दिन तक जीवित रहे थे। निजमत सिद्धान्त के अनुसार वे स्वामीजी के ममेरे भाई थे। बिहारीजी के गोस्वामियोंके मतानुसार वे स्वामी जीके भतीजे और उनके कनिष्ठ भ्राता श्रीगोविन्दजी के पुत्र थे। उनका जन्म वृन्दावन के निकट राजपुर ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाल्यकाल से ही वे परम विरक्त और स्वामी हरिदासजी में अनुरक्त थे। तीस वर्ष की अवस्था में स्वामी हरिदासजी के साथ वृन्दावन में निधिवन में आकर रहने लगे थे।

वृन्दावन आकर उन्होंने स्वामीजी से दीक्षा ले ली थी और श्यामा-श्याम की लीला-चिन्तन में लीन रहने लगे थे। स्वामीजी के अन्तर्धान के पश्चात उन्हें असह् विरह-वेदना हुई। उन्होंने आँखों में पट्टी बाँध ली, अन्न-जल छोड़कर मौन धारण कर लिया और हरिदासजी से जा मिलने की अभिलाषा मनमें लिये उस शुभ घड़ी की प्रतिक्षा करने लगे। उस समयकी उनकी दशा का किसीने इस कवित्त में वर्णन किया है।

स्वामी हरिदास जू को बदन मयंक वर अति ही,
अनूप रूप का पै जात गाचो जू।
ताके अवलोके बिनु भयो है वियोग भारी,
भूल गये खान-पान महाखेद पायो जू।।
बांधि लई आँखें अभिलाषै कबै जाय मिलौ,
छाय रह्यो प्रेम उर बोलिबो गमायो जू।

---

१. साखी, ११५

२.स्व० ललितकिशोरीदेव, चौबोला, ३००

वीठल विपुल नाम तिनकी निहार गति,
चकित चकोर चित सोच में समायो जू।।

श्रीवीठल विपुल की यह अवस्था देख सन्त समाजमें खलबली मच गयी। सबने मिलकर उनकी पट्टी खुलवाने की योजना बनाई। रासलीलानुकरण का आयोजन किया गया। वीठल विपुलजीको आग्रह पूर्वक उसमें आमंत्रित किया गया। वे सभी संतों के आग्रह को टाल न सके और रासस्थलीपर पधारे। रास प्रारम्भ हुआ। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार स्वामिनीजी नृत्य करती-करती वीठल विपुलजीके पास पहुंची और उनका हाथ पकड़कर बोली - "बाबा ! आँख खोल, मेरे दर्शन कर ।"

बाबा स्वामिनीजी की आज्ञा का उल्लंघन कैसे करते? उन्होंने पट्टी हटाकर आँखे खोलीं तो उन्हें स्वामिनीजी के साक्षात् दर्शन हुए।

स्वामिनी के दर्शन कर वे भाव-गद्-गद् कण्ठसे बोले -

करुणानिधि मम स्वामिनी, तुम पकर्‌यौ मम हाथ।
अब करुणा करि लाड़िली, राखि आपने साथ।।

भाव-देह से उन्होंने स्वामिनी के साथ निकुंज में प्रवेश किया।

प्रियादासजीने इस घटना का वर्णन अपने एक कवित्त में इस प्रकार किया है -

स्वामी हरिदासके दास, नाम वीठल है, गुरु से वियोग दाह
उपज्यौ अपार है।
रास के समाज में विराजे सब भक्तराज, बोलिकै पठाये,
आये आज्ञा बड़ि भार है।।
जुगल स्वरूप अवलोकि, नाना नृत्य-भेद, गान तान कान
सुनि रही न सँभार है।
मिल गये वाही ठौर, पायौ भाव तन और कहे रस-सागर
सो ताकौं यों विचार है।।

श्रीवीठल विपुलजी स्वामी हरिदासके पश्चात् हरिदासी सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य माने गये। उनके दो विरक्त शिष्य थे -श्री कृष्णदास और श्री बिहारिनदेव जी। श्री वीठल विपुलजी के बाद श्री बिहारिनदेवजी सम्प्रदायके दूसरे आचार्य हुए।

बीठल विपुलजीकी वाणीके रूपमें उनके ४० पद मिलते है। यह पद बड़े सरस और लालित्यपूर्ण है। इस कारण और उनकी रसिकताके कारण नाभाजीने वीठल विपुलजीको 'रस सागर' की उपाधि दी है।[१]

१. सिद्धान्त साखी

उनके कुछ पदोंका आस्वादन करे।

इस पद में उन्होंने ब्रजमें श्यामजीके राजत्व और श्यामके भी उनके अधीन होने का वर्णन किया है।

हमारे माई श्यामा जू कौ राज ।
जाके अधीन सदाई साँवरौ या ब्रज कौ सिरताज ।।
यह जोरी अविचल श्रीवृन्दावन नाहिं आँन सौं काज ।
श्रीवीठलविपुल विहारिन के बल दिन जलधर ज्यौ गाज ।।

इस पदमें सखियाँ प्रियाजी से श्यामकी उनके प्रति अधीनता और रसवश्यताका वर्णन करते हुए उनके मानापनोदन का प्रयत्न करती है-

लालन तेरेईं अधीन ।
सुनरी सखी हौं साँचि कहत हौ तुव जल ये हैं मीन ।।
तेरे रस बस श्यामसुन्दर वर जाँचत हैं ज्यौं दीन ।
श्रीवीठल विपुल विनोदविहारी होत मनावत लीन ।।

और इस पदमें सखियाँ प्रियाजीके मानापनोदन के लिये किये जा रहे श्यामके नये क्रिया-कलाप पर दृष्टि डालने और मान भंग कर उन्हें आलिंगन करने को कह रही है -

प्यारी नैंकु निरखौ नवरंग लालै ।
तुव पद पंकज तल रजवंदत तिलक बनावत भालै ।।
तेरे वरन बसन आभूषन उर धरि चम्पच मालै ।।
श्रीवीठल विपुल विनोद करहु मिलि भुज भरि बाहु बिसालै ।।

इस पद में प्रिया-प्रियतमके वन विहार करते हुए परस्पर होली खेलने का मनोरमं चित्र है-

जुगल किसोर मेरे कुंजबिहारी प्यारी वनविहार बिहरत नव रंगा ।
अरुन हरित मुकुलित द्रुम पल्लव अलिकुल गुंज अनंग तरंगा ।।
सौधे बहुत अबीर अरगजा खेल परस्पर छिरकत अंगा ।
श्री वीठल विपुल विनोद रीति रस सुख देखत ललितादिक संगा ।।

---

१. कवित्त सं ३७७
२. भक्तमाल छप्पय ९४

स्वामी श्रीबिहारिनदेव जी

सुहावनी शरद ऋतु है और मध्यान्हका समय। नन्दनन्दन यमुना तट पर सखाओं के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। एक सखा की दृष्टि पड़ी निधिवन में आँख मींचे ध्यानस्थ बैठे एक बाबाजी पर। उसने कहा कन्हैया से- "कन्हैया ! देखे तो बु कौन बैठ्यौ है? कहा कर रह्यौ है।

'रहन दे, तोय कहा परी? अपनो भजन कर रह्यौ है।

'नाँय भइया! चल, बाते कछु बातें करिंगे ।

'हम नाँय जायें ।'

'नाँय तो को चलनौ परै गो।

दूसरे सखा भी हठ करने लगे। कन्हैया को उनका हठ रखना पड़ा। बाबाजी पास जाकर उन्होंने आवाज लगाई -"बाबा, ओ बाबा! आँख तो खोल ।"

बाबाके कानपर जूँ भी न रींगी। सबने मिलकर पुकारना आरम्भ किया, तब कहों बाबा का ध्यान आकर्षित हुआ। उन्होंने चौकक़र कहा- "कौन ?"

"बुई, बुई ।"

"बुई कौन रे? बाबाने आँखे मीचे हुए झुंझलाकार कहा। वे ध्यान भंग होने के कारण पहले ही झुंझलाये हुए थे।

"बुई, जाय माखन चोर, चित्त चोर कहैं है।"

अच्छो! तौ तू नन्द कौ है। तिहारे संग स्वामीजी (स्वामी हरिदासजी) हूँ हैं का ?"

" बु तो नाँय । सखा है सबरे ।"

" तौ तू जिनके चित्त-वित्त हर्‌यौ करै, नवनीत हर्‌यौ करै बिनकेई ढिंग जा। हमें कहा परी है तो ते। हम तौ श्रीहरिदासजी के अकं विराजबे बारे जुगल के रसके अनन्य है। काऊ को देखें नाँय, पिछानै नाँय'' कौन है कहाँ कौ-

चित्त हरौ सब वित हरौ नव -
नीत हरौ व्रजजानि जहाँ कौ ।
हरे हरि ह्वै रहि हौ हौ लला,
हौं तो हेरि रह्यौ हठ ही हठ हांकौ।।
श्रीबिहारिनदास अनन्य मिले
रस पांय प्रिया-प्रिय अंक महा कौ।
हौं तौ और सरूप पिछानौं नहीं,
श्रीहरिदास बिना हरि कों है कहाँ कौ।"

ऐसे फक्कड़ सन्त थे वृन्दावन रसके अनन्य उपासक श्रीबिहारिनदेव जी, जो हरि को भी खरी-खोटी सुनाने में नहीं चूकते थे।

उन्हें बल था अपनी अनन्यता का, स्वामी हरिदासजीके चरणों में अपनी अनन्य निष्ठा और प्रीति का। उनकी प्रीतिके बारे में श्रीव्यासजीने कहा-

सांची प्रीति विहारिन दासै ।
कै करुवा कैं कुंज कामरी,
कैथर श्री स्वामी हरिदासै।।
प्रतिबाधक सहि सकत न तिनकौ,
जानत नाहिं कहा कहि त्रासै।
महामाधुर मत्तमुदित हवै,
गाबत रज जस जगत उदासै।।
महामाधुरी मत्तमुदित हवै,
गावत रज जस जगत उदासै ।।
छिन ही छिन परतीत बढ़त,
रस रीति निरखि बिबि बदन बिलासै।
अग संग नित बिहार बिलोकत,
यहै आस निज बन बसि "ब्यासै"

विहारिनदासजी की अनन्यताकी श्रीध्रुवदासजीने भी प्रशंसा की है-

श्रीविहारीदास निज एक रस ज्यौं स्वामी की रीति।
निर्वाही पाछे भली तौरि सबनि सों प्रीति।।
मत्त भयौ रस माधुरी करी न दूजी बात।
बिन बिहार निज एक रस और कछू न सुहात।।

श्रीविहारिनदास श्रीस्वामी हरिदासजीके आशीर्वाद से दिल्ली के श्रीमित्रसेन को पुत्र रूपमें प्राप्त हुये थे।[1] स्वामीजीने उनका नाम रखा था। बिहारी दास। मित्रसेन सूरध्वज ब्राह्मण थे। निजमत सिद्धान्त के अनुसार वे सम्राट अकबर के उच्च पदाधिकारी थे। उनके निधन के पश्चात् श्रीबिहारी दास राजसेवा में नियुक्त हुए। पर उनका राज्य-कार्य में मन न लगा। शीघ्र ही उनके जन्मजात भक्ति के संस्कार प्रबल हो उठे। सांसारिक विषयों से उनका मन ऊब गया और वे वृन्दावन में करुवा गूदड़ी की रहनी से रह, चना चबेना खा और जमुना जल पी वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने का स्वप्न देखने लगे -

करुवा कामरि सों रति मति कब हवै हैं या गति जोग।

१. स्वामी श्रीबिहारिनदेवजीकी वाणी, सिद्धान्त सवैया सं. ४

जमुना कूल कदम्ब कुञ्ज ग्रह वन बसि मेटौं सोग।।
चना चबेना छाछ जमुना जल पत्र पुष्प फल भोग।
तिनकें आगें ऐसे सुनियत खटरस फीके फोग।।

अपने मनको वे वृन्दावन जाकर बस जाने की सीख देने लगे-

सुन मन मधुकर ज्ञान सिखाऊँ। चरन कमल रति रचि उपजाऊँ।।
तिहि पथ चलौ जु बहुरि न आऊँ। जनम मरन भै भर्म भुलाऊँ।।
बसि वृन्दावन उत्तम ठाऊँ। सतसंगति परमार्थ पाऊँ।।
नित दंपति संपतिहि दिखाऊँ। श्रीबिहारिनिदासि भई गुन गाऊँ।।

बिहारीदासजी ३३ वर्ष की आयुतक राज्य-कर्मचारी के रूप में कार्य करते रहे। उसके पश्चात् विरक्त वेष धारण कर वृन्दावन चले गये।

वृन्दावन जाकर जैसे ही उन्होंने स्वामी हरिदासजी के चरणों में आत्मसमर्पण किया स्वामीजीने अपनी सारी दिव्य सम्पत्तिका अधिकार उन्हें सौंप दिया और नाम रखा विहारिन दास, क्योंकि उनका एक प्रकारसे यह नया जन्म था। कहते हैं कि स्वामीजी ने अपना हस्तकमल उनके सिर पर रखा। रखते ही वृन्दावनके दिव्य वैभव और उसकी दिव्य लीलाओं के उन्हें दर्शन होने लगे। उन्होंने निम्न कुण्डलियों में स्वयं इसका वर्णन इस प्रकार किया है -

श्रीस्वामी हरिदास कर अंबुज परसत माथ ।
मानौ रँचि खचि चन्द्रिका राखी सखियन साथ ।।
राखी सखियन साथ नाम घृतदासी बिहारिन ।
निरखत नित्य विहार लता गृह रन्ध्र निहारिन ।

स्वामी श्री वीठल विपुल देवसे विरक्त वेशले बिहारिन देवजी निधिवन में भजन करने लगे। उनका वृन्दावन बासका स्वप्न साकार हुआ। उन्होंने विषय-विष त्याग दिया। उनका मन परमार्थ के सर्वोच्च विषय नवल किशोरी श्रीराधारानीके चरणकमलों में रम गया जगतको और उसके सभी धर्म-कर्म को पीठ दिखा वह निसि-वासर स्वामिनी की सेवा करने और उनके अंग-अंग की शोभा निरखने में लग गया -

मेरे विषै विसन वर वाम ।
तन गोरी मन भोरी नवल किसोरी राधा नाम ।।

---

१. भक्तकवि व्यास जी, सिद्धान्त २०

२. निजमत सिद्धान्त के अनुसार उनका जन्म सवत् १५६१ में हुआ था और ३३ वर्ष की आयु तक वे सम्राट अकबरके कर्मचारी रहे थे। इसका मतलब यह होता है कि ये संवत् १५९४ तक अकबरके कर्मचारी रहे, जो ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं बैठता, क्योंकि संवत् १६१२ तक गद्दीपर बैठा ही नहीं था। विद्वानों का मत है कि उनका जन्म १६वीं शती के अन्त में हुआ होगा।

निस बासर जागत सोवत् चितवत् अंग अंग अभिराम।
अंजन मंजन करत परम रुचि चोप चौगुनी काम।।
ताकी हिलगि तजै मैं अपने कर्म-धर्म धन धाम।
दई पीठि सब जगतें लगतें पायौ बन विश्राम।।

अब वे मान-अभिमान सब त्याग कर केवल व्रजवासियों के टूक खाकर जीवन निर्वाह करने लगे -

रुचे मोहि व्रजबासिन के टूक ।
जारत तृन अभिमान अविद्या मनहूँ अग्नि के ऊक ।

उन्होंने कई पदोमें व्रजधाम और व्रजवासियों में अपनी अनन्य निष्ठा व्यक्त की है। एक पदमें तो उन्होंने अपनेको ब्रजवासियोंको पालतू पिल्ला तक कहने में संकोच नहीं किया है

हौं ब्रजबासिन कौ पाल्यौ पीला ।
आसपास रखवारौ डोलों बोलों हरि जस लीला।।
आहट पाऊँ टेरि जगाऊँ जपना भगना भीला।
माथो पीठ पोंछि पुचकारत हिलै लियौ मन मीला।।

-सिद्धान्त के पद, १४१

अब वे सदा नित्य-विहारके चिंतनमें डूबे रहते। श्यामा-श्यामकी लीला-माधुरी के आस्वादन और उनके गुणगान में मत्त रहते। आहार-विहार, भोजन स्नानदि सब भूले रहते -

सरस रूप सुख में सन्यौ मन अटक्यौ गुन गान।
बिहारीदास जानै नहीं कित भोजन स्नान।।
उठि बैठयों हौं भोर ही एक तान गुन गान।
आवत जात अथै गयौ तीन काल अस्नान।।[1]

कोई भागके नशे में चूर रहता है, कोई अफीमके नशे में, बिहारिनदास जी श्यामा-श्यामकी रस-माधुरी के नशें में मत्त रहते-

कोउ मदमाते भांगके, कोऊ अमल अफीम।
श्रीबिहारीदास रसमाधुरी, मत्त मुदित तोफीम।।

कुछ दिन बाद स्वामीजी नित्य-निकुंजमें प्रवेश कर गये। उनके तिरोधान के ७ ही दिन बाद श्रीवीठल विपुलने भी उनका अनुगमन किया। तब विहारिन देवजी सम्प्रदायके आचार्य हुए। आचार्य हुए। आचार्य होने का मतलब विपुल धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य का मालिक होना नहीं था, बल्कि भक्ति और वैराग्यपूर्ण जीवनके चरम आदर्श की स्थापना के दायित्वको अंगीकार कर साधकों को पथ प्रदर्शन करना

१.सिद्धान्तकी साखी, ४७५-७६

था। श्रीविहारिन देवजी के इस दायित्व की पूरी तरह निभाया। उन्होंने भी स्वामी हरिदासकी ही तरह कौपीन, गुदरी और करुवा छोड़ संसारकी और किसी वस्तुसे संबंध नहीं रखा -

द्वै कौपान गूदरी करुवो।
श्रीविहारीदास इतने से सरुवो।।
श्याम सुजस रस गावत गरुवो।
लागत जग तृन हूते हरुवो।

काँध कमरिया फाटरी, हाथ करवरा फूट।
श्रीबिहारीदास निरभै भए, सुख ज्यौं भावैं त्यौ लूट।।

बिहारिनदासजी दीर्घकाल तक हरिदासी सम्प्रदायके आचार्य रहे। वे स्वामी हरिदासके सिद्धांत और उनकी रसरीतिके सर्वोच्च ज्ञाता और व्याख्याता थे। उन्हें सम्प्रदायमें गुरुदेव के नामसे जाना जाता है। उनहोंने ६९१ साखी के दोहों, ३७१ रस और सिद्धांतके पदों, ७१ चौबोलों और १५० रस और सिद्धान्तके कवित्त और सवैयों की रचना कर सम्प्रदायके सिद्धान्तको सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया। उनके सिद्धांत के बहुत-से पदों को हमने स्वामी हरिदासजीके चरित्र हरिदासी सम्प्रदायके सिद्धांतका वर्णन करते समय उद्धृत किया है।

वे अपनी सखियों के लिये भी बहुत प्रसिद्ध है जिनमें उन्होंने अपने समयके समाज के कुछ वर्गों की बड़ी निर्भीकता और फक्कड़पनेसे कटु आलोचना की है। उन्होंने विशेष रूपसे शाक्तों, ढोंगी, भक्तों, लोभी गुरुओं, जातिवादियों, भक्तिभाव विहीन पंडितों और विषयी पुरूषों को अपनी आलोचना का शिकार बनाया है। कुछ सखियाँ इस प्रकार है -

साकत कै घर पाहुनौं, भूलि भक्त जिनि जाहु।
श्रीबिहारीदास बिपतौ भली, वर मांस स्वान कौ खाहू।।

-सिद्धांत की साखी, सं०, ५२

घर छाड्यौ हौ भजन कौं, सालन कौ पछिताई..।
चुपरी पायैं हँसि मिलै, रुबी देखि रिसाई।।

-सिद्धान्त की साखी सं. २७०

पैसनि के भूखे फिरै, परमारथ के दाँनि।
श्रीबिहारीदास धनधर्म, बिनु, ते गुरु दालिद्री जाँनि।।
जो गुरु करै शिष्यकी आस, श्याम भजन तें होय उदास।
स्वाँन समान जगत उपहास, ऐसी कही बिहारीदास।।

१.वही, २९७

-सिद्धांत की साखी, १०, १४

अच्यूत गीत बखानियै, भक्त भक्त की जाति।
पूछन हारे नारकी, जे भक्तहि पूछै जाति।।

-सिद्धांत की साखी, १९९

विष कौ कीरा विष ही खाय, मिश्री सूंघत ही मर जाय।
श्रीबिहारीदास जौ जाहि हिताई, ता बिनु तासों रह्यौ न जाई।

-सिद्धांत की साखी, सं. ३९३

पंडे पढ़ि पाथर भये लौढा भये कपूत।
श्रीबिहारीदास हरिदास को, बिनही पढ़े सपूत।।

-सिद्धांत साखी, सं. ३२४

पर बिहारिन देवके व्यक्तित्व और जिस रसकी वे उपासना करते थे, उसके वास्तविक स्वरूपका उद्घाटन होता है उनके रसके पदोंसे। उन पदोंको समझने और सराहनेके लिये आवश्यक है साधारण साधक की दृष्टि से बहुत भिन्न उस रसरीतिमें निष्णात होना, जिसमें उपास्य और उपासक इतना घुल-मिल जाते हैं कि उपास्य उपासकको अपने समतुल्य या अपनेसे बड़ा मान उसके अधीन रहने लगता है और उपासक उपास्य से कुछ भी लेने की इच्छा न रख उसे देते ही रहना चाहता है, जिसमें वह अपने सुखकी कामना न कर उन्हीं के सुखकी कामना करता है और उनके सुखके लिये उन्हें आशीर्वाद देना चाहता है, जिसमें वह उनके अनन्य प्रेमके बल-बूते उन्हीं से ऐंठ-अकड़ कर रहता है।

देखिए विहारिन देवजीके रसके इस पद में राधा प्रेम-तत्वकी जानकारी के सम्बन्ध में विहारिणी सखीकी अपेक्षा अपनेको न्यून मानते हुए कहती है -

सखि, तोते अधिक न जानिहौं, कोऊ कहै तो लागू पाँय।

-रस के पद सं० १७५

इस पद में बिहारिनदासी युगलको तरुण-तमाल और ललित-लताकी तरह एक दूसरेसे आलिंगित देख सुखी होती है और उन्हें इसी प्रकार नित्य नयी रंगरेलियाँ करते रहनेकी आशीष देती है -

नौतन तरल तमाल लाल मिलि लता ललित फल फलियाँ।
देत असीस विहारनि दासी करहुँ नवल नित रलियाँ।।

रस के पद, १७०

और यहाँ वे श्रीहरिदासके गर्व और युगल के प्रेम में इतना चुर है कि उनकी प्रार्थना, स्तुति, मनुहार करना तो दूर, उनसे सीधे बात

भी नहीं करतीं। उनकी मनुहार तो वे सब करतीं, जब उनकी उनसे कुछ अटकी होती। अटकीं तो सब तरहसे युगलकी ही उनसे होती है, क्योंकि उन्हींके सहारे न वे रस समुद्र में संतरण करते है। इसलिये वे उनसे 'बेपरवाह' रहती है-

श्रीहरिदास कै गर्व भरे अमनैक अनन्य निहारिन के।
महा-मधुरे रस पान करे अवसान खता सिलहारिनि के।
दियौ नहिं लेहिं ते माँगहि क्यों वरनै गुन कौन तिहारिनि के।
किये रहै। ऐंड बिहारी हूँ सौं हम बेपरवाह विहारिनि के।।

-सिद्धान्त कवित्त सवैया, सं० १११

श्रीरूपसखीजीने श्रीबिहारिनदेवकी परमोज्जवल प्रेमरस-सनी रगीली वाणी की प्रशंसा इन शब्दों की है-

ललित सुहेम पगी आछे नग जगमगी अति रंग रंगी सोंधै रूप सानी है। बस्तर सुअलंकार अद्‌भुत अमित सार दम्पति को उर हार केलिकी निसानी है।। परम प्रवाह पूरे आनन्द जस मूरति उमड्यौ समुद्र सब सलिता समानी है। रसिक सिरोमनि उदार गुरुदेवजूकी प्रेमपुंज प्रगट प्रकासवान बानी है।

स्वामी बिहारिनदेवजीने सं० १६७० के लगभग नित्य-निकुंज में प्रवेश किया। उनकी समाधि निधिवन में है।

शिष्य-परम्परा

स्वामी बिहारिनदेवजीके शिष्योंमें श्रीनागरीदासजी और श्रीसरसदास जी प्रधान थे।

श्रीनागरीदासजी – यह नेही नागरीदास और राजा नागरीदाससे भिन्न थे। नागरीदासजी और सरसदासजी असमके राज्यमंत्री कमलापति गौड़ के पुत्र थे। निजमत सिद्धांत में उनका जन्म सं. १६०० की माघ शु० ५ का लिखा है। वे २२ वर्षकी अवस्था में ही संसार त्यागकर वृन्दावन चले आये थे और बिहारिनदासजी से दीक्षा लेकर ४८ वर्ष तक वृन्दावन में रहे थे। सं. १६७० की बैशाख शु० ९ को उनका देहान्त बताया गया है।[1]

बिहारिनदासजीके बाद नागरीदासजी हरिदासी सम्प्रदायके आचार्य हुए। पर वे थोड़े ही दिन आचार्य पद पर आसीन रहकर निकुंज-लीलामें प्रवेशकर गये। उनके २० साखी और ७० सिद्धांत के दोहे मिलते है।

नवलदासजी – ये नागरीदासजी के भतीजे और शिष्य थे। ये बरसानेकी मोरकुटीमें भजन करते थे। इनकी संक्षिप्त वाणी 'स्वामी हरिदासरस-सागर' में प्रकाशित है।

श्रीसरसदासजी – नागरीदासजी के बाद उनके भाई सरसदासजी हरिदासी सम्प्रदायके आचार्य हुए। उनका जन्म सं. १६११ की आश्विन पूर्णिमा को और निकुंजगमन सं. १६८३ की श्रावण शु० १५ को बताया गया है। वे ३०वर्षकी आयुमें गृह त्यागकर वृन्दावन चले आये थे। वे एक प्रभावशाली महात्मा थे। उनके सिद्धांत के २७ और श्यामा-श्यामकी लीला-माधुरी के ३९पद पाये जाते है।

श्रीनरहरिदासजी – सरसदासजी के पश्चात् उनके शिष्य श्रीनरहरिदास जी हरिदास सम्प्रदायके आचार्य हुए। निजमत सिद्धांत के अनुसार उनका जन्म सं. १६४० की ज्येष्ठ कृ० २ को और देहावसान सं. १७४१ की पौष शु० ७ को हुआ। वे ३५ वर्ष की आयुमें विरक्त अवस्थामें वृन्दावन चले आये थे और १०१ वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे। उनके सम्बन्ध में बहुत सी किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, जिनसे जान पड़ता है कि वे बड़े चमत्कारी महात्मा थे। उन्हीं के शिष्य थे श्रीरसिकदेवजी, जिनके चरित्रका वर्णन हम आगे करने जा रहे है।

रचना के नामपर श्रीनरहरिदासजीके कुछ पद और दोहे ही मिलते है।

श्रीस्वामी रसिकदेवजी

बुन्देलखणडके सनाढ्य ब्राह्मण कुलमें जन्में श्रीरसिकदेवजी युवावस्था में ही संसार छोड़कर वृन्दावन चले आये थे और श्रीस्वामी नरहरिदेवजीसे दीक्षा और विरक्त वेश लेकर भजन करने लग गये थे।

हरिदासी सम्प्रदायमें रसिकदेवजी एक ऐसे महापुरुष हो गये हैं, जिन में विचार-स्वातंत्रय और गुरु-भक्तिका अपूर्व सन्निवेश था। गुरुदेव उनके विचार-स्वातंत्रयके कारण उनसे अप्रसन्न रहते थे। उनके गुरुभाई श्रीकेशवदासजी जो सदा गुरुदेवकी सेवामें रहते थे, उनके विरुद्ध गुरुदेवके कान भरने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते थे। परिणाम यह हुआ कि गुरुदेवने उन्हें अपनी सेवासे अलग कर मथुरा जाकर रहनेका आदेश दिया।

गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर रसिकदेवजी मथुरा चले गये। उन्हें गुरुदेवके संग और उनकी सेवासे वंचित होनेका महान दुःख हुआ। उन्होंने लिखा है कि यदि स्वयं हरि भी उन्हें अपनाकर छोड़ देते तो उन्हें इतना दुःख न होता–

---

1. डा. प्रभदयाल मीतलने 'निजमत-सिद्धांत' में दिये इन तिथि-संवतोके ठीक होनेपर संदेह व्यक्त किया है। (व्रजके धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास, पृ.४६८)

जो हरि आज मोहि परिहरतौ ।
तैऊ नहीं चित चिन्ता करतौ ।।

पर रसिकदेवजी की गुरु-भक्ति वैसी ही बनी रही। उन्होंने मथुरा रहते हुए भी उनकी सेवाका उपाय खोज लिया। वे अपने शिष्योंको व्रजके गांव-गांव में भेजकर भिक्षा करवाते। भिक्षा में प्राप्त अन्न बिकवाकर जो धन मिलता उसे अपने गुरुभाई वृन्दावनके छंगा सुनारके पास पहुंचा देते और वह उसे अपनी ओरसे गुरुदेवको दे देता ।

कुछ दिनतक यह सेवा चलती रही। जब नरहरिदेवको पता लगा कि जो धन छंगा दे जाता है, वह रसिकदेवका भेजा होता है, तब उन्होंने उसे लेना बन्द कर दिया।

रसिकदेव तब गुरुसेवाका कोई और उपाय खोजने लगे। छंगा सुनार स्वामी नरहरिदेवजीकी गांती और लंगोटी धोनेको नित्य अपने घर ले जाया करता। रसिकदेवजी नित्य मथुरा से आते और गांती और लंगोटी स्वयं धोकर मथुरा लौट जाया करते। इसका भी नरहरिदेवजी को पता चल गया, तो उन्होंने छंगाको गांती-लंगोटी देना बन्द कर दिया।

तब रसिकदेवने अपने एक शिष्यसे कहा- " मैं तो गुरुदेवकी सेवा कर न सका, मेरी ओरसे तुम उनके निकट रहकर उनकी सेवामें जा लगो। यदि वे मेरे कारण तुम्हारी सेवा भी अंगीकार न करें तो उनसे कहो - 'महाराज, जब आपने रसिकदेवको छोड़ दिया, तो मैं उनके पास रहकर क्या करता ? मैं भी उन्हें छोड़ आया हूं। अब आप भी मुझे अपनी सेवामें स्थान न देंगे, तो मैं कहीं का भी न रहूंगा ।

शिष्यने इसी कौशल से काम लिया। नरहरिदासने उसे अपनी सेवामें अंगीकार किया।

एक बार स्वामी नरहरिदेवके सिरमें चोट लगी। उसी समय मथुरा कुछ लोगोंने रसिकदेवजी को अपना माथा दबाते देख पूछा - क्या बात है? रसिकदेवजी ने उत्तर दिया " गुरुदेव के सिर में चोट लग गयी है।"

कौतुहलवंश वे लोग उसी समय वृन्दावन गये और नरहरि देवसे पूछा-'क्या आपके सिरमें चोट लगी है ?

उन्होंने कहा - "हाँ, तुमसे रसिकदासने कहा होगा।" वे जानते थे कि उनके चोट लगते ही मथुरामें बैठे-बैठे उसे जान लेनेकी सामर्थ्य उनके अभिन्न प्राण रसिक दासकी ही हो सकती है और किसी की नहीं।

संभवत: रसिकदासजीकी गुरु-निष्ठासे प्रसन्न हो श्रीनरहरिदेवजीने उन्हें अपनी सेवा में बुला लिया। पर केशवदासने फिर नरहरिदेवजीके

कान भरना शुरू किये और फिर उन्होंने उन्हें निकाल दिया। रसिकदेवजी ने इस बार गुरु-विरहमें अन्न त्याग दिया, केवल साग-पात खाकर जीवन निर्वाह करते रहे। उनके इस कष्ट को ठाकुरजी सहन न करसके। अंत में उन्हें स्वयं नरहरिदेवजी से रसिकदेवजी को अंगीकार करनेको कहना पड़ा। तब उन्होंने रसिकदेवजी को फिर अपनी सेवामें बुला लिया।

प्रश्न यह है कि जब नरहरिदेवजी. जानते थे कि रसिकदेव उनके प्रति इतना समर्पित है कि प्राण-प्राणमें उनसे अभिन्न ही हैं, तो उन्हें अपने से अलग क्यों कर रखा था? इसका उत्तर यह है कि कभी-कभी गुरु और शिष्यमें भागवत इतना भेद हो जाता है कि शिष्यके पूरी तरह गुरुके प्रति समर्पित होते हुए भी, जहाँ भावका प्रश्न आता है, उनसे तालमेल बैठालना कठिन हो जाता है। रसिकदेवकी रचनाओंसे स्पष्ट है कि वे व्रजलीलाको नित्य-विहारसे बिलकुल पृथक कर देनेके समर्थक नहीं थे। वे नित्य-विहारको व्रज लीला का ही एक अंग मानते थे और अपनी उपासनामें नित्य-विहार के साथ व्रज-लीला को भी स्थान देने को बाध्य थे। इसके विपरीत नरहरिदेव हरिदासी सम्प्रदायकी परम्परा के अनुसार नित्य-विहारको व्रज लीलासे पृथक मानते थे और उसके अनन्य उपासक थे। गुरु और शिष्य के एक दूसरेके अभिन्न प्राण होते हुए भी भागवत भेदके कारण उनमें सैद्धान्तिक मत भेद के अन्यत्र भी अनेकों उदाहरण देखनेमें आये है।

हरिदासी सम्प्रदाय के ही डा. गोपालदत्त शर्माने लिखा है कि 'स्वामी रसिकदासजी ने अपनी पूर्व परंपरासे चले आते विषयोंके अतिरिक्त अन्य अनेक बातों को भी अपनी वाणी में स्थान दिया है। इनमें कुछ सम्प्रदायमें चली आती उपासना-पद्धतिके विरूद्ध भी थी।[१] डा. मीतलका भी अनुमान है कि उनकी क्रांतिकारी मनोवृत्तिके कारण ही आचार्य नरहरिदासजीने उन्हें अपनी शिष्य मंडलों से पृथक् कर दिया था।[२]

परन्तु डा. बुद्धि प्रकाशजी ने अपने एक लेखमें कहा है कि "स्वामी रसिकदेवजी नित्य विहार के वैसे ही अनन्य उपासक थे जैसी अनन्य परिपाटी का दिग्दर्शन उनके पूर्वाचार्यो ने किया था।[१]" प्रमाण में उन्होंने रसिकदेवजी का निम्न पद उद्धृत किया।

---

१. स्वामी हरिदासजीका सम्प्रदाय और उनका वाणी साहित्य, पृ. ४०५

२. व्रजके धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास, पृ. ४७०

निशि दिन रहें प्रेम में रागे।
नहिं वे सोवें नहिं वे जागें।।
महल तें निकसि न बाहर आवैं।
कुंज कुंज प्रति खेल मचावै।।
बन उपवन बाहर की लीला।
नन्द कुँवार करत तहाँ क्रीला।।

(रससार,पृ.६१)

इस पद में नित्य-विहार के विशुद्ध रूपका वर्णन तो है। पर साथ ही व्रज-लीला का भी वर्णन है। व्रज लीलाको निकुञ्जके बाहर की लीला कहा गया है, सो ठीक है। निकुञ्ज के ठाकुर निकुञ्ज महलसे निकलकर व्रज में कभी नहीं जाते, यह भी हरिदासी सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार ही है। पर यहाँ इस बात का कोई संकेत नहीं है कि 'नन्द कुँवार की व्रज-लीला, जिसका रसिकदेवजी ने यहाँ उल्लेख किया है, उनकी उपासनाका अंग नहीं था। इसके विपरीत उन्होंने 'बाल-लीला' आदि जो व्रज-लीलाके ग्रन्थ लिखे हैं, उनसे इस बात का संकेत मिलता है कि वे निकुंञ्ज-लीला को एक रूपमें व्रज-लीला से पृथक् मानते हुए भी दूसरे रूपमें उसे व्रज-लीला का ही एक अंग मानते थे[१] और दोंनों ठाकुर को तत्वतः एक मानते थे।

पर जो भी हो, डा. बुद्धि प्रकाशजी का मत है कि स्वामी नरहरिदेवजी ने रसिकदेवजी की गुरु-निष्ठा की परीक्षा करने के लिये उन्हें अपनेसे पृथक् किया था। वे इस परीक्षामें उत्तीर्ण हुए, इसलिये उन्हें फिर अपनी सेवा में बुला लिया।

नरहरिदेवजी संवत् १७४० में निकुञ्ज लीला में प्रवेश कर गये। उनके पश्चात् रसिकदेवजी आचार्य हुए। लगभग १८ वर्ष आचार्य पदपर रहकर सं. १७५८ में उन्होंने भी निकुंज-लीला में प्रवेश किया।

नरहरिदेवजी के समयमें ही हरिदासी संप्रदाय के विरक्त महात्माओं और बिहारीजीके पुजारी गोस्वामियों में संप्रदायकी परम्पराका लेकर विवाद छिड़ गया था और विरक्त संतोको

१. सर्वेश्वर, 'पत्रिकाका रसोपासना-अङ्क. पृ. १९०
२.मंत्रोपासनामयी लीलाके रूपमें भिन्न और स्वारसिकी-लीलाके रूपमें अभिन्न। देखिये लेखक द्वारा प्रणीत ' श्रीचैतन्य-मठ' पृ. १५९

सम्प्रदायके पुराने स्थान निधिबन को छोड़ देना पड़ा था। उन्हें अपनी पृथक् गद्दीकी स्थापना करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। श्रीरसिकदेवजीने इस कार्य को प्रारम्भ किया। उन्होंनें वृन्दावनमें रसिक बिहारीजीके मन्दिरका निर्माण किया और डूंगरपुरसे रसिक बिहारीजीके श्रीविग्रहको लाकर उसमें उनकी प्रतिष्ठा की। इस प्रकार हरिदासी सम्प्रदायके विरक्त महात्माओं की प्रथम स्वतंत्र गद्दीकी स्थापना हुई।

श्रीरसिकदेवजी के बहुत-से शिष्य हुए, जिनमेंसे कुछके नाम हैं- ललित किशोरीदासजी, पीताम्बरदासजी, गोविन्ददासजी, रूपसखीज, चरणदासजी और बनी-ठनी जी। इनमें श्रीललित किशोरीदासजी प्रधान थे। वे ही उनके बाद सम्प्रदायके सातवें आचार्य हुए। पीताम्बरदासजी श्रीरसिक बिहारीजी के मन्दिर के अधिकारी और रसिकदासजीकी गद्दीके प्रथम महन्त हुए।

रसिकदेवजीने कई ग्रन्थोंकी रचना की। ग्रन्थोंके नाम हैं - गुरु मंगल, बाल-लीला, भक्ति-सिद्धान्तमणि, पूजा-बिलास, बाराह-संहिता, रसार्णव पटल, कुंज-कौतुक और रससार। उनके कुछ सिद्धांत के पद और दोहे भी हैं, जो 'अष्टाचार्योंकी वाणी' में प्रकाशित है।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदासजी

श्रीललित किशोरीदासजी का जन्म सं. १७३३ में भदावर राज्यके किसी गाँव में एक ब्राह्मण कुल में हुआ। माता-पिताने नाम रखा गंगाराम। युवावस्थामें ही उन्हें वैराग्य हो गया। तीर्थ-भ्रमण करते-करते वे वृन्दावन आये और श्रीरसिकदासजीके शिष्य हो गये। तब उनका नाम हुआ ललित किशोरी दास।

वृन्दावनमें वे कुछ दिन श्रीरसिकदासजी के साथ उनकी सेवामें रहे। पीछे यमुनातट पर एक वृक्षके नीचे रहकर भजन करने लगे।[१] 'करुवा', कौपीन और कंथेके सिवा वे और कुछ भी अपने पास नहीं रखते थे। मधुकरी में जो मिल जाता था उसीसे उदरपूर्ति कर लेते थे। दिन-रात भावनामें लीन रहते थे। उन्होंने अपनी त्यागमयी वृत्तिके कारण श्रीरसिक बिहारीजीकी गद्दीका महंत बनना भी स्वीकार नहीं किया। यमुनातटपर तरु-लताओं से परिवेष्ठित जिस सुरम्य स्थानपर वे पड़े रहते थे, उसे असरुक्षित जान भक्तोंने बांस की टट्टियोंसे घेर दिया। तभी से वह 'टट्टीस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालांतर में उसने हरिदासी सम्प्रदायके विरक्त महात्माओंकी एक और गद्दी का रूप ले लिया।

श्रीस्वामी ललितकिशोरीदासजी

ललितकिशोरीकी रहनी-सहनी ठीक स्वामी हरिदासकी सी थी, इसलिये उन्हें स्वामी हरिदासका ही दूसरा रूप कहा है-

श्रीललित किसोरी कृपा स्वरूप।
श्री स्वामी कौ दूजौ रूप।।

इसीलिये ललितकिशोरीजी अपने समयमें भक्त-अभक्त सभी के लिये आकर्षण का केन्द्र बन गये थे और सभी तरहके लोग उनके पास खिंचे चले आते थे। उनके समकालीन श्रीचन्द्रलाल गोस्वामीने उनके व्यक्तित्व और तत्कालीन समाजपर उनके प्रभावका इस प्रकार वर्णन किया है -

गंगारामजू की बात मोपै कहै कहि न जात,
रसिक अनन्य प्यारे अति ही अमाने है।
स्वामी हरिदास जू की आस बनबास,
बिहारी-बिहारिन जू के रूप में समाने हैं।।
काहू सों न कहैं सुनै रहनि अनूठी रहै,
नित्य सुख लहैं प्रेम बानी रस साना है।
कृष्ण सों न सधे भये तिन्हें इन खींच लिये,
रस में छकाये दिये जानै सोई जनै है।।

कहते है कि एक बार महाराज जयसिंहजी से ललितकिशोरजीके सम्बन्ध में कहा गया कि वे वैदिक विधि-निषेधका पालन नहीं करते। महाराज एक धर्म-पारायण व्यक्ंित थे और चाहते थे कि उनकी प्रजा भी धर्मका यथावत् पालन करे। इस सम्बन्धमें वे सभी धर्म-सम्प्रदायोंके संत-मंहतोंका यह दायित्व समझते थे कि वे प्रजा के सामने धार्मिक नियमोंके यथावत् पालन का आदर्श उपस्थित करें। उन्हें लगा कि ललितकिशोरीजी का आचरण, ठीक इसके अनुरूप नहीं है, तो उन्होंने एक दिन उनके स्थानपर जाकर इस बातकी स्वयं जांच करनेका संकल्प किया। वे जब अपने अनुचरों के साथ उसके स्थान पर पहुंचे, तो वहाँ चारों और हलचल मच गयी। पर भावनामें तल्लीन बैठे ललितकिशोरीजीको उनके आगमनका पता ही न चला। वे ललितकिशोरीजी का ध्यान भंग होनेकी प्रतीक्षा करते रहे। एक भक्त भी मिठाइयाँ लिये उनका ध्यान भंग होने की प्रतीक्षा में बैठा था। बहुत देर बाद जब उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ तो भक्तने मिठाइयोंका पात्र उनके सामने रखा। उसी समय एक व्रजवासी बेझरकी रूखी रोटियाँ लेकर आया। ललितकिशोरीजी ने

---

१. डा. मीतलका अनुमान है कि ललितकिशोरीजी अपने गुरुके क्रांतिकारी विचारों से सहमति न रख सकने के कारण, उनसे अलग रहने लगे थे।
(ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास. पृ. ४७४)

मिठाइयाँ सब उसे दे दीं, स्वयं बेझरकी की रूखी रोटियाँ खाकर रजसे हाथ पोछ लिये और फिर ध्यानस्थ हो गये। महाराज जयसिंहजी उनकी देहातीत स्थितिको देखकर प्रभावित हुए और समझ गये कि शास्त्र के विधि-विषेध उनके लिये नहीं है।

ललितकिशोरीजीसे सम्बन्धित वृन्दावनके ठाकुर श्रीराधारमणजीकी एक घटना बहुत प्रसिद्ध है। एक बार राधारमणलालजीके सेवाधिकारी गोस्वामीजी राधारमणजीको शयन कराने के पश्चात् उनके निकट जल रखना भूल गये। अर्धरात्रि में राधारमणजी को प्यास लगी। उन्होंने ललितकिशोरीजीके पास जाकर कहा-गोस्वामीजी आज जल रखना भूल गये है। मै प्यासा हूँ । ललित किशोरीजीने उसी समय राधारमणजी के उक्त गोस्वामी को जाकर जगाया। गोस्वामीजी ने मन्दिर में जाकर देखा कि वे सचमुच जल रखना भूल गये थे। जलका पात्र भरकर उन्होंने राधारमणजीके निकट रख दिया।[१]

ललितकिशोरीजी द्वारा रचित वाणी-साहित्य परिमाणमें विहारिन दासजीको छोड़ हरिदासी सम्प्रदायके अन्य सभी आचार्यो के वाणी-साहित्यसे कहीं अधिक है। 'स्वामी हरिदास-रस-सागर' के अंतर्गत इसका प्रकाशन किया गया है।

ललितकिशोरीजी ने अपनी वाणीमें नित्य-विहारका गान सम्प्रदायकी प्राचीन परिपाटीके अनुसार किया है। उन्होंने स्वामी हरिदास, श्रीवीठल विपुलदेव और श्रीबिहारिनदेव का आनुगत्य छोड़ स्वतंत्र रूपसे श्यामा-श्याम की निकुंज केलिका दर्शन या गान करना विष भक्षण करने के समान माना है-

श्रीस्वामी हरिदास गुरु विपुल बिहारिनदास ।
इन बिन निरखौं केलि सुख तो जानौं विषकी रास ।।
श्रीस्वामी हरिदास बिनु भूलि चहौं जो और ।
तो मोहि दीजैं लाड़िली नाहिं नरक में ठौर ।।

नित्य-विहारकी उपासना में अपनी चरम उपलब्धिाका ललित किशोरीजी ने इन शब्दों में वर्णन किया है-

कुंज महल कौ राजतिलक दियौ,
महाप्रेम अतिरस में सानी ।
बार-बार हंसि कहत लड़िली ,
ललित किशोरी मों मन मानी ।।

---

१. सर्वेश्वर पत्रिकाके भक्तगाथा विशेषांक में डा. बुद्धिप्रकाशका लेख, पृ० १७३-१४७

कुंजबिहारी विहारिन दोऊ,
मेरे जीवन प्राना ।।
अजर अमर निर्भय पद पायो,
रसिकन में सुलताना ।
श्री ललित किसोरी कृपा सरोवर,
वायदा हंस भयौ जग जाना ।।

ललितकिशोरीजी के समय हरिदासी सम्प्रदायके गौरवकी बहुत वृद्धि हुई। उनके बहुत से शिष्य हुए, जिनमें श्रीललितमोहनीजी प्रधान थे। सं. १८२३ में ललितकिशोरीजी के निधन के पश्चात् ललितमोहनीजी आचार्य हुए। उन्होंने टट्टीस्थानकी विशेष उन्नति की।



श्रीकिशोरदासजी

श्रीरसिकदासजीकी शिष्य-परम्परामें श्रीकिशोरदासजी की चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है। वे ललितकिशोरीदासजीके गुरु भाई श्रीपीताम्बरदासजी के शिष्य थे। उनका जन्म जयपुर राज्यकी राजधानी आमेर में सं. १७-७०-७५ के लगभग हुआ था और वे अनुमानतः १७३०-४० तक जीवित रहे थे।

किशोरदासजी बड़े विद्वान और खोजी व्यक्ति थे। उन्होंने निजमत सिद्धांत जैसे विशाल ग्रन्थकी रचना कर सम्प्रदायमें अपना कीतिस्तम्भ स्थापित किया। इसमें उन्होंने हरिदासी सम्प्रदायकी परंपराका क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया। यद्यपि यह किंवदंतियों के आधार पर लिखा गया है। और बहुत-से विषयोंपर इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है, स्वामी हरिदासके सम्प्रदायके संबंधमें इससे बहुत-सी ऐसी जानकारी उपलब्ध होती है, जो और कहीं से भी उपलब्ध नहीं है। इसमें प्रथम बार हरिदासी सम्प्रदायको निम्बार्क सम्प्रदायकी परम्परासे जोड़कर श्रीनिम्बार्काचार्यजी से लेकर स्वामी हरिदासतक और हरिदासजी से लेकर सम्प्रदायके अष्टाचार्योंतक की परम्परा दी गयी है।

किशोरदासजी ने निजमत सिद्धांत के अतिरिक्त कई वाणी ग्रन्थोंकी

---

1. डा. बुद्धिप्रकाशजी ने सर्वेश्वर पत्रिका के पूर्वोल्लखित लेखमें शायद 'ललित प्रकाश के आधार पर लिखा है कि ललितकेशोरीजी ने अपने करुवेका जल पिलाकर राधारमणजी को तृप्त किया।

रचना की। उनके सिद्धांत सम्बन्धी वाणी ग्रन्थोंका संपादन श्रीविश्वेश्वर शरणजी ने किया हैं और इनका संकलन सिद्धांत रत्नाकर नामक ग्रन्थ में प्रकाशित है। उनके रस-सम्बन्धी वाणी ग्रन्थों का संपादन श्रीराधामोहनदास गुप्त ने किया है और वे किशोरदासजीकी वाणी नामक ग्रन्थ में संकलित और प्रकाशित है।

श्रीललितमोहिनीदासजी

श्रीललित मोहिनीदासजी श्रीहरिराम व्यासजीके वंशज थे। इनका जन्म सं. १७८० में ओरछा में हुआ था। युवावस्था में ही ये संसार त्याग कर वृन्दावन आ गये थे और श्रीललित किशोरीदासजीसे दीक्षा लेकर भजन करने लग गये थे। सं. १८२३ से ललित किशोरीदासजी के अंतर्धानके पश्चात् ये उनके स्थानपर टटिया-स्थानके महन्त और हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टम आचार्य हुए।

ललित मोहनीदासजी अपनी विरक्ताई और साधु-सेवाके लिये प्रसिद्ध थे। उनका सिद्धांत था कि तन,मन, धन सब साधु-सेवा के लिये ही है। उसी में उसकी उपयोगिता और सार्थकता है। उन्होंने साधु-सेवा में अपनी निष्ठाको इस प्रकार व्यक्त किया है -

रूपे से चावर सोने सी दार । तन मन धन संतन पर वार।

उनका कहना था कि भगवत् सेवा चाहे जितनी करे बिना संत सेवा और संत कृपा के भगवत् प्राप्ति नहीं होती -

सन्तन बिन हरि न मिलें, हरि ने कही पुकार।
मो सेवत सुमिरत भइया, बूढ़ौगे मझधार।।

शायद ललित मोहनीदासजी की साधु-सेवाके प्रभावसे ही उन्हें अपने ठाकुर श्रीराधिका बिहारीकी प्राप्ति हुई थी। श्री राधिका बिहारीकी प्राप्ति की कथा इस प्रकार है। एक बार डीगके किलेकी भूमिकी खुदाई हो रही थी। खुदाईके समय एक यवनको वहाँ राधा-कृष्णकी एक युगल मूर्ति प्राप्त हुई। रात्रिमें यवनको राधा-कृष्णने स्वप्नमें आदेश किया- हमें वृन्दावन के ललितमोहनीजी के पास पहुंचा दो। यवनने वैसा ही किया। ललितमोहनीजीने एक देवालय का निर्माण किया और उसमें युगल की स्थापना की। युगल का नाम रखा श्रीराधिकाबिहारी। जहाँ श्रीराधिकाबिहारी विराजमान है, वह स्थान छतरपुरवाली कुंजके नामसे प्रसिद्ध है।

विरक्ताई और साधुसेवाका मेल मुश्किलसे बैठता है। साधू- सेवाके लिये संचय करना आवश्यक होता है। पर ललितमोहनीजी न किसी से कुछ माँगते थे, न संचय करते थे। वे अयाचक वृत्तिसे रहते थे।

पर उनके प्रभाव से प्रति दिन साधु सेवाके लिये उनके पास पर्याप्त सामग्री आ जाती थी। उनका नियम था जिस दिन जो भी सामग्री आये उसे उसी दिन संध्या तक साधु-सेवा में लगा देना। उनके बारेमें जनश्रुति प्रसिद्ध है कि वे प्रति दिन करूआ औंधा कर सोते थे।

दर्शनार्थियों में बड़े-बड़े राजा-महाराजा और सेठ-साहुकारों का तांता उनके यहाँ लगा ही रहता। वे सब उनकी सेवा करनेको लालायित रहते। पर कथा-कौपीनधारी करूएतकको उल्टा करके रख देनेवाले ललितमोहिनी जीको किसी सेवाकी आवश्यकता होती तब न वे सेवा कर धन्य होते। उनकी सेवाकी साध सदा बनी ही रहती। एक बार तत्कालीन यवन सम्राट ने उनके नाम कुछ जमीन कर दी। उसकी सनद टटिया स्थानमें आज भी सुरक्षित है। ललितमोहिनीजी यदि चाहते तो उसकी मालगुजारी से टटिया स्थानके वैभव को बढ़ा सकते थे। पर उन्होंने न उसकी मालगुजारी बसूल की, न उसका और कुछ उपयोग किया।

टटिया स्थानका वैभव बढ़ानेके ललितमोहिनीदासजी बिलकुल विरूद्ध थे। उन्होंने उसका आध्यात्मिक गौरव बढ़ाने का अवश्य प्रयास किया। टटिया-स्थानका जो वर्तमान स्वरूप है, वह बहुत अंश में उन्हीं की डाली परिपाटी और परम्पराओंका परिणाम है। आज भी वहाँ आधुनिक आश्रमोंकी चमक-दमक, बिजली और उसके उपकरणों, आकर्षक भवनों और अट्टालिकाओंका नितान्त अभाव है। बांसकी टट्टियों और वृक्ष-लताओंसे परिवेष्ठित यह स्थान आज भी अतीतके ऋषि-मुनियोंके आश्रमों की याद दिलाता है। आज भी इसके साधु महात्मा अपनी वैराग्यपूर्ण करूआ कथा की रहनी-सहनी एकान्तिक भजन प्रणाली और वृन्दावन निष्ठाके लिये प्रसिद्ध है। आज भी वे वृन्दावनकी रज शरीरमें लपेटकर, नित्य वृन्दावन वासका व्रत लेकर और ललितमोहनीजीकी निम्न पंक्तियोंको हृदयमें धारण कर अपनेको धन्यातिधन्य मानते हैं-

श्री वृन्दावन में परि रहै, देखि बिहारी रूप।
तासु बराबरि को करै सब भूपनि कौ भूप।।

ललितमोहिनीजी जैसे निष्किंचन और भगवद्-अनुरागी महात्माकी आध्यात्मिक शक्ति भी असीम और आश्चर्यजनक होनी चाहिये। निम्बार्क सम्प्रदायके महात्मा हंसदासजीने अपने ग्रन्थ 'हंस-प्रभा' में उनके जीवनकी एक घटना का उल्लेख किया है, जिससे उनकी शक्तिका परिचय मिलता है। उन्होंने एक बार सूर्य ग्रहण के समय टटिया-स्थानमें साधुओंकी पंगत की। उनके शिष्य एक राजा भी उस समय वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने

गुरुदेवसे शंका की। -'ग्रहण के समय पंगत कैसी? गुरुदेवने उत्तर दिया - सूर्य ग्रहण तो टटिया स्थानके बाहर है, यहाँ सूर्य-ग्रहण कहाँ? उसी समय राजाने आकाशकी तरफ देख तो उन्हें ग्रहणसे अनाच्छादित सूर्य के दर्शन हुए। वे जब टटिया-स्थानके बाहर गये तो ग्रहण से आच्छादित सूर्यके दर्शनकर आश्चर्यान्वित हुए।

ललितमोहिनीदासजीकी वाणी अष्टाचार्योकी वाणीमें संकलित है। उसमें सिद्धांत और रसके पदों के साथ कुछ सखियाँ भी है।

ललितमोहिनीदासजी के अनेक शिष्य हुए। उनमें श्रीभगवतरसिकजी और श्रीचतुरदासजी मुख्य थे। श्रीचतुरदासजी उनके बाद टटिया-स्थानके महन्त हुए।

श्रीभगवतरसिकजी

श्रीभगवतरसिकजी का जन्म. १७९५ के लगभग माना गया है। श्रीवृन्दावन धामानुरागावली के रचयिता श्रीगोपाल कवि (सं. १९००) के अनुसार वे छतरपुर, मध्य प्रदेशके निवासी थे। वे श्रीललितमोहनी दासजीके प्रधान शिष्य थे। ललित मोहिनीजीके बाद उन्हें टट्टी स्थानका महंत होना चाहिये था। पर उन्होने महंत बनना स्वीकार नहीं किया। वे एक परम विरक्त और भजन निष्ठ महात्मा थे। हर समय भावनामें डूबे रहते थे। रहनी-सहनीमें वे हरिदासी सम्प्रदायके आदर्श-स्वरूप थे। उनके शिष्य श्रीहरिवल्लभजीने उनके स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया है-

तप मय उन्नत देह बाहु आजन अभय कर।
कटि कोपीन पवित्र गूदरी राजत रज भर।।
बीतराग मन माँहि पदनि पद त्रान न राखहिं।
चरन धरत महि देखि दया जीवनि पर आनहिं।।
अनइक्षित आवै जु कछु भोजन परमारथ करत।
'भगवत रसिक' अनन्य को ध्यान धरत पातक हरत।।

जब वे शरीरमें रज लपेटे, कौपीन और गूदड़ी धारण किये और हाथ में करुवा लिये चलते थे, तो लगता था जैसे मूर्तिमान वैराग्य चला जा रहा है -

कर करुवा गहि जबचलन भाग भूरि मानत भुव।
जनु विराग अवतार धरि 'भगवन रसिक' अनन्य हुव।।

श्रीवृन्दावनधामानुरागावली में उनका चित्रण एक भजन-सिद्ध महात्मा के रूपमें किया गया है, जिन्होंने नित्य-विहार का साक्षात् दर्शन किया था-

नित्यविहार कौ अनुभव करिके भये अनन्य सु भारी।
धीर गंभीर उदार धरम धुर तेजस्वी अति भारी।।

हरिदासी सम्प्रदायमें सम्प्रदायकी उपासना-पद्धतिके वया

व्याख्याताके रूप में बिहारिनदासके बाद भगवतरसिकजी का ही सम्मान सबसे अधिक किया जाता है। उनके शब्दोंमें सम्प्रदायकी उपासना पद्धति का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है-

सम्प्रदायके आचार्य ललिता सखीके अवतार श्रीस्वामी हरिदास है-

आचारज ललिता सखी रसिक हमारी छाप ।

सम्प्रदायकी उपासना नित्य किशोर और नित्यकिशोरी की है। सम्प्रदायका वेद रसिकोंकी वाणी है और मन्त्र जुगल-मन्त्र है-

नित्य किशोर उपासना, जुगल मन्त्र कौ जाप।
जुगल मन्त्र कौ जाप, वेद रसिकन की वाणी।।

नित्यकिशोर और नित्यकिशोरीका सतत संयोगात्मक रूपही सम्प्रदायको ग्राह्य है

जहाँ कृष्ण राधा तहाँ, जहाँ राधा तहं कृष्ण।
न्यारे निमिष न होत दोऊ समुझि करौ यह प्रश्न।।
समुझि करौ यह प्रश्न दोऊ धन दामिनि जैसे।
सहज सुभाउ सतन्त्र निरन्तर विहरत ऐसे।।

जुगल की उपासना होते हुए भी सम्प्रदायमें इष्ट प्रधान रूपसे श्यामाजीको ही माना गया है -

श्रीवृन्दावन धाम इष्ट श्यामा महारानी ।

हमारे भाई श्यामा जू कौ राज ।

सम्प्रदायके अनुसार रसिक वही है, जो पंचभूतात्मक शरीर से सम्बन्ध विच्छेद कर प्राकृत नाम, गुण, रूपादि से परे अपने सखी रूप से इष्ट से प्रेमके नाते ऐसा घुल-मिल जाता है, जैसे जल में शक्कर -

जीव ईश मिलि दोय नाम रूप गुण परिहरे।
रसिक कहावै सोय ज्यौं जल धोरै शर्करा।।

सखी और श्यामा-श्यामके बीच प्रेमका ऐसा सम्बन्ध है कि न सखी को श्यामा-श्यामके बिना पलभर चैन, न श्यामा-श्यामको सखी के बिना। श्यामा-श्याम सखीके बिना अकुला उठते है। सखी के बिना वे केलि भी नहीं करते-

सखी लड़ैती लाल की रहैं महल की माहीं,
रहैं महल की माहीं टहल सब करै निरन्तर।
दम्पति अति अकुलाहीं पलक कहूं पर जु अन्तर,
भगवत् भगवत् कहैं करै नहिं हम बिनु केला।।

सखीरूपमें साधक और श्यामा-श्यामके बीच किसी प्रकार का संभ्रम-संकोच नहीं रहता। सखीका तन-मन श्यामा-श्यामसे इतना एकीभूत हो जाता है कि उसे उनका गुरु भी कह सकते है, शिष्य भी -

हम शिष्य श्यामा-श्याम के हम गुरु श्यामा-श्याम।
ओत-प्रोत अर्पन कियो निज तन-मन धन धाम।।

भगवतरसिकजी के श्यामा-श्यामके गुरु होने की बात शायद ही किसी की समझ में आये। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह उस जगत् की बात है जहाँ का सब कुछ रससे ओत-प्रोत होने के कारण नया और निराला है, जहाँ के सम्बन्ध भी इस जगत् के सम्बन्धों से सर्वथा भिन्न और विलक्षण है। उस रस-जगत् की बातें तो वही समझ सकता है जो स्वयं रसिक हो-

भगवतरसिक रसिक की बातें,
बिना रसिक कोउ समुझि सके ना।।

यदि कोई रसिक बनना चाहे तो उसके लिये भगवतरसिकजी ने मार्ग इस प्रकार निर्दिष्ट किया है।

प्रथम सुनैं भागौत भक्त सुख भगवत बानी।
द्वितीय अराधै भक्ति व्यास तब भांति बखानी।।
तृतीय करैं गुरु समुझि दक्ष सर्वस रसीलौ।।
चौथे होइ विरक्त बसै बनराज गसीलौ।।
पाचै भूले देह सुधि छटैं भावना रास की।
तातैं पावै रीतिरस श्रीस्वामी हरिदास की।।

भगवतरसिकजी की वाणी महत्वपूर्ण होते हुए भी परिमाणमें अधिक नहीं है। उनकी कई छोटी-छोटी रचनाएं हैं, जिनके नाम है-१. अनन्य निश्चययात्म ग्रन्थ पूर्वार्ध, 2. उत्तरार्ध, ३. नित्यबिहारी जुगल-ध्यान, ४. अनन्य रसिकाभरण ग्रन्थ ५. निर्विरोध मनोरंजन ग्रंथ और ६. होरी धमार।

भगवतरसिकजी ने अपने सम्प्रदायको निम्बार्कादि सभी सम्प्रदायोंसे पृथक् बताया है। इसे सखी सम्प्रदाय कहा है और इसके सिद्धांत को इच्छा-द्वैत सिद्धांत।

गोस्वामी श्रीवंशीअलिजी

नाभाजीने भक्तमालमें भागवतके महापण्डित परमभक्त श्रीमिश्रनारायणजी की प्रशंसा में एक छप्पय लिखा है। श्रीमिश्रनारायण नवला वंशके सारस्वत ब्राह्मण थे। संवत् १५५० में लाहौर में उनका जन्म हुआ था। पर वे व्रजवासके उद्देश्य से मथुरा में रहने लगे थे। उनके वंशज श्रीप्रद्युम्नगोस्वामी वृन्दावन में श्रृंगारवटके समीप ललिताकुंज में अपने ठाकुर श्रीकिशोरीरमणजी की सेवा में रहते थे। वे बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे और उनके बहुत-से शिष्य सेवक थे। उनके सेवकोंने दिल्ली में 'बड़ा मन्दिर' के नामसे प्रसिद्ध एक मन्दिर बनवाया था। इसी मन्दिर में सं. १७६४ में आश्विन शुक्ला प्रतिपदाको ललित सम्प्रदायके प्रवर्तक श्रीवंशीअलिजी का उनके पुत्र रूपमें जन्म हुआ। नाम हुआ वंशीधर। पीछे सम्प्रदायके आचार्य रूपमें वंशीअलि नाम से प्रसिद्ध हुए, क्योंकि ललित सम्प्रदायकी मान्यताके अनुसार वंशीअलिजी राधाजीकी बंसी के अवतार थे।[१] कहते है कि जन्म के पश्चात् माताके बहुत चेष्टा करने पर भी उन्होंने स्तनपान नहीं किया, जिससे परिवारके लोगोंको बहुत चिंता हुई। उसी समय एक व्रजवासी बरसानेसे आया। उसने उन्हें 'राधा, राधा' नाम सुनाया। राधा नाम सुनते ही उन्होंने स्तनपान करना आरम्भ कर दिया।

पांच वर्षकी अवस्थामें ही उनके असाधारण राधा-प्रेम की अभिव्यक्ति खेलके माध्यमसे होने लगी। खेल में वे राधा-नामका कीर्तन किया करते और राधा-सम्बन्धी भजन गाया करते।

अति अल्पावस्थामें वे संस्कृत के अच्छे विद्वान, तर्क शास्त्र के अद्वितीय पंडित और वेद-पुराणादिके मर्मज्ञ हो गये। वे दिल्ली के निगम बोध घाटपर नित्यस्नान करने जाया करते और उसके पश्चात् मंदिर में आकर श्रीमद्भागवत की कथा वाँचा करते।

एक बार श्रीप्रद्युम्न गोस्वामी जयपुर के राजा सवाई जयसिंह द्वारा आमंत्रित होकर जयपुर गये। वंशीअलिजीको अपने साथ ले गये। उस समय उनकी अवस्था दस वर्षकी थी। एक दिन राजा गोविन्द मन्दिर में श्रीमद्भागवत की कथा सुन रहे थे। प्रद्युम्नजीके अतिरिक्त और बहुत-से पंडित वहाँ उपस्थित थे। कथा के पश्चात् राजा ने पंडितों से अपनी एक शंका का समाधान करने को कहा। उनहोंने कहा-

---

:. अनुश्रुति है कि एकबार वंशीअलिजी जगदीशजी की यात्रापर गये थे। उस समय जगदीशजीने पंडो से स्वप्नमें प्रियाजीकी वंशी के रूपमें उनका सत्कार करने को कहा था।

भगवान् श्रीकृष्ण जब गुरु सान्दीपनी मुनिसे विद्या पढ़ चुकनेके बाद गुरु दक्षिणा के रूप में उनके पुत्र को लेने गये, तो उन्होंने पंचजन नामक असुरको मारकर शङ्खरूप में उसे धारण किया। तब वही शङ्ख उनके पास जन्म लेने के समय कैसे था, जब उन्होंने देवकी और वसुदेव को चतुर्भुज रूपका दर्शन किया था? पंडितों से इसका समाधान न हो सका। तब राजाने प्रद्युम्नजी की ओर देखा। प्रद्युम्नजीने वंशीअलिजीसे कहा-बेटा, इस शंका का समाधान तुम करो। वंशीअलिजीने कहा- "राजन। भगवान् के आयुध पार्षद शंख-चक्रादि नित्य है। वे नित्य ही उनके साथ रहते है। पर पंचजनको शाप था। शापके कारण अंशरूप से शंखासुर के रूप में उसका जन्म हुआ था। उसका पाप मोचन करने के लिये भगवान् ने उसे मारा। उनके हाथ से मरकर वह मोक्षको प्राप्त हुआ और नित्य पार्षद रूप अपने अंशी में जा मिला।

दस वर्ष के बालकसे अपनी शंका का सुन्दर सामाधान सुन राजा बहुत प्रसन्न हुए और बहुमूल्य सामग्री भेंट में देकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की।

१५ वर्ष की आयु में वंशीअलिजी का विवाह हुआ। २० वर्ष की आयु में पुंडरीकाक्ष नामके पुत्र का जन्म हुआ। आठ वर्ष बाद संवत् १७९२ में गोस्वामी प्रद्युम्नजी का स्वर्गवास हुआ। उसके एक वर्ष बाद उनके राधाप्रेम में सहसा बाढ़ आयी, जब राधा कृष्ण नामके राधाकुण्डके एक पंडेने दिल्ली के मन्दिर में राधाष्टमी के अवसर पर बधाई गाई -"रस बरसै री हेली कोरत महल में।" उस समय वे ऐसे प्रेम-मग्न हुए कि उनके प्रेमाश्रुओं की झड़ी लग गयी। मुर्च्छित हो डेढ़ घंटे तक वे भूमिपर पड़े रहे। उस वर्ष उन्होंने राधाष्टमी का उत्सव तीन हजार रूपये खर्च करके बड़ी धूम-धाम से मनाया। दूसरे वर्ष भी राधाष्टमी पर दो हजार रुपये खर्च किये। उनकी माँ ने इस पर अपना रोष प्रकट किया और भविष्य में राधाष्टमी पर इतना खर्च करनेको मना किया। तभी वंशीअलिजी रुष्ट हो वृन्दावन चले गये। वहाँसे लौटकर फ़िर नहीं आये। उसके कुछ ही दिन बाद नादिर शाहका दिल्लीमें लूट और कत्लेआमका दौर चला, जिसमें मन्दिर का व़ह धन भी, जिसे माँने राधाष्टमीपर खर्च करने को मना किया था, लूट में चला गया।

वृन्दावन में वंशीअलिजी ललित कुञ्जमें रहकर भजन करने लगे। वहीं उन्हें ललिताजी के दर्शन हुए। ललिताजीने उन्हें मन्त्र दिया और बरसानेने जाकर भजन करने का आदेश देते हुए कहा- 'इस मन्त्र का जप करने से तुम्हें बरसाने में श्रीजीके दर्शन होगे।

तब वंशीअलिजी बरसाने चले गये। बरसाने में रंगीली गलीकी कूड़ा फेंकने की जगह अपना आसन जमाकर भजन करने लगे। किसी व्रजमाईने

पूछा-'बाबा, तोय घूरे पर ही भजन करबेकी ठौर मिली का ?"

उन्होंने उत्तर दिया - " मइया, तुम गोपियोंकी चरण-रज मुझे यहीं सुविधापूर्वक प्राप्त हो सकेगी। जब तुम कूड़ा फेकोंगी तो तुम्हारी चरण-रज उड़कर मेरे मस्तक पर लगेगी। इस लोभसे मैंने अपना आसन यहाँ जमाया है।" वंशीअलिजी के इस पदसे भी उंनके घूरेपर पड़े रहकर भजन करनेकी बातकी पुष्टि होती है -

कुँमरि किशोरी राधे सुख की रास।
देहो कृपा कर मोहे स्वामिनी बरसाने को बास।।
तजो कृपणता वेग छबीली व्रजजन जूठन आस।
घूरे लोट रहत बंशी अलि ललित सखी विस्वास।।

वंशीअलिजीने १२ वर्षतक इस घूरे पर पड़े रहकर भजन किया। इस बीच उन्हें राधारानीके साक्षात् दर्शन हुए। इसलिये उन्होंने 'राधा सिद्धान्त' के एक श्लोकमें ललिताजी को अपनी उपासना में राधासे भी ऊँचा स्थान दिया है-

"गुरु श्रीललिता ज्ञेया साततस्या परा सखी।
तत्स्वरूपा च भक्तास्या राधा तोप्याधिका मम।।"

एक दिन वंशीअलिजी ऊपर मन्दिर में दर्शन करने गये। उस समय गोस्वामी चिन्तामणिजी श्रीजीकी सेवा में थे। श्रीजी गजमोहन में विराज रही थी। वंशीअलिजी अपनी धुनमें जमगोहन पर चढ़ने लगे। गोस्वामीजीने मना किया। पर जैसे उन्होंने कुछ सुना ही नही। विवश हो गोस्वामी जी ने खड़ाऊँ खींचकर मारी। उस समय वे वंशीअलिजीके दो स्वरूप देखकर चित्रलिखित से रह गये। एक स्वरूपमें वे सीढ़ीपर खड़े उनसे बात कर रहे थे, दूसरे से जगमोहन में श्रीजी की सेवा में उपस्थित थे।

यह देख गोस्वामी को पश्चाताप हुआ। उन्होंने बार-बार उनके चरणों में गिरकर क्षमा माँगी और कहा- मैने आपके स्वरूपको नहीं जाना और आपके चरणों में इतना बड़ा अपराध किया। न जाने मेरी क्या गति होगी।

वंशीअलिजीने कहा - "अपराध नहीं। आपने तो मेरे ऊपर कृपा ही की। आपकी कृपा से श्रीजीने मुझे अपने निकट बुलाकर अपना परिकर बना लिया। आजसे आप मेरे तीर्थ-गुरु हुए।" तभीसे आजतक गोस्वामी चितामणिजीके वंशजों को वंशीअलिजीके वंशज अपना तीर्थ-गुरु मानते आ रहे है।

वंशीअलिजीके बहुत-से शिष्य हुए, जिनमें किशोरीअलिजी और

अलबेलीअलिजी अधिक प्रसिद्ध हैं। किशोरीअलिजी जिस प्रकार उनके शिष्य बने उसके सम्बन्ध में एक बहुत प्रसिद्ध अनुश्रुति है। उनका नाम पहले जगन्नाथ भट्ट था। वे मथुरा में रहते थे। उनकी पत्नीका नाम किशोरी था। किशोरीके प्रति उनकी अतिशय आसक्ति थी। अकस्मात किशोरीका देहावसान हो गया। वे उन्मादकीसी अवस्थामें घरसे निकल पड़े और किशोरी! हा, किशोरी! पुकारते हुए बरसाने पहुंचे। उनकी वेदनाभरी पुकार राधारानीके कानमें पड़ी। उन्होंने कहा ललितसे- मेरा नाम लेकर इतने अति आर्तस्वरसे यह कौन पुकार रहा है? ललिताने कहा- तुम्हारा नहीं वह अपनी पत्नी किशोरी का नाम ले रहा है, जिसकी मृत्य हो गयी है। पर स्वभावसे भोली और उदार राधाने कहा- नहीं बरसानेमें 'किशोरी' मुझे छोड़ और किसका नाम है? वह बड़े वेदनाभरे स्वरसे मुझे पुकार रहा है। उसे यहाँ ले आओ।' ललिता जगन्नाथ भट्टको जाकर लिवा लायीं। जगन्नाथ इस प्रकार अनायास राधारानी के दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हुए। ललिता ने तब बरसाने की रंगीली गलीके धूरेपर भजन करनेवाले वंशी अलिजी से दीक्षा लेकर भजन करनेका जगन्नाथजी को आदेश दिया। दीक्षा के बाद उनका नाम हुआ किशोरी अलि।

किशोरी अलिजीसे मन्त्रोपदेश देने के बाद वंशअलिजी वृन्दावन जाकर ललित कुंज में रहने लगे। यद्यपि उनके बहुत से धनवान् शिष्य सेवक हो गये थे, वे बड़े वैराग्यसे रहते थे। अपने पास तूँबी और अँगोछे के सिवा और कुछ नहीं रखते। पर राधाष्टमी पर प्रतिवर्ष २०/२५ हजार रूपये खर्च कर बड़ी धूम-धाम से उत्सव मनाते थे। श्रीमद्भागवत की कथा उन्हें बहुत प्रिय थी। कथा कहते-कहते वे अत्यन्त भावविह्वल हो जाते थे। भागवत के श्लोकों का अनेक बार अनेक प्रकार से अलौकिक अर्थ करते थे।

ग्रंथ रचना

ललित कुंज में रहते समय बंशी अलिजी ने बहुत से ग्रंथों की रचना की। संस्कृत में 'राधातत्वप्रकाश' और 'राधा-सिद्धांत' नामके दो ग्रंथ लिखे। 'रासपंचाध्यायी, मोक्षवाद', शक्ति-स्वातंत्रय-परामर्श और 'राधा उपनिषद' की संस्कृत टीका की। व्रज-भाषा में उन्होंने 'हृदय-सर्वस्व' श्रीराधिका महारास' श्रीलड़िलीजूकी बधाई' और श्रीललिता जूकी बधाई' की रचना की। अपने बरसाना-वास के समय उन्होंने उत्सवों के पद और और माधुर्य, वात्सल्य और सख्यरस के बहुत-से पदों की रचना की ।

तिरोधान

ललित कुंज में ही संवत् १८२२ में ५८ वर्ष की आयु में आश्विन

शुक्ला प्रतिपदा को राधारानीका ध्यान करते-करते वंशीअलिजी ने शरीर त्यागकर उनके नित्य-निकुंजमें सदाके लिये प्रवेश किया। वही उनकी समाधि है।[१]

सिद्धांत

वंशीअलिजी के सिद्धांत पर राधावल्लभ सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदायका विशेष प्रभाव है। इनके नित्य-विहारका स्वरूप मुख्यरूपसे वैसा ही है जैसा इन सम्प्रदायोंका। इनकें मतमें राधाकी प्रधानता वैसी ही है जैसी राधावल्लभ सम्प्रदायमें। जिस प्रकार राधावल्लभ सम्प्रदायमें राधा परात्पर तत्व है, वैसे ही इनके मत में भी राधा परात्पर तत्व है। जैसे राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा सेव्य हैं, श्रीकृष्ण सेवक हैं, वैसे ही इनके मतमें भी राधा सेव्य और श्रीकृष्ण सेवक है। जैसे राधावल्लभ सम्प्रदाय में इष्ट राधा है, वैसे ही यहाँ भी इष्ट राधा है। ललिताजीका स्थान इस सम्प्रदायमें हरिदासी सम्प्रदायमें ललिताजी के स्थान के अनुरूप है। ललिता सम्प्रदायकी गुरु है। उनकी कृपा के बिना राधा या नित्य-विहार की प्राप्ति संभव नहीं है। कृष्ण तक को राधा की प्राप्ति के लिये ललिता की कृपा पर निर्भर करना पड़ता है।

पर इस सम्प्रदायका प्रचार बहुत अधिक नहीं है। इसके सिद्धांत के बारे में भी लोगों को जानकारी बहुत कम है। इसका कारण यह है कि इसके किसी भी ग्रन्थ का प्रकाशन अभीतक नहीं हुआ है।

इस सम्प्रदायका पीठ-स्थान जयपुर में लाड़िलोजीका मन्दिर है। दिल्ली, वृन्दावन और राधाकुण्डमें भी इसके स्थान है।



१. उनकी एक चिन्ह-समाधि बरसानेकी रंगीली गली में उनकी भजनस्थलीपर भी है।

डा० अवध बिहारी लाल कपूर के हिन्दी ग्रन्थ

क्र०	पुस्तक का नाम	मूल्य
०१.	**बृज के भक्त** उन संतो के चरित्र, जिन्होंने पिछले २०० वर्षों में व्रज मंडल में रहकर साधना की और जिन्हें श्री राधा-कृष्ण के चरण-कमलों की प्राप्ति हुई।	११०.००
०२	**चरित-सुधा** इस ग्रन्थ का विषय श्रीराधारमण चरणदास देव महाराज का सम्पूर्ण चरित्र हैं इसे पढ़कर ऐसी अनुभूति होगी; लगेगा कि जैसे इस दिव्यतिदि़व्य, मधुरातिमधुर चरित्र के रूप में श्री कृष्ण की शक्ति, प्रेम-स्वरूपिणी श्री राधा-रानी ने अपने सुकोमल हाथों से प्रेम-सुधा उड़ेल दिया हो कलिहत, त्रिताप-तप्त जीवों का ताप दूरकर उन्हें चिरकाल के लिए प्रेमानंन्द में निमज्जित कर देने को, और आप अंजली भर-भर उस प्रेम-सुधा का पानकर अपनी तप्त आत्मा को शीतल कर रहे हों। ऐसा रसमय और सुखमय है यह चरित्र।	१००.००
०३.	**व्रज की रसोपासना** (उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत) इस ग्रन्थ में व्रज के विभिन्न सम्प्रदायों के रस सिद्धान्त का यथावत् निरूपण कर और उनका तुलनात्मक अध्ययन कर व्रज की रसोपासना के रूप और उसे मूल सिद्धान्तों का आविष्कार करने का प्रयत्न किया गया है।	५०.००
०४.	**श्री नित्यानन्द चरित्र** श्री नित्यानन्द प्रभ् का सम्पूर्ण चरित्र ।	९.00

क्र०	पुस्तक का नाम	मूल्य
०५.	**व्रज के रसिकाचार्य** सम्पूर्ण (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड)	१३५.00
०६.	**बाबा श्री गौरांगदासजी महाराज** सम्पूर्ण चरित्र	१६.00
०७.	**विरहिणी विष्णुप्रिया** नाट्य काव्य	१५.00
०८.	**श्री राम दास कथामृत** बंगला के मूल ग्रन्थ के मुख्य अंशों का हिन्दी अनुवाद बंगला के मूल ग्रन्थ के मुख्य अंशों का हिन्दी अनुवाद	१५.00



शीघ्र ही पुनः प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

क्र.सं. पुस्तक का नाम

०९ **नवभक्त माल**
(पूर्वी भारत के भक्त) खण्ड – १
खण्ड – २
खण्ड – ३
खण्ड – ४

१० **नवभक्त माल**
(राजस्थान के भक्त) खण्ड – ५
खण्ड – ६
खण्ड – ७

क्र.सं. पुस्तक का नाम

११. विरहिणी राधा
(नाट्य काव्य)

१२. भक्ति विज्ञान
१९७४ में ISKCON की पत्रिका 'Back to Godhead' में डा० ओ०बी०एल०कपूर का एक article,"Bhakti the Perfect Science" इस पत्रिका के English Edition में छपा था। इसको बहुत पसंद किया गया। स्वामी भक्ति वेदान्त प्रभुपादजी जो की ISKCON के संस्थापक हैं उन्होंने संसार की कई भाषाओं में अनुवाद करवाकर पूरे संसार में उसका वितरण करवाया। उनकी इच्छा थी कि डा० ओ०बी०एल० कपूर इस article को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में लिखें। उनकी इस इच्छापूर्ति के लिए इस ग्रन्थ में उपरोक्त article के सभी बिन्दुओं को विस्तारपूर्वक लिखा गया है

१३. श्री चैतन्य-सम्प्रदाय में रसोपासना

१४. श्री चैतन्य-मत
श्री चैतन्य महाप्रभु के दर्शन और भक्ति सिद्धान्त का गवेष्णात्मक अध्ययन।

१५. श्री चैतन्य लीलामृत
श्री चैतन्य महाप्रभु का सम्पूर्ण चरित्र

१६ श्री चैतन्य महाप्रभु का दार्शनिक सिद्धान्त : अचिन्त्य भेदोभेद

१७. चैतन्य महाप्रभु
तेरह उपकथाओं (Episodes) में टी0वी0 सीरियल के लिए विशेष रूप से लिखा गया श्री चैतन्य महाप्रभु का सम्पूर्ण जीवन चरित्र



प्राप्ति स्थान

०१ **श्री राधा रमण निवास ट्रस्ट**
श्री गौरांग आश्रम
आई०ओ०पी०कॉलेज के सामने
रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा।
दूरभाष : ०५६५-२५४०६१६

०२ **खण्डेवाल एण्ड सन्स**
अठखम्भा बाजार
वृन्दावन : १८११-१२
दूरभाष : ०५६५-२४४३१०१
०५६५-२४४२१००

०३ **श्री गोपेश कपूर**
४०३, अगंद अपार्टमेन्ट
जी०डी०मिश्रा पथ रोड नम्बर - २
न्यू पी०पी०कॉलोनी
पटना :०६१२-२२६०८८६, मो.-९८३५०१४५११
दूरभाष : ०५६५-२४४३१०१
ई मेल : gkapoor@sancharnet.in

०४ **बुक्स-एन-ऐमी**
सहदेव महतो मार्ग
श्रीकृष्णापुरी
पटना : ८०000१
दूरभाष : ०६१२-२२३२८८८

०५ **जानकी प्रकाशन**
अशोक राजपथ
चौहट्टा, पटना : ८००००४

०६ **अनुपम प्रकाशन**
अशोक राजपथ, पटना - ८००००४
दूरभाष : ०६१२-२६७०२४२
०६१२-२६७०४४९

लेखक की अन्य पुस्तकें

ENGLISH EDITION

		No. of Pages
1.	Lord Chaitanya	726
2.	Companions of Sri Chaitanya	419
3.	The Philosophy and religion of Sri Chaitanya	448
4.	The Gosvamis of Vrindaban	309
5.	Experiences in Bhakti	185
6.	The Saints of Bengal	432
7.	The life of love	550
8.	Sri Chaitanya and Raganuga Bhakti	101
9.	The Saints of Vraja	

हिन्दी संस्करण

1. ब्रज के भक्त
2. चरित सुधा
3. विरहिणी विष्णु प्रिया
4. नवभक्त माल (आठ खण्ड)
5. विरहिणी राधा
6. श्री चैतन्य लीलामृत
7. श्री चैतन्य मत
8. ब्रज की रसोपासना
9. बाबा श्री गौरांग दास जी (जीवन परिचय)
10. श्री चैतन्य महाप्रभु का दार्शनिक सिद्धान्त : अचिन्त्य भेदाभेद
11. श्री नित्यानन्द चरित्र
12. श्री रामदास कथामृत
13. श्री चैतन्य सम्प्रदाय में रसोपासना
14. ब्रज के रसिकाचार्य



डा० अवध बिहारी लाल जी कपूर का जन्म हुआ सन् १९०८ में। आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में एम०ए० किया १९३१ में। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में ही क्रमशः रिसर्च-स्कालर और डी० लिट० स्कालर तथा इंडियन इन्सटीटयूट आफ फिलासफी में रिसर्च फेलो रहने के पश्चात् डाक्टर आफ फिलासफी की डिगरी प्राप्त की सन् १९३८ में। कुछ समय बी०आर०कॉलेज, आगरा में स्नातकोत्तर दर्शन विभाग के अध्यक्ष रहने के पश्चात् चुने गये U.P.E.S. Class I में और कार्यरत रहें स्नातकोत्तर दर्शन विभाग के अध्यक्ष और उप-प्रधानचार्य/प्रधानाचार्य के रूप में राजकीय कॉलेज, ज्ञानपुर (वाराणासी) में तथा प्रधानाचार्य के रूप में राजकीय कॉलेज, रामपुर में। राजकीय सेवा से निवृत्त हुए सन् १९६७ में। इस बीच आपने दर्शनाशास्त्र और मनोविज्ञानादि विषयों से सम्बन्धित कई ग्रन्थों की रचना की। सन् १९६७ से प्रायः अनवरत जुटे रहे हैं कि भक्ति-साहित्य के सृजन में। आपने बहुत - से बहुमूल्य और सारगर्भी ग्रन्थों की रचना कर भक्ति-साहित्य को जैसा समृद्ध किया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

डा० अ० बि०ला० कपूर को ९ अप्रैल, २००१ में ब्रजरज प्राप्ति हुई। डा०अ०बि०ला०कपूर ने अपने गुरु श्री श्री १०८ श्री बाबा गौरांगदास जी महाराज के रमणरेती स्थित आश्रम में ही शरीर छोड़ा। उनके द्वारा सृजित सभी ग्रन्थ पहले की तरह आज भी उपलब्ध हैं और यथावत् उपलब्ध होते रहेंगे।